योग वासिष्ठ कथा

कृष्णदास राष्ट्रभाषा सीरीज

४

योगवासिष्ठ कथा

(ऋषि वशिष्ठ द्वारा भगवान राम को दिये भारतीय धर्म-दर्शन-योग तत्त्वों का कथाओं द्वारा विवेचन)

लेखक

रघुनाथ सिंह

(संसद सदस्य)

(एम. ए., एल. एल. बी., पी-एच. डी.,
डी. लिट्, एफ. आर. ए. एस. (लन्दन))

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

१९८८

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०४५

मूल्य : रू० ७५-००

© कृष्णदास अकादमी

पो० बा० नं० ११२८

चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१

(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ६३१४५

KRISHNADAS RASHTRABHASHA SERIES

4

YOGAVĀSISHṬHA KATHĀ

[A treatise on Indian Religion, Philosophy and Yoga through the story given by Vasistha to Ram]

Raghunath Singh, M. P.

(M. A., LL. B., Ph. D., D. Litt.
F. R. A. S. (London))

KRISHNADAS Academy
VARANASI-221001
1988

© KRISHNADAS ACADEMY

Oriental Publishers and Distributors

Post Box No. 1118

Chowk, (Chitra Cinema Building), Varanasi–221001

(INDIA)

Second Edition

1988

Price : Rs. 75-00

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 1008, Varanasi–221001 (India)

Phone : 63145

समर्पण

"सहस्र शीर्षाः पुरुषः'—देवपुत्रों ने वंदना में कहा, "हे ! मनुष्य ! ! तुम संसार से घिरे हो। तथापि उन सब में बड़े हो।" उसे यह गर्व प्राप्त हुआ। गौरव प्राप्त हुआ। बल प्राप्त हुआ—उसकी कर्त्तव्यनिष्ठा और प्रगति की दिशा-दृष्टि के बल पर।

भारतीय संसदीय कांग्रेस दल तथा उसकी कार्यकारिणी के सदस्यों की ऐसी ही प्रेरणा और प्रगत्यात्मक प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में 'योग वासिष्ठ' के लेखन में हमें जो बल मिला है— वह इस कृति के रूप में उन्हें ही सादर भेंट !

लेखक की अन्य कृतियाँ

राजनीति :

१. धर्म-निरपेक्ष राज्य (पुरस्कृत)
२. आधुनिक राजनीति का क-ख-ग
३. फासिज्म
४. जागृत नेपाल
५. टुवर्ड्स फ्रीडम
६. कंसिडर

धर्म :

१. विश्व के धर्म-प्रर्वतक
२. सर्वधर्म समभाव
३. रामायण कथा
४. योगवासिष्ठ कथा

पर्यटन :

१. आर्याना
२. आस्ट्रेलिया
३. दक्षिण-पूर्व एशिया (पुरस्कृत)

उपन्यास :

१. इन्द्रजाल (द्वितीय संस्करण)
२. मैं
३. भिखारिणी
४. संस्कार (द्वितीय संस्करण)
५. कहाँ
६. एक कोना
७. चौरा
८. लावारिस

□

भारतीय संसदीय कांग्रेस दल की कार्यकारिणी के सदस्य १९६४-६५

श्री स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू	नेता	प्रयाग, उत्तरप्रदेश (२७ मई, सन् १९६४तक)
श्री लालबहादुर शास्त्री	नेता	प्रयाग, उत्तर प्रदेश (८ जून, सन् १९६४ से)
श्री के. सी. रेड्डी (लोक-सभा)		उपनेता, बंगलौर, मैसूर
श्री सुरेन्द्रमोहन घोष (राज्य-सभा)		उपनेता, कलकत्ता, बंगाल
श्री सत्यनारायण सिंह		प्रधान सचेतक, दरभंगा, बिहार
श्री रघुनाथ सिंह		मंत्री, काशी, उत्तर प्रदेश
श्री विभूति मिश्र		मंत्री, चम्पारन, बिहार
श्री रघुवीर सिंह पंजहजारी		मंत्री, पटियाला, पंजाब
श्री शिवराय रंगु राणे		उप सचेतक, जलगाँव, महाराष्ट्र
श्री जे. बी. मुथियालराव		उप सचेतक, हैदराबाद, आन्ध्र
श्री राजपति सिंह डूगर		उप सचेतक, कलकत्ता, बंगाल
श्री रामेश्वर टांटिया		कोषाध्यक्ष, कलकत्ता, बंगाल

सदस्य

लोक सभा	राज्य सभा
श्री जगजीवन राम, आरा, (बिहार)	श्री महावीरप्रसाद भार्गव, आगरा, (उ० प्र०)
श्री डी. बसुमतारी, गोहाटी, (आसाम)	श्री सुरेश जैमतराय देसाई, सूरत, (गुजरात)
श्री पी. आ. रामकृष्णन,(कोयम्बटूर)	श्री विदेश कुलकरणी, बम्बई, (महाराष्ट्र)
श्री रामसुभग सिंह, आरा, (बिहार)	श्री श्यामनन्दन मिश्र, दरभंगा, (बिहार)
श्री रवीन्द्रवर्मा, मवेलिक्करा, (केरल)	श्री चन्द्रदत्त पाण्डेय, नैनीताल, (उ०प्र०)
श्री रामसहायपाण्डेय,कोलाबा,(बम्बई)	श्री नीलकंठपुर श्री रामरेडी, बंगलोर,(मैसूर)
	श्री के. एस. रामास्वामी,कोयम्बटूर,(मद्रास)
श्री हरिश्चन्द्र माथुर,जोधपुर (राज०)	कुमारी शान्ता वशिष्ठ, दिल्ली
श्री शंकर शान्तारात मोरे,पूना,(महा.)	श्री एम. सी. चागला, बम्बई, (महाराष्ट्र)
श्री हरेकृष्ण मेहताब,भुवनेश्वर(उड़ीसा)	पदेन सदस्य, नेता राज्य सभा

श्री अजितप्रसाद जैन, सहारनपुर,	स्वर्गीय श्री जी. राजगोपालन, मद्रास शहर
श्री भगवत झा आजाद, भागलपुर, (बिहार)	श्री टी. मनीयन, दार्जिलिंग, (बंगाल)
	मंत्री, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी
श्री शिवाजीराव शंकरराव देशमुख, हिंगोली, (महाराष्ट्र)	श्री केशवदेव मालवीय, प्रयाग, (उत्तर प्रदेश)
	श्री हिमायूँ कबीर, कलकत्ता, (बंगाल)
श्री सी.आर. बासप्पा, तुमकुर, बिहार	श्री बख्शी अब्दुलरशीद, श्रीनगर, (काश्मीर)

इस पुस्तक की कहानी

शैशवावस्था थी। उस समय की कुछ धुँधली-सी याद है। काशी की गलियों में अपनी मामी के साथ चलता था। प्रातःकाल शीत में ठिठुरता था। फिर भी, एक मील घर से चलता था। गंगा स्नान करना पड़ता था। अक्षत, बेल पत्र, गंगा जल हाथ में रख दिया जाता था। उन्हें दशाश्वमेध घाट स्थित शूलटंकेश्वर महादेव पर चढ़ाता था। वहाँ की पुजारिन एक अधेड़ विधवा श्वेतवस्त्रा ब्राह्मणी थी। मामी उनसे दो-चार बातें करतीं। वे मुझे आशीर्वाद देतीं। हम मण्डप की परिक्रमा करते। बाहर निकल आते।

उन दिनों मेरा मकान दशाश्वमेध घाट पर नहीं बना था। इमारतें वहाँ आज की तरह नहीं खड़ी हो गयी थीं। खुले स्थानों पर नागा, बैरागी, साधुओं का अखाड़ा लगता था। भभूती पोते, रुद्राक्ष की माला पहने, लम्बी जटा बढ़ाये, धूनी के सम्मुख आसा के सहारे उनका सीधे बैठे रहना देखकर अनायास एक कौतूहल होता था। कितने ही साधुओं का आसन-प्राणायाम करना, तथा कितनों को विभिन्न देवताओं की मूर्त्तियों के सम्मुख कपड़ा बिछाकर, घण्टा बजा-बजाकर, लोगों से पैसा माँगते देखकर खड़ा हो जाता था। जगन्नाथ जी, राम-जानकी, लक्ष्मण, हनुमान, कृष्ण-राधिका आदि की मूर्त्तियों को रंग-बिरंगे कपड़ों, मुकुटों और गोटे-पट्ठों से सजे देखकर उन्हें समझने, उन्हें जानने का प्रयास अचेतन मन स्वतः करने लगता था। घाट पर साधु तथा भक्तजन भजन गाते थे। कोई एकतारा बजाता। कोई खँजड़ी पर गाता। कोई चिमटा बजाकर निर्गुण गीत सुनाता। नारियाँ समूहों में बैठती थीं। तुलसी का विवाह नारायण से सजाती थीं। गाती थीं। कहानियाँ कहती थीं। वहाँ से मन्दिरों में जाता था। कहीं शास्त्रीय संगीत होता था। कहीं कथा होती थी। कहीं अवतारों की झाँकियाँ प्रतिदिन बदलकर बनाई जाती थीं। नित्य नवीन परिवर्तनों के कारण मन नहीं थकता था।

सब कुछ देखता था। मामी के साथ खिंचा चला जाता था। इनके पीछे चाहे धार्मिक भावना का अभाव रहा हो परन्तु प्रसादी मिलने और घर लौटते समय मामी खाने के लिए कुछ खरीद देंगी, इसका लोभ अवश्य रहता था।

घर लौटने पर, घर के देवताओं पर अक्षत, पुष्प तथा गंगा जल छिड़क कर, तुलसी के पास आकर मामी खड़ी होती थीं। तुलसी पर अक्षत, पुष्पादि चढ़ातीं। अपनी श्वेत चादर उतार कर खूँटी पर टाँगतीं। मैं समझ जाता था। छुट्टी मिल गयी। बाहर खेलने चला जाता।

मध्याह्न काल में मामी हाथ जोड़कर तुलसी की पत्ती खोटती थीं। एक पत्ती थाली में रखकर खाना परोसती थीं। सायंकाल तुलसी पर दीपक जलाती थीं। घी में रूई की बत्ती डुबोकर उससे आरती करतीं। कार्तिक में तुलसी के पास ऊँचा बाँस गाड़ दिया जाता था। उस पर आकाश दीप की झपोली डोरी के सहारे चढ़ जाती।

रात्रि के भोजन के पश्चात् वे तुलसीकृत रामायण पढ़ती थीं। कभी-कभी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'योग वासिष्ठ' को पढ़तीं। मैं सुनते-सुनते उनके पास जमीन पर सो जाता था।

उन दिनों ये बातें न जाने क्यों मुझे भली लगती थीं। अचेतन मन पर धार्मिक भावनाएँ धीरे-धीरे जमने लगीं।

मामी अक्षतयोनि विधवा थीं। तेरह वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थीं। लगभग ६२ वर्ष का लम्बा वैधव्य-जीवन उन्होंने व्यतीत किया। ७५ वर्ष की अवस्था में उनका देहावसान हुआ। उनका विवाह ८० वर्ष के वृद्ध रामेश्वर सिंह से हुआ था। अपने विवाह के समय उनके पति की एक और पत्नी वर्तमान थी। उन दिनों कुलीन तथा सम्पन्न घर में बहुविवाह प्रथा साधारण बात थी। उनके पति को कोई सन्तान न थी। कुलीन वंशीय होने के कारण काशी नगर में बहुत मकान थे, जमीन थी, सरोवर था। मन्दिर था, कई गाँव की जमींदारी थी। विद्यार्थियों के लिए छात्रावास था। संन्यासियों के लिए कोठरियाँ बनी थीं। यह उनके पति का तीसरा विवाह था।

वे अत्यन्त सुन्दर, गौरवर्णा थीं। उनका नाम रामकली था। हिन्दी पढ़ी-लिखी थीं। परन्तु विवाह होने के साथ ही उनके पति का देहान्त हो गया। मैं उन्हें 'नइकी मामी' कहता था।

मैं अपनी मामी के साथ डेढ़ वर्ष की अवस्था से रहता था। मेरी माता मेरे पिता के मामा के मकान में रहती थीं। मैं अकेला अपनी मामी के साथ एक बहुत बड़े मकान में रहता था। सन् १९२१ की अपनी प्रथम जेल यात्रा के २ वर्ष पहले तक यहीं रहा।

मेरी माता जी आज भी जीवित हैं। उनकी १०० वर्ष की अवस्था है। उन्हें धर्म-कर्म से कोई मतलब नहीं है। वे सम्पन्न परिवार की हैं। उनके मायके से कभी कोई साधु बिना भोजन-वस्त्र प्राप्त किए नहीं लौटा। उनका कुटुम्ब अपने इस दान-कर्म के कारण प्रसिद्ध था। उनके मायके से राष्ट्रीय आन्दोलनों में चार व्यक्तियों ने जेल-यात्राएँ की हैं। मैं उनसे भगवान के विषय में पूछता। वह विरक्त हो जातीं। मेरे पिता का देहान्त हुआ। उस समय भी मैंने उनमें नारी-जन्य दुर्बलता तथा विकलता नहीं देखी। पिता की बीमारी के समय वह जमींदारी पर थीं। गाँव से काशी आने के लिए समाचार गया। वे आयीं। आने के साथ ही कह दिया—वे बचेंगे नहीं और एक ओर जाकर बैठ रहीं। मैं चकित हो गया।

मेरी अनेक जेल यात्राओं तथा जेल की यातनाओं का समाचार सुनकर, वे कभी विचलित नहीं हुईं। कभी एक पत्र सांत्वना के लिए मेरे यहाँ नहीं भिजवाया। जेल में कभी मिलने नहीं आयीं। मैं उनकी इस प्रकृति का अध्ययन करता रहा हूं। परन्तु आज तक समझ नहीं पाया। उनमें एक गुण मैंने सर्वदा पाया। उन्हें किसी प्रकार का शौक नहीं था। आडम्बरों से बहुत दूर थीं। सरल तथा सादे स्वभाव की थीं। जीवन में किसी प्रकार किसी का नुकसान करने की कल्पना नहीं किया। मैं अपनी मामी और माता के स्वभावों के विरोधाभासों में उलझ जाता हूँ।

माँ पढ़ी-लिखी नहीं हैं। मेरे साथ दिल्ली या काशी में भी नहीं रहतीं। उन्हें अकेले गांव पर साधारण किसानों के बीच रहने, उनसे बात करने में ही सुख मिलता है। वे स्वयं खेती कराती हैं। अपनी इच्छानुसार खर्चती हैं। मैंने कभी उन्हें एक पैसा न तो दिया और न उनसे लिया।

मेरी पैतृक जमींदारी काशी में पंचक्रोसी के अन्दर है। पंचक्रोसी के अन्दर मरने पर मुक्ति होती है। यम यातना नहीं भोगनी पड़ती। भैरवी यातना केवल दो घंटे भोगकर प्राणी शिव की कृपा से मुक्त हो जाता है। चाहे माँ इसमें विश्वास करती हों या नहीं परन्तु गांव से आकर काशी में रहने के लिए मुक्ति के लोभ का तर्क उनके सामने मैं नहीं रख सका।

पुत्र और माता का व्यवहार कुछ लोगों को चकित करेगा। परन्तु यह सत्य है। इतना मैं अवश्य कहूंगा कि मुझे अपने जीवन में किसी बात का शौक नहीं हुआ। मैं सर्वदा किसी भी स्थिति में विरक्त, अडिग, प्रसन्न रहता हूँ। यह निस्सन्देह मेरी माता की देन है। विरक्त, निष्काम भाव जो ज्ञानी तथा योगियों में अभ्यास करने पर भी प्राप्त नहीं होते और वे मेरी अपढ़ माता में कैसे आ गये हैं; इसका रहस्य मैं भारतीय दर्शन के उन सिद्धान्तों में पाता हूं जो आत्मा को अजर, अमर तथा प्रत्येक परिस्थितियों में सम मानता हुआ, उसकी कड़ी को अविच्छिन्न मानता है। जिसका परिवर्तन शरीर के परिवर्तन के साथ नहीं होता। वह केवल अपना रूप बदलता रहता है। उस पर संस्कार की परतें जमती रहती हैं। वे शरीर त्यागने के पश्चात आत्मा के साथ चलती रहती हैं। जीवन में उसके चरित्र तथा व्यवहार में अनजाने प्रकट होती रहती हैं।

'योग वासिष्ठ' ने केवल हिन्दुओं को अनुप्राणित नहीं किया है। उसका दार्शनिक सिद्धान्त और दर्शन के व्याख्या की अपनी शैली है। उसने वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा, कर्मकाण्ड, न्याय, आचार, धर्म के साथ-ही-साथ बौद्ध दर्शन पर भी विचार प्रकट किया है। उसने किसी दार्शनिक तथा यौगिक भावों का खण्डन किंवा मण्डन नहीं करते हुए, सर्वदा नवीन दृष्टिकोण, विवेकपूर्ण एवं बलवती सरल भाषा में रखा है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शनों एवं विचारों का अद्भुत मौलिक संग्रह है।

मुस्लिम काल में इस ग्रन्थ ने मुस्लिम बादशाहों तथा विचारकों को आकर्षित किया था। काश्मीर के सुलतान बड़शाह जैनुल-आब्दीन ने फारसी में इसका अनुवाद कराया था। इसी के आधार पर उन्होंने एक पुस्तक की रचना किया था। अकबर के समय में इसका फारसी में पुनः अनुवाद किया गया। दाराशिकोह ने भारतीय दर्शन की शिक्षा काशी में प्राप्त किया था। उसके निवास स्थान का नाम आज भी दारानगर महाल है। उसके गुरु मेरे पड़ोसी पंडित कमलापति त्रिपाठी के पूर्वज थे।

औरंगजेब यद्यपि महान् हिन्दू-धर्म विद्रोही था परन्तु उसने मेरे महाल में टेकरा मठ का निर्माण कराया था। उसी के नाम पर मेरे महाल का नाम औरंगाबाद रखा गया है। काशी में उसने एक ओर काशी विश्वनाथ मन्दिर आदि तुड़वाया तथा दूसरी ओर संन्यासियों के लिए मठ निर्माण कराया। योगियों के चमत्कार को देखकर उसका भी मस्तक झुक गया था।

'योग वासिष्ठ' योगियों एवं दार्शनिकों का एकमात्र सम्बल है। भारतीय धर्म, भारतीय आचार-विचार, भारतीय व्यवहार को वह सरल, सुस्पष्ट तथा तर्कशील काव्यमय भाषा में प्रस्तुत करता है। उसमें काव्य, कथानक, दर्शन का रुचिकर समन्वय है। यही कारण है कि विभिन्न रुचियों के लोगों को इसमें उनकी रुचि के अनुसार सामग्री प्राप्त हो जाती है।

इसका एक दूसरा पहलू और है। यदि 'गीता' नर किंवा मानव की शंकाओं का समाधान नारायण अर्थात् भगवान श्री कृष्ण द्वारा कराती है, तो 'योग वासिष्ठ' नारायण अर्थात् श्री राम की शंकाओं का समाधान नर किंवा वसिष्ठ द्वारा कराती है। 'योग वासिष्ठ' प्राणियों की काया में प्रतिष्ठित आत्मा पर किसी अदृश्य शक्ति को प्राथमिकता नहीं देती। श्री कृष्ण पूर्ण आत्मसमर्पण की बात करते हैं। 'योग वासिष्ठ' आत्मसमर्पण में विश्वास नहीं करती। वह मानव को उसकी अन्तर्शक्ति की ओर प्रेरित करती है। उसे ही जगत्-शक्ति का स्रोत मानती है। जन्म-मृत्यु का क्या रहस्य है, हम किस प्रकार अपनी वासना तथा संस्कारों के बन्धन में पड़कर नाना प्रकार के क्रिया-कलापों द्वारा फैलाये अपने ही जाल में फँस कर अपने-आपको मूल से भिन्न समझते हैं, आदि का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। अनेक प्रकार के चमत्कार, अनेक प्रकार की सिद्धियाँ, यौगिक क्रियाएँ आदि किस प्रकार सम्पन्न होती हैं, उनका कैसे प्रभाव पड़ता है, आदि बातें रुचिकर शैली में कथानकों के माध्यम से समझायी गयीं हैं।

मामी का जीवन सादा था। वह बड़े सरल स्वभाव की थीं। इतना धीमे बोलती थीं कि पास खड़ा तीसरा व्यक्ति नहीं सुन सकता था। काष्ठजिह्वा स्वामी रचित "शिवमनोरंजनी" उनका मुख्य पाठ्य ग्रन्थ था। पुस्तक स्वामी जी के भजनों का

संग्रह था। उसे वे प्रायः पढ़ती रहती थीं। पुस्तक आज से ७० वर्ष पूर्व छपी थी। अब अप्राप्य है। उसे आज भी सर्वदा अपने पास रखता हूँ। दूसरी पुस्तक जिससे उन्हें बहुत स्नेह था, वह थी 'योग वासिष्ठ'। मुझे अच्छी तरह याद है कि पुस्तक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १९१६ ई० में छपी थी।

मेरी समझ में अब आ रहा है। वह कौन-सा सम्बल था और है जिसके कारण अक्षतयोनि हिन्दू विधवाएँ संसार के दूषित वातावरणों, विश्व के मायाजालों, काम के प्रलोभनों में अडिग, निश्चल, सात्विक जीवन यापन द्वारा अपनी यौवन-श्री को प्रसन्नतापूर्वक सुखाकर एकमात्र भगवान् के चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करती हैं।

यह है भारतीय नारी की अतुलनीय, अमोघ-शक्ति। वह मिलती है। उस अजस्र स्रोत द्वारा जो हमारे दार्शनिक ग्रन्थों में विद्यमान है। जिसने मनुष्य को चैतन्य, शक्ति स्रोत पुंज, विश्व में एकाकी, अविचल, किसी भी परिस्थितियों का दृढ़तापूर्वक सामना करने योग्य बनाया है। उनके रचनाकार महान् मनीषियों को मैं अंजलिबद्ध नमन करता हूं। उनकी चरण रज की पवित्र रेणु में अपने को भूल जाने में, अपने प्राक्तन पुण्य का उदय मानूंगा।

मुझे अक्षर का कुछ बोध हुआ। मैं अपनी मामी के पास बैठता। वह 'योग वासिष्ठ' पढ़तीं। मैं सुनता। मामी ने अपने बासठ वर्ष का वैधव्य-जीवन इन्हीं पुस्तकों को पढ़ते हुए अत्यन्त सात्विक रूप से व्यतीत किया था। मुहल्ले-टोले में किसी ने उनका खुला मुख नहीं देखा था। श्वेत चादर, श्वेत साड़ी उनके वसन थे। सर से कभी कपड़ा नीचे नहीं उतरा। घर में भी किसी से बात करतीं, अपने से छोटों से भी बोलतीं, तो घूंघट आँखों तक लटकता रहता था। आज मैं सोचता हूं। उन्होंने किस प्रकार इतना लम्बा काल एकाकी व्यतीत किया, तो आश्चर्य होता है। कहना पड़ता है हिन्दू धर्म की यह वह रहस्यमयी शक्ति है जो हमारी शिराओं में स्थिर होकर बैठ गई है।

यह पुस्तक 'योग वासिष्ठ' हिन्दी भाषा में थी। पाटियाला के राजा साहब सिंह की दो बहनें विधवा हो गयी थीं। उन्हें साधु राम प्रसाद निरंजनी ने पंजाबी भाषा में सुनाया था। उसे दो लेखक लिखते जाते थे। कथा-समाप्ति के पश्चात् उसे एक ग्रन्थ के रूप में छाप दिया गया था। यह घटना सम्भवतः आज से १९० वर्ष पूर्व की है। कालान्तर में इसी पंजाबी का उल्था खड़ी बोली में सन् १९१६ ई० में कराकर नवल किशोर प्रेस ने छाप दिया था। यह अनुवाद सर्गों में नहीं है। अतएव 'योग वासिष्ठ' का सार इसमें आ गया है।

काशी हिन्दू स्कूल, तत्पश्चात् हिन्दू विश्वविद्यालय का विद्यार्थी होने के नाते धार्मिक विषयों में अभिरुचि बढ़ती गयी। स्व० डा० एनीबेसेण्ट जैसी विदेशी महिला

का हिन्दू धर्म के प्रति अनुराग, मालवीय जी महाराज के प्रवचन तथा समय-समय पर हिन्दू स्कूल और हिन्दू विश्वविद्यालय में अन्य पंडितों के भाषण; रामकृष्ण मिशन, जो मेरे निवास-स्थान मुहल्ला घीहट्टा, बनारस के समीप था, वहाँ की प्रार्थना, भजन के कारण समय-समय पर मस्तिष्क को धार्मिक खुराक मिलती जाती थी।

सन् १९३० ई० मेरी जेल यात्रा हुई। मैं बनारस जेल से मथुरा जेल भेजा गया। साथियों में मथुरा के दो बंगाली राजनैतिक कैदी थे। शायद उनमें एक का नाम बैनर्जी था। उनका सम्बन्ध प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन से था। उनके पास श्री पंचानन महामहोपाध्याय द्वारा अनुवादित प्रवासी प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित बंगला 'योग वासिष्ठ रामायण' थी। पुस्तक ८५४ पृष्ठों में थी। पृष्ठ में दो कालम थे। महीन टाइप था। परन्तु छपाई साफ और सुन्दर थी।

काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद्मश्री डा० भीखनलाल आत्रेय जी ने 'योग वासिष्ठ' का विशेष अध्ययन किया है। वे मेरे मित्र रहे हैं। यद्यपि १९५७ ई० के निर्वाचन में मेरे विरुद्ध लोकसभा का चुनाव लड़े थे। लेकिन हम लोगों का यह चुनाव-संघर्ष शुद्ध, आदर्श एवं लोकतन्त्रीय था। पारस्परिक व्यवहार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। उनके लेखों और पुस्तकों के कारण 'योग वासिष्ठ' की तरफ ध्यान आकर्षित होता रहा।

सन् १९२१ ई० के जेल जीवन में मैंने कुछ बंगला पढ़ना सीखा था। काकोरी षड्यन्त्र के ख्यातिप्राप्त बन्दी श्री मन्मथनाथ गुप्त मेरे साथ सन् १९२१ ई० में जेल में थे। उन्होंने मुझे बंगला सिखायी थी। जेल से छूटने के पश्चात् उनके कुटुम्ब के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इनके छोटे भाई श्री मनमोहन गुप्त काशी गान्धी आश्रम स्कूल में मेरे सहपाठी थे। इन्हें प्रसिद्ध मनमाड षड्यन्त्र बम काण्ड में लम्बी सजा राजद्रोह के अपराध में मिली थी। उनके पिता स्व० श्री बीरेश्वर बाबू स्कूल में अध्यापक थे। गान्धी जी के आह्वान पर नौकरी छोड़ दी थी। गांधी आश्रम के स्कूल में अध्यापक हो गये थे। उन दिनों खालिसपुरा, वाराणसी शहर में रहते थे। एक बंगला पुस्तक उनके यहाँ से लाया। मुझे अच्छी तरह याद है। वह पुस्तक मैंने तकादा करने पर भी नहीं लौटाई। बंगला पढ़ता रहा। बंगला का यह ज्ञान मथुरा जेल में मेरा सहायक सिद्ध हुआ। 'योग वासिष्ठ' बंगला अनुवाद को मथुरा जेल में पढ़ना आरम्भ किया। मुझे अनुवाद सरस और प्रामाणिक लगा। उसकी भाषा सतुलित तथा प्रांजल थी। मूल योग वासिष्ठ में एक ही विषय की पुनरावृत्तियों के कारण एक प्रकार की दिमागी थकान आ जाती है। उसका इसमें अभाव था।

सन् १९४० ई० में मुझे श्री भीखनलाल आत्रेय की 'योग वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त' नामक पुस्तक मिली। उन्होंने पुस्तक मुझे भेंट की थी। उस पुस्तक की

'इन्द्रजाल' कहानी मुझे बहुत पसन्द आयी। उस के आधार पर मैंने अपना प्रसिद्ध उपन्यास "इन्द्रजाल" लिखा। उसकी भूमिका डाँ० भीखनलाल जी ने लिखी थी। पुस्तक सन् १९४० ई० में प्रकाशित भी हो गयी। हिन्दी जगत् में अच्छा स्वागत हुआ। उसके अब तक दो-तीन संस्करण हो चुके हैं।

सन् १९४२ ई० में सेन्ट्रल जेल, बनारस में श्री दुर्गादास भट्टाचार्य मेरे साथी कैदी थे। सन् १९२१ ई० से वे मेरे साथी राजनीतिक कार्यकर्ता थे। दिन बितने के साथ दोनों हृदय एक होते गये। उनके पास प्रवासी प्रेस द्वारा पचास वर्ष पुरानी 'योग वासिष्ठ रामायण' बंगला पुस्तक थी। श्री दुर्गादास को 'योग वासिष्ठ' रामायण बहुत प्रिय थी। उनके पिता अपने समय के काशी के प्रतिष्ठित विद्वान थे। मैंने उनसे वह पुस्तक जेल में पढ़ने को लिया। १९३० ई० में देखी पुस्तक पुनः जेल में अचानक मिल जायेगी, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

पुस्तक पढ़ना आरम्भ किया। भाषा संस्कृत-बहुल थी। कारक और विभक्तियों के अतिरिक्त सभी कुछ बोधगम्य, परिष्कृत हिन्दी-तुल्य था। पढ़ने और समझने में कुछ कठिनाई नहीं हुई। यह अनुवाद मूल 'योग वासिष्ठ' से अच्छा लगा। पुस्तक आद्योपान्त कई बार पढ़ गया।

जेल से छुटने पर श्री दुर्गादास ने मुस्कराकर एक दिन पुस्तक की चर्चा की। मैं भी मुस्कराकर रह गया। इन मुस्कान में पुस्तक मेरे पास रह गयी। अपने पिता की स्मृतिस्वरूप पुस्तक होने पर भी दुर्गा बाबू ने पुनः कभी उसका प्रसंग नहीं छेड़ा।

जेल में समय काटना था। जीवन के उषा काल से धर्म की ओर रुचि रही है। अपना वातावरण युयुत्सु प्रिय होने पर भी धार्मिक रहा है। श्री काशी विश्वनाथ तथा तुलसीदास जी के स्थानों से मेरे कुटुम्ब का शताब्दियों से सम्बन्ध रहा है। मन में आया कि योग वासिष्ठ की कहानियों को हिन्दी में लिख डालूँ। डा० भीखनलाल आत्रेय ने अपनी, 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त' नामक पुस्तक में ५१ कहानियों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया है। वह पुस्तक मैंने घर से जेल में मँगा ली। इसके साथ-ही-साथ करीब ४० वर्ष पहले की अपनी मामीवाली पुस्तक, जिसे उन्होंने एक ब्राह्मण, (स्व० श्री मथुरा मिश्र) को दे दिया था और जिसकी स्मृति मुझे हरी थी, को भी मँगा लिया। स्वर्गीय मथुरा मिश्र उस पुस्तक को पढ़ते थे। मामी से पढ़ने के लिए उधार माँगा था। अनेक तगादों के बावजूद पंडितजी ने पुस्तक नहीं लौटायी। मुझे अच्छी तरह याद है। मामी और मेरे मझले मामा में, जिन्हें मैं मामा कहता था परन्तु वास्तव में वे मेरे पिता के मामा थे, इस प्रश्न को लेकर खूब कहा-सुनी हुई थी। पुस्तक वापस नहीं मिलती देखकर मामी ने पुस्तक को नवीन वस्त्र के बेठन में बँधवाकर और एक रुपया उसपर दक्षिणा रखकर पुस्तक उन्हीं को दान दे दिया।

इस प्रकार एक कौटुम्बिक कलह का अध्याय बन्द हुआ था। दो कुटुम्बों का मन-मुटाव शांत हुआ।

श्री मथुरा मिश्र की एक मात्र सन्तान उनका युवक पुत्र था। उसका देहान्त हो गया। मुझे वे अपने पुत्र की तरह मानते थे। एक प्रकार से उनके कुटुम्ब का भार अपने ऊपर आ पड़ा। मैं अपने माता-पिता का इकलौता बेटा था। अपने पिता के तीनों मामाओं के निस्सन्तान होने के कारण उन्हीं के यहाँ डेढ़ वर्ष की आयु में अपने पिता के घर से आ गया था। और मामी का भी एक मात्र सहारा था। एक सम्पन्न गृहस्थ के नाते जो कुछ भी प्राप्त हो सकता था मुझे मिल जाता था। अतएव इस पुस्तक के लिए जेल से कहलवाया। 'भाषा योग वासिष्ठ' तुरन्त मथुरा मिश्र के यहां से मेरे पास पहुँच गयी।

मूल संस्कृत पुस्तक मुझे नहीं मिल सकी। उन दिनों जेल में केवल दो पुस्तकों के रखने की राजनीतिक कैदियों को अनुमति थी। अतएव मैंने इन्हीं दोनों पुस्तकों के आधार पर अपनी कहानियाँ लिखना आरम्भ किया।

सिक्यूरिटी कैदी होने के कारण जेल में लिखने-पढ़ने की सामाग्री पर प्रतिबन्ध था। द्वितीय महायुद्ध का समय था। जेल में विशेष सतर्कता बरती जाती थी। लिखी हुई सामाग्री बाहर भेजना प्राय: असम्भव था। बाहर से कागज नहीं मँगाया जा सकता था। मैंने जेल के कार्य में आनेवाले छपे हुए फार्मों की पीठ पर पुस्तक लिखना प्रारम्भ किया। पचास पृष्ठ तैयार हो जाने पर जेल-वार्डर के द्वारा उन्हें किसी प्रकार घर भिजवा देता था। वार्डर घर पर जाकर यथेष्ट पारिश्रमिक ले लेता था। निस्सन्देह वार्डर ने ईमानदारी से काम किया। इस प्रकार सन् १९४४ ई० तक मेरी समस्त पुस्तक जेल के कागजों पर लिखी हुई घर पहुँच गयी।

मैं जेल से छुटा। विचार हुआ। पुस्तक छपवाऊँ। अंग्रेजी हकूमत थी। तलासी का भय था। पुस्तक यदि किसी के हाथ पड़ गयी, तो मुझ पर आफत आ जायेगी। अतएव पाण्डुलिपि एक मित्र के यहाँ रख दिया। पता लगने पर मैं, जेल अधिकारी तथा वार्डर सभी दिक्कत में पड़ सकते थे। अपने कष्ट की अपेक्षा पाण्डुलिपि की सुरक्षा की विशेष चिन्ता थी।

उन दिनों 'संसार प्रेस' से 'संसार' दैनिक पत्र निकल रहा था। इसके सर्वेसर्वा श्री ज्योतिभूषण जी थे। वे मेरे बाल्यमित्र हैं। उन्होंने कहा कि मैं पाण्डुलिपि को शुद्ध करके उन्हें दे दूँ। वे छपवा देंगे।

मुझे स्मरण है। मैंने चार महीना कठिन परिश्रम किया। पूरी पुस्तक जेलवाली पाण्डुलिपि के आधार पर तैयार कर दिया। उन्हें छापने के लिए दिया। किन्तु, पुस्तक प्रकाशित होना तो दूर रहा, सारी-की-सारी पाण्डुलिपि लोप हो गयी। उसका दर्शन जीवन मैं पुन: नहीं हो सका। मुझे अपने जीवन में यह एक गहरा धक्का लगा। लेकिन मैं दुनियां से इस प्रकार के धक्के खाने का आदि हो चुका हूँ।

सन् १९५२ ई० में संसद का सदस्य निर्वाचित किया गया। दिल्ली में बैंक-बेंचर बना। काफी अवकाश मिल जाता था। मैंने अपनी १९४० ई० वाली पाण्डुलिपि जो पेंसिल से जेल में लिखी थी पुनः निकाली। लगभग दो वर्ष में समस्त कहानियाँ साफ कर लिया। उन कहानियों का प्रकाशन क्रमशः काशी के स्थानीय साप्ताहिक पत्र 'सन्मार्ग' तत्पश्चात् 'विवेक' में होने लगा। कुछ कहानियाँ 'कल्याण' गोरखपुर, 'स्वतंत्र भारत' लखनऊ, 'सैनिक' आगरा, 'प्रताप' कानपुर, 'नया भारत' लखनऊ तथा अन्य समाचारपत्रों में छपीं।

कहानियों का स्वागत हुआ। चारों तरफ से माँगें आने लगीं। किन्तु 'सन्मार्ग' के सम्पादक की राय थी, कहानियाँ उन्हीं के यहाँ से प्रकाशित की जायँ। अतएव मैंने अपनी समस्त पाण्डुलिपि जो लगभग ५०० पृष्ठों की थी, उनको दे दिया। मेरे मित्र श्री दुर्गादास भट्टाचार्य की 'मानसरोवर यात्रा वर्णन' और मेरी कहानियाँ एक साथ 'सन्मार्ग' में काशी से प्रकाशित होने लगीं। कालान्तर में साप्ताहिक 'सन्मार्ग' बन्द हो गया। मैंने साफ की हुई पाण्डुलिपि की खोज की। किन्तु, मिल न सकी। चुप होकर बैठ रहा। कुछ कहानियाँ पत्रिकाओं में छपी थीं। उनकी कटिंग को संग्रह कर लिया।

सन् १९६१ ई० तक ज्ञानमण्डल यंत्रालय, काशी से मेरी चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। 'योग वासिष्ठ कथा' को प्रकाशित करने का भार उन्होंने उठाया। प्रकाशित कहानियों को मैंने डॉ० श्री भीखनलाल आत्रेय को शोध के लिए दिया। उन्होंने सरसरी निगाह से उन्हें देखकर वापस कर दिया। अप्रकाशित कहानियों को मैंने पुनः अपनी स्मरण-शक्ति से दूसरी बार लिखा।

उन दिनों अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय से 'योग वासिष्ठ' मूल और भाषा में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक ६२९८ पृष्ठों की है। मैंने पूरी पुस्तक खरीद ली। जेल की मूल पाण्डुलिपि के आधार पर शेष कहानियाँ लिखकर ज्ञानमण्डल यंत्रालय को दे दिया। यह कार्य एक वर्ष के कठिन परिश्रम का परिणाम तो था, परन्तु पाण्डुलिपि खो गयी।

सन् १९६३ ई० में मेरे मित्र श्री कृष्णचन्द्र बेरी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ने मेरी पुस्तक 'रामायण कथा' प्रकाशित की। उसी समय 'योग वासिष्ठ'

प्रकाशित करने की बात उठी। वे प्रकाशित करने के लिए सन्नद्ध हो गए। अब प्रश्न उपस्थित हुआ कि कहानियाँ लिखी कैसे जायँ। उन्हीं दिनों कल्याण का संक्षिप्त 'योग वासिष्ठ विशेषांक' भी निकला था। यह विशेषांक ७०० पृष्ठों का है। केवल भाषा में है।

मैंने बहुत प्रयास किया कि मेरी जेलवाली पुरानी पाण्डुलिपि मिल जाय। किन्तु वह नहीं मिली। प्रकाशित कहानियाँ, जिनकी कटिंग के आधार पर पुस्तक बनाकर ज्ञानमंडल में दिया था, न मिलने के कारण एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई। उन्हें कैसे पूरा किया जाय? 'सन्मार्ग' और 'विवेक' कार्यालय में पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं थीं। काशी में कई जगह खोज की। नहीं मिली। पुस्तक लिखने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। सामग्री एकत्रित करना आरम्भ किया। संसदीय कांग्रेस दल के मन्त्री होने के कारण कार्य का भार बढ़ता गया। इन्हीं दिनों मेरा संसदीय मन्त्रित्व के लिए पुनः चुनाव का समय आ गया। सफलता मिली। उलझनों से खाली होने पर लिखने में लग गया।

अच्युत ग्रन्थमाला का 'संस्कृत हिन्दी योग वासिष्ठ', 'बंगला योग वासिष्ठ रामायण', कल्याण का 'संक्षिप्त योग वासिष्ठ विशेषांक' तथा इस सम्बन्ध की उपलब्ध पुस्तकें काशी विश्वविद्यालय तथा अन्य स्थानों से संग्रह किया। श्री आत्रेय जी की 'योग वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त' की मेरी प्रति गायब हो गयी थी। पुस्तक विक्रेताओं के पास उपलब्ध नहीं थी। उसे प्रकाशित हुए २८ वर्ष बीत चुके थे। पुस्तक मिल नहीं सकी। एक दिन अपने निवास स्थान, काशी में पुनः खोजना आरम्भ किया।

मेरी विधवा सरहज श्रीमती राम बाला देवी के सन्दूक में एक प्रति मिली। उसे श्री आत्रेय जी अपनी कन्या की तरह मानते थे। उसके पिता और आत्रेय जी बालमित्र थे। उन्होंने उसे एक प्रति दिया था। स्त्रियाँ चीजों को सनच कर रखती हैं। वह बाल विधवा है। धर्म की ओर अतीव रुचि है। मेरे साथ काशी में रहती है। उसके मिलने पर मुझमें नवीन उत्साह आ गया। इसमें भगवान का हाथ देखा। अपनी जेलवाली पाण्डुलिपि से निराश हो चुका था। घर पर बहुत खोजा। नहीं मिली। दिल्ली में अपनी फाइलों में खोजा। वहाँ भी नहीं पा सका।

अकस्मात् एक दिन मैं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में पहुँचा। पहले मालूम हुआ कि 'सन्मार्ग' और 'विवेक' की फाइलें नहीं हैं। परन्तु एक पुराने कर्मचारी ने मेरी विनम्रता देखकर उन्हें ढूँढ़ निकाला। 'सन्मार्ग' और 'विवेक' की कुछ प्रतियाँ मिल गयीं। एक-दो प्रतियाँ श्री विश्वनाथ त्रिपाठी, भदैनी से प्राप्त हुई। इस प्रकार कुल ९ प्रकाशित कहानियों की प्रतियाँ मुझे प्राप्त हो गयीं। और २३ कहानियाँ, जहाँ से वे प्रकाशित हो चुकी थीं प्राप्त किया। शेष कहानियाँ मैंने अपने नई दिल्ली के निवास-स्थान, १५, केनिंग लेन में पुनः लिखना आरम्भ किया।

एक दिन मैं दिल्ली में अपने कागजों का कूड़ाखाना साफ कर रहा था। मनों कागज एकत्रित हो गये थे। कबाड़ी को देने के पहिले सतर्कता की दृष्टि से उन्हें देखता था। उसमें सन् १९४२ ई० वाली पेन्सिल की पाण्डुलिपि अनायास बिखरी मिल गयी। ज्ञानमण्डल के लिए जब इसके आधार पर कहानियाँ लिख चुका, तो उन्हें व्यर्थ समझ कर फेंक दिया था। मेरे युवाकाल २२ वर्ष पूर्व की लिखी थीं। उनसे मुझे प्रेरणा मिली। उसको पुनः आधार मानकर, नवीन सामग्रियों के साथ कहानियाँ लिखने में हाथ लगाया।

जितने ग्रन्थ उपलब्ध हो सके, उन सबको मैंने एकत्रित कर लिया। अप्रकाशित कहानियों को नये सिरे से लिखना आरम्भ किया। इस प्रकार ६४ कहानियों में ३९ कहानियाँ मैंने फिर से लिखा। 'राम वैराग्य' कहानी में पृष्ठ १८-४२ और 'लीला' में पृष्ठ १०१-१३३ तक मैंने सन् १९६३ ई० में लिखा है। शेष उसका प्राचीन प्रकाशित अंश है। उनका मुद्रित अंक मिल गया था। जो नहीं प्राप्त थे, उन्हें पुनः लिखा। इस प्रकार मार्च १९४२–१९४८ ई० और सन् १९५३ ई० में एवं सन् १९६३ ई० में एक ही कहानियाँ पाण्डुलिपि के खो जाने के कारण चार बार लिखनी पड़ीं। अन्तिम बार ३९ कहानियाँ चौथी बार सन् १९६३ ई० में 'योग वासिष्ठ', 'कच गीता', 'आकाशज', 'एन्दवोपाख्यान', 'माण्डव्य', 'इन्द्रजाल', 'शुक', 'नगर', 'दाम व्याल कट', 'भीम भास दृढ़', 'उपमन्यु', 'दाशूर' 'जनक', 'पुण्य-पावन', 'बलि', 'प्रह्लाद', 'गाधि', 'उद्दालक', 'वीतराग', 'सुरघु', 'भास-विलास', 'वीतहव्य' 'काक भुशुण्ड', 'ईश्वर', 'विल्व', 'जीवटाख्यान', 'वेताल', 'भगीरथ', 'चुड़ाला', 'किराट',

'इक्ष्वाकु', 'मनमृग', 'ब्रह्ममस्तक', 'वटधाना', 'सिन्धुराज', ब्रह्मनील शिला', 'ब्रह्माडोपाख्यान', 'काष्ठ वैवधिक', 'प्रज्ञप्ति', एवं 'रामशिष्यत्वोपाख्यान' फरवरी से अप्रेल सन् १९६३ ई० के मध्य में लिखा।

युवाकाल की साहित्यिक रचनाएँ अधिक सरस तथा भावनात्मक होती हैं। यह काल का प्रभाव है। मनुष्य आयु वृद्धि के साथ रूढ़ होता जाता है। वह रूढ़ भाव इन कहानियों में परिलक्षित हो सकता है। पुरानी कहानियों में और नवीन कहानियों की भाषा में अन्तर पाठकों को अवश्य मिलेगा। पुरानी कहानियाँ ३४ वर्ष के युवा काल की रचनाएँ हैं। और नवीन लिखी गयी हैं ५४ वर्ष की आयु में। मनुष्य के बीस वर्ष के विचारों और शैली में एक ही विषय और सामग्री को लेकर कितना अन्तर पड़ सकता है, उसका यह एक उदाहरण उपस्थित करता है।

श्री आत्रेय जी की तालिका में ५१ कहानियाँ हैं, जिसे उन्होंने 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (१९९४ विक्रम संस्करण) में दिया है। उनकी तालिका की कहानियों में से अर्जुनोपाख्यान मैंने यहाँ नहीं दिया है, क्योंकि यह श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है। गीता-रूप में साधारणतः सभी लोगों के लिए उपलब्ध है। श्री आत्रेय की तालिका के अतिरिक्त १३ कहानियाँ और मैंने इसमें जोड़ी हैं। इस प्रकार कुल कहानियों की संख्या ६४ हो गयी है। मैं समझता हूँ कि यह तालिका पूर्ण है। इससे अधिक कहानियों का उल्लेख 'योग वासिष्ठ' ग्रन्थ में नहीं मिलेगा।

शतरुद्रोपाख्यान, तुर्यावस्था मुनि की कथा और तापसोपाख्यान को क्रम से मैंने जीवट, काष्ट मौन और कुदंत नाम दे दिया है। ये नाम अधिक बोधगम्य तथा परिशुद्ध हैं।

'योग वासिष्ठ, उत्तर रामायण कहा जाता है। इसके लेखक और लेखन काल के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं हैं। 'योग वासिष्ठ' में सर्गों के अन्त में इसे 'योग वासिष्ठ महारामायण' की संज्ञा दी गयी है। प्रचलित नाम 'योग वासिष्ठ' है। उसी का प्रयोग मैंने किया है। रचयिता तथा रचना काल के विवाद में नहीं पड़ना चाहता। इस विषय में मेरे अपने विचार हैं। उन्हें फिर कभी लिखने का प्रयास करूँगा।

कहानियाँ, जिस रूप में 'योग वासिष्ठ' में दी गयी हैं, उसी रूप में और उसी शैली में हिन्दी में लिखने का प्रयास किया है। एक ही कहानी पुराणों, रामायण तथा

महाभारत एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में विविध शैलियों तथा घटनावलियों में लिखी पायी जाती हैं। योग वासिष्ठकार ने कहानियों को आध्यात्मिक तथा दार्शनिक जामा पहनाया है। प्रस्तुत कहानियों और अन्य स्थानों में लिखी गयी इन्हीं कहानियों के कथानक तथा घटनावलियों में अन्तर मिलेगा। अन्य ग्रन्थों में लिखी हुई अन्य कहानियाँ घटना-बहुल हैं।

इस पुस्तक के सन्दर्भ निमित्त, 'वाल्मीकि रामायण, 'महाभारत', 'संक्षिप्त योग वासिष्ठ', गीता प्रेस, गोरखपुर, 'योग वासिष्ठ', नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 'योग वासिष्ठ रामायण' बंगला अनुवाद प्रवासी प्रेस कलकत्ता' 'आनन्द रामायण'; पण्डित कार्यालय, काशी तथा 'योग वासिष्ठ' संस्कृत एवं हिन्दी, अच्युत ग्रन्थमाला काशी; का उपयोग किया है।

पुस्तक की भाषा कुछ कठिन और संस्कृत-बहुल अवश्य लगेगी। किन्तु यह अवश्यम्भावी है। धार्मिक कहानियाँ तथा दार्शनिक शब्दों के कारण 'योग वासिष्ठ' में प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया है। 'योग वासिष्ठ' की कथा शैली और भाषा के मूल लेखक की भावनाओं को यथा साध्य समीप रखने का प्रयास किया है।

पाण्डुलिपि से टाइप करने में सर्वश्री अर्जुन राव और चन्द्रदेव पाण्डे से विशेष सहायता मिली है। इन्हीं लोगों ने मेरी अत्यन्त खराब लिखावट को टंकणितकर मुद्रण कार्य प्रशस्त किया हैं।

कार्य पूर्ण हुआ। इसे मैं भगवान् का आशीर्वाद समझता हूँ। पाठकों को पढ़ने में संस्कृत शब्दों के कारण असुविधा होगी, इसका मैं अनुभव करता हूँ। इसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। यदि इसके सरलीकरण के चक्कर में पड़ता, तो इसका मौलिक रूप नष्ट हो जाता। शब्दों का प्रयोग जिस अर्थ में योग वासिष्ठकार ने किया है, उसमें अन्तर पड़ जाता।

हिन्दी का भविष्य संस्कृतबहुल भाषा होने पर निर्भर करता है। उर्दू के अतिरिक्त भारत की सभी भाषाओं में संस्कृत के प्रचलित शब्द एक-जैसे हैं। अहिन्दी भाषा-भाषी संस्कृतबहुल भाषा को अधिक सरलता से समझ लेता है। यह मैं अपने संसद के अनुभव से कह सकता हूँ। संसद में भारतवर्ष के सभी भागों के सदस्य हैं। उनका सर्वदा यह

मत रहा है कि यदि भाषा में संस्कृत शब्द अधिक हों, तो वे पचहत्तर प्रतिशत वक्ता का भाव समझ जाते हैं। कठिनता केवल क्रिया, विभक्तियों तथा लिंगों के कारण होती है। मेरा यह एक दृष्टिकोण है। हो सकता है कि कुछ लोगों को भावनावश नापसन्द हो।

बिना कुछ योग का अभ्यास तथा उसका सैद्धान्तिक ज्ञान समझे भारतीय दर्शन तथा धार्मिक ग्रन्थों को समझना कठिन है। योगाभ्यास बिना किए तथा योग का अनुभव हुए यदि कुछ लिखा जाता है, तो वह शुष्क सिद्धान्त मात्र रह जाता है। मुझे सन् १९३० ई० से योग के प्रति रुचि रही है। मैं गत् ३० वर्षों से आसन; प्राणायाम तथा अन्य साधन करता हूँ। अतएव 'योग वासिष्ठ' के समझने में मुझे विशेष कठिनता कभी नहीं हुई।

ग्रन्थ के नाम से बोध होता है कि योग का ग्रन्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में बात ठीक है। यौगिक क्रियाओं तथा योग के अनेक क्षेत्रों, मुख्यतः जिनका सम्बन्ध मन से है, खूब वर्णन किया गया है। प्रत्येक बातों, चमत्कारों आदि की यौगिक व्याख्या तथा स्पष्टीकरण है। प्रत्येक कहानी की पीठिका किसी-न-किसी दार्शनिक तथा यौगिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। उनकी व्याख्या करने के लिए, उन्हें समझाने के लिए कहानियाँ की सरल शैली अपनायी गयी है। मैंने भी इसी शैली का अनुकरण किया है। कहानियाँ घटना-बहुल नहीं अपितु तत्व-बहुल हैं।

आज यदि मुझे यह ग्रंथ लिखना हो तो मैं नहीं लिख सकता। न जाने किन अज्ञात कारणों से इस ग्रंथ की पाण्डुलिपियाँ लोप होती रहीं और लिखी जाती रहीं। अपने धैर्य तथा लगन पर विचार करता हूँ, तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। जैसे कोई एक अज्ञात प्रेरक-शक्ति थी जो मुझे निरन्तर इस ओर प्रेरित करती रही। इस प्रेरक-शक्ति का विषय विश्लेषण शायद स्वतः 'योग वासिष्ठ' ग्रंथ है। अतएव मैं उस प्रेरक-शक्ति को आज से २३ वर्ष पूर्व आरम्भ किए इस ग्रन्थ की समाप्ति पर शिरसा नमामि करता हूँ।

'रामकथा' के समान यह ग्रंथ मैं भारतीय कांग्रेस संसदीय दल तथा उसकी कार्यकारिणी को समर्पित करता हूँ, जिसके मंत्री (१९६४–१९६५ई०) के रूप में भारतीय राजनीति के नीति-निर्धारण एवं समस्याओं पर विचार करने तथा किसी परिणाम पर पहुँचने में सदस्यों से सहायता मिलती रही है। भारत का शासन सूत्र कांग्रेस दल के

हाथों में है। में यह दृढ़तापूर्वक बलवती भाषा में कह सकता हूँ कि कार्यकारिणी ने समय-समय पर देश को उचित मार्गदर्शन कराया है।

इच्छा थी कि यह पुस्तक पण्डित जवाहरलाल के जीवन काल में प्रकाशित हो जाती। उनके जीवन के अन्तिम अध्याय में उनसे निकट का सम्बन्ध हो गया था। उनसे भारतीय धर्म तथा सिद्धान्तों के विषय में विचार विनिमय होता था। अनेक कारणों से यह पुस्तक उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सकी। कदाचित् भगवान की इच्छा कुछ और रही होगी।

यह पुस्तक काशी में मुद्रित हुई है। मैं नई दिल्ली में था। एतदर्थ मुझे प्रूफ संशोधन का अवसर नहीं मिल सका। इसका प्रूफ श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' तथा श्री बालेश्वरप्रसाद रैना ने देखा है। श्री कृष्णचन्द्र बेरी के उत्साहमय आयोजन से पुस्तक का निकलना सम्भव हुआ है। अतएव हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी तथा विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा०) लि० के सभी लोगों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके सहयोग के बिना इसको प्रस्तुत रूप शायद न प्राप्त हो सकता।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

श्री रघुनाथ प्रसाद शर्मा के यशस्वी पुत्र श्री हनुमान प्रसाद शर्मा को मैंने योगवासिष्ठ दिया था। जब श्री कृष्णचंद्र बेरी ने द्वितीय संस्करण की बात चलायी तो मेरे पास कोई प्रति नहीं थी। श्री हनुमान प्रसाद शर्मा ने बहुत ही सहज भाव से वह पुस्तक मुझे दे दी। वही पुस्तक इस संस्करण का आधार बनी। इस कार्य में कृष्णमुरारी सिंह संतोष कुमार सिंह की पूर्ववत् सेवा एवं सहयोग प्राप्त होती रही है।

श्री गुरु प्रसाद सिंह जो मेरे दूर के सम्बन्धी होते हैं उनका योगदान मिलता रहा है। ये सभी लोग धन्यवाद के पात्र हैं। उस अव्यक्त शक्ति से मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि भगवान् उन्हें उनके उज्ज्वल भविष्य में सर्वदा आशीर्वाद देता रहे।

यह पुस्तक १९६५ ई० में प्रकाशित हुई थी। तत्पश्चात् हिन्दी प्रचारक संस्थान ने अनेक कारणों से पुस्तक प्रकाशन में २३ वर्ष का विलम्ब किया। १९७९ तथा धार्मिक लोगों ने पुस्तक प्रकाशन के लिए जोर दिया। अन्ततोगत्वा पुस्तक प्रकाशन का बीड़ा श्री बिट्ठलदास चौखम्बा संस्कृत सीरीज ने उठाया। पुस्तक में कुछ विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई।

पुस्तक मेरे पास नहीं थी। प्रथम संस्करण की एक प्रति मुझे श्री हनुमान प्रसाद शर्मा से प्राप्त हुई। उनको मैंने यह पुस्तक उनके स्वर्गीय पिता श्री रघुनाथ शर्मा जी को दिया था। वे इस पुस्तक के बड़े प्रशंसक थे। श्री हनुमान प्रसाद शर्मा ने यह पुस्तक मुझे दी। वही इस संस्करण का मूल प्रति के रूप मानना चाहिए। मैं श्री हनुमान प्रसाद शर्मा को उनकी इस सहयोगिता के लिए धन्यवाद देता हूँ।

पुस्तक प्रकाशन में चौखम्बा के श्री बिट्ठलदास जी ने तथा हिमालय प्रेस ने जिस लगन से कार्य किया है उसके लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

आत्मने नमः—

१५, कैनिंग लेन,
नई दिल्ली।
१ मई, सन् १९६५।

—रघुनाथ सिंह

योगवासिष्ठ कथा

वैराग्य-प्रकरण	पृष्ठ
योग-वासिष्ठ	३
राम-वैराग्य	१८
मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरण	
शुक	७१
वसिष्ठ	७८
उत्पत्ति-प्रकरण	
आकाशज	८५
लीला	९१
कर्कटी	१३४
एन्दवोपाख्यान	१५३
अहल्या	१६०
माण्डव्य	१७२
चित्त	१८७
बाल आख्यायिका	१९२
इन्द्रजाल	१९४
स्थिति-प्रकरण	
शुक्र	२१७
नगर	२२८
दाम, व्याल, कट	२३०
उपमन्यु	२४०
भीम, भास, दृढ़	२४६
दाशूर	२५०
कच गीता	२६१
उपशम-प्रकरण	
जनक	२६५
पुण्य-पावन	२७६
बलि	२८३
प्रह्लाद	२९९
गाधि	३११
उद्दालक	३२५
वीतराग	३३२
सुरघु	३३५
विलास-भास	३४२
वीतहव्य	३४५

निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध

काक भुशुण्डि	३५९
ईश्वर	३७८
बिल्व	३९८
जीवटाख्यान	४००
वेताल	४०५
भगीरथ	४१०
चुडाला	४३०
किराट	४७२
कुम्भज	४७६
काँच-मणि	४७९
हस्ती	४८२
कच	४८४
मिथ्या पुरुष	४८८
भृंगीश	४९०
इक्ष्वाकु	४९३
काष्ट-मौन	५०५

निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध

विद्याधर	५११
इन्द्र	५१७
मंकी	५२५
मन-मृग	५३२
विवेक	५३५
पाषाण	५४०
शिला	५५३
विपश्चित	५५५
ब्रह्मस्तक	५६६
वटधाना	५६९
शव	५७१
सिन्धुराज	५९८
ब्रह्मनील शिला	६०६
ब्रह्माण्डोपाख्यान	६०९
कुन्ददन्त	६१३
काष्ठ वैवधिक	६२२
प्रज्ञप्ति	६२५
रामशिष्यत्वोपाख्यान	६२९

योग वासिष्ठ

वैराग्य-प्रकरण

- योगवासिष्ठ…
- राम-वैराग्य …

□

योगवासिष्ठ

'भगवन् !' सुतीक्ष्ण ने जिज्ञासु भाव से कहा : 'आप तत्त्वज्ञ हैं। आपको सब शास्त्रों का सुनिश्चित ज्ञान है।'

महर्षि अगस्त्य के लोचन सुतीक्ष्ण की ओर उठे। अगस्त्य का आश्रम था। यज्ञवेदी के सम्मुख उपरोपरि कुश, कृष्ण मृग-चर्म तथा वस्त्र के आसन पर ऋषि की मिथ्या काया शोभित थी। समिधा, कुशा तथा यज्ञ-सामग्री आदि अगस्त्य के स्पर्श-सुख के लोभ से वेदी के समीप पड़ी थी। यज्ञवेदी से सुगन्धित धूम्र-राजि ऋषि की श्रद्धा-भक्ति-तुल्य भगवान् के चरण-कमलों के दर्शनार्थ नीरव गगन की ओर शनैः-शनैः निर्गत हो रही थी। काया-अन्तर्गत दिव्य ज्योति की दीप्ति से आश्रम प्रदीप्त था। आश्रम का वातावरण सन्त-हृदय के समान शान्त था। द्वेष-राग-भय-रहित, मन के निर्मल साम्राज्य तुल्य आश्रम-स्थली में मृगेन्द्र, मृग, विहंगमादि निर्विकार, अपने मनोयोग में यत्र-तत्र चुपचाप तरुगण की सुशीतल छाया में स्थित थे। कुशासन की ओर संकेत करती हुई अगस्त्य की विमल दृष्टि उन्मीलित हुई।

'ऋषिवर !' सुतीक्ष्ण ने विनम्रतापूर्वक बैठते हुए कहा : 'एक महान् संशय का उदय हुआ। अन्तर्द्वन्द्व में उलझ गया हूँ।'

महर्षि की दिव्य दृष्टि सुतीक्ष्ण के जिज्ञासु मुख-मण्डल पर स्थिर होने लगी। महर्षि ने कमण्डलु के पवित्र जल ले आचमन किया।

'महात्मन्' सुतीक्ष्ण ने नमन करते हुए कहा : 'मेरा नाम सुतीक्ष्ण है। मै ब्राह्मण हूँ। सुपात्र हूँ। आपकी वाणी वृथा नहीं होगी।'

किंचित् अधरों पर आती मुसकान के साथ ऋषि के नेत्रों ने संकेत से आशीर्वाद दिया।

'ऋषिवर !' सुतीक्ष्ण ने कहा : 'आप धर्मतत्त्व तथा शास्त्रों के ज्ञाता हैं। एक शंका का उदय हुआ है।'

ऋषि के कमल-नेत्र यज्ञवेदी से उत्थित सुगन्धित व्योम-पंक्ति पर केन्द्रस्थ होने लगे।

'मुनि-पुंगव !' सुतीक्ष्ण ने विनीत भाव से कहा ।

'मोक्ष का कारण ज्ञान है या कर्म ? अथवा ज्ञान एवं कर्म दोनों हैं ? उक्त दोनों में मोक्ष का एकमात्र साधन कौन है ? यही इस अकिंचन की जिज्ञासा है ।'

'ब्रह्मन् !' अगस्त्य ने नीरव नील गगनगामी विहंगमों पर निर्निमेष दृष्टिपात करते हुए कहा : 'पक्षी एक पंख से उड़ नहीं सकता । वह दोनों पंखों से गति प्राप्त करता है । दोनों पंखों की सहायता से विहंगम उड़ते हैं । उसी प्रकार ज्ञान एवं कर्म दोनों के द्वारा परमपद की प्राप्ति होती है ।'

अगस्त्य के कमलाक्ष यज्ञवेदी की ओर से उठे । सुतीक्ष्ण की मुखमुद्रा में कुछ देखने लगे । सुतीक्ष्ण के नेत्र नत थे ।

'सुतीक्ष्ण !' अगस्त्य ने पुनः यज्ञवेदी की ज्वाला में जैसे कुछ देखते हुए कहा : 'केवल ज्ञान अथवा कर्म एक से मोक्ष प्राप्त नहीं होता । मोक्ष निमित्त दोनों को उपयोगी मानकर लोग उनका विवेचन करते हैं ।'

सुतीक्ष्ण ने कुछ उत्तर नहीं दिया । सूत्रवत् कही बात सुतीक्ष्ण के मन में स्थान नहीं कर सकी । उनकी मुखमुद्रा से यह बात स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रही थी । नव-पल्लवों में कूजती कोयल की ओर ऋषि मुहूर्त मात्र देखकर बोले ।

'मैं तुम्हें एक पुरावृत्त इस प्रसंग में सुनाता हूँ । सम्भव है, तुम्हारी शंका का समाधान हो जाय ।'

:o: :o: :o:

सुतीक्ष्ण की उत्सुक दृष्टि मुनि के शान्त-मुखमण्डल पर स्थिर होनें लगी । मुनि ने कहा—

'पुराकाल में वेद-वेदांग-पारंगत कारुण्य नामक एक ब्राह्मण था । उसके पिता का नाम अग्निवेश्य था । उसने गुरु-स्थान पर विद्याध्ययन समाप्त किया । अपने घर लौटा । उस समय तुम्हारे समान उसके मन में शंका उत्पन्न हुई । नित्य-नैमित्तिक कर्मों का त्याग कर दिया ।

किसी कर्म में संलग्न न होकर चुपचाप बैठा रहता था। तत्त्वज्ञान का विवेचन किया करता था।

'अग्निवेश्य अपने पुत्र की कर्म-विवर्जित दशा देखकर दुःखी हुआ। पुत्र की हित-कामना निमित्त प्रश्न किया—

'पुत्र! तुम कर्म का पालन क्यों नहीं करते? अकर्म-निरतों को सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं। कर्मों में तुम्हारा मन क्यों नहीं लगता? क्या तुम मुझसे अपनी मनःस्थिति का कारण बताओगे?'

'पितः!' कारुण्य ने उत्तर दिया: 'यावज्जीवन अग्निहोत्र, सन्ध्योपासना आदि धर्म के प्रवृत्ति-मार्ग का प्रतिपादन कुछ श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ करती हैं। किन्तु यतियों का कहना है: धन, कर्म तथा प्रजनन से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। त्याग मात्र से, निवृत्ति मार्ग के अनुसरण द्वारा, अमृत-स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है। यह भी श्रुतियाँ कहती हैं। परस्पर विरोधी दोनों भागों में किसका मैं अनुसरण करूँ? इसी सन्देह में पड़कर मैं तुष्णीभूत हो गया हूँ।'

कारुण्य उत्तर देकर मौन हो गया। अग्निवेश्य ने कर्म-विरत पुत्र का मौनावलम्बन देखकर कहा।

'पुत्र! मैं तुमसे एक पुरानी कथा कहता हूँ। उसे सुनकर अपने निश्चयानुसार विचार कर कार्य करो।'

:o: :o: :o:

'पुत्र!' अग्निवेश्य ने कहा: 'मयूर-संकुल हिमालय गिरिवर था। कामसन्तप्त किन्नर तथा किन्नरियाँ वहाँ विहार कर रही थीं। महाघौघ विनाशिनी गंगा की पवित्र निर्मल धारा कल-कल गति से बहती चली जा रही थी। वहाँ बैठी प्रकृति की शोभा निरख रही थी, कोमलांगी अप्सरा-श्रेष्ठ सुरुचि।'

'महाभाग!' सुरुचि ने अन्तरिक्ष-गामी देवदूत को देखकर पूछा: 'आपका कहाँ से आगमन हुआ है? आप कहाँ जा रहे हैं?'

देवदूत रुक गया। सुरुचि के समीप आया। सुरुचि ने पूछा—'कृपया अपना प्रयोजन बताइएगा?'

'सुभ्रु !' देवदूत ने शान्त स्वर से कहा : 'आपने साधु प्रश्न किया है। मैं यथावत् इसका उत्तर दूँगा।'

उत्कंठित सुरुचि कौतूहलपूर्ण लोचनों से देवदूत को देखने लगी।

'महाभागे !' देवदूत ने कहा : 'राजा अरिष्टनेमि ने राज्य त्याग दिया है। उन्हें विरक्ति हो गयी है। पुत्र को राज्य देकर धर्मात्मा राजा ने तपस्या-निमित्त वनगमन किया है। राजा इस समय गन्धमादन पर्वत पर तपस्या-रत हैं। अपना कार्य पूर्ण कर मैं वहाँ से लौट रहा हूँ। शक्र के समीप जा रहा हूँ। उनसे सब वृत्तान्त निवेदन करूँगा।'

'प्रभो !' सुरुचि ने निवेदन किया : 'क्या यह वृत्तान्त सुनने की मैं अधिकारिणी हो सकती हूँ ?'

'भद्रे !' देवदूत ने कहा : 'सुनो, मैं तुम्हें विस्तारपूर्वक वहाँ का वर्णन सुनाता हूँ। उस वन में राजा की दुस्तर तपस्या की बात जानकर देवराज ने मुझे आज्ञा दी - करताल, वेणु, मृदंग प्रभृति विविध वाद्य, विनिनादनशील अप्सरा, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध, किन्नरादि दल के साथ शीघ्र नाना पादप-संकुल पवित्र गन्धमादन पर्वत-शिखर पर विमान लेकर जाओ। राजा अरिष्टनेमि को सुन्दर विमान पर बिठाकर, अमरावती नगरी में स्वर्गभोग निमित्त ले आओ।'

'महाभाग !' सुरुचि ने किंचित् उत्सुकतापूर्वक पूछा : 'पुनः क्या हुआ ?'

'शुभे !' देवदूत ने वार्ताक्रम जारी करते हुए कहा : 'मैं सबके साथ गन्धमादन पर्वत पर सुसज्जित विमान सहित पहुँचा। राजा के आश्रम में गया। महेन्द्र का आदेश निवेदन किया। राजा संशयापन्न हो गये।'

'प्रभो !' अप्सरा ने जिज्ञासा की : 'राजा ने क्या कहा ?'

'महाभागे !' दूत ने कहा : 'राजा ने संशयाकुल चित्त से पूछा — 'स्वर्ग में क्या गुण और दोष हैं ? उन्हें जानकर अपनी रुचि के अनुसार कार्य करूँगा।'

'देवदूत !' सुरुचि ने प्रश्न किया : 'आपने क्या उत्तर दिया ?'

'भद्रे !' मैंने कहा : 'पुण्य-संचय द्वारा लोग स्वर्ग में परम सुख भोगते हैं। उत्तम पुण्य द्वारा उत्तम स्वर्ग की प्राप्ति होती है। मध्यम पुण्य द्वारा

मध्यम स्वर्ग मिलता है। कनिष्ठ पुण्य द्वारा कनिष्ठ स्वर्ग सुलभ होता है। इसके विपरीत कुछ नहीं होता। वहाँ ईर्ष्या, स्पर्धा, असहिष्णुता रहती है। अपने से अच्छी दूसरों की स्थिति देखकर लोग ईर्ष्या करते हैं। समस्थिति वाले परस्पर स्पर्धा करते हैं। हीन-स्थिति वालों को देखकर अच्छी स्थिति वाले अपनी स्थिति पर सन्तोष करते हैं। जब तक पुण्यक्षय नहीं होता स्वर्ग-भोग करते हैं।'

'और पुण्य क्षय-होने पर ?' राजा ने मुसकरा कर पूछा।

'पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है।'

'महात्मन् !' सुरुचि ने गम्भीरतापूर्वक पूछा : 'राजा ने क्या उत्तर दिया ?'

'भद्रे !' राजा ने उत्तर दिया : 'देवदूत ! मुझे इस प्रकार के स्वर्ग तथा उसके फल की इच्छा नहीं है।'

'राजन् !, आप क्या करेंगे ?' मैंने पूछा। राजा ने अपने शरीर को उदासीन दृष्टि से देखते शान्त स्वर में कहा—

'मैं महा उग्र तपस्या द्वारा इस अशुद्ध और जीर्ण कलेवर का त्याग साँप के केंचुल की तरह कर दूँगा। आपको नमस्कार है। आप विमान लेकर जहाँ से आये हैं, वहीं महेन्द्र के पास चले जाइए।'

'प्रभो !' सुरुचि ने चकित स्वर में पूछा : 'आपने क्या किया ?'

'भद्रे !' दूत ने कहा : 'शक्र के सम्मुख उपस्थित होकर मैंने सब बातें बता दी।'

'देवराज इन्द्र की क्या प्रतिक्रिया हुई ?'—सुरुचि ने पूछा।

'शुभे !' देवदूत ने कहा : 'महेन्द्र को महान् आश्चर्य हुआ। इन्द्रसभा विस्मित हो गयी।' 'इन्द्र मधुर वाणी से बोले : 'दूत ! तुम पुनः विरक्त राजा अरिष्टनेमि के पास जाओ। राजा को आत्म-बोधार्थ तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीक के आश्रम में ले जाओ।' महर्षि वाल्मीकि से मेरा यह सन्देश निवेदन करना : 'महर्षे ! विनीत, वीतराग, स्वर्ग-इच्छा-रहित, राजा अरिष्टनेमि संसार के दुःखों से आर्त्त हैं। मोक्ष निमित्त राजा को तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिए।'

'महाभाग !' सुरुचि ने पुनः जिज्ञासा की : 'तत्पश्चात् क्या हुआ ?'

'सुभ्रु !' दूत ने कहा : 'राजा को महर्षि वाल्मीकि के पवित्र आश्रम में मैंने पहुँचाया।' राजा ने महर्षि की पूजा कर, जिज्ञासा प्रकट की : 'महर्षे ! मोक्ष का साधन क्या है ?'

'वरानने !' ध्यानपूर्वक सुनती सुरुचि की ओर देखते हुए दूत ने कहा : 'महर्षि वाल्मीकि ने राजा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उनका कुशल-मंगल पूछा।'

'भद्रे !' दूत ने कहा : 'राजा ने सविनय निवेदन किया। महर्षे ! आप धर्मतत्त्वज्ञ हैं। अज्ञात विषयों के ज्ञाता हैं। विदांवर हैं। आपका दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ। यही मेरा कुशल है। भगवन् ! मैं जिज्ञासु हूँ। विघ्न-विनाशक तत्त्वज्ञान का आकांक्षी हूँ। संसार-बन्धन-दुःख से आर्त्त हूँ। उनसे मुक्ति का उपाय बताइये।'

'सुरुचि !' दूत ने कहा : 'वाल्मीकि ने राजा से कहा—राजन् ! सुनिए ! मैं अखण्ड तत्त्व-प्रतिपादक राम-वसिष्ठ का कथनोपकथन-रूप उत्तररामायण की कथा कहूँगा। उसे सुनकर, यत्नपूर्वक धारण कर, आप जीवन-मुक्त हो जायेंगे। वसिष्ठ-राम-संवाद रूप यह कथा मोक्ष का साधन है। राजेन्द्र ! आपके स्वभाव का मुझे ज्ञान हो गया है। आप उसके अधिकारी हैं। विद्वान् राजन् ! मैं कथा कहता हूँ सुनिए।'

'दूत !' वह कथा क्या है ?' सुरुचि ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

'शुभे !' दूत ने कहा : 'राजा ने यही प्रश्न वाल्मीकि से किया। तत्त्वज्ञ श्रेष्ठ मुनिवर ! राम कौन हैं ? कैसे हैं ? वे बद्ध हैं अथवा मुक्त ? कथा के पूर्व मैं प्रथम इसी निश्चित ज्ञान का जिज्ञासु हूँ।' वाल्मीकि के पवित्र नेत्र जैसे भगवान् रामचन्द्र के कमल-चरणों का ध्यान करते हुए बन्द हो गये। वे गद्गद् वाणी से बोले—

'राजन् ! शाप के कारण स्वयं हरि ने राजवेश धारण किया था। सर्वज्ञ होने पर भी प्रभु साधारण लोगों के समान अज्ञ बन गये थे।'

'महात्मन् !' सुरुचि ने आश्चर्यपूर्वक पूछा : 'प्रभु और शाप ?'

'सुभ्रु !' दूत ने मुसकरा कर कहा। 'राजा ने भी वही प्रश्न वाल्मीकि से किया : 'महर्षे ! राम चिदानन्द-स्वरूप थे। चैतन्य-विग्रह थे। उन्हें शाप कौन दे सकता था ? शाप का कारण क्या था ?'

'वरारोहे !' दूत ने गम्भीर आकाश की ओर देखते हुए कहा : 'वाल्मीकि ने एक उपाख्यान राजा से कहा : एक समय की बात है, ब्रह्मा के मानस पुत्र निष्काम सनत्कुमार ब्रह्मलोक में बैठे थे। त्रैलोक्यपति प्रभु विष्णु क उसी समय बैकुण्ठ में आगमन हुआ। सत्यलोक-निवासियों के साथ ब्रह्मा ने भगवान की पूजा की। केवल सनत्कुमार ने पूजा में भाग नहीं लिया। भगवान् ने सनत्कुमार का सम्बोधन किया।

'सनत्कुमार ! अपने निष्काम भाव का तुम में अहंकार हो गया है। तुम्हारी चेष्टा गर्वसूचक है। तुम्हें कार्याकार्य का ज्ञान नहीं है। अतएव तुम स्तब्धतुल्य बैठे हो। तुम्हें शाप देता हूँ। तुम कामार्त होगे। शरजन्मा नाम से विख्यात होगे। तुम्हें दूसरा शरीर धारण करना पड़ेगा !'

'दूत !' सुरुचि चकित हो गई।

'सुश्रोणि !' दूत ने कहा 'सनत्कुमार ने भगवान् को प्रतिशाप दिया : 'आप अपनी सर्वज्ञता त्याग कर किंचित् काल तक अज्ञानी-तुल्य हो जायेंगे

'दूसरे शाप की बात और सुनो सुरुचि ! महर्षि भृगु ने विष्णु द्वार अपनी पत्नी की हत्या देख कर क्रोध से मूर्च्छित होकर शाप दिया : विष्णु भार्या का वियोग आपने कराया है। अतएव आपको अपनी भार्या का वियोग होगा।

'भद्रे !' दूत ने कहा : 'तीसरा शाप भी भगवान् को लगा था। विष्णु ने जलंधर रूप धारण कर लिया था। शंखचूड़ की पत्नी वृन्दा का पातिव्रत इन्होंने छल से नष्ट किया। वास्तविकता प्रकट हुई। वृन्दा ने भगवान् को शाप दिया : विष्णु ! तुम्हें स्त्री-वियोग-जनित दुःख झेलना होगा।'

अप्सरा-श्रेष्ठ सुरुचि आश्चर्य-चकित, काष्ठवत् दूत की बात सुन रही थी। देवदूत ने स्थिर होकर कहा।

'वरारोहे ! भगवान् को चौथा शाप भी लगा था । विष्णु ने नृसिंह अवतार लिया था । उनका स्वरूप देखकर पयोष्णी नदी के तट पर देवदत्त की भार्या पंचत्व को प्राप्त हो गई । स्त्री-वियोग-दुःखार्त देवदत्त ने भगवान् को शाप दिया : 'मेरे समान आपको भी भार्या का वियोग होगा ।'

'देवदूत !' सुरुचि ने पूछा : 'पुनः क्या हुआ ?'

'सुभ्रु !' दूत ने कहा : 'सनत्कुमार, भृगु, वृन्दा और देवदत्त द्वारा अभिशप्त होने के कारण भगवान् को राम रूप में मनुष्य शरीर धारण करना पड़ा । भृगु तथा वृन्दा के कारण भगवान् राम को सीता का वियोग उठाना पड़ा । देवदत्त के शाप के कारण गर्भिणी सीता से वियोग हुआ ।'

'महाभाग !' सुरुचि अप्सरा ने पूछा : 'राजा अरिष्टनेमि की बात ?'

'सुश्रोणि ।' दूत ने जैसे सचेत होते हुए कहा : 'मुनिपुंगव वाल्मीकि ने राजा से कहा : राजन् ! सावधानीपूर्वक मोक्ष-साधनस्वरूप मेरी कथा सुनिए । मुमुक्षु इसके सुनने के अधिकारी हैं । अत्यन्त अज्ञ, देहाभिमानी साधारण लोक तथा साधारण तत्त्वज्ञानियों के लिए वह फलोपदायक नहीं होगा । अरिमर्दन ! मैंने पूर्वखण्ड रामायण कथा की सर्वप्रथम रचना की थी । महासमुद्र जिस प्रकार मणि उपलब्ध करने वाले को मणि देता है, उसी प्रकार विनीत तथा धीमान् अपने शिष्य भरद्वाज को पूर्व-रामायण दिया था । मेधावी भरद्वाज ने मेरु पर्वत के किसी गहन वन में परम पिता ब्रह्मा को रामायण सुनाई थी । लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा भरद्वाज से रामायण सुन कर सन्तुष्ट हुए । भरद्वाज से वर माँगने के लिए कहा ।'

'सुरुचि !' दूत ने कहा : 'ब्रह्मा की कृपा देखकर भरद्वाज ने निवेदन किया : भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् के स्वामिन् भगवन् ! जनता जिन उपायों से दुःख-मुक्त हो जाय, वही जानने की मेरी अभिरुचि है । ब्रह्मा ने उत्तर दिया : भरद्वाज ! गुरु वाल्मीकि से प्रयत्नपूर्वक प्रार्थना करो । उन्होंने जिस अनिन्दित उत्तररामायण की रचना आरम्भ की है, उसके सुनने पर महासेतु-तुल्य मोहसागर पार करने में मानव समर्थ होगा' ।

पितामह ब्रह्मा का भरद्वाज के साथ मेरे आश्रम में आगमन हुआ। मैंने देवाधिदेव का अभ्युत्थान, अर्घ, पाद्यादि द्वारा पूजन किया। सब भूतों के हित में रत, महासत्त्व पितामह ने कहा : 'वाल्मीकि ! राम-स्वभाव-वर्णन-पूर्ण उत्तररामायण की रचना बिना समाप्त किये, उसे बीच में त्याग देना उचित नहीं होगा। इस पोत-स्वरूप ग्रन्थ के अनुशीलन द्वारा लोक संसार-संकट से पार हो जायेंगे। लोक-हितार्थ आप इस उत्तररामायण का प्रकाशन कीजिए। यही कहने के लिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ। पितामह यह कहकर, मेरे पवित्र आश्रम से उसी प्रकार क्षणमात्र में अन्तर्धान हो गये, जिस प्रकार उत्तुंग-तरंग-मालाएँ उठती और मुहूर्त मात्र में पुनः जल में विलीन हो जाती हैं।'

'देवदूत !' सुरुचि ने उत्सुकतापूर्वक पूछा : 'तत्पश्चात् क्या हुआ ?'

'शोभने !' दूत ने कहा : 'विस्मयापन्न वाल्मीकि ने स्वस्थ होने पर भरद्वाज से पूछा : भरद्वाज ! ब्रह्मा ने क्या कहा, मुझसे तुम पुनः कहो। भरद्वाज ने कहा : मुने ! पितामह ने कहा है, जिस प्रकार रामायण की रचना आपने की है, उसी प्रकार लोकहितार्थ उत्तररामायण-रचना पूर्ण कीजिए। इस संसार-संकट में राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी सीता, मन्त्रिपुत्र आदि का व्यवहार कैसा था। वे मनुष्य होकर किस प्रकार असंग रहे। वे किस प्रकार दुःख-विहीन हुए। इसका ज्ञान प्राप्त कर, उनके व्यवहारानुसार जनता आचरण कर, भवसागर से पार होगी।'

'प्रभो !' सुरुचि ने पूछा। 'उत्तररामायण की क्या कथा है ?'

'सुभ्रु !' दूत ने कहा। 'इस उत्तररामायण का नाम योगवासिष्ठ रामायण है। इसके वैराग्य, मुमुक्षा, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम तथा निर्वाण छः प्रकरण हैं।'

'योगवासिष्ठ नाम क्यों दिया गया ?'

'शुभे !' दूत ने कहा : 'राम ने अनेक शंकाएँ प्रकट कीं। उनका मन अशान्त था। आत्मानुभूति नहीं हुई थी। भगवान् ने अपनी शंकाएँ, अपने प्रश्न रखे। उनका उत्तर गुरु वसिष्ठ ने दिया। राम-वसिष्ठ का वह संवाद

उत्तररामायण किंवा योगवासिष्ठ रामायण नाम से प्रख्यात हुआ है। उपाख्यान द्वारा भगवान् की शंका का एक मानव वसिष्ठ द्वारा समाधान किया गया है। वाल्मीकि ने महाकाव्य रामायण की तरह उसे लिपिबद्ध किया है। उसे उन्होंने भरद्वाज को सुनाया है। वही कथा अपने आश्रम में राजा अरिष्टनेमि को इन्द्र की इच्छानुसार महर्षि वाल्मीकि ने सुनाई है।'

अप्सरा-श्रेष्ठ सुरुचि गम्भीर हो गई। देवदूत ने कहा : 'भद्रे! राजा के लोचन विस्मयोत्फुल्ल हो गये। उन्होंने मुझसे मधुर वचनों में कहा :

'देवदूत! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारा कुशल हो। सज्जनों की मैत्री सात पग साथ चलने से हो जाती है। आपने उसे सत्य प्रमाणित कर दिया है। आप देवराज के निवेश को जाइए। इस कथा के सुनने के कारण हमारे समस्त तापों की निवृत्ति हो गई है। मेरा मन मुदित हो गया है।'

'महात्मन्।' दूत ने कहा : 'इन्द्र की आज्ञा!'

'देवदूत!' राजा अरिष्टनेमि ने कहा : 'मुनि द्वारा कहीं इस कथा का चिन्तन करता, मैं यहाँ विगत-ज्वर निवास करूँगा।'

राजा के विनय तथा सौजन्य व्यवहार से देवदूत विस्मयापन्न हो गया।

'देवदूत!' राजा ने कहा, 'वाल्मीकि का यह ज्ञान शास्त्र मुझे पूर्व काल में सुनने को नहीं मिला था। मेरा अन्तःकरण अमृत-पान करनेवाले के समान मुदित हो गया है।'

'अप्सरे!' देवदूत ने कहा : 'राजा इन्द्रपुर को जाने के लिए तत्पर नहीं हुए। मैंने सब-कुछ तुम को सुना दिया है। मुझे आज्ञा दो। मैं प्रस्थान करूँ।'

'महाभाग!' सुरुचि ने कहा : 'तुम्हें नमस्कार है। मैं तुमसे यह कथा सुनकर कृतार्थ हुई हूँ। मैं वीतशोक हो गई हूँ। विगतज्वर हो गई हूँ। आप शक्र के निवास-स्थान को प्रसन्नतापूर्वक जा सकते हैं।'

सुरुचि देवदूत द्वारा सुनी कथा का चिन्तन करती निर्मल हो गई थी। वह गन्धमादन के समीप हिमालय पर्वत पर बैठकर विचार-मग्न

हो गयी। देवदूत ने अप्सरा-श्रेष्ठ सुरुचि को नमस्कार कर प्रस्थान किया। अप्सरा के कमल-नयन ब्रह्म-चिन्तन में अर्धप्रस्फुटित हो गये।

:o: :o: :o:

'कारुण्य !' अग्निवेश्य ने कहा। 'मोक्ष का साधन कर्म है अथवा ज्ञान; तत्सम्बन्धी भगवान् योग-वसिष्ठ द्वारा कही उत्तररामायण की कथा तुमने सुनी। अज्ञान के तिरोहित होने के साथ तुम्हारी शंका का समाधान हो गया होगा ? पुत्र अपनी रुचि के अनुसार तुम्हें जो अच्छा लगे करो।'

'पितः !' कारुण्य ने कहा : 'स्वप्न में देखे वन्ध्या-सुत के विषय में जिस प्रकार जागृत होने पर निर्विषय भाव हो जाता है, वही इस संसार के प्रति मेरी स्थिति हो गयी है, मेरी स्मृति, वाक् तथा सत्ता भी निर्विषय हो गये हैं। मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। मेरा कर्म तथा ज्ञान से कोई प्रयोजन

---

(१) अगस्त्य :

ऋग्वेद : ७ : ३३ : १३.
१ : १६५ : १३–१५; १६६–१६९; १७०, २; ५; १,
'–१७८, १७९, ३; ४; १८०–१९१.
१ : १८५ : १०
१ : १८५ : १०
१ : १६५ : १४; १५; १६६; १५.
१ : १७०.
१ : १८२ : १
१ : १७९ : ५; ६;
१० : ९० : ९

ऐतरेय ब्राह्मण : ५ : १६.
तैत्तिरीयसंहिता : ७ : ५ : ५ : २
तैत्तिरीयब्राह्मण : २ : ७ : ११ : १
पंचविंशब्राह्मण : २१ : १४ : ५.
जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण : ४ : १४ : १; १६ : १
मैत्रायणी संहिता : २ : १ : ८.
कठ संहिता : १० : ११

नहीं रह गया है। किन्तु लोक में रहने के कारण अनुकूल व्यवहार करूँगा कर्म-त्याग के आग्रह से क्या फल होगा ?'

:o: :o: :o:

'भगवन् !' सुतीक्षण ने पूछा : 'कारुण्य ने क्या किया ?'

'सुतीक्ष्ण !' अगस्त्य मुनि ने कहा : 'अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य विवाहादि लोक-कार्य में लग गये। ज्ञान के पश्चात् कर्म बन्धन का कारण होगा, यह शंका निर्मूल है !'

देवीभागवत १० : ३ : ७

बृहद्देवता : ५ : १३४

पुराण : मत्स्य : १०३ : २०२ : ६, ३०२ : ८ : १२ : १४४ : ११४, ६१ : ३७, ५१, २०१;

पद्म : सृष्टिखण्ड : १९, २२.

स्कंद : १ : १ : १५, ४ : १ : ५.

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण : २ : १६,

ब्रह्मपुराण : ११८,

वराह : ३८

ब्रह्म : २ : ३१ : ११९। ८४ : ११८ : २।

८४ : ११८ : २। २ : ३२ : ११९–१२०

वायु : ५९ : ९२–९४।

वाल्मीकिरामायण : अरण्यकाण्ड : १२; १२, किष्किन्धाकाण्ड : ४१ : १५-१६

आनन्दरामायण-सार : १०

महाभारत :

आदिपर्व : ११७ : १४; १३८ : ९

वनपर्व : ९६ : १९–२१, ९७ : ७, ९७ : ११, २५; ९८ : ४, ९, १५; ९९ : ६, १२, २५; १० : १५–१८, १०४ : १२–१३, १०५ : ३–६, १६१ : ६०–६२;

उद्योगपर्व : १७,

शान्तिपर्व : २४४ : १६; ३४ : ५१;

अनुशासनपर्व : ९४ : ९–१३; ९९ : १६–२१, १०० : १८ : १९;
११५ : १–१३

'भगवन् !' सुतीक्षण ने अगस्त्य के चरण-कमलों में मस्तक रखते हुए श्रद्धाभक्ति पूर्वक कहा : 'आपके अनुग्रह से मुझे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है। परम सुखदायक केवल ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वातीत; गगनसदृश, तत्त्वमस्यादितथ्यार्थ

आश्वमेधिक पर्व : ९२;

(२) वाल्मीकि :

वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड : सर्ग १—४, ७७.

(३) भारद्वाज :

भरद्वाज और भारद्वाज दो व्यक्ति हैं। भारद्वाज का उल्लेख निम्नलिखित है:—

ऋग्वेद ; ५ : ६ : १ : २

बृहदारण्यक उपनिषद् : २ : ५ : २१ : २ : ६ : २ : ३ : ४ : ५ : २७ : ४ : ६
३ : २ : ५ : २१.

(४) भरद्वाज :

ऋग्वेद—१ : ११६ : १८
५ : ३३,
६ : १३,
६ : १५ : ३,
६ : १६ : ५,
६ : १७ : ४,
६ : ३१ : ४,
६ : ४८ : ७, १३
६ : ६१ : १–३
६ : ६३ : १०
६ : ६५ : ६

शतपथ ब्राह्मण : ८ : १ : १ : ९
पंचविंश ब्राह्मण : १५ : ३ : ७
ऐतरेय ब्राह्मण : ६ : १८
तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ : १० : ११ : १३
कौशीतकी ब्रह्मण : १५ : १ : २९ : ३ : ३० : ९
ऐतरेय आरण्यक : ८ : ३ ; १ : २ : २ ; २ : २ : २ ; १ : ४ : २
काठक संहिता : २१ : १०

रूप, एक, निर्मल, नित्य, विमल अथवा सर्वंधी साक्षीभूत, भावातीत, त्रिगुण-रहित, बह्मानन्दस्वरूप वसिष्ठ को नमस्कार करता हूँ। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जालम्' उस ब्रह्मात्म को नमस्कार है।' सुतीक्ष्ण ने

सांख्यायनश्रौतसूत्र : १६ : ११ : ११
सांख्यायनसूत्र ४ : १०

वाल्मीकिरामायण :

बालकाण्ड-सर्ग : १–३
अयोध्याकाण्ड-सर्ग : ५४, ५५, ८५, ९०–९२
युद्धकाण्ड-सर्ग : १२५

(५) अग्निवेश्य :

इस नाम के कई महापुरुष हुए हैं। उनका उल्लेख निम्नलिखित स्थलों पर विशेष आता है।

वायुपुराण : २३ : २०७
भागवतपुराण : ९ : २ : २१–२२
ब्रह्माण्डपुराण : ३ : ४७-४९
मत्स्यपुराण : १९६ : १२

महाभारत :

वनपर्व : २६ : २३;
आदिपर्व : १२९ : ३९–४०; १३८ : ९
भीष्मपर्व : ५० : ५२;

(६) अरिष्टनेमि :

महाभारत :

आदिपर्व : ६५ : ४०
वनपर्व : १८४ : ८; १७–२२,
शान्तिपर्व : २०८ : १८; २८८ : ६ : ४६
सभापर्व : ८ : ९
विराटपर्व : १० : ५
उद्योगपर्व : ७१ : ५;

पुराण :

वायु : २ : ४ : ५३ सू ५४
भागवत : ८ : ६

(७) सुरुचि :

इस नाम की कई महिलाओं का उल्लेख आता है। एक सुरुचि उत्तानपाद की स्त्री थी। सुरुचि अप्सरा का उल्लेख भागवतपुराण ११ : ११ : ३९ में आया है। एक सुरुचि का उल्लेख वैरोचन के साथ आया है। स्कन्दपुराण १ : १ : १८,

भगवान् का स्मरण कर, कर-बद्ध नमस्कार किया। अगस्त्य की मुख-मुद्रा पर शान्त स्थिर रेखा खिंच गई।

(४) सुतीक्ष्ण : स्कन्दपुराण : ३ : १ : १८ : इनको त्रैलोक्य-गमन की शक्ति प्राप्त थी।

राम-वैराग्य

राजीव-लोचन राम विद्यागृह से लौटकर, अपना समय विविध लीलाओं द्वारा गृह में व्यतीत करने लगे। राजा दशरथ प्रजा का पालन धर्म तथा न्यायपूर्वक करते थे। प्रजा वीतशोक तथा विगत-ज्वर थी।

गुणशाली राम का मन पुण्याश्रमों तथा तीर्थ-यात्रा निमित्त उत्कंठित हो गया। हंस जिस प्रकार प्रफुल्लित युगल कमल अवलम्बन करता है, उसी प्रकार श्रीराम ने अपने पिता महाराज दसरथ का युगल चरणकमल स्पर्श किया। पिता की वात्सल्य-दृष्टि पुत्र पर फैल गई। स्नेहपूर्वक राम के केशों पर आशीर्वाद-स्वरूप हाथ फेरते हुए बोले : 'वत्स !'

'तात !' राम ने अंजली-बद्ध पिता के चरणों पर दृष्टि स्थित करते हुए कहा : 'तीर्थ, देव-सदन, वन तथा आश्रमों के दर्शनों की उत्कंठा है।'

राजा दशरथ का मुख-कमल पुत्र में धार्मिक भावना जागृत होते देख खिल गया। उनके अधरों पर पवित्र स्मृत-रेखा साकार हो गयी। वे पुत्र की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने लगे।

'नाथ !' राम ने कहा : 'भुवन में ऐसा कोई प्रार्थी नहीं है, जिसकी प्रार्थना आपने स्वीकार न की हो। मेरी इस प्रथम प्रार्थना को कृपया सफल होने की आज्ञा दीजिए।'

राजा ने गुरु वसिष्ठ की ओर देखा। मन्त्रियों की ओर देखा। सबने संकेतों द्वारा मूक सम्मति प्रदर्शित की। राजा प्रसन्न हो गये। सभा-स्थित लोग राजा की प्रसन्न मुद्रा देखकर मुदित हो गये।

'वत्स !' राजा ने किंचित् मुस्कराकर कहा : 'प्रथम प्रार्थी की प्रार्थना और तुम्हारी इच्छा की कैसे उपेक्षा की जा सकती है? गुरु वसिष्ठ, वृद्ध जनों तथा मन्त्रियों से मन्त्रणा कर व्यवस्था करना राज्य परम्परा है।'

राम ने भक्तिपूर्वक पिता के चरण-कमलों का स्पर्श किया।

:o: :o: :o:

शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त में राम भाइयों सहित मांगलिक अलंकारों द्वारा अलंकृत हुए। द्विजों ने स्वस्ति-वाचन किया। माताओं

ने आलिंगन करते हुए सस्नेह उन्हें विभूषित किया। गुरु वसिष्ठ द्वारा प्रेषित शास्त्रज्ञ ब्राह्मण-गण, कतिपय प्रेमी राजकुमार-गण चलने के लिए साथ हो लिये। माताएँ पुत्रों को आशीर्वाद देती निरखती नहीं अघाती थीं। स्वपुर से प्रस्थान करते समय पौरगणों ने तूर्य-घोष द्वारा उनका अभिनंदन किया। पीयमान पुरस्त्रियों के चंचल नेत्र उन पर सादर टिकने लगे।

राजधानी परित्याग कर वे ग्राम मध्य चले। तुषार-वर्षा द्वारा जिस प्रकार हिमालय आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार ग्रामीण ललनाओं के लोल हस्तों द्वारा लाज-वर्षा से उनका कलेवर आवृत्त हो गया। ब्राह्मणों को दान देते हुए, प्रकृति जनों के आशीर्वाद लेते हुए तथा दिगन्त का अवलोकन करते हुए, राम ने जंगलों का अतिक्रमण किया। राजधानी कोशल से आरम्भ कर, मार्ग में राम ने स्नान, दान, तप, ध्यान करते हुए, पवित्र नदी-तीर, पुण्य वन, आश्रम, जनपद, प्रान्तवर्ती जंगल, समुद्र-तट, पर्वत भूमि, शशांकधवला मन्दाकिनी, इन्दीवर-श्यामला यमुना, सरस्वती, शतद्रु, इरावती, चंद्रभागा, वेणी, कृष्णवेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती, वितस्ता, बाहुदा विपासा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, काशी, श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, मानसरोवर, उत्तरमानस, वड़वावदन, अग्नितीर्थ, महातीर्थ, इन्द्रुम्नसर आदि पुण्य तीर्थ, सर, पुण्यतम सरिताएँ, नद, ह्रद, बावली आदि के दर्शन किये।

कार्त्तिकेय स्वामी, शालिग्राम, हरि, श्रीहरि तथा हर के चौसठ स्थान, विविध आश्चर्यमय चारों समुद्र-तट, विन्ध्याचल, मंदराचल, निकुंज, कोलाचलादि सात पर्वत, महर्षियों, देवताओं, राजर्षियों, ब्राह्मणों के पवित्र मंगलमय आश्रमों का श्रद्धापूर्वक दर्शन किया। दूसरों का सम्मान करने वाले, श्रीराम ने अपने भाइयों के साथ चारों दिगंतों और सब महीतटों का बारम्बार परिभ्रमण किया।

देवता, किन्नर, मनुष्यों द्वारा सत्कृत होकर, राम ने तीर्थ-यात्रा समाप्त की। वे भाइयों सहित कोशल की राजधानी अयोध्या लौटे। राजधानी में प्रवेश किया। नगरवासियों ने उन पर पुष्पांजलियों की वर्षा की। उनका विविध प्रचलित प्रथानुसार सत्कार किया।

प्रथम प्रवास से लौटने के कारण राम ने पिता दशरथ, कुलगुरु वसिष्ठ भ्रातृ-बान्धव, ब्राह्मणों, कुल के वृद्धों को प्रणाम किया। सुहृदों, भ्रातृ-बन्धुओं पिता, द्विजगणों ने राम का स्नेहपूर्वक आलिंगन किया। राघव ने अभि-वादन, प्रिय सम्भाषण आदि अनुकरणीय व्यवहारों द्वारा उनका आदर किया। राम लोगों का प्रेम देखकर पुलकित हो गये थे।

आठ दिन तक कोशल में रामागमन उत्सव मनाया गया। उत्सव सुखमय थे। मत्तजनोन्मुक्त कोलाहलपूर्ण थे। राघव देशों के देशाचार का अपने निकट-वर्तियों से वर्णन करते हुए, सुखपूर्वक गेह निवास करने लगे।

श्रीराम नित्य प्रातःकाल शय्या का त्याग कर देते थे। प्रातः कर्म करते थे। विधिपूर्वक स्नान करते थे। सन्ध्या करते थे। राज-सभा में पधार कर पिता का दर्शन करते थे। दिन के चतुर्थ भाग में वसिष्ठादि ज्ञानियों के साथ बैठकर ज्ञानगर्भ कथाएँ सुनते थे। सत्संग करते थे। पिता की आज्ञा और सैनिकों के साथ वराह तथा महिषाकीर्ण वन में आखेट के लिए जाते थे। आखेट से लौटने पर स्नान करते थे। नित्य-कर्म समाप्त करते थे। मित्र तथा बन्धुओं के साथ भोजन करते थे। मित्रों के साथ रात्रि व्यतीत करते थे।

राम तीर्थ-यात्रा से लौटकर लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के साथ पूर्वोक्त दिन-चर्या करते हुए पितृगृह में सुखपूर्वक वास करने लगे।

:o: :o: :o:

श्रीरामचन्द्र की आयु उस समय सोलह वर्ष की थी। तीर्थयात्रा से लौटकर आने के कुछ समय पश्चात् वे शरत्कालीन सरोवर की तरह सूखने लगे थे। उन्हें किसी प्रकार का सांसारिक दुःख नहीं था। सांसारिक चिन्ता नहीं थी, तथापि उनका शरीर सूखने लगा था। उनका राजीव-लोचन, उनका खिलता मुखमंडल पाण्डुवर्ण हो गया था। भ्रमरमाला-चुम्बित शुक्ल परिपक्व प्रफुल्ल कमल-दल की तरह, उनका शरीर निष्प्रभ हो गया था।

करतल पर गण्डस्थल रखे, पद्मासीन रामचन्द्र निश्चेष्ट शान्त बैठ रहते थे। वे चिन्ता से कृशांग, खेदयुक्त, अत्यन्त विमना, अपने चित्त में

आप लीन, किसी से किसी प्रकार का सम्भाषण न करते हुए, चित्रलिखित-से चुपचाप बैठे रहते थे। परिजनों के बारंबार प्रार्थना करने पर कष्टपूर्वक परिम्लान-मुख नित्य-कर्म करते थे।

राम की चिन्तनीय दशा देखकर, पुत्रवत्सल राजा दशरथ में चिन्ता ने प्रवेश किया। लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न ज्येष्ठ भ्राता राम की विचित्र दशा देखकर दुःखी हो गये। रानियाँ कोई कारण समझ नहीं पा रही थीं। वे कुछ उद्विग्न हो गईं।

'पुत्र !' राजा दशरथ ने एक दिन स्नेहपूर्वक पूछा : 'तुम्हारी क्या इच्छा है ? संसार की ऐसी कौन-सी दुर्लभ वस्तु है, जिसे मैं तुम्हें नहीं दे सकता ? तुम्हारी आन्तरिक वेदना ने केवल तुम्हें व्यथित नहीं कर दिया है। देखो तुम्हारी माताएँ, तुम्हारे भ्राता, तुम्हारे सखा तथा समस्त राज-व्यक्ति अस्थिर हो गये हैं।'

राम ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उनका उन्नत मस्तक नत हो गया। दशरथ ने दुःखित होकर कहा : 'पुत्र !'

राम पूर्ववत् नीरव थे। दशरथ ने अत्यन्त स्नेह एवं आग्रह प्रदर्शित करते हुए कहा : 'वत्स, क्या मैं ?'

'पिता !' राम ने क्षीण स्वर में कहा : 'मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है।'

राम यह कहकर पुनः तूष्णीभाव से बैठे रह गये।

:o: :o: :o:

'गुरुवर !' राजा दशरथ ने वाग्मी सर्वकार्याभिज्ञ महर्षि वसिष्ठ से पूछा : 'राम खेदयुक्त क्यों हैं ? मैं कारण जानना चाहता हूँ। राम स्वयं कुछ नहीं कहते। कोई अन्य व्यक्ति उनकी दशा पर प्रकाश नहीं डालता। मेरी अन्तरात्मा भीतर-ही-भीतर अपने पुत्र के आंतरिक कष्ट के कारण आकुल हो गई है।'

राजा दशरथ और-आगे नहीं कह सके। उनका हृदय भर आया। वसिष्ठ ने ध्यान करते हुए कहा—

'श्रीमन् ! राजन् ! ! इसका कारण है । परंतु, उस कारण से आपको दुःखी नहीं होना चाहिये । महापुरुष-गण सामान्य कारणों से क्रुद्ध, विषण्ण, किंवा अत्यन्त हर्षित नहीं होते ।'

राजा दशरथ उदास हो गये । उन्हें गुरु के उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ ।

:o: :o: :o:

'पृथ्वीपते !' याष्टिक ने बद्धअंजलि निवेदन करते हुए कहा : 'नवोदित दिवाकर-तुल्य, उज्ज्वल कान्तिमान्, श्रीमान् एक पुरुष राजसदन के द्वार-देश पर उपस्थित है । उनका जटाजूट अग्नि-शिखा-सदृश ताम्रवर्ण है । पताका, हाथी, घोड़ा सेना तथा समस्त स्थान उनकी दिव्य छटा से सुवर्ण-रश्मि द्वारा जैसे प्रदीप्त हो गया है ।'

याष्टिक का निवेदन सुनते ही राजा दशरथ तथा सभा-स्थित अन्य व्यक्तियों की प्रश्नपूर्ण दृष्टि, कुछ और जानने के लिए, याष्टिक पर स्थिर हो गई । उसने पुनः अभिवादन करते हुए कहा—

'भगवन् ! वे मुनिपुंगव अपना नाम गाधिनन्दन कौशिक बताते हैं ।'

राजा दशरथ ने आश्चर्य-चकित नेत्रों से याष्टिक की ओर देखा । याष्टिक ने शिरसा नमन करते हुए कहा—

'रघुकुल-भूषण ! क्षमा हो । स्वयं विश्वामित्र मुनि का आगमन हुआ है ।'

विश्वामित्र का नाम सुनते ही राजा सिंहासन त्याग कर खड़े हो गये । उनके उठने पर सभा खड़ी हो गई । राजा दशरथ गुरु वसिष्ठ, वामदेव, मंत्री, सामन्त तथा अन्य राज्याधिकारियों के साथ द्वार-देश की ओर अग्रसर हुए ।

राजा दशरथ ने ब्राह्म एवं क्षात्र तेज के महाप्रभावों द्वारा जाज्वल्यमान मुनिपुंगव को द्वार-देश पर खड़ा देखा । प्रतीत होता था, सूर्यदेव पृथ्वी पर उतर आये हैं । उनके तीक्ष्ण तेज द्वारा समस्त स्थान तथा वायुमण्डल प्रभावित था । विश्वामित्र की काया कठोर तपस्या के कारण रूखी हो गई थी ।

वृद्धावस्था और कठोर तपस्या के कारण श्वेत जटाओं से उनका स्कन्ध-प्रदेश आवृत था। वे सन्ध्याकालीन अरुण प्रभारंजित, श्वेत मेघ द्वारा आच्छादित पर्वत-तुल्य प्रतीत हो रहे थे। उनका शरीर सौम्य था। देदीप्यमान था। तेज के कारण उन पर दृष्टि नहीं ठहरती थी। वे अनभि-भवनीय, विनय सम्पन्न, हृष्ट-पुष्ट अवयवों से युक्त कान्तिमान थे। उनके तेज-प्रभाव द्वारा नेत्र तथा मन अनायास प्रसन्न हो जाते थे। उन्हें देखकर मन में सहसा भय का संचार हो जाता था। वे अपनी छाप हृदय पर छोड़ देते थे।

प्रसाद गुण की अधिकता उनके शरीर में छलक रही थी। प्रसन्न गम्भीर तेज से मुनि की कांति अनुरंजित थी। उनके हाथ में उनका चिर साथी कमण्डलु था। उनका चित्त स्निग्ध था। प्रसन्न था। हृदय करुणा से पूर्ण था। उनके अधरों का उच्चारण मधुर था। उनका दृष्टिपात अमृत-तुल्य था। स्कन्ध प्रदेश पर यज्ञोपवीत था। उनके भ्रुव धवल एवं उन्नत थे। दर्शकों के हृदयों में, उन्होंने अपने स्वरूप से, विस्मय उत्पन्न कर दिया था।

महाराज दशरथ ने उन्हें देखते ही, भूतल-विलुंठित शरीर से प्रणाम किया। राजा के भूतल-स्पर्श करने के कारण उनकी मौलि-मणि-माला मलिन हो गई। सूर्य इन्द्र का जिस प्रकार प्रत्यभिवादन करते हैं, उसी प्रकार विश्वामित्र ने मधुर उन्नत आशीर्वाद द्वारा राजा का प्रत्यभिवादन किया। तत्पश्चात् गुरु वसिष्ठ और सभी द्विजों ने स्वागतादि द्वारा परम्परागत क्रमों से उनकी पूजा की।

'साधो!' राजा दशरथ ने कहा : 'भास्कर अपने तेजोमय दर्शन द्वारा सरोवर के कमल-दल पर जिस प्रकार अनुग्रह करता है, आपका मुझ पर उसी प्रकार अनुग्रह हुआ है। आपके दर्शन द्वारा अनादि, अक्षय, अविनाशी, परम पुरुषार्थ-स्वरूप सुख हमें अनायास प्राप्त हुआ है।'

राजा मुनि-पुंगव विश्वामित्र के साथ राज-सभा-भवन में पुनः लौट आये। सभा में प्रवेश करते ही समस्त सभा दण्डायमान हो गई। सब के बद्ध कर मस्तक से लग गये।

महाराज दशरथ ने स्वयं अपने हाथों द्वारा जल लाकर मुनि को अर्घ्य दिया। मुनि की प्रदक्षिणा की। राजा की पूजा प्राप्त कर मुनि अत्यन्त प्रसन्न हो गये। उनका मुख-कमल खिल गया। मुनि ने दैहिक तथा राज्य-मंगल पूछा।

विश्वामित्र ने गुरु वसिष्ठ की पूजा की। उनके शिष्य, आश्रम-मृग, पक्षी आदि का कुशल-मंगल पूछा। परस्पर कुशल-मंगल पूछने के पश्चात् सब लोगों ने यथायोग्य आसन ग्रहण किया।

विश्वामित्र के आसन ग्रहण करने पर, राजा दशरथ ने उन्हें पाद्य, अर्घ्य पुनः दिया। गाय आदि दान देकर उनकी पुनः विधिवत् पूजा की।

'भगवन् !' प्रांजलिभूत राजा दशरथ ने कहा : 'आपका शुभागमन मनुष्यों को अमृत-लाभ, अनावृष्टि में वर्षण, अन्धों को नेत्र-प्राप्ति सदृश मुझे लगा है। निःसन्तानों को अपनी पत्नी से सन्तान-लाभ, दरिद्रों को स्वप्न में धन-प्राप्ति तुल्य मुझे आपके आगमन से प्रसन्नता हुई है। आपका शुभागमन चिर-अभिलषित वस्तु-लाभ, बहुत दूर गये प्रियबन्धु के आगमन, खो गये धन की पुनः प्राप्ति तुल्य आनन्दप्रद हुआ है।'

'ब्रह्मन् !' दशरथ ने नतमस्तक होते हुए विनम्र स्वर में कहा : 'स्थलचारी प्राणियों को जिस प्रकार आकाशगामी होने में आनन्द मिलता है, मृत व्यक्ति के पुनः जीवन लाभ करने पर जैसा आनन्द मिलता है, आपके आगमन से मुझे उसी प्रकार का आनन्द-लाभ हुआ है।'

'महर्षे !' दशरथ ने करबद्ध विनयपूर्वक कहा : 'आपको मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं हुआ ? ब्रह्मलोक में रहना भला किसे अच्छा नहीं लगता। आपके आगमन के कारण यहीं हमें ब्रह्मलोक का अनुभव होता है। आप सत्य जानिए। जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह सत्य है। विप्रवर ! आपका मुख्य प्रयोजन क्या है ? हमें आप क्या आदेश देते हैं ?'

'मुनिवर !' राजा दशरथ ने प्रसन्न स्वर में कहा : 'गंगा-स्नान से हृदय शीतल हो जाता है। आपके दर्शनों से हमारा अन्तःकरण शीतल हो गया है। भगवन् ! आप विगत-इच्छा हैं। भयहीन हैं। अक्रोधी हैं। वीतराग

हैं। निरामय हैं। बड़े आश्चर्य की बात है, आप फिर भी मेरे यहाँ कृपा कर पधारे हैं।'

'ब्राह्मण!' दशरथ ने पुनः कहा : 'आपके शुभागमन से मेरे कल्मष तिरोहित हो गये हैं। मैं आपके सान्निध्य में अपने को पुण्य-क्षेत्र में उपस्थित अनुभव करता हूँ। मेरा गृह पवित्र हो गया है। मैं अपने को चन्द्रबिम्ब में निमग्न हुआ अनुभव कर रहा हूँ। आपका शुभागमन साक्षात् ब्रह्म का आगमन प्रतीत हो रहा है। मुने! आपके आगमन के पुण्य से मैं पवित्र हो गया हूँ। अनुगृहीत हो गया हूँ। साधो! आपके आगमन के पुण्य से अनुरंजित मेरा जीवन सफल हो गया है। सार्थक हो गया है। आपको देखकर, आपकी पूजा कर, आपको प्रणाम कर, समुद्र शशि को देखकर हर्षित होकर जिस प्रकार तट-सीमा लाँघ जाता है, उसी प्रकार मैं भी फूला नहीं समा रहा हूँ।'

'मुनिपुंगव!' दशरथ ने विनम्र शब्दों में कहा : 'आप मेरे माननीय हैं। आप जिस कार्य, जिस अर्थ, किंवा जिस प्रयोजन से आये हैं, उसे पूर्ण होता समझ लीजिए। कौशिक! आप अपने कार्य के विषय में चिन्ता मत कीजिए। आपके लिए मुझे कुछ अदेय नहीं है। आपका कार्य मैं धर्मतः पूर्ण करूँगा। आप मेरे परम देव हैं।'

राजा दशरथ के विस्तृत श्रुतिमधुर वाक्य सुनकर विश्वामित्र रोमांचित हो गये।

'राज-शार्दूल!' विश्वामित्र ने पुलकित वचनों से कहा : 'महीतल में आप-जैसे महावंश-जात, गुरु वसिष्ठ के वशवर्ती के मुख से इतने ही सुन्दर वाक्य सुनने की अपेक्षा की जा सकती है।'

दशरथ ने बद्ध-प्रांजलि आभार प्रकट किया। विश्वामित्र ने कहा : 'मैं अपने हृदय के वाक्य को कहना चाहता हूँ। आप अपने कार्य का निर्णय तथा धर्म का पालन कीजिए।'

'मुनिवर! आज्ञा कीजिए।'

'नृपतिवर!' विश्वामित्र ने गम्भीरतापूर्वक कहा : 'मैं जब-जब यज्ञ का आयोजन करता हूँ, यज्ञ करने का संकल्प करता हूँ, आततायी राक्षस विघ्न उपस्थित करते हैं। यज्ञस्थल को रक्त, मांस, मज्जा से आवृत कर

देते हैं। मेरा यज्ञ का उत्साह समाप्तप्राय हो रहा है। पुनरपि मैंने यज्ञ करने का विचार किया है।'

'अवश्य कीजिए।' महाराज दशरथ ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—

'राजन्!' विश्वामित्र ने कहा: 'मैं राक्षसों को अपनी क्रोधाग्नि में भस्म कर सकता हूँ। किन्तु, यज्ञ-दीक्षा लेने के पश्चात् क्रोध करना अनुचित है।'

'साधु-साधु!' सभा-स्थित द्विज-मण्डली ने मुनि की तपस्या का ध्यान कर प्रशंसात्मक वचन कहे।

'कोशलपति!' विश्वामित्र ने राजा के मुख की ओर देखते हुए कहा: 'यदि आपका अनुग्रह हो तो मैं निर्विघ्न यज्ञ समाप्त कर सकूँगा।'

'मुनिवर! निश्चय आपका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगा।' राजा दशरथ ने विश्वासपूर्वक कहा।

'नृप-शार्दूल!' विश्वामित्र ने गम्भीरतापूर्ण स्वर से कहा: 'मै आर्त हूँ। मैं शरणार्थी हूँ। मेरी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। प्रार्थियों को निराश करना, सज्जनों के लिए निन्दनीय कर्म कहा गया है।'

राजा दशरथ विश्वामित्र की इच्छा जानने के लिए उनकी ओर ध्यानपूर्वक देख कर बोले: 'मुनिवर! निःसंकोच कहिए।'

'काकुत्स्थ!' विश्वामित्र ने संगत वाणी से कहा: 'आपके पुत्र श्रीराम मत्त सिंह-तुल्य पराक्रमी हैं। शोभा-सम्पन्न हैं। महेन्द्र-सदृश शौर्य-सम्पन्न हैं। राक्षसों के विनाश में दक्ष हैं।'

दशरथ की मुख-कान्ति अकस्मात् मलिन होने लगी। विश्वामित्र की भूमिका का उन्हें संकेत मिल गया।

विश्वामित्र ने राजा की ओर देखते हुए कहा: 'नृप-शार्दूल! सत्य-पराक्रमी, काकपक्षधारी, शौर्य-सम्पन्न, अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को मेरे साथ कर दीजिए।'

राजा दशरथ का उत्साह विचलित होने लगा।

विश्वामित्र ने पुनः कहा: 'मैं अपने दिव्य तेज द्वारा राम की रक्षा करूँगा। मैं राम का कल्याण करूँगा। वे त्रैलोक्य-पूज्य हो सकेंगे। धूलि-समूह-मय

बादल जिस प्रकार अविरल जल-धारा सहन नहीं कर सकता, उसी प्रकार राक्षस-गण राम की बाण-वर्षा को सहन नहीं कर सकेंगे।'

राजा दशरथ का उत्साहहीन, कान्तिहीन मुख लटक गया। 'राजन्!' विश्वामित्र ने कहा : 'आपको इस समय पुत्रस्नेह का मोह त्यागना चाहिए। ममता पर विजय प्राप्त करना पुरुषार्थ कहा गया है।'

दशरथ की वाणी मूक थी। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या उत्तर दें। 'राजन्!' विश्वामित्र राजा की अनिश्चयात्मक बुद्धि का अनुभव कर बोले। 'मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठ जानते हैं, अन्यान्य दीर्घदर्शी लोग जानते हैं, राजीव-लोचन राम महात्मा हैं।'

दशरथ नीरव थे। विश्वामित्र को कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। वसिष्ठ तथा राजमंत्रियों की ओर देखते हुए विश्वामित्र ने कहा : 'आप लोग राजा को मन्त्रणा दीजिए, राम मेरे साथ जायँ।'

राजा दशरथ असमंजस में पड़ गये। उन्हें कोई उपयुक्त उत्तर सूझ नहीं रहा था। वे कुछ काल तक शान्त बैठे रहे। सभा की शान्त उत्सुक दृष्टि राजा पर, उनका उत्तर जानने के लिए केन्द्रस्थ हो गई। किंचित् काल निश्चेष्ट रहने के पश्चात् दशरथ के मधुर मन्द स्वर ने सभा-मंडप की नीरवता भंग की।

'मुनिवर! राम की आयु सोलह वर्ष से कम है। प्रबल राक्षसों से किस प्रकार युद्ध करने में समर्थ होंगे? प्रभो! मेरे पास एक अक्षौहिणी सेना है। मैं स्वयं उसको लेकर राक्षसों से युद्ध करूँगा। राम को अन्तःपुर के कल्पित क्रीड़ा-संग्राम के अतिरिक्त युद्ध का और क्या अनुभव है? समरभूमि का उन्होंने आज तक दर्शन नहीं किया है।'

विश्वामित्र में उग्रता प्रवेश करने लगी।

दशरथ ने पुनः कहा : 'साधो! पुत्र-स्नेह अमृत रस, युवती-संसर्ग तथा राज्य की अपेक्षा अधिक सुखकर है। मुनिवर! मनुष्य प्राण, सम्पत्ति, पत्नी तथा बड़े से बड़े सुखों का परित्याग कर देते हैं। पुत्र का परित्याग उनके लिए कठिन हो जाता है। प्राणियों का यह प्राकृतिक स्वभाव है।

विश्वामित्र में क्रोध की उग्रता जागृत होने लगी।

दशरथ ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहा : 'मुनिसत्तम, मैं राम के बिना मुहूर्त मात्र जीवित नहीं रह सकता। यदि आप चाहते हैं, मैं जीवित रहूँ, तो कृपया राम को मुझसे मत छुड़ाइए।'

राजा दशरथ की आँखें भर आईं। विश्वामित्र की आँखें क्रोध से जल उठीं। उनकी क्रोधपूर्ण वाणी सवेग मुखरित हुई।

'राजन्! आपने पहले प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा-पालन का विचार नहीं किया। प्रतिज्ञा तोड़कर सिंह के स्थान पर श्रृगाल बनना चाहते हैं? रघुकुल की यह विपरीत परम्परा कैसी? शशि से क्या कोई उष्ण रश्मि की कल्पना कर सकता है? काकुत्स्थ! यदि आप अपनी प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थ हैं, तो मैं अपने यथास्थान प्रस्थान करता हूँ। प्रतिज्ञा-भंग दोष के भागी होकर सबान्धव आप सुखपूर्वक रहिए।'

विश्वामित्र क्रोध से कांपने लगे। सभा-त्याग का उपक्रम करने लगे। सभा स्तम्भित हो गई। चारों ओर भय फैल गया। धृतिमान्, सुव्रत, धीमान् गुरु वसिष्ठ ने मधुर वचनों द्वारा दशरथ को सम्बोधित किया।

'राजन्! आप इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न द्वितीय धर्म-तुल्य राजा दशरथ हैं। त्रिभुवन-गुण-विभूषित, सुव्रत एवं आप-जैसे धैर्यशाली के लिए धर्म का अतिक्रमण करना शोभा नहीं देता। आप त्रिलोक-विख्यात धार्मिक हैं। यशस्वी हैं। स्वधर्म की रक्षा श्रेयस्कर है। अधर्म का परित्याग आवश्यक है।'

विश्वामित्र अपने आसन पर पुनः बैठने लगे। वसिष्ठ नतमस्तक राजा दशरथ की ओर देखते हुए बोले।

'रघुकुल-श्रेष्ठ! आपको मुनि विश्वामित्र का आदेश पालन करना उचित है। इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न होकर, स्वयं राजा दशरथ होकर, यदि आप अपने वचनों का पालन नहीं करेंगे, तो इस जगत् में और क्या करेंगे? सामान्य जन सत्पुरुषों के व्यवहारों को देखकर शास्त्र-मर्यादा का पालन करते हैं। उस मर्यादा का उल्लंघन करना आपको शोभा नहीं देता।'

सभा नीरव हो गई। विश्वामित्र विस्फारित नयनों से नत-मस्तक राजा दशरथ की ओर देखने लगे। गुरु के वचनों की क्या प्रतिक्रिया राजा पर होती है, जानने के लिए सभा उत्सुक हो गई।

राजा दशरथ का नत मस्तक धीरे-धीरे ऊपर उठा। उन्होंने अपनी ओर लगे नेत्रों को देखा। विश्वामित्र की क्रोधमूर्ति देखी। गुरु वसिष्ठ की शान्त मुद्रा देखी। उनकी मुख-कान्ति बदलने लगी। मुहूर्त मात्र में दृढ़ निश्चय मुख-मंडल पर मुसकरा उठा।

'प्रतिहारी !' राजा दशरथ ने शंखध्वनि-तुल्य गम्भीर स्वर से कहा : 'सत्यपराक्रम, महाबाहु राम को लक्ष्मण सहित विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षार्थ बुला लाओ।'

विश्वामित्र का मुख-मंडल प्रसन्नता से खिल उठा। गुरु वसिष्ठ मुसकरा उठे। द्विजों ने राजा का साधुवाद किया। सभा प्रसन्न हो गई। प्रतिहारी ने शिरसा नमन कर, राम के गृह की ओर प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

'देव !' प्रतिहारी अन्तःपुर मन्दिर से मुहूर्त मात्र में राम के अनुचर के साथ लौट आया। निवेदन किया : 'राम अपने मन्दिर में विमन, म्लान-चित्त, रात्रि-कालीन कमल में स्थित उदास भ्रमर की तरह बैठे रहते हैं। आता हूँ—कहकर, पुनः दूसरी ओर ध्यान लगा लेते हैं। खिन्न मन किसी के निकट रहना नहीं चाहते।'

'अनुचर !' दशरथ ने राम के अनुचर से पूछा : 'राम कहाँ हैं ? कैसे हैं ? बोलो !'

'भगवन् !' राम के अनुचर ने खिन्न मन कहा : 'राम तीर्थ-यात्रा से जब से लौटकर आये हैं, खिन्न, खेदयुक्त परिम्लान रहते हैं। हम लोगों के साग्रह निवेदन करने पर, कभी-कभी अपना दैनिक कर्म म्लान-मुख करते हैं और कभी अत्यन्त निवेदन करने पर भी नहीं करते। भोजन-क्रम ठीक से नहीं चल रहा है। चातक जलधारा के साथ जिस प्रकार क्रीड़ा करता है, उस प्रकार चंचल अन्तःपुर की लीला-लोलुप नारियों के साथ न तो वे लीला करते हैं और न झूला झूलते हैं। पतनोन्मुख स्वर्गवासी को जिस प्रकार स्वर्गीय भोग-पदार्थ आनन्द देने में असमर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार मुकुल-आकारीय माणिक-जटित केयूर, कटक, मालादि उनमें आनन्द-सर्जन नहीं करते।

'क्रीड़ापरायण रमणियों के कटाक्षों द्वारा समुद्भासित, कुसुम समीरण-सेवित, सुरभित लता-कुंज में, राम को प्राप्त होता है, विषाद। स्वादु, पेशल, चित्तहारी, उपभोग्य, उचित द्रव्यों को देखकर, उनमें खेद का उदय होता है। उनके कमल-नेत्र बाष्प-पूर्ण हो जाते हैं। पुरांगनाओं के नारी-जन्य-मोहक क्रिया-कलापों को देखकर, उन्हें दुःख होता है। लावण्यवती नृत्य–विलासी कामिनियों की निन्दा करने लगते हैं। भोजन, शयन, मान, विलास, स्नान, आसन आदि के निर्दोष होने पर भी, उन्मत्त तुल्य उनकी अवहेलना करते हैं।

सभा ध्यानपूर्वक राम के अनुचर के वाक्यों को सुन रही थी। दशरथ के ललाट पर रेखाएँ सिमट कर गम्भीर हो गईं। गुरु वसिष्ठ मुस्कराने लगे। विश्वामित्र गम्भीर हो गये। मन्त्री-गणों में आश्चर्य ने प्रवेश किया। प्रकृति-जन विस्मयापन्न और सुनने के लिए उत्सुक हो गये।

'और ?' राजा दशरथ ने अपने मूर्धा पर हाथ फेरते हुए पूछा।

'देव !' राम के अनुचर ने कहा : 'सम्पद्, विपद्, गृह तथा मनोरथ क्या हैं ? सब असत्य हैं। कहते हुए तुष्णीभूत होकर, बैठ जाते हैं। वे न तो परिहास करते हैं और न भोगों में आसक्त होते हैं। कार्यों में उनकी कोई आस्था नहीं रह गई है। वे मौनावलम्बी होकर बैठ जाते हैं। दोदूल्यमान अलकमंजरी-परिशोभिता, चपल-नयना, कलानिपुण ललनाएँ राम के हृदय में किंचित्मात्र उत्साह का उसी प्रकार संचार नहीं करतीं, जैसे चंचल-नेत्र हरिणी पादप को आनन्दित नहीं कर पाती।

'एकाग्रचित्त, एकान्त स्थान में, दिगन्त में, नदी तट में, विपिन में रहना उन्हें रुचिकर प्रतीत होता है। जनशून्य स्थान में एकाकी रहते हैं। वे न हँसते हैं, न बोलते हैं। न रोते हैं, न गाते हैं। पद्मासन लगाकर बैठ जाते है। बाएँ हाथ की हथेली पर गाल रखकर बैठे रहते हैं। उनमें सुख-दुःख का जैसे ज्ञान नहीं रह गया हो। उनमें अभिमान नहीं रह गया है। वे राज्य की कामना नहीं करते।'

दशरथ किंचित् चकित हुए। अनुचर की **ओर ध्यानपूर्वक** देखते हुए बोले : 'और क्या करते हैं ?'

'प्रभो !' राम के अनुचर ने कहा : 'हम लोग नहीं जानते कि वे क्या करना चाहते हैं । उनकी क्या इच्छाएँ हैं । वे कहाँ जाना चाहते हैं । क्या अनुसन्धान कर रहे हैं । अथवा क्या अनुसन्धान करना चाहते हैं । प्रतीत होता है उनमें वैराग्य बढ़ता जा रहा है । उनका शरीर शरदान्तकालीन द्रुम तुल्य हो गया है ।'

'अनुचर !' राजा ने ध्यानपूर्वक अनुचर की ओर देखते हुए पूछा ! 'लक्ष्मण और शत्रुघ्न…?'

'राजन् ।' अनुचर ने कहा : 'लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी श्रीराम के प्रतिबिम्ब समान दुर्बल होते जा रहे हैं ।'

'अच्छा !' दशरथ ने चकित होकर कहा ।

'पृथ्वीपते !' अनुचर ने विनयपूर्वक कहा : 'माताओं के पूछने पर राम कहते हैं, कुछ नहीं चाहिए । अपने समीपस्थ लोगों से कहते हैं आपात रमणीय मनोरम भोगों में चित्त लगाना उचित नहीं है । प्रमोद निमित्त आई विपुल विभवशाली रमणियों से सस्नेह करना दूर रहा, उन्हें साक्षात् मृत्यु रूप समझकर, उनका विवेचन करने लगते हैं । मुक्ति-पद-प्राप्त अनुपयोगी सभी चेष्टाओं में आयु क्षय होती जा रही है, मधुराक्षरों में स्फुट रूप से कहा करते हैं । उनका पार्श्ववर्ती यदि कोई कह देता है कि आप सम्राट् हो जायँ, तो उसे वे उन्मत्त का प्रलाप समझकर दूसरी ओर मुख फेर कर हँसने लगते हैं । किसी वाक्य को सुनते नहीं । सम्मुख आई वस्तु को देखते नहीं । विस्मयोत्पादक वस्तुओं को देखकर उनकी कामना नहीं करते । वर्षाजल दुर्भेद्य कठोर निविड़ प्रस्तर को भेद नहीं पाता । मदन-बाण कान्ताओं के मध्य बैठे रहने पर, उस महापुरुष को बेधने में अपने को असमर्थ पाते हैं ।

लोगों ने देखा । विश्वामित्र की मुद्रा में अतीव सरलता आ गई थी । सभास्थित ब्राह्मण-मंडली, तपस्वी मंडली, कवि-गण, मुनिगण राम का आचरण सुनकर प्रसन्न हो रहे थे । किन्तु, राजन्य-वर्ग, प्रकृतिजनों की मुद्राएँ किंचित् उदास थीं । राजा दशरथ स्वयं कुछ विचार करने लगे थे ।

'प्रभो !' अनुचर ने लोगों को बात सुनने के लिए उत्सुक देखकर पुनः कहा : 'आपत्तियों के सुन्दर गेह धन को वे याचकों को बाँट देते हैं । हाय !

मैं मरा, मैं अनाथ हो गया, क्रन्दन करते हैं। किन्तु, राजन् ! आश्चर्य है, उन्हें वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती है।'

'चतुर अनुचर !' विश्वामित्र ने कहा : 'और उनका आचरण कैसा है ?'

मुनिपुंगव ¡' अनुचर ने करबद्ध कहा : 'वे आस्थाहीन, चेष्टाहीन, इच्छारहित, उद्विग्न हो गये हैं। उन्हें न तो मूढ़ कहा जा सकता है और न मुक्त। धन, माता, पिता, राज्य तथा किसी प्रकार की कामना तथा चेष्टा न करते हुए, अपनी जीवन-श्री बिखेरने पर तुल गये हैं। अनावृष्टि के कारण चातक उद्वेलित हो जाता है। भोग, राज्य, आयु, मित्र, पिता, माता किंवा समस्त जगत् के प्रसाधन राम के उद्वेग के कारण हो गये हैं।'

अनुचर कहकर शान्त हो गया। सभा नीरव थी। सब एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। सभा की नीरवता भंग कर कौन कुछ कहता है, देखने की उत्सुकता लोगों की आँखों में थी। विश्वामित्र का पहले मस्तक नीचे हुआ। मुहूर्त मात्र विचार किया। अचानक वे बोले—

'महाभाग ! राघव का यह आपदा तथा अनुराग-मूलक मोह नहीं है। विवेक-वैराग्य-सम्पन्न मनुष्यों में परम मंगल-प्रयोजक जो ज्ञान है, वह उनके हृदय में अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उदय हो रहा है। राजन् ! आप राम को शीघ्र यहाँ बुलवाइए। अज्ञान युक्ति द्वारा दूर होने पर, उन्हें ऋषियों के समान परमपद में विश्राम मिलेगा।'

राजा दशरथ ने गुरु वशिष्ठ की ओर देखा। वशिष्ठ ने मस्तक हिला कर अपनी मूक सम्मति दे दी।

'दूत !' दशरथ ने कहा : 'राम को लक्ष्मण सहित सादर सभा में अविलम्ब उपस्थित होने के लिए कहो।'

:o: :o: :o:

दूत का सन्देश सुनकर श्रीराम उदयाचल के रवितुल्य पितृदर्शन निमित्त अपने आसन से उठे। कतिपय भृत्य तथा भ्राता के साथ चले।

देववृन्द द्वारा परिवृत इन्द्र-तुल्य राजा दशरथ को महात्माओं, द्विजों मन्त्रियों, सामन्तों तथा श्रेष्ठ मनुष्यों द्वारा परिवृत सिंहासन पर विराजमान

राम ने देखा। उनके दोनों पार्श्वों में गुरु वसिष्ठ तथा महर्षि विश्वामित्र बैठे थे। चारु चामर-धारिणी कान्ताएँ चामर ढुरा रही थीं। नीतिज्ञ मंत्री पंक्ति में बैठे थे।

राजा दशरथ तथा सभा-स्थित लोगों के उत्सुक नेत्रों ने सत्वगुण-सम्पन्न, सकल सेव्य, अगाध, सुव्यक्त, हिमालय-सदृश शीतल, कार्तिकेयप्रतिम, श्रीराम को सभामंडप के निकट आते देखा।

राम सौम्य थे। शुभाकार थे। सम थे। मानस विनय-पूर्ण था, उदार था। प्रियदर्शन थे। यौवनारम्भ होने पर, शरीर में यौवनोचित चपलता नहीं थी। प्रथम यौवन का सम्पूर्ण विकास एवं वार्धक्य उन्हें शान्त भाव से विभूषित किए हुए था।

राम की मुद्रा से प्रतीत होता था, उनके मनोरथ पूर्णप्राय हैं। उनमें उद्वेग का अभाव था। आनन्द का अतिरेक नहीं था। उदार, उन्नत, उत्कृष्ट एवं तृप्तप्राय अन्तःकरण उनके सरल व्यवहारों द्वारा स्पष्ट प्रकट हो रहा था। सर्वगुणों द्वारा आभूषित, हास्य के समान अत्यन्त निर्मल, परिमित हार, वसन द्वारा शोभित, राम ने पिता पर दृष्टि पड़ते ही दूर से शिरसा नमन किया।

विश्वामित्र राजा दशरथ से कुछ बात कर रहे थे। उसी समय राम ने अपने पिता का पादाभिवन्दन किया। अनन्तर मान्यगण एवं माननीय तथा गुरु वसिष्ठ एवं विश्वामित्र युगल मुनियों को प्रणाम किया। तत्पश्चात् क्रम से विप्रगणों को, ज्ञाति-प्रभृति बन्धुगणों को, अनन्तर गुरुजनों तथा सुहृदों को प्रणाम किया। राजा तथा लोगों ने प्रणाम के लिए आचरित प्रणतिपरम्परा का पालन करते हुए, किंचित् नत होकर, स्वीकार किया। अन्य लोगों का प्रणाम दृष्टिपात, मस्तक हिलाकर एवं संभाषण द्वारा स्वीकार किया। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ का आशीर्वाद प्राप्त कर, राम पिता के सम्मुख खड़े हो गए। राजा ने राम का शिर सूँघ कर आलिंगन किया। राजहंस जिस प्रकार कमल का चुम्बन बारंबार करता है उसी प्रकार राजा दशरथ ने पुत्र का चुम्बन किया। लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का राम की तरह राजा ने आलिंगन तथा चुम्बन किया।

'पुत्र ! आसन ग्रहण करो।' दशरथ ने स्नेह से कहा।

राम भूमि पर अनुचरों द्वारा बिछाए आसन पर बैठ गए।

'वत्स !' राजा दशरथ ने कहा 'तुम विवेक-सम्पन्न हो। कल्याण-भाजन हो। अज्ञानी-सदृश जड़ बुद्धि के अधीन होकर अपनी आत्मा को खिन्न मत करो। वृद्ध तथा गुरुजनों के कथनानुसार अनुष्ठान करने से तुम्हारे समान व्यक्ति पवित्र पद प्राप्त करते हैं। वे मोह के अधीन नहीं होते।'

राम नतमस्तक पिता की बात सुनते रहे। उन्होंने उत्तर नहीं दिया। दशरथ ने पुनः कहा : 'पुत्र ! मोह को जब तक आश्रय नहीं दोगे, आपदाएँ दूर रहेंगी। तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं।'

'महाबाहो !' वसिष्ठ ने कहा। 'तुम राजपुत्र हो। वीर हो। विषय-स्वरूप शत्रु दुर्जय होता है। दुःसाध्य होता है। तुम्हें एक वीर की तरह उस शत्रु को पराजित करना चाहिए। तुम क्यों कल्लोल-बहुल जड़तामय भ्रान्ति-सागर में अज्ञानी की तरह डूब गए हो ?'

राम की मुद्रा गम्भीर होने लगी। विश्वामित्र ने राम की ओर दृष्टि-पात करते हुए सम्बोधित किया—

'चपल नील कमल-समूह समान नयन युगलों में मनोविकास रूपी चांचल्य का परित्याग कर राम ! बोलो ! ! किन कारणों से भ्रान्त हुए हो ? मूषक जिस प्रकार घर को नष्ट करता है, उसी प्रकार मानसिक खेद तुम्हारे मन को नष्ट कर रहा है। उसका रूप क्या है ? तुम्हारा अवलम्बन क्या है ? हेतु क्या है ? उनके प्रकार कितने हैं ? मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ। तुम मनःपीड़ा के पात्र नहीं हो। मानसिक व्यथाओं का अस्तित्व तुममें नहीं होना चाहिए। अनघ ! तुम अपने मनोगत भावों को प्रकट करो। उन्हें अब प्राप्त करोगे जिनके प्राप्त होने पर मानसिक व्यथाएँ तुम्हें क्लेश नहीं पहुँचाएँगी।'

राम गम्भीर हो गए। विश्वामित्र की गम्भीर भेरी-तुल्य ध्वनि सभा-मण्डप में प्रतिध्वनित होती नीरव हो गई। चारों ओर से दृष्टियाँ उठकर, राम पर उत्तर जानने की आकांक्षा में केन्द्रस्थ होने लगीं। दशरथ प्रसन्न हो गए। जिस प्रकार मेघ-ध्वनि सुनकर मोर सतर्क हो जाता है, विश्वामित्र

के उचितार्थ-प्रकाशक वाक्यों को सुनकर, राम जागृत हो गए। उनमें जीवन-श्री जैसे लौट आई। उदासीनता के स्थान पर उत्साह की हलकी लहर आती दिखाई दी।

:o: :o: :o:

विश्वामित्र द्वारा आश्वासन पाकर मधुर एवं धीरतापूर्वक अर्थपूर्ण वाक्यों को राम ने कहना आरम्भ किया।

'भगवन्, मैं अज्ञानी हूँ। किन्तु, आपके पूछने पर सब कुछ कहूँगा। सत्पुरुषों के वचनों का उल्लंघन कौन कर सकता है ?'

सभास्थित लोगों का ध्यान राम की ओर आकर्षित हो गया। राजा दशरथ सुनने के लिए कुछ आगे झुक गए। चामर-धारिणी कामिनियों के चामर ढुराने की गति किंचित् शिथिल हो गई। सभा में पूर्ण शान्ति थी। वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा महात्मागण राम की ओर देखने लगे। प्रकृति-जन सुनने के लिए कुछ और आगे खिसक आए। मन्त्री, सामंत तथा अन्य राजन्य-वर्ग ध्यानपूर्वक सुनने का उपक्रम करने लगे। राम ने अपने आसन पर दृढ़तापूर्वक बैठे हुए, ओजस्वी मधुर वाणी में कहना आरम्भ किया।

'मुनिपुंगव ! इस संसार-चक्र में क्या सुख है ? यहाँ प्राणी केवल मरने के लिए जन्म लेता है। जन्म लेने के लिए मरता है। चराचर में चेष्टा-सम्भूत योग्य-विषय अस्थिर हैं। वे समस्त आपदाओं के मूल हैं। पाप के हेतु हैं। विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध, क्या लौह-शलाका की तरह भिन्न-भिन्न सम्बन्ध-हीन नहीं हैं ? क्या विषय-समूह का सम्बन्ध केवल अपने कल्पना-सूत्र मात्र से सम्बन्धित नहीं है ? कृत्रिम वेशभूषा द्वारा सुसज्ज यह जगत् अपने मन का क्या खेल नहीं है ? यह मन अस्तित्वहीन की तरह मालूम होता है। तथापि हम किस लिए मोहित होते हैं ? क्या यह सब विश्व-प्रपंच योग्य पदार्थ है ? भ्रान्तिवश सरल हरिण गर्त में गिर जाता है। मैं भी अकारण महागर्त्त में, आह ! कितने दिनों तक गिरता रहा ? यह मुझे अब मालूम हुआ है। मैं कौन हूँ ? यह जगत् क्या है ? यह मेरी जिज्ञासा है।'

सभा में राम की पवित्र वाणी गूँज उठी। लोग विस्मयापन्न नेत्रों से राम को देखने लगे। राम अपने आप में किंचित् आसन पर हिलकर, आगे झुकते हुए, कहने के लिए उद्यत हुए।

'महर्षे !' राम की गम्भीर वाणी गूँजी। 'राज्य और भोग से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? भगवन्! कहिए, इस दृश्य जगत् का प्रपंच क्यों विनष्ट होता है? जीव उत्पन्न क्यों होते हैं? क्यों वार्धक्य प्राप्त करते हैं? जन्म, मृत्यु, जरा, आपदा, सम्पदा, सुख, दुःख दायक सामग्रियाँ पुनः पुनः क्यों उत्पन्न तथा विनष्ट होती हैं? विशाल वृक्ष के कौटर में रखी अग्नि जिस प्रकार वृक्ष को जला देती है, उसी प्रकार अन्तःस्थ चिन्ताग्नि हमें क्यों निरन्तर दग्ध करती, हमारी जीवन-श्री सोख रही है? किसी दिन का महान् धनी मनुष्य अदृष्ट के चक्कर में पड़कर, अत्यन्त दरिद्र होकर, अपनी पूर्वावस्था का स्मरण कर मोहग्रस्त होता है, उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का स्मरण करता, मैं मोहग्रस्त हो गया हूँ। गर्त्त के ऊपर काष्ठादि स्थापन कर कौशलपूर्वक वन्य हाथी फँसाया जाता है। और फँसने पर अपनी विविध दुरवस्था का चिन्तन कर, जिस प्रकार सुख-लाभ नहीं करता, उसी प्रकार मैं संसार के विशाल कारण-परम्परा के नश्वरत्व हेतु नाना प्रकार के दोष एवं विविध अवस्थाओं का चिन्तन करता हुआ किंचित् मात्र शान्ति प्राप्त नहीं कर पा रहा हूँ।

'लक्ष्मी मोह का कारण है। अनिष्ट की कारण है। मूढ़ समझते हैं, लक्ष्मी के द्वारा सुख मिलेगा। सुख के लिए लक्ष्मी की निरन्तर उपासना किया करते हैं। वर्षाकालीन सरिता उल्लसित होकर जिस प्रकार अत्यन्त विशाल भयंकर उत्ताल मलिन महातरंग-मालाओं को इधर-उधर परिचालित करती रहती है, दीप-शिखा स्पर्श मात्र से जैसे ताप उत्पन्न करती है, हाथ में लेने पर काजल लगा देती है, उसी प्रकार लक्ष्मी अंग-स्पर्श मात्र से अत्यन्त ताप-सम्पादन करती है। ग्रहण करने पर सर्वनाश का कारण होती है।

'राज्य प्रकृति-समान लक्ष्मी मूढ़ है। उसके समीप जानेवाला व्यक्ति सद्गुणों का विचार न कर, उसका अवलम्बन करता है। दूध सर्प के विष तथा उसके वेग का वर्धन करता है। लक्ष्मी वेगपूर्वक कर्मों का विस्तार करती चलती है। एक मुट्ठी धूल मणि-राशि को मलिन कर देती है।

प्राज्ञ, शूर, कृतज्ञ, कोमल एवं विनीत प्रकृति के व्यक्तियों को लक्ष्मी मलिन करने से नहीं चूकती। लक्ष्मी सुख का कारण नहीं, उसका मूल है। लोक-निन्दा-वर्जित धनी, श्लाघाहीन वीर, अपक्षपाती स्वामी तीनों संसार में दुर्लभ हैं।

'सर्प गहन वन-गुहा में और गजराज विन्ध्याचल पर्वत की विशाल तट-भूमि में आश्रय लेते हैं। उसी प्रकार दुःख तथा प्रबल मोह-जाल लक्ष्मी का आश्रय ग्रहण करते हैं। लक्ष्मी सत्य कार्य रूप कमल-कुल के लिए रजनी-स्वरूप है। दुःखस्वरूप कैरव-कुल निमित्त शशि तुल्य है। सुदृष्टि-दीपिका के लिए वायु है। भयभ्रान्ति मेघ के लिए पुरोवात है। विषाद विष-वृद्धि की मूल है। विकल्प-जाल के क्षेत्र-विभाग की सून्दर रचना है। विभीषिका की हुंकार है। खेद का मुख्य कारण है। इन्द्र-धनुष की तरह अचिरस्थायी है। रागों की तरह मनोहर है। विद्युत् की तरह चपल है। उत्पत्ति के साथ नाशशील है। जड़ का आश्रय लेकर रहनेवाली है।

'लक्ष्मी वैराग्य-लता के लिए तुषार-वर्षा है। कामादि विकाररूप पक्षियों के लिए रात्रि है। विवेक-शशि के लिए राहु है। सौजन्य-पद्म-दल के लिए चाँदनी रात है। यह खड्ग-धार की तरह शीतल होने पर भी प्राण-घातक है। क्रूर आशाओं की आश्रिता है। जिस प्रकार भयंकर भुजंगों से भरे पुराने कूप को मनोहर कुसुम-लतिकाएँ आच्छादित कर, सरल चित्त मनुष्यों को आकर्षित करती हैं, उनके प्राण की घातक होती हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी मनोवृत्तियों को आवृत कर, अपने मनोरम लुभावने रूप से लोगों को आकर्षित करती है, उनके सर्वनाश का कारण होती है।'

सभामण्डप में अलंकार-विभूषित मनुष्य अपने अलंकारों को छिपती निगाहों से देख कर लज्जित होने लगे। उन्हें अपने आभूषण, अपने मूल्यवान् वसनों, लक्ष्मी के आश्रय में रहकर, विकासमय जीवन के प्रति, लज्जा उत्पन्न होने लगी। सब की दृष्टि एक बार सभा में उपस्थित लक्ष्मीपतियों की तरफ उठ गई।

'महात्मन् !' राम की वाणी मुखरित हुई। 'पल्लव-कोणाग्र पर स्थित अम्बुकण की तरह हमारी आयु अस्थिर है। उन्मत्त के समान सहसा आयु इस शरीर का परित्याग कर देती है।'

'मुनिवर !' विश्वामित्र को विशेष रूप से सम्बोधित करते हुए राम ने कहा। 'यह जीवन शरत्कालीन मेघ-माला-तुल्य स्वल्प है। तेलहीन दीपक तुल्य अस्थायी है। तरंगों की तरह चंचल है। वायु को घेर कर वश किया जा सकता है। आकाश के खण्ड किए जा सकते हैं। जल-तरंगें मालाओं में गुँथी जा सकती हैं। चन्द्रप्रतिबिम्ब, विद्युत्-पुञ्ज एवं आकाश-कमल ग्रहण करने में विश्वास किया जा सकता है। किन्तु अस्थिर जीवन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जीवन असार है। यह जानते हुए, मूर्खगण लम्बी आयु की आकांक्षा करते हैं।'

'ब्रह्मन् !' राम ने पुनः कहा। 'संसार-सागर में लता-तुल्य यह शरीर पानी के फेन के समान है। इस जीवन में, इस शरीर में, मुझे किंचित् मात्र रुचि नहीं है। अविवेकी के लिए शास्त्र, कामनाधीन व्यक्ति के लिए ज्ञान, अशान्त के लिए मन, तथा जिसे आत्म-ज्ञान नहीं है, उसके लिए यह शरीर भारभूत है। बोझा उठाने वाले के लिए बोझा दुःख-स्वरूप होता है। दुर्मति व्यक्ति के लिए रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहंकार, चेष्टाएँ आदि भार-वाहक के भार के समान दुःख की कारण हैं। आयु श्रम-निवृत्ति से रहित है। पूर्ण कामना से शून्य है। आपत्तियों का आलय है। राग-स्वरूप पक्षियों का घोंसला है। मूषक अपने परिश्रम का ध्यान नहीं करता, नित्यप्रति अपने पुराने विवर को खोदता रहता है। उसी प्रकार काल अनजाने मनुष्यों की आयु काटता चलता है। सर्प वन-वायु पान करता है। और आयु को रोग पीता रहता है। घुन पुराने सूखे वृक्ष में स्थान जमा कर उसका नाश, करता रहता है। उसी प्रकार रोगादि शरीर में सुखपूर्वक आसन लगाए आयु को नष्ट करते रहते हैं। बिल्ली उत्कट अभिलाषापूर्वक मूषक को लक्ष्य करती रहती है।

'अत्यन्त लोभ से प्रेरित होकर मृत्यु हमें लक्ष्य बनाकर बैठी है। सज्जन दुर्जन का अवज्ञापूर्वक त्याग करते हैं। उसी तरह यौवनावस्था कुछ काल इस शरीर में रहकर इसका त्याग कर देती है। मनुष्य भोजन को जिस तरह पचा डालता है, उसी तरह गन्धादि गुण गर्वित वेश्यारूपी वृद्धा-वस्था जीवन-शक्ति को क्षीण कर देती है। जिस प्रकार कृतान्त रूप के अभिलाषी होते हैं, उसी प्रकार विनाश का मित्र वृद्धावस्था, मृत्यु का मित्र काल मनुष्य की आयु का चातक बना रहता है।'

राम के आयु-सम्बन्धी भावनात्मक वाक्यों को सुनकर सभास्थित लोग स्तब्ध हो गए। विरक्ति की छाया सभा-मंडप में छा गई। लोग नीरव हो गए। सब की मुद्रा विवेकशील हो गई। राम ने सभास्थल-आसीन मंत्रियों, सामन्तों, प्रसाधन-सम्पन्न सौन्दर्य-प्रिय लोगों, अस्त्र-शस्त्र-सज्जित वीरों, ज्ञानियों के प्रशस्त ललाट, राजाओं के बहुमूल्य आभूषण, धनपतियों के कण्ठ में पड़ी हुई मुक्ता-मालाओं की ओर लक्ष्य करते हुए पुनः कहने के लिए उद्यत हुए।

'मुनि-पुंगव !' राम ने सभामण्डप के बाहर दिखाई पड़ते नील गगन की ओर देखते हुए कहा। 'अहंकार का मूल अज्ञान है। विपद्, दारुण पीड़ा, तथा कामनाओं की जड़ अहंकार है। प्राणियों का चिर शत्रु इसका आश्रय लेकर मुझे अन्न-भोजन तथा जलपान करने की इच्छा नहीं होती है। विषय-भोग का आश्रय लेकर किस प्रयोजन की सिद्धि करूँगा ? व्याध जिस प्रकार पक्षियों को फ़ँसाने के लिए जाल फैलाता है, उसी प्रकार अहंकार माया-जाल फैला कर जीव को फँसाता है। पर्वत खैर का वृक्ष उत्पन्न करता है। अहंकार संसार के भीषण दुःखों का स्रोत है।

'अहंकार शम-शशि को ग्रस्त करनेवाला राहु है। गुण-पद्म के लिए तुषार-पात है। समदर्शी के लिए शरद् कालीन मेघ है। अहंकार-मेघ जब तक उड़ता रहता है, तब तक कुटज मंजरी तृष्णा के फूल खिलते रहते हैं। अहंकार-मेघ के शान्त होने पर तृष्णा विद्युत्-रेखा, दीप-शिखा तुल्य, अचानक शीघ्रता-पूर्वक विलीन हो जाती है। मन-स्वरूप मत्त महागजेन्द्र अहंकार विशाल विन्ध्या अटवी में निबिड़ शिलाओं के टूटने की ध्वनि की तरह, मेघ तुल्य गरजता है। शरीर-अरण्यानी में प्रबल अहंकार-केसरी भ्रमण कर रहा है। उसी के द्वारा इस जगत् का विस्तार हुआ है। तृष्णा तत्तुल स्रोत बहु जन्म-परम्पराओं की अहंकार-मुक्ता-माला मनुष्य अपने कण्ठ में पहने मिथ्या गर्व का अनुभव करता है। महामुने ! इस अहंकार शत्रु ने तन्त्र-मन्त्र विवर्जित पुत्र-मित्र-कलत्रादि जाल फैला रखा है। ब्रह्मन् ! मैं निरहंकार होकर भी मूर्खों की तरह शोक से दुःखी हो रहा हूँ। मैंने अहंकार कलंक का यत्नपूर्वक परित्याग किया है। अवशिष्ट कर्तव्यों के सम्बन्ध में कृपया मुझे उपदेश दीजिए।'

सस्मित विश्वामित्र ने राम की ओर देखा। राम ने उन्हें सम्बोधन कर कहा :

'मुनिवर ! गाँव के कुत्ते की तरह मन अकारण व्याकुल और दीन भावापन्न होकर दूर-दूर घूमता रहता है। सतत शून्याकार दुराशा-जड़ित मन शून्य चित्त पथभ्रष्ट मृग के समान किसी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं कर पा रहा है। हरित दूर्वांकुर-आकांक्षी मृग-शावक पतन की चिन्ता न कर दूर तक दौड़ता जाता है। वही अवस्था भोग-लोलुप मन की है। मेरी मनोवृत्ति आकुलतापूर्ण हो गई है। महासमुद्र अपनी चंचलता का परित्याग नहीं करता। चित्तनिचय-चंचल मन कठघरे में वन्द सिंह के समान अपनी चंचल वृत्ति के कारण स्थिर नहीं हो पाता है। दूधमिश्रित जल में हंस दूध पीकर जल त्याग देता है। मोहरथारूढ़ मन उद्वेगनाशक साम्य सुख को शरीर से निकाल लेता है।'

'मुनिवर !' राम ने कहा। 'व्याध जाल फैलाता है। जाल-सूत्र की दृढ़ ग्रन्थि पकड़ कर बैठ जाता है। पक्षियों को पकड़ता है। उसी प्रकार चित्त तृष्णा की दृढ़ ग्रन्थियाँ ममतादि को अन्तःकरण में रखे हुए, मेरे द्वारा मुझको बाँध रखा है। प्रबल रोष-धूमावृत चिन्ता-ज्वाला मुझे अग्नि द्वारा जलते सूखे तृण की तरह दग्ध कर रही है। भूखी भार्यानुगामी क्रूर कुत्ता अचेतन शव को जिस प्रकार खाता है, उसी प्रकार तृष्णानुगामी चित्त मुझ ज्ञानहीन को भक्षण करता जा रहा है। जल-प्रवाह बाँध कर अवरुद्ध हो जाता है। संसार-सागर से उद्धार निमित्त सचेष्ट रहने पर भी चित्त के कारण आगे न बढ़कर रुक जाता हूँ। आकाशगामी पक्षी पृथ्वी तल पर मांस देखकर सहसा टूटता है। चित्त भी विषय की ओर अनायास झपट पड़ता है। साधो ! समुद्र-पान, सुमेरु पर्वत का लाँघना, अग्नि-भक्षण से कठिन कार्य मन का वश में करना है। चित्त विषय का कारण है। चित्त द्वारा त्रिजगत् का अस्तित्व है। चित्त के क्षीण होने पर वासना का क्षय होता है। उस समय जगत्-भ्रम नष्ट होता है। अतः एक रोग की तरह मन की चिकित्सा करनी चाहिए। इसी के द्वारा अविद्या पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। उत्तम जन मन से इस प्रकार की आशा करते हैं। मैं उसे अपना शत्रु समझ कर उस पर विजय पाने के लिए सन्नद्ध हुआ हूँ।'

राम ने गम्भीर सभा की नीरवता भंग करते हुए पुनः कहना आरम्भ किया :

'महर्षे ! तृष्णा आत्म-अन्वेषण में घोर अन्धकारमय काल रात्रि तुल्य है। राग-द्वेषादि विहंगम इस रात्रि में विहार करते हैं। अन्तर्दाह-प्रदायिनी दिनकर-किरण-माला जिस प्रकार सरस कोमल पंक को सुखा देती है, उसी प्रकार अन्तर्दाह-प्रदायिनी चिन्ता स्नेह तथा करुणामय हृदय को शुष्क कर रही है। मेरे अज्ञानान्धकार-शून्य मानस-महावन में आशा-पिशाची तृष्णा-मत्त होकर नाच रही है। तरंगें समुद्र-गर्भ को आलोडित कर अनेकानेक आवर्तों की सृष्टि इसलिए करती हैं कि तरंगों के साथ स्नेहपूर्वक संचरण करें। उसी प्रकार तृष्णा मन में विक्षोभ उत्पन्न करके अधिकाधिक भ्रम उत्पन्न करने के लिए विषय उत्साह संचारित करती है। विविध विषय-संचारिणी तृष्णा-तरंगिणी सरिता मेरु पर्वत स्वरूप शरीर में प्रवाहित हो रही है। आँधी जीर्ण तृण को कहीं-का-कहीं उड़ा ले जाती है। कलुषित तृष्णा चित्त-चातक को किसी अनिर्दिष्ट देश की ओर भेज देती है।

'साधो ! जल पर तैरते गले पत्ते की तरह, वायु में उड़ते जीर्ण शुष्क तृण की तरह ठीक है—गगन-मंडल में उड़ते शरत्कालीन मेघ की तरह, मैं इस चिन्ता-चक्र में चक्रित हो गया हूँ। पक्षी भ्रान्त होकर जाल में फँस जाते हैं। अपने घोंसले में लौट कर नहीं आते। मैं अपने बुद्धि-स्थान पर न पहुँच कर चिन्ता-जाल में मुग्ध हो गया हूँ। मैं जिस प्रकार की चिन्ता-ज्वाला में दग्ध हो रहा हूँ, उसे शान्त करने की सामर्थ्य अमृत में नहीं है। तृष्णा उन्मत्त-तुरगी दूर भाग कर पुनः लौट आती है। वेगपूर्वक चारों ओर व्यग्र घूमने लगती है।

'मुनिवर ! मैं धीर हूँ, पुनरपि तृष्णा-रजनी घोर अन्धकार से मुझे भयभीत करती है। आँख रहते मुझे अन्धा बना देती है। आनन्दित होने पर न जाने क्यों अनायास दुःखी बना देती है। कुटिला, कोमलस्पर्शा, विष-वर्धिनी काल-सर्पिणी-सदृश चिन्ता किंचित् स्पर्श करते ही तत्क्षण डस लेती है। दुर्भाग्य-दायिनी, मायामय-कार्य-सम्पादिका दीना तृष्णा काली राक्षसी-समान, मनुष्यों का हृदय वेध देती है। तृष्णा जीर्ण तुम्बीयुक्त वीणा है। तृष्णा वीणामंजरी की तरह शून्या, निष्फला, वृथा उन्नता, अमंगलकारी और नैराश्यदायिनी है। तृष्णा वृद्ध-वेश्या तुल्य पुरुषों के पीछे

निष्फल घूमनेवाली है। विविध-रस-पूर्ण महासंसार के भुवन नाट्यशाला के रंगमंच पर तृष्णा वृद्धा नर्तकी तुल्य आती है। दीर्घ संसार-जंगल में तृष्णा विस्तृत विषलता है। जीर्ण नर्तकी तुल्य, नृत्य में अशक्त, जहाँ जाने में असमर्थ है, वहाँ ताण्डव पति धारण कर उत्साह एवं बलहीनता के कारण आनन्दहीन नृत्य करती है।

'मुनिपुगव ! तृष्णा वर्षाकालीन क्षुद्र नदी की तरह मुहूर्त्त मात्र में उल्लसित हो जाती है। जड़ कल्लोल-बहुलता, समयान्तर में सम्पूर्ण रूप से शून्यता एवं मध्य-मध्य में विच्छिन्नता इसका धर्म है। क्षुधा तथा तृष्णा से व्याकुल पक्षी फलहीन वृक्ष त्याग कर फलयुक्त वृक्ष पर चले जाते हैं। तृष्णा-रूपिणी चपल वानरी अलंघनीय स्थलों को लाँघ जाती है। परितृप्त होने पर फल की आशा करती रहती है। एक स्थान पर स्थिर नहीं होती। हृदय-कमल-मधुकरी-तृष्णा क्षण में आकाश, क्षण में पाताल क्षण में दिशा-निकुंजों में भ्रमण करने लगती है। जिस प्रकार अनेक पशुओं का पगहा एक लम्बे पगहा में चरने के लिए बाँध दिया जाता है, उसी प्रकार प्राणिमात्र का मन इस तृष्णा-पद्या की ग्रन्थि में बँधा है। तृष्णा व्यवहार-समुद्र की तरंग है। तृष्णा मोह गजेन्द्र को लौह-श्रृंखला में बाँध रखती है। तृष्णा गुण-सस्यों के लिए वज्र है। फलस्वरूप आपदाओं के लिए शरद् ऋतु है। तृष्णा-संसार-नाटक की नटी है। प्रवृत्ति कोटर में निवास करनेवाली पक्षी है। मानस-अरण्य की हरिणी है। कामदेव की संगीत वीणा है।'

श्रीराम ने सभास्थित लोगों के गंभीर मुख की ओर देखकर पुनः कहना आरम्भ किया :

'आत्म-अन्वेषण के मार्ग में तृष्णा-रूपी अन्धकार कालरात्रि के समान बाधक है। राग-द्वेषादि रजनीचर पक्षी इस कालरात्रि में सुख से विहार करने वाले पक्षी हैं। जिस तरह सरस कोमल पंक को अन्तर्दाह-प्रदायिनी दिनकर-किरणमाला शुष्क कर देती है, उसी प्रकार मेरे स्नेह एवं दयायुक्त अन्तस्तल को अन्तर्दाह-प्रदायिनी चिंता ने शुष्क कर दिया है। मेरे ज्ञानांध-कार शून्य मानस-महावन में आशा-पिशाचिनी मत्त होकर नाच रही है। समुद्र-गर्भ को जैसे तरंग आलोड़ित कर अतिशय आवर्तों की सृष्टि इसलिए करती है कि उनके साथ स्नेहपूर्वक संचरण कर सके, उसी तरह मानस में

अधिकाधिक भ्रम उत्पन्न करने के लिए विषय उत्साह से तृष्णा विक्षोभ उत्पन्नार्थ संचरित हो उठती है। विविध विषयसंचारिणी तृष्णासरिता हमारे पर्वत-स्वरूप शरीर से निकलती है। इस शरीर का असत् कर्म ही तृष्णा-सरिता का स्रोत है। हमारे मिथ्या कथनादि उस सरिता की ध्वनियाँ हैं और उस सरिता की तरंगमालाएँ हैं हमारी प्रवृत्तियाँ। आँधी में उड़ता विचारा जीवन तिनका, आँधी में उड़ती निर्दोष धूलि, जिस प्रकार किसी अनिर्दिष्ट स्थान की ओर अनायास चल देती है, उसी प्रकार तृष्णा-वेग से चित्त-चातक भी उस में पड़कर किसी अनिर्दिष्ट देश की ओर चल पड़ता है। पानी के ऊपर तैरते पीले पत्ते की तरह, वायु में उड़ते तिनके की तरह, नीलाम्बर में उड़ती शरद् मेघमाला की तरह मैं चिन्ता-चक्र में चक्रित हूँ। पक्षी जैसे अपने आवास को भूल कर बुद्धि-भ्रम से जाल में फँस जाता है, उसी प्रकार मैं विशुद्ध भाव से चिन्ता-जाल में अनायास ही फँस गया हूँ। हे तात ! मैं इस समय जिस चिन्ताज्वाला में जल रहा हूँ उसे शान्त करने की क्षमता अमृत में भी नहीं है।'

राम ने पुनः कहा :

'मैं धीर हूँ, धैर्य गुण से परिचित हूँ। फिर भी अन्धकारमयी रजनी-तुल्य तृष्णा मुझे भयभीत कर रही है। आँखें रहते हुए भी, जानते हुए भी मुझे अन्धा बना देती है। आनंदित होने पर भी न जाने क्यों दुःखावरण से मुझे ढक देती है। कुटिल, कोमल-स्पर्शा, विष-वर्धिनी कालस्वरूपा सर्पिणी यह तृष्णा किंचित्‌मात्र स्पर्श से ही तत्क्षण डस लेती है। काली राक्षसी के समान दुर्भाग्यदायिनी मायामय-कार्यसंपादिका हीना तृष्णा मानव के हृदय को क्रूरतापूर्वक छेद देती है। क्षीण मंजरी की तरह शून्य, निष्फला, वृथा उन्नत, अमंगलकरी, निरानंददायिनी और कठोर यह तृष्णा है। वृद्ध वेश्या के समान मनमोहक न होने पर भी, यह जानते हुए कि उसका अनुसरण करना फलहीन है, लोग तृष्णा का अनुगमन करते हैं। इस महासंसार के विविध रसपूर्ण भुवनस्वरूप कृत्रिम रंगमंच पर तृष्णा परिपक्व नर्तकी की तरह आती है। इस विस्तृत संसार-कानन में तृष्णा रूपी बद्धमूल विष-लता स्वच्छन्दता-पूर्वक फैली हुई है। वृद्धावस्था इस तृष्णा का पुष्प है। उन्नति किंवा अवनति इसका फल है। वर्षाकाल की क्षुद्र नदी तुल्य मुहूर्त्तमात्र में ही यह उल्लसित

हो उठती है। उस समय अपनी जड़ कल्लोल-बहुलता से यह महानदियों को मात कर देती है, किन्तु समयान्तर में वह जलशून्य हो जाती है। उसके वेग का पता नहीं चलता। उसके कल्लोल की ध्वनि कहानीमात्र रह जाती है। उसे पार कर उसकी मर्यादा का उल्लंघन चीटियाँ तक करने लगती हैं। उस समय उस क्षुद्र नदी में कहीं गर्त में रह कर जल उसकी विच्छिन्नता की जो कहानी सुनाता है, वह विच्छिन्तता की कहानी तृष्णा का धर्म है।'

राम की वाणी अनवरत सभास्थल में गुञ्जित थी।

'यह तृष्णा-रूपिणी चंचल वानरी अलंघनीय स्थलों को लाँघ जाती है। पेट भर जाने पर, परितृप्त हो जाने पर भी यह वानरी फल की आशा में डाल-डाल कूद-कूद कर फल न खा सकने पर उन्हें नष्ट करने लगती है। यह वानरी एक स्थान पर नहीं ठहरती। उसे एक स्थान, एक वातावरण तथा एक ही प्रकार के फलों से सन्तोष नहीं होता। हृदयकमल-मधुकरी तृष्णा क्षण में ही आकाश, क्षण में ही पाताल एवं क्षण में ही सुरभित कुंजों में भ्रमण करने लगती है। बहुत से पशुओं का पगहा एक लम्बे पगहे में चरने के लिए बाँध दिया जाता है। उसी तरह प्राणिमात्र का मन लम्बी तृष्णा में बँधा है। तृष्णा का व्यवहार समुद्र की तरंग की तरह है। तृष्णा की ही यह शक्ति है जिसके कारण हाथी डर कर लौह-शृंखला में बँध जाता है। जिस प्रकार विषविशेषजनित विषूचिका मनुष्यों की बोली बन्द कर उसे जड़वत् मूर्छित कर देती है, उसी प्रकार जब तक तृष्णा निवृत्त नहीं होती, तब तक संसारी पुरुष अध्यात्म शास्त्र से विरत एवं व्याकुल चित्त रहते हैं।'

राम ने विरक्त स्वर में कहा :

'हे ब्रह्मन्! हृदयस्थित तृष्णा तीक्ष्ण खड्गधार, अशान्ति, तेज, लौहकण एवं अग्नि ज्वाला से भी तीक्ष्ण है। दीपशिखा-तुल्य तृष्णा उज्ज्वल, तीक्ष्ण सुन्दर होने पर भी अपने दाहक गुण के कारण केवल स्पर्शमात्र से दुःख एवं पीड़ा की जननी होती है। तृष्णा का अन्तर्दाह असह्य है। केवल तृष्णा में ही इतनी शक्ति है कि वह सुमेरु पर्वत के समान धीर, वीर, गम्भीर, प्रज्ञ व्यक्तिको भी तृणवत् अपदार्थ की तरह फेंक सकती है, इसका गुण रजोगुण-प्रधान है। इसका रूप निबिड़ जालस्वरूप। अज्ञान ही इसकी शीतलता

है। जिस प्रकार एक ही माधुर्य शक्ति सलिल में अवस्थित होने पर भी कूप, ताल, नदी, वर्षा आदि अनेक प्रकार के जलवाचक नामों से प्रयुक्त होकर एक ही रूप होने पर भी एक ही रूप से नहीं लक्षित होती, उसी प्रकार शरीर के भोग्य विषयों में आवद्ध होने पर भी वही तृष्णा शरीर के व्यावहारिक क्षेत्र में तृष्णारूप से प्रकट नहीं होती।'

राम जी ने सभास्थित सुन्दर पुरुषों की ओर देखते हुए कहा;

'हमारा अंग शिराओं का जाल है। उन अस्थियों का कंकाल जिन्हें छूने से हम हिचकते हैं, उन्हें अपवित्र कह कर घर से निकाल बाहर करते हैं। शरीर विकारमय है, क्षणभंगुर है। शरीर की शोभा मांस का उतार-चढ़ाव है। वह केवल जड़, स्थूल, चेतनाहीन, अस्थिपंजर शरीर स्वतः ज्ञानहीन तथा चेतनाहीन है, किन्तु आत्मा के विचित्र संसर्ग द्वारा चेतन प्रतीत होता है। असार होने पर भी मैं कहता हूँ कि यह शरीर मोक्षोपयोगी है। यह न तो साधारण जड़ के ही समान है और न चेतन की तरह चैतन्य। इस देह को थोड़ा दुःख तथा सुख होता है। थोड़े ही दुःख एवं सुख में रूप बदल देने वाले शरीर की अपेक्षा गुणहीन, नीच तथा शोचनीय कोई और पदार्थ मुझे दुनिया में नहीं दिखाई देता। गुल्म, छाया एवं पक्षियों के घोंसलों से युक्त, छेदन-भेदन योग्य यह देह-रूपी वनस्पति समय विशेष पर अनायास उत्पन्न तथा नाश होती है। यह शरीर विहंगम-कुलाश्रय वृक्ष-स्वरूप स्तम्भ के समान खड़ा है। दोनों भुजाएँ इसकी शाखाएँ हैं। दृढ़ स्कन्ध विशाल तना है। युगल नयन भ्रमरों के छाते हैं। शिरोभाग बृहत् फल है। दोनों कान वृक्ष के काष्ठ कुट्टक उभड़े कोटर हैं। कानों के छेद पक्षियों के चंचुप्रहार द्वारा निर्मित घोंसले हैं। चरण तथा कर वृक्ष के पल्लव हैं। इस वृक्ष के आश्रय में जीव-रूप पथिक आकर विश्राम करता है। इस प्रकार की देहरूपी वनस्पति भला कैसे आत्मीय हो सकती है? अपनी अथवा किसी दूसरे की देह में फिर मुझे क्यों कर आस्था किंवा अनास्था उत्पन्न हो सकती है?'

राम ने विश्वामित्र को सम्बोधित किया;

'क्या संसार-सागर पार करने के लिए बार-बार पोत-स्वरूप देह का आश्रय लेना पड़ेगा ? क्या आत्मा इस आश्रय-क्रीड़ा से हमें विमुख न करेगी ? रोमावलियाँ इस शरीर के असंख्य पादप हैं। रोमावलियों के विवर वन की कन्दराएँ तथा गर्त हैं। स्वयं शरीर शून्य अरण्य है। फिर बहुत दिनों तक निःशंक इस शून्य अरण्य में कौन निवास कर सकता है ? जिस शरीर की अपनी कोई ध्वनि नहीं, जिस शरीर का स्तर छिद्रों से भरा पड़ा है, जिस शरीर का गठन मांस, स्नायु, अस्थि आदि से हुआ है, उस असार शरीर में कितने आश्चर्य की बात है कि मैं बैठा हूँ। यह शरीर वट-वृक्ष है। इस वट-वृक्ष का सेवन पथिकों ने किया है। पथिकों की सेवा का यह फल है। सरसच्छायायुक्त, परिश्रम-विरस, छिद्रगर्भ, उन्नत, सुन्दर देहस्वरूप यह वट-वृक्ष मेरे सुख का कारण किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इस वट-वृक्ष पर चित्तरूप बन्दर विहार करता है। चिन्ता ही इस वृक्ष की मंजरी है। तृष्णा-पन्नगी का यह आवास है। रोष इसकी टहनियों पर बैठने वाला काक है। इन्द्रियरूपी पक्षियों का यह आश्रय है। अहंकार-गृद्ध का इसके कोटर में डेरा है। कभी-कभी उत्पन्न हुआ हास ही इसकी पवित्रता है। शुभ-अशुभ इसके फल हैं और यह वट-वृक्ष संसार-अरण्य में घुनों से क्षत-विक्षत होता हुआ नित्य-प्रति अपनी श्री बिखेरता जा रहा है। इस श्रीहीन होते वट-शरीर के आश्रय में रहना कौन पसन्द करेगा ?'

राम ने कहा—

'महात्मन् ! शरीर-वृक्ष की बाहुएँ शाखाएँ हैं। हाथ पुष्प-गुच्छ हैं। प्राण वायु से विकम्पित अवयव ही पवन-विकम्पित पल्लवसमूह है। उत्तम जानु स्तम्भोपम निम्न भाग है। शीर्ष-देशोत्पन्न केशकलाप वृक्ष पर उत्पन्न क्षुद्र तृणसमूह है। नाना प्रकार की विभक्त वासनाएँ वरोह-स्वरूप इसके मूल भाग को वेष्टित किये हुए है। इस वट-स्वरूप शरीर का उच्छेदन करना ही पुरुषार्थ है। जिस शरीर में दुःखरूप बालक की क्रन्दन-ध्वनि उठती हो, जिस शरीर से सुखरूपी शय्या-सज्जा का सौन्दर्य-संचय किया जाता हो, जिस शरीर से दुश्चेष्टारूप दग्ध दासी का अस्तित्व हो, वह शरीर-निकेतन मेरी अभीष्ट वस्तु नहीं है।'

राम ने विश्वामित्र की ओर देखते हुए कहा;

'हे ब्रह्मन्! जहाँ प्रज्ञारूपिणी गृहिणी ज्ञानेन्द्रिय-रूपी गवाक्ष द्वारा क्रीड़ा करती है, जहाँ चिन्ता निवास करती है, वह शरीर-मन्दिर मुझे अभीष्ट नहीं है। दुर्बल व्यक्ति जैसे कीचड़ में फँसे हाथी का उद्धार नहीं कर सकता, उसी तरह मैं माया-संसार-पथ में फँसे अपने शरीर का उद्धार करने में असमर्थता का अनुभव कर रहा हूँ। लक्ष्मी, राज्य, देह तथा विषय-चेष्टा का फल क्या होगा, जब यह विचार करने लगता हूँ तब मन विचलित हो उठता है। स्पष्ट देखता हूँ कि काल सभी को एक दिन चूर्ण कर देता है।'

राम ने घृणासूचक स्वर में कहा—

'मुनिवर! इस रक्तमांसमय नश्वर शरीर का विवेचन कर, कहिए कि इस शरीर में क्या सुन्दरता है? इस शरीर में क्या रमणीयता है? और इस शरीर में क्या आकर्षण है?'

राम ने पुनः कहा—

'हे तात! मृत्यु के समय यह शरीर अपना साथ त्याग देता है; तो फिर ऐसे कृतघ्न शरीर के प्रति कैसे स्नेह कर सकूँगा? मेरी समझ में नहीं आता कि लोगों की इस शरीर के प्रति किस प्रकार आस्था उत्पन्न हो सकती है' शरीर हाथी के कानों के अगले पतले भागों के समान चंचल है। पतनोन्मुख जलधारा की तरह क्षणभंगुर है। अतएव यह शरीर चाहे हमारा त्याग करे अथवा नहीं किन्तु मैं इसका अवश्य त्याग करूँगा। प्राण वायु के स्पन्दन में यह कोमल शरीर-पल्लव चंचल जर्जर एवं स्वभावतः क्षीण हो जाता है। यह कटु और नीरस शरीर मुझे जरा भी नहीं सुहाता। चिर काल तक स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थों के सेवन तथा यत्न करने पर ही यह जड़ शरीर कोमल किंवा कृश होता है और बिना यत्न किये यह अनायास ही नष्ट हो जाता है। आज अपनाकर कल फिर उसके पीछे लोलुप की तरह दौड़ता है, उस निर्लज्ज शरीर से बढ़कर संसार में और कौन अधम होगा? यह शरीर बहुत दिनों तक प्रभुता एवं ऐश्वर्य करने पर भी उत्कर्ष तथा स्थायित्व का लाभ नहीं करता, फिर इसके पालन करने से हम कौन-सा लाभ उठाएँगे? शरीर के लिए धनी-गरीब, विद्वान्-मूर्ख तथा कायर-वीर सभी समान हैं। वह अपने नियमित मार्गों से अपने साथ बाल, युवा, वृद्धा-

वस्था के साथ आता है और सब को अन्त में एक ही रूप से त्याग करता है, फिर इस शरीर का क्या महत्व है ?

'हे भगवन् ! वायु, दीप तथा मन की गमनागमन अवस्था शायद मालूम हो जाय, किन्तु शरीर की अवस्था जानना कठिन है। शरीर का, जो लोग इसे चिरस्थायी कह कर विश्वास करते हैं वे मोह मदिरा से उन्मत्त हैं। देह का सम्बन्ध हमसे नहीं है। हमारा सम्बन्ध देह से नहीं है। देह और हम एक नहीं हैं। इन विचारों को आधारभूत मानकर जो चलते हैं वास्तव में उन्हीं को शान्ति मिलती है। वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। यह शरीर मिथ्या-ज्ञान का परिणाम है। यह स्वप्न एवं भ्रान्ति की तरह आधारहीन है। इसका नाश प्रत्यक्षसिद्ध है। अतएव क्षणमात्र के लिए भी हमारी आस्था इस शरीर के प्रति उत्पन्न नहीं होती।'

राम की वाणी पुनः प्रसृत हो उठी

'द्विजवर ! बाल्यावस्था इस नानाकार्य-कलाप-संकुल तरलाकार संसार-सागर में केवल दुःख की ही जनक है। तृष्णा, असमर्थता, वाक्-शक्तिहीनता, बुद्धि-मोह, क्रीड़ादि में कामना, चापल्य एवं कातरता बाल्यावस्था के धर्म हैं। जो मन्दबुद्धि व्यक्ति बाल्यावस्था को उत्तम तथा रम्य कहते हैं उन चैतन्यहीन मूर्ख मनुष्यों को धिक्कार है। जिस अवस्था में पग-पग पर अमंगल की आशंका रहती है, उस बाल्यावस्था को कैसे उत्तम कहा जा सकेगा ? वह किस प्रकार सन्तोषप्रद होगी ? बालक अपना भाव प्रकट नहीं कर सकता। अभिलषित वस्तु की इच्छा नहीं जता सकता। कुछ कह नहीं सकता। ऐसी अवस्था में जब उस अभिलषित वस्तु नहीं प्राप्त होती तब उसके हृदय में पीड़ा उठती है। वह दुःखी होता है। वह अपने कर्मों के लिए दूसरों पर आश्रित रहता है। अपनी इच्छादि के लिए मूक बना रहता है। वह अपने छोटे से भी छोटे काम के लिए पराधीन रहता है। वह न अपना कष्ट कह सकता है, न दूसरे का समझ सकता है। जिस अवस्था में अज्ञानवश शशि को खाने की हठ हो, वह किस प्रकार सुखमय कही जा सकती ? बालक और वृद्ध में भिन्नता है। दोनों में आभ्यन्तर एवं बाह्य शक्तियों की मात्रा क्षीण रहती है। दोनों में शीत-उष्ण-निवारण की शक्ति नहीं रहती। दोनों में हठ का स्रोत वह उठता है। बालक भयभीत

होने पर अथवा भूखे होने पर पक्षियों की तरह उड़ने की चेष्टा करता है। वह उन कार्यों को करना चाहता है जो असम्भव हैं; जिनके अस्तित्व में भी संदेह रहता है; फिर ऐसी बाल्यावस्था कैसे सुखकर कही जा सकती है ?'

राम ने युवक भाइयों तथा सभास्थित युवकों की तरफ देखते हुए कहा :

'महामते ! बाल्यावस्था के पश्चात् शैशवावस्था आती है। बाद आता है यौवन। यौवनावस्था की प्राप्ति का फल अधःपात है। अत्यन्त विलासमय चपल चित्त के कारण अज्ञानी युवक विविध विषयों के चक्कर में एक के पश्चात् दूसरा दुःख पाता रहता है। अनेक सम्भ्रमों का कारण मदनपिशाच हृदय-विवर में बैठा, युवकों को अपने जाल में फँसा कर उन्हें पंगु बना उठा कर फेंक देता है। नरक का मूलभूत तथा भ्रान्तिप्रद यौवन कभी मोहादि नष्ट करने में सहायक नहीं है। अनेक प्रकार शोभिता नाना रसमयी, विचित्र वृत्तान्त-निश्चयपूर्ण यौवनारण्य भूमि को पार करना ही जीवन की धीरता है। यौवन-काल स्वप्न के स्त्री-प्रसंग के समान मिथ्या है। यौवन तथा स्वप्न का स्त्री-प्रसंग दोनों ही असत्य है, किन्तु सत्य प्रतीत होते हैं। प्राणियों को ढकनेवाले इस यौवन के प्रति मुझे किंचित् भी प्रीति नहीं है। निमेष-कालमात्र सुन्दर, अश्वत्थ पत्रतुल्य चंचल, घनगर्जन-सम्पन्न विद्युत्-प्रकाशतुल्य क्षणिक तथा अमंगलाश्रय यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। यौवन अत्यन्त भ्रम उत्पन्न करता है। उसमें सदाचार भूल जाता है। उसमें बुद्धिहीनता आ जाती है।'

राम ने पुनः कहा :

'विज्ञ ! दावानल में जलता वृक्ष दूर से सुन्दर लगता है, उसकी अपनी शोभा होती है, उसकी अपनी एक निराली छटा होती है, उसी प्रकार युवती के विरहानल में लोग जलते हैं। उस जलने में लोग समझते हैं अपना गौरव; लोग समझते हैं अपने जीवन की विशेष घटना, किन्तु यह नहीं समझते कि उनका यह जलना उनके अस्तित्व का ही नाश कर रहा है। जो बुद्धि निर्मलता, उदारता एवं विशुद्धता का सृजन करती है, वही बुद्धि उस विरहानल में वर्षा-कालीन नदी के समान अत्यन्त मलिन हो जाती है। आह ! वह कोमलांगी, वह क्षीणवस्त्रा, वह कृशांगी, वह स्थूल-नितम्बिनी, वह पिंगलकेशीया, वह युगलपीनस्तनी कहाँ होगी, उससे कब मिल सकूँगा, उसकी यौवनसुरभि

की गन्ध से कब सुवासित हो उठूँगा, उसका शशिमुख कब देखूँगा, उसके चितवन में कब नाच उठूँगा आदि की असत्य मनोरम चिन्ताओं से यह यौवन जर्जर हो जाता है।'

अनुतप्त राम ने पुनः कहा :

'मुनिश्रेष्ठ! सद्भावनाहीन वेश्या के प्रसंग के समान क्षणिक पतित सुखवाला यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार मुक्तासंपन्न गजराज अपने मुक्ता-दोष के कारण उन्मत तथा अभिमान-वश विवेक भूल जाता है, उसी प्रकार विवेक का उत्तम परिधान उतार कर यौवन अपने मद में अधःपतन की ओर खिंच जाता है। यौवन कमल है। दुश्चिन्ताएँ उस कमल पर गूँजते अलिसमूह हैं। सुख उस कमल का मकरन्द है। अनुरागादि केसर है और अनेक प्रकार के असत्य विकल्प उस कमल के दल हैं। नवयौवन चन्द्रमा है। शरीर कमल है। परागलोलुप मधुकरी हमारी नीति है। यौवन-रूपी कमल शशि के उदय होते ही परागलोलुप मधुकरी-मति को अपनी पंखुड़ियों में धीरे से बन्द कर विमोहित कर देता है। उस समय हमारी मति मोहान्ध हो उठती है। यह हम नहीं सोचते कि हमारी स्वाधीनता छिन गई है और स्वाधीनता की सुहावनी झलक कोमल पंखुड़ियों को काटकर उड़ जाने में मिल सकती है, फिर भी हम मोह के कारण, अपने ही कर्मों के कारण स्वतः दास बन कर रह जाना पसन्द करते हैं।'

दुखभरे स्वर में राम ने मुनि से कहा—'हे भगवन्, हमारा यह शरीर सुन्दर कुंज है। उस कुंज की कुसुम-मंजरी हमारा यौवन है। हमारा मन भौंरा है। उस शरीरकुंज की यौवन-मंजरी विकसित होते ही अपने सहयोग-मात्र से मानस-भृंग को विमोहित कर देती है। यह शरीर मरुभूमि है। मन चंचल हरिण है। कामताप-संसर्ग-उद्भूत यौवन मरीचिका की ओर मन-मृग तृष्णाशान्ति के निमित्त दौड़ पड़ता है। मरुस्थल में थक कर वह गिर पड़ता है। मरीचिका उसकी जीवन-श्री बिखेर देती है। यौवन शरीर-रात्रि की चन्द्रिका है। यौवन दृप्त सिंह का केशसमूह है। और जीवन है समुद्र की तरंग। भला इनमें भी सन्तोष कैसे प्राप्त हो सकता है। यौवन जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है उस समय शरीर में अधःपात की ओर खींचने के लिए संतापसंकुल काम का अधिक प्राबल्य हो जाता है।

उसके प्राबल्य को, उसकी शक्ति को सम्हाल न सकने के कारण लोग मुँह के बल गिर पड़ते हैं। जब तक इस यौवन रात्रि का अवसान नहीं होता तब तक राग-द्वेषादि पिशाचों का ताण्डव चारों ओर होता रहता है।

'हे साधो ! यौवन-संकट पार करने वाले श्रीमान् लोग ही पूजनीय पुरुष हैं। वे ही महात्मा हैं। वे ही इस पृथ्वी पर पुरुष कहलाने योग्य हैं। घड़ियालों से भरे समुद्र को लोग सुखपूर्वक पार कर सकते हैं, किन्तु अनुरागादि कल्लोल-वलय-स्फीत-दोष-संपन्न कीचड़ रूपी यौवन को पार करना कठिन है।'

राम ने अलंकारविभूषिता चंचल नवयौवना कमनीय चामरधारिणी युवतियों की ओर किंचित् देखकर पुनः अपनी दृष्टि शून्यगगन की ओर करते हुए कहा :

'हे गाधिनन्दन ! शिरा, कंकाल-ग्रंथिशालिनी, मांसपुत्तली, चंचल अंगसमूह द्वारा यंत्रवत्, इन रमणी नामधारिणी युवतियों में, बोलिये, सुन्दरता नामधारिणी वस्तु क्या है ? खंजनगंजनलोचनीय यौवना के त्वक्, मांस, रक्त एवं बाष्प-जल का विश्लेषण करके, देखिए उनमें यदि, सुन्दरता रह गई हो, मन उन मांस, मज्जा, अस्थिपंजर से न भटकता हो, उनसे, प्रेम से, स्नेह से, फिर लिपटना चाहता हो तो मुनिवर ! उन पर क्या आसक्त होना ठीक कहा जायगा ? नहीं तो उन पर वृथा मुग्ध होने की क्या आवश्यकता ? कहीं नदी के सेवार की तरह केशकलाप है, कहीं शोणित हैं, यह सब एक किये गये हैं। एक प्रमादी कलेवर का ढाँचा खड़ा किया गया है। फिर इस नारी-शरीर को लेकर महामति लोग क्या करेंगे ?

'ओह ! अंगराग द्वारा अनुलेपन कर शारीरिक सुन्दरता का आवाहन किया जाता है, सरस पदार्थों से पुष्ट कर अवलोकनीय बनाया जाता है, वस्त्रों से सजाकर दर्शनीय बनाया जाता है, आभूषणों से अलंकृत कर प्रकाशनीय किया जाता है और हास-विलास से सरस बनाया जाता है। फिर एक दिन महोत्सव होता है। वन-पक्षी एकत्र होते हैं। वन में ढिंढोरा पिटता है। मांसभोजी पशु दौड़ पड़ते हैं। नवीन उत्साह, नवीन उमंग, नवीन भावनाओं के साथ वनचर प्राणियों की सभा जुटती है और महाकलरव के बीच, महा प्रसन्नता के बीच, देखते-देखते इस काया के टुकड़े-टुकड़े नुच जाते हैं।

सुन्दरता रोती दूर भागती है, यौवन मुख छिपा लेता है, घृणा ठहाका मार उठती है और काल कह उठता है, अब ?

'सुमेर-शिखर-संचारिणी मंदाकिनी-जलधारा के समान, मुक्तावली द्वारा अलंकृत, गठित उत्तुङ्ग पीन पयोधर, अपनी अपूर्व शोभा द्वारा नेत्रों में विचित्र रमणीयता अंकित कर देता है। पुरुष मुक्तामाल द्वारा वेष्टित पीन पयोधर को देखकर कहते हैं—इन युगल सुमेरु की शीतल उपत्यका से अधिक और किस स्थली में सुख मिल सकता है ? किंतु जब श्मशान-भूमि में काल प्रभाव से सुन्दर रमणी का वही रमणीय पीन पयोधर साधारण उच्छिष्ट अन्न-पिण्ड की तरह, कुत्ता दत्तचित्त होकर अपनी उदरपूर्ति निमित्त भोग लगाता है, उस समय मुनिवर रहस्य खुलता है उन पयोधरों की वास्तविक शोभा तथा आकर्षण का।

'अरण्यचारी बेढंगे ऊँट का शरीर अस्थि-मांस-मज्जादि का संघटन है। फिर उसी द्वारा बने रमणी के शरीर के प्रति हमारा इतना आग्रह क्यों ? मदिरा तथा मदन में क्या भेद है ? क्या मदिरा एवं मदन दोनों ही विपुल उल्लास, मत्तता तथा चित्त में विकार नहीं उत्पन्न करते ? कज्जल-कुन्तल-शालिनी प्रियदर्शना, दुःसहा, दुष्कृति-अनल-शिखा-रूपिणी रमणीजाति अपनी कामाग्नि में पुरुषों को अनायास तृणवत् जला देती है। तरल लकड़ी ईंधन बनती है। उसके दूसरे छोर से अग्नि दूर रहती है। उसका एक सिरा भयंकर अग्निवाला रहता है और दूसरा सिरा गीला रहता है, ठण्ढा रहता है। किन्तु वह धीरे-धीरे अपनी शीतलता, अपनी तरलता, अपनी हरित शोभा त्याग कर भयंकर अंगारा बन जाता है। उसी प्रकार कामिनी भी अति दूर प्रज्वलित नरकाग्नि की ईंधन है। कामिनी देखने में सुन्दर मालूम होती है, लुभावनी मालूम होती है, परन्तु ईंधन की लकड़ी की तरह असार एवं नीरस है। यह ईंधन की लकड़ी की तरह आपाततः मनोरम दिखाई देती है। किन्तु अग्नि अंगारतुल्य दारुण एवं भयंकर परिणाम उत्पन्न करने से नहीं चूकती।

'एक वन है। वह वन दृश्यप्रिय है। उस वन में मदन-किरात जाल लिये घूम रहा है। वह पुरुषों को देखता है। जाल कंधे से उतार लेता

है। चतुर बहेलिया की तरह रमणियों के मुग्ध चित्त-रूपी जाल को फैलाता है। ओट में बैठ जाता है। मानव आते हैं। रमणी-रूप उन्हें धोखा देता है। वे मोहित होते हैं। विवेक उनका साथ छोड़ देता है। वे अन्धों की तरह उस जाल में फँस जाते हैं। मदन उल्लसित हो उठता है। रमणियाँ केवल मुसकरा देती हैं।

'ललना बंधन-स्तम्भ है। रति शृंखला है। मनस्वरूप हाथी रति-शृंखला द्वारा, ललना बन्धन-स्तम्भ से जब बँध जाता है, तब वह स्वयं मूक हो जाता है। वह उस बन्धन को छिन्न-भिन्न कर, पुनः स्वाधीन वायुमंडल में, वन-विहार में चाहकर भी नहीं जा सकता। मोह का कच्चा धागा उसे बाँध रखता है। सुरभित पुष्प-केसर के समान गौरांगी रमणी, वह विष-लता है, जो पुरुषों के विनाश के निमित्त सर्वदा उद्यत रहती है। वह अपनी सुरभि में, अपनी सुहावनी रूप-माधुरी में, पुरुषों को आकर्षित करती है। उनमें उत्पन्न कर देती है अपने विष का हलका नशा। पुरुष उन्मत्त हो उठता है। वह अपने मद में, अपनी उन्मत्तावस्था में, भूल जाता है अपना स्वरूप। भूल जाता है अपनी दुनियाँ। हो जाता है गर्वहीन, मानहीन, विवेकहीन, अत्यन्त दीन एवं कातर मांस-पिण्ड।

'मुनिपुंगव! हाथियों के लिए हस्तिशाला, अश्वों के लिए अश्वशाला और सर्पों के लिए मंत्र बंधन के कारण हैं। उसी तरह पुरुषों के लिए कामिनी बन्धन का कारण है। नानारस-संपन्ना, विचित्र भोग-भूमिरूपी नारी का आश्रय पाकर मनुष्य बन्धनशील हो जाता है। स्तन, चक्षु, नितम्ब, गण्ड-स्थल, अधरादि मांस-पिण्ड के अतिरिक्त और क्या है? इन अपदार्थों को लेकर मैं क्या करूँगा? अपनी प्रिया, अपनी भार्या को मानव अपनी मनो-वृत्ति के अनुसार अनेक प्रकार के प्रसाधनों से सजाता है। अपने नेत्र-सुख-निमित्त विचित्र अलंकारों से सुशोभित कर देखता है। सुरभि निमित्त अंगरागों से अनुलिप्त करता है, फिर भी तृप्त नहीं होता। चित्र उरेह कर उसे हृदंगम कर लेना चाहता है। किन्तु वही रमणी-शरीर जब अनजाने जीवनहीन पड़ा सूखने लगता है, दुर्गन्धि से वायुमण्डल दूषित कर देती है, अपने विकृत रूप द्वारा भयोत्पादक हो जाता है और अंग-अंग विगलित कर शरीर-संघटन तोड़ देता है तब उस शरीर के पास कोई नहीं जाता। पंचभूत

द्वारा बनाये इसी आकार का नाम यदि कामिनी है, तो बुद्धिमान् मनुष्य भला उस कामिनी पर किस तरह आसक्त हो सकते हैं ?'

'ऋषिश्रेष्ठ !' राम ने पुनः कहा—'कान्ता-विषयिनी चिन्ता शाखा-प्रशाखाओं द्वारा जटिल, सुख-दुःखरूप कटु तथा अम्ल फलसम्पन्ना लता के समान है। कटु, अम्ल तथा शुष्क फलभूषिता, नित्यप्रति अनायास बढ़ती हुई सुनाला नाम्नी लता के सदृश कान्ता-विषयिनी चिन्ता है। कामना-रत चित्त यूथभ्रष्ट मृग के समान ज्ञानशून्य, दिशाशून्य तथा अत्यन्त आकुल होकर मोहग्रस्त हो जाता है; विन्ध्य शैल के गम्भीर गर्त में, हरित पल्लव निमित्त पतित हाथी के समान, कामिनियों में आसक्त युवा पुरुष, अत्यन्त शोचनीय स्थिति स्वतः अपने लिए उत्पन्न कर लेता है। जहाँ रमणी होगी, वहीं भोग-कामना होगी। रमणीहीन भोगस्थान इस संसार में कहाँ हो सकता है ? अतएव रमणी का त्याग आवश्यक है। किन्तु रमणी के केवल त्याग से जगत् का त्याग नहीं होता। अतएव जगत् का त्याग आवश्यक है। सर्वदोषयुक्त रत्न-पिटारी-स्वरूप, सब दुखों की खान, वेणीतुल्य रमणी से मुझे क्या प्रयोजन ?'

सभास्थित चंचल यौवनसम्पन्ना कामिनियों के मस्तक नत हो गये थे। उनके ओर से दृष्टि हटाकर राम ने वृद्ध तपस्वियों तथा वृद्ध सामन्तादि की ओर देखते हुए कहा :

'हे कौशिक ! अपूर्ण मनोरथ बाल्यावस्था को यौवनावस्था बलपूर्वक पी जाती है और फिर उसी यौवनावस्था को वृद्धावस्था धीरे-धीरे सोख जाती है। इस शरीर का कालचक्र के कारण कितना क्रूर अत्याचार अपने ऊपर होता है। यह शरीर काल के कारण भिन्न-भिन्न रूप न चाहकर भी; उन्हें धारण करने के लिए बाध्य हो जाता है। इसका यह निर्दय व्यवहार क्या कभी किसी को रुचिकर हो सकता है ? तुषारस्वरूप-वज्र कमलदल के नाश का कारण होता है। तृणाग्र पर स्थित जल-बिन्दु के नाश का कारण वायु होती है। प्रबल वेगधारिणी सरिता अपने करारों के वृक्षों को उफन कर, आलिंगन करती हुई, उनके नाश का कारण होती है। जराजीर्ण कलेवर-धारी पुरुष को कामिनी शिथिल और संकुचित कह कर, वैशाखनन्दन की तरह त्याग देती है। स्त्री, पुत्र, सुहृद्, बन्धु, बान्धव, दास-दासी आदि सभी

जराकम्पित पुरुष को हीन, नीरस, उन्मत्त कह कर उपहास करते हैं। हृदय-ताप-प्रदायिनी, दैन्यदोषमयी, विपद् की प्रधान सहचरी कामना आयु की वृद्धता के साथ उन्मत्त होती चलती है।

'शरीर-वनस्पति को तनिक कुसुमित देख कर मनरूपी बन्दर सवेग उस पर कूद पड़ता है। यौवन-चूहे को मांस-प्रेमी उद्धत जरा-बिल्ली पकड़ लेती है। शरीर के मांसलोभ से वह बिल्ली और भी अधिक उल्लसित होकर उद्धत हो जाती है। जरा शरीर-जंगल की शृगाली है। उस शृगाली का विकट अशुभ रव क्या कोई सुनना चाहेगा? जरारूपिणी जीर्ण राक्षसी, उन अजित योद्धाओं को, जो गिरिगुहाओं में छिप कर बैठे रहते हैं, सरलतापूर्वक जीत लेती है। जरारूप सुधाविलेपित उज्वल शरीर के अन्तःपुर में अशक्ति, पीड़ा तथा विपत्ति नाम्नी अंगनाएँ सुखपूर्वक विहार करती हैं। हे तात! उस जीवन से क्या लाभ, जिसमें जरा का प्रवेश हो जाने पर भी जीना पड़े। यह अजित जरा मानव की सभी अभिलाषाओं का तिरस्कार करती है।'

महाराज दशरथ तथा प्रौढ़ावस्था लाँघकर वृद्धावस्था की ओर बढ़ते हुए सभास्थित लोग अपने शरीर की ओर निराश दृष्टि से देखने लगे।

राम ने सभामण्डप के बाहर वेगपूर्वक दौड़ती हुई धूप की ओर देखते हुए कहा :

'ब्रह्मन्! काल भीषण है। काल महेश्वर है। वह एक दृष्टि से समस्त दृश्य वस्तुओं के अस्तित्वों का लोप करता है। विशाल समुद्र को जिस तरह बड़वानल ग्रास करता है, उसी प्रकार इस संसार को काल ग्रस लेता है। ग्रास करना काल की एकान्त इच्छा है। वह भेदभाव नहीं जानता। उसके सम्मुख भेदभाव के सूत्र स्वतः गल कर गिर जाते हैं। उसके आगे भेदभाव रो उठते हैं। उनके रोने पर काल हँसकर कहता है कि भेदभाव अहंकार का एक रूप है, अहंकार गया, भेदभाव गया। वह परिश्रमशील है; अध्यवसायी है, वह एक वस्तु का ग्रास करते समय दूसरी वस्तु पर हाथ लगा देता है। उसकी तृप्ति समस्त भूमण्डल को उदरस्थ कर जाने पर भी नहीं होती। उसकी भूख इतनी भयंकर होती है कि कुछ भी ग्रास कर जाने पर उसकी क्षुधाशान्ति नहीं हो सकती।

'काल चतुर नट है। वह हरणलीला करता है। वह अपचय करता है। वह सृष्टि-सर्जन करता है। वह संहार करता है। नाना रूपों में नित्यप्रति प्रकट होता है, थकता नहीं। वह महाश्मशान भूमि पर मस्त हो कर नाचता है। उसी श्मशान भूमि को शस्यश्यामल हरित भूमि बनाकर विहार करता है और फिर उसी शस्यश्यामल भूमि को मरुस्थल बनाकर मुसकुरा उठता है। मनकल्पित सुविस्तृत राज्य के समान मुहुर्त मात्र में किसी वस्तु को बना और बिगाड़ सकता है। काल प्रलयकाल में महावायु के समान सुमेरु पर्वत को भोजपत्र की तरह शीर्ण-विशीर्ण कर उड़ा सकता है। काल कहीं घनघोर अंधकार के समान श्याम वर्ण, कहीं युवती नारी के सौन्दर्य-सदृश कमनीय वर्ण और कहीं तत्त्व-विवर्जित उज्ज्वल वर्ण धारण कर भ्रमण करता है।

'विषधर भयंकर सर्प जिस प्रकार वायु को अनायास पीता रहता है, उसी प्रकार काल यौवनावस्था को प्रसन्नचित्त पीता रहता है। मैं देखता हूँ, लक्ष्मी, राज्य, मनोरथादि काल के अधीन हैं, पुनरपि उनसे हमें क्या लाभ हो सकता है? वे हमारे कैसे कहे जा सकते हैं? रात और दिन की माला गूँथ-गूँथ कर नितान्त चपल चंचल काल पहनता रहता है। काल इस विश्व का कर्त्ता है। काल इस विश्व का भोक्ता है। काल इस विश्व का संहर्ता है। काल इस विश्व का संस्मर्ता है और काल इस विश्व में सुभग एवं दुर्भग रूप से चारों ओर सब जगह वर्तमान है। प्राणियों के बीच केवल काल सबसे बली व्यक्ति के समान बैठा है। उसके सम्मुख तर्क-शक्ति, विचार-शक्ति, सब दैहिक-दैविक-भौतिक शक्तियाँ लज्जित होकर सिर झुका लेती हैं। अपने बुद्धिकौशल से क्या कोई यहाँ ऐसा व्यक्ति है, जो उसकी महिमा को जान सका हो?'

महात्मा राम ने कहा—'काल की प्रणयिनी कालरात्रि है। मातृगुण-परिवृता सिंहनी के समान प्राणियों का नाश करने के लिए काल स्वच्छन्द रूप से निरन्तर इस संसार वन में विचरण करता रहता है। सब रसों से पूर्ण, कमलजाल द्वारा सुन्दर शोभित, यह पृथ्वी काल की हथेली पर विशाल पानपात्र की तरह स्थित है। जिस काल का वर्णन मैं कर रहा हूँ विप्रवर! वह महाकाल नहीं है। यह खण्डकाल है। यह काल इस लोक की वस्तुओं

का सर्जन, पालन एवं संहार करता है। अवस्था-भेद से इसका नाम दैव अथवा काल पड़ गया है। इसका स्वरूप भयंकर होते हुए भी दृष्टिगत नहीं होता है। इसके स्वरूप को हम इसकी क्रियाओं में देख सकते हैं। कहने का अर्थ यह है कि, क्रिया ही काल का स्वरूप है। काल का रंग-मंच यह दृश्य जगत् है। अहर्निश सनातन काल से स्वच्छंदतापूर्वक वह नाच रहा है।

'देव नामक काल की बातें मैंने कही हैं। वह महाकाल नहीं है। महाकाल एवं काल की अपेक्षा, एक तीसरे प्रकार के काल का भी अस्तित्व है। इस काल का नाम कृतान्त है। इस काल को मृत्यु कहते हैं। यह काल भीषण रुद्रस्वरूप मत्त कापालिक की तरह नाचता है। इसकी सहचरी है नियति। जिस समय वह अपनी सहचरी नियति के साथ हाथ मिला कर नृत्य करता है, उस समय भयानक, बीभत्स एवं रौद्र रस ताल देने लगते हैं। शृंगार, करुण, हास्य रसादि कातर होकर कह उठते हैं, क्या संसार का यह भी एक रूप है?

'नृत्यमग्न काल के दोनों करों के आभूषण सूर्य तथा चन्द्रमा बनते हैं। सुमेरु इसका क्रीड़ा-सरोज हो जाता है। अनिवार्य क्रिया-शक्ति-विशिष्ट नृत्यशील इन कृतान्त एवं नियति के नृत्य दर्शनार्थ मानव तथा चराचर प्राणी जगत्-मण्डप के भीतर निरन्तर आते जाते रहते हैं। देव-लोकादि उस कृतान्त कामिनी-नियति के मनोहर अंगभूषण हैं। उस नियति-कामिनी का सुन्दर जूड़ा नभोमण्डल है। उसके चंचल चरण पाताल हैं। उस चरण में शोभित है नरकरूप नूपुर। उन नूपुरों का रव है, पापियों का रुदन।

'बालक जिस प्रकार कच्ची मिट्टी लेकर नाना प्रकार के खिलौने बनाता और बिगाड़ता रहता है, किन्तु स्वयं भ्रमित नहीं होता, उसी प्रकार काल जात विविध देश, वन, असंख्य जीव तथा उनकी कितनी ही स्थिर अथवा अस्थिर आचार-परंपरा की सृष्टि करता हुआ स्वयं प्रभावित नहीं होता। वह बालक की तरह स्वय निर्लिप्त रह कर, अपने सर्जन का कौतुक देखता मुसकराता रहता है। महाकालादि के इस लीला-क्षेत्र में मानव किस प्रकार आस्थावान् हो सकता है, महामुने! दारुण भावापन्न होकर, अग्नि जिस प्रकार उष्ण प्रकाश-शिखा द्वारा लोक दग्ध करती है, उसी प्रकार दारुण चेष्टा की दुराशा उत्पन्न करके काल प्राणियों को जलाता रहता है।'

सभा-मण्डप में कालरात्रि की तरह नीरवता छा गई। लोग स्तब्ध बैठे रहे।

राम ने अपने हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों की तरफ देखते हुए कहा :

'भगवन्! इन्द्रियाँ मानव की परम शत्रु हैं। इनके कारण सत्य मिथ्या प्रतीत होता है, वास्तविक अवास्तविक प्रतिभासित होता है। हमारा मन हमारी आत्मा का शत्रु है। मन के कारण आत्मा स्वयं कष्ट उठाती है। मन के सहयोग से अपनी आत्मा का स्वरूप हम स्वयं भूल जाते हैं। अहंकार है, आत्मकलंक का कारण। बुद्धि क्लेश की जननी है। यह लीलामय रमणी की ओर लगी रहती है। विषय-वासना की ओर दौड़ती है। इस संसार में आत्मानुभूति दुर्लभ है। रमणियाँ दोषों की सेना हैं। अनुराग कही जानेवाली वस्तुएँ अत्यन्त नीरस हैं। इन इन्द्रियों के कारण वस्तु अवस्तु प्रकट होती है। अहंकार के चरणों में चित्त अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। आत्मा अप्राप्य हो जाती है। लोग जलते रहते हैं। सभी लोगों की बुद्धि व्याकुल रहती है। सब में रागरूप रोग अत्यन्त प्रबल हो उठता है। इस प्रकार मुनिवर! वैराग्य अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है। रजोगुण द्वारा कलुषित एवं तमोगुण द्वारा अनवरत बद्ध बुद्धि सतोगुण की तरफ अग्रसर नहीं होने पाती। कर्तव्य-स्वरूप तत्त्वज्ञान से मन हटने लगता है।'

'ब्रह्मन्!' राम ने कहा—'यह जीवन अस्थिर है। आगमनोन्मुख मृत्यु की छाया देख कर धैर्य विकल हो उठता है। आसक्ति-अनुगामी विषयों का सुख मिथ्या है। चाहे इन्द्र कालमुख होता हो, चाहे वायु प्राण-वायु-शून्य होती हो, चाहे सूर्य व्योम-स्वरूप होता हो, चाहे मार्त्तण्ड खण्डित होते हों, चाहे अग्नि चिरकाल की शांत होती हो, तथापि मुझे इस संसार के प्रति किसी प्रकार विश्वास उत्पन्न नहीं होगा। पितामह ब्रह्मा की समाप्ति हो जाय, हरि संहारदशा को प्राप्त हो जायँ, सबके संहारक हर भी नष्ट हो जायँ, तब भी इस संसार के प्रति मुझ में आस्था न होगी। जिसको मैं आज जीवित देखता हूँ, उसी का कल नाश देखता हूँ। अस्तु,

मैं कैसे संसार की स्थिरता पर विश्वास करूँ? इस संसार से स्नेह-सूत्र कैसे बाँध सकूँगा? काल का भी नाश है। नियति का भी नाश है। नीलाम्बर गगन का भी नाश निश्चित है। ऐसी अवस्था में अपने इस शरीर का, जिसका नाश निश्चय है, मैं कैसे विश्वास कर सकूँगा? स्वर्ग में देवता-गण, पृथ्वी पर मानवगण एवं पाताल में भुजंगगण कल्पना-काल में उत्पन्न तथा नष्ट होते रहते हैं। इस संसार में आज उत्सव है तो कल शोक। आज वसन्त ऋतु है, तो कल ग्रीष्म। आज शुभ यात्रा है, तो कल महायात्रा। आज सुख है, तो कल दुःख। आज भोग है, तो कल रोग। इस प्रकार विषमताओं के बीच क्या अपना परिमित समय नष्ट करना अच्छा होगा? हम क्या मिथ्या भावनाओं से भावित होकर चंचल तथा असार बुद्धि-विजृम्भित सुखमयी कल्पनाओं द्वारा मोहित होकर क्षण-क्षण विगलित नहीं हो रहे हैं?'

'हे तात!' राम ने किंचित् रुक कर कहा—'मनुष्य अपनी बुद्धि के बल से रसायन-तुल्य पुत्र, कलत्र एवं धन की सुन्दर कल्पना किया करते हैं। इस प्रकार की कल्पना बड़ी सुहावनी लगती है। कल्पना-सागर में गोता लगाते समय बड़ा आनन्द आता है। कल्पनाएँ पूर्ण हो जाने पर अत्यन्त रमणीय कहे जाने वाले भोग-विलास विष-मूर्च्छा के समान यन्त्रणादायक प्रतीत होते हैं। अन्त समय आता है, पुत्र-कलत्र एवं धन जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं। उनमें इतनी क्षमता नहीं रह जाती कि, उस समय वे किसी प्रकार कुछ हमारा उपकार कर सकें। संसार-प्रवृत्ति-रूप कुचक्र वर्षाकालीन मलिन जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है तथापि प्रमादी पुरुषों के हृदय में अपना चिर विश्वास स्थापित करता है।'

'वनस्पति अपने अदृष्ट के कारण उत्पन्न होती है। फूल, फल, छाया, एवं आश्रय द्वारा संसार का उपकार करना उसका प्रकृति गुण है। फिर भी उन्हीं लोगों की क्रूर कुल्हाड़ियाँ उसका मूलोच्छेद करने के लिए चल पड़ती हैं, जिसका वह उपकार करता रहता है। मुनिवर बताइए! ऐसे संसार के आश्वासन का भला क्या मूल्य हो सकता है? जिस प्रकार कृष्ण-

सार हरिण इच्छा तथा समयानुसार हरित सुन्दर प्रदेश तथा निबिड़ कठोर वन में विचरण करता है, उसी प्रकार मानव भी क्वचित् कोमल मनोवृत्तियों में सचरण किया करते हैं। शववत् दया, माया, करुणा और स्नेह से शून्य विधाता का आपात-रमणीय कार्य भीषण, यंत्रणादायक तथा दूषित प्रतीत होते हैं। फिर भी मनुष्य उनमें आसक्त हो जाता है। संसार के इस विस्मित चक्र को देखकर भला कौन ऐसा विवेकी होगा जो आश्चर्यित न होगा ?'

राम ने सभामण्डप में अपनी विशाल दृष्टि एक ओर से दूसरी ओर घुमाते हुए कहा—

'हमें जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह स्वप्न के समान असत्य है। हे ! मुने ! ! जहाँ आज गम्भीर तरंगमालाओं द्वारा सागर सुशोभित है, वहीं कल मेघमाला द्वारा अलंकृत सुन्दर रम्य हरित पर्वत-शृंखलाएँ दिखाई पड़ सकती हैं। गगनचुम्बी वनमय पर्वत-शृंग के स्थान पर कुछ ही दिनों में समतल भूमि अथवा अन्धकारमय गर्त हो सकता है। वस्त्र, माला, अनुलेपनादि द्वारा विभूषित आज का शरीर कल वस्त्रविहीन मक्खियों से भिनभिनाता, भयंकर गर्त में पड़ा, अनजाने सड़ता रह जा सकता है। आज जो स्थान उत्साहित विचित्र आचारपूर्ण जनपद किंवा सुरम्य नगर दिखाई पड़ता है, वही कुछ काल पश्चात् उजड़ कर शून्य वन में परिणत हो सकता है। आज जो पुरुष मण्डलेश्वरों का अधीश्वर है, वह सिंहासन पर बैठा पुरुष कल उड़ती राख की ढेरी बन सकता है। गगन सदृश शून्य विस्तृत अरण्यानी समय पाकर गगन-गौरव-शालिनी उड़ती पताका-युक्त नगरी हो सकती है और फिर वही नगर मरुभूमि में परिवर्तित हो सकता है। स्थल जल हो जाता है और जल स्थल। काष्ठ, पाषाण, जल, तृणादि समन्वित समस्त विश्व परिवर्तनशील है। बाल, यौवन, शरीर एवं सब द्रव्य असत्य हैं। चंचल लहरों के समान निरन्तर एक ही अवस्था में रहने पर भी अवस्थान्तर प्राप्ति उनका धर्म है।'

'हे विभो ! जगत् स्थिर कैसे कहा जा सकता है ? कालस्वरूप सूर्य दिन-रात का बार बार गठन तथा विघटन करता है। वह प्राणियों के विनाश की सीमा का निरीक्षण करता रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र अथवा

यह कहिये कि प्राणिमात्र, बड़वानलानुवर्ती जल की तरह ध्वंसोन्मुख दौड़ते रहते हैं। स्वर्ग, भूमण्डल, पाताल, सौरमण्ल, वायु, आकाश, पर्वत, नदी एवं दिङ्मंडल ध्वंसरूपी बड़वानल के विशुद्ध ईंधन हैं। जिस मनुष्य के ऊपर मृत्यु की छाया नाच उठती है उस पुरुष को धन, बन्धु-बान्धव, मित्र, माता, पिता, पुत्र, स्त्री तथा सम्पदादि किंचित्मात्र प्रीतिकर प्रतीत नहीं होते। मृत्यु-राक्षसी जबतक स्मृति-पथ पर उदित नहीं होती तब तक मनुष्य को बन्धु-बान्धव धनादि अच्छे लगते हैं।

'क्षण में ऐश्वर्य, क्षण में दारिद्रय क्षण में हानि, क्षण में लाभ आदि भ्रममय विनश्वर जगत् भला किस बुद्धिमान् व्यक्ति को मोहित नहीं करता? क्षण में आपदा अपने शोक तथा दुःख के साथ आती है। क्षण में सम्पदा हँसाती उल्लसित आती है। क्षण में बालक की किलकारी से घर आनन्द से भर जाता है। क्षण में मृत्यु आकर घर को आँसुओं से धो देती है। बोलिए मुने! कौन वस्तु संसार में क्षणिक नहीं है? पूर्वकाल में हम किसी और अवस्था में थे, जन्मकाल में दूसरी अवस्था हुई। प्रत्येक नव-उषा की मुस्कान के साथ अवस्थान्तर हो जाता है। भगवन्, बताइए इस संसार में कौन वस्तु अपनी एक अवस्था में रहती है? कुछ दिन बाल्यावस्था रहती है। उसके पश्चात् यौवन-शोभा उदित होती है। फिर वृद्धावस्था आती है। इस प्रकार जब अपना शरीर परिवर्तित होता रहता है तब अपने से परों की बात क्या कही जाय? मन नट की तरह सभी विषयों का, सभी रूपों का, सभी भोगों का क्षणिक आनन्द, विषाद एवं प्रसन्नता का अनुभव किया करता है। यहाँ आनन्द है, वहाँ विषाद है, और दूसरी जगत मोह है। इस प्रकार इधर-उधर विधाता के खेल-कौतुक में मनुष्य बालक के समान चक्कर काटता रहता है।

'किन्तु जगत्! यह जगत् अनित्य सुखहीन, तृष्णादुर्वह एवं चित्त चांचल्य-दूषित है। इस जगत् में मैं कैसे शांति प्राप्त कर सकूँगा? संसार कण्ठहार के समान है। वह हार तृष्णा-सूत्र में पिरोया है। जीव उस हार के मुक्ता-समूह हैं। निर्मल मणि-मुक्ता के दानों के बीच-बीच में पिरोया निर्मल मन हैं। हमारे अन्तस्तल की कुन्ज-वाटिक में मनरूप

अन्धकार घनीभूत है। आज्ञा दिजिए कि सुखजनक विज्ञान-द्वीप द्वारा उसे दूर का प्रकाश प्राप्त कर सकूँ ?

'हे भगवन् ! मोह-स्वरूप मतंग द्वारा आलोड़ित कलुषभावापन्न बुद्धिरूप, सरोवर किस तरह पुनः अत्यन्त निर्मल जल में परिणत हो सकेगा ? संसार-क्षेत्र में व्यवहार-परायण होने पर, कमल-पत्र की तरह किस प्रकार निर्लिप्त रह सकूँगा ? निर्लिप्त रहने के लिए किन मार्गों का हमें अनुकरण करना होगा ? संसार में किन उपायों द्वारा कामादि विकारी वृत्तियों का स्पर्श न करते हुए, अपनी अर्न्तदृष्टि से जगत् को आत्मवत् तथा बाह्य दृष्टि से तृणवत् समझ कर परम पद प्राप्त कर सकूँगा ? अज्ञान-सागर के पार करने वाले किन महापुरुषों के अनुकरणीय आचरणों का अनुगमन करने से मुझे लोक के दुःख भय से मुक्ति मिल सकेगी ? अनुसरणीय स्वाभाविक मंगलस्वरूप कैसा होता है, लभ्य फल का स्वरूप कैसा होता है, क्या यह मैं जान सकूँगा ? असमंजसपूर्ण संसार में किस व्यवहार-स्वरूप को मुझे अपना कर अपना साथी बनाना होगा ?

'प्रभो ? विधाता-निर्मित इस अस्थिर जगत् के पूर्वापर का ज्ञान जिस प्रकार जान सकूँ, उसी तत्त्वज्ञान का मैं आकांक्षी हूँ। हे ब्रह्मन् ! यह संसार हेय क्यों है ? उपादेय क्यों है ? पर्वत की तरह स्थिर तथा गम्भीर भाव चित्त किस प्रकार प्राप्त कर सकेगा ? शत यंत्रणा-दूषिणी असार संसार की विषूचिका किन पावन यंत्रों द्वारा अनायास उपशम अवस्था प्राप्त करेगी, यह जानने की मेरी आकांक्षा है। पूर्णमासी की शर्वरी की तरह आनन्ददायक मंजरीरूपिणी पूर्ण शीतलता मैं किस प्रकार प्राप्त कर सकूँगा ?'

'गति क्या है ? आश्रय क्या है ? चिंतनीय विषय क्या है ? दुःख यंत्रणानुकूल नीरस तथा दग्ध संसार मुझे अप्रिय न होने पर भी, उसमें मैं मोह ग्रस्त न हो सकूँ, इसका क्या उपाय है ? वसन्त ऋतु की पुष्प-धवलित वसुन्धरा की तरह दुग्ध-स्नान कर, संसार किस प्रकार मुझे रमणीय प्रतीत होगा, मैं यही जानना चाहता हूँ। जिसके करने से मन परम पवित्रता तथा शान्ति प्राप्त करता है, ऐसा पहले किसी मनस्वी ने किया

है ? मैं उनकी कहानी सुनना चाहता हूँ। उन्होंने किस तरह किया है और क्या वैसा इस समय कोई कर सकता है ?'

'मुनिवर !' राम ने पुनः कहा—'मैंने बहुत विचार कर देख लिया है। यह संसार कुछ नहीं है। अतएव सम्पद्-विपद् किसी अवस्था में भी कार्य-लग्न न हूँगा। हमारी एक मात्र आकांक्षा होगी देहत्याग। आशंका, ममता तथा मत्सर का त्याग करके, अपने आपको चितार्पित करके, एकान्त में मौनावलम्बन कर कालयापन करूँगा। उस एकान्त में श्वास-प्रश्वास का

योग वासिष्ठ, वैराग्य प्रकरण : सर्ग ३–३१
वाल्मीकीय रामायण।
आनन्द रामायण; अध्यात्म रामायण
वेद :
ऋग् १० : ९३ : १४–१५, ११०,
श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्; श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्, श्रीरामोपनिषद्, श्रीरामरहस्योपनिषद्
पुराण :
हरिवंश १ : ४१
वायु २ : ९ : ४८; १८३–१९७;
ब्रह्माण्ड ३ : ८ : ५४
ब्रह्म २१३ : १२४; १७६ : ४४–४५; १२३ : १२४
मत्स्य ४७ : २४५
भागवत ९ : १० : ५२
पद्म० पु० ८–१०; ३६; ११६; ५६२–६०; ६८;
१ : १२ : १९
६ : १० : ६–९
२ : ७ : २३–२५
७ : २ : ४४
७ : १० : ३६
९ : १० : १२ : ३३; ५०–५४
९ : ११ : २५
पद्म० सू० ३८
,, उ० २४२–२४४

शनैः-शनैः त्याग करते हुए, इस देह नामक अनिष्टजनक सामग्री का परित्याग करूँगा। मैं देह नहीं हूँ। यह देह हमारी नहीं है। अन्य देहादि न मेरे हैं और न उन पर मेरा अधिकार है। इस प्रकार विचार करता हुआ, तेलहीन दीपक के समान, निर्वाण प्राप्त करूँगा। और अन्त में मुनिवर! सबका परित्याग करते हुए अपने इस कलेवर का त्याग करूँगा।'

स्कन्द ३ : २ : ३०; ३४; ३ : २ : ३०
अग्नि २–१२;
नृसिंह : ४७–५२;
नारद : १ : ७९; ७–२६; २ : ७५;
नृसिंह : २ : ५
विष्णु पुराण—४ : ४ : ४०–४२ तथा ४४–४५
ब्रह्माण्ड पुराण—३ : ५ : ३५–३६
३ : ३७ : ३०–३३ तथा ३८, ६३, १८४–८५ तथा १९४
वायु पुराण—७० : ४८
८८ : १९३
नीलमत पुराण (काश्मीर) श्लोक ५०१–५०३, तथा ५५८ इस पुराण के मत से रामचन्द्र २४वें त्रेतायुग में हुए थे।
देवी भागवत ४ : १६; ३ : २८–३७;
शिवरुद्रसंहिता २४–२६
महाभारत :
सभापर्व : ३८ : २९
वनपर्व : ८४ : ७०–७१
९९ : ४१–७१
१४८
२७४ : ६–९;
६ : ७
२७७ : ६–५६
२७८ : ६–८
२७८ : १७–२२;
२७८ : ४२–४४

राम की वाणी रुक गई। सभास्थल नीरव हो गया। सभा-मण्डप में राम के न बोलने पर भी जैसे उनकी वाणी गूँज रही थी। उनकी वाणी की प्रतिध्वनि ने सबको गम्भीर बना दिया था। उपस्थित मानव राम की पवित्र वाणी सुनकर विस्मित हो उठे थे। सभी अवाक् जैसे बैठे थे। सबको अपनी जीवन-सम्बन्धी सत्य बात सुनने पर रोमांच हो आया था।

सभास्थित सिद्ध लोग बोल उठे—'श्री राम ने जिन पवित्र प्रश्नों को उठाया है, सभा में उपस्थित महर्षि-गणों को चाहिए कि उन प्रश्नों का उत्तर तथा उत्तर-सम्बन्धी सिद्धान्तों को कहें। श्री राम के शंका-समाधान के साथ-ही-साथ हम लोगों को भी तत्त्व-ज्ञान सुनने का अवसर मिल सके।'

विश्वामित्र तथा वशिष्ठ ने सिद्धों की बात सुन कर मस्तक झुका लिया। सभास्थित अगणित आँखें[*] उन पर केन्द्रस्थ हो गईं। उस समय

वनपर्व : २७६ : १४–२४
२७९ : ३६–३७
२७९ : ४०–४८
२८० : १–४०;
२८२ : ५–७१
२८३ : १–५४
२८४ : १–२२
२८४ : ३९
२८५
२८८
२८६ : १–१४
२९०
२९१ : १–७०
द्रोणपर्व : ५६
शान्तिपर्व : २९ : ५१–६२
अनुशासनपर्व : ७६ : २६
११५ : ६४
१३७ : १४

तत्त्वज्ञान श्रवणार्थ महर्षि नारद, व्यास, पुलह आदि प्रमुख-प्रमुख महर्षिगण तथा मुनि लोग सभामण्डप में आ गए। सबके शान्त हो जाने पर नारद ने कहा :

'प्रिय राम! प्रज्ञा का तुम में प्रवेश हो चुका है। वैराग्य-भूमिका तैयार हो गई है। तुम तत्त्वज्ञान सुनने एवं मनन करने के पात्र हो। महर्षि-गण! आप लोगों को अब चाहिए कि अपनी श्रीवाणी से राम के एक-एक प्रश्न का उत्तर उदाहरण, व्याख्यादि के साथ देने की कृपा करें।'

'प्रियदर्शन राम!' विश्वामित्र ने कहा—'तुम्हें अब कुछ और जानना बाकी नहीं रह गया है। तुम अपने सूक्ष्म बुद्धि-बल से सब कुछ जानते हो। स्वभाव-निर्मल बुद्धि-स्वरूप दर्पण पर कुछ धूल पड़ गई है। उस

विश्वामित्र

बौद्ध ग्रन्थ

दशरथ जातक—इस जातक के अनुसार श्री राम-लक्ष्मण आदि काशी के राजा दशरथ की सन्तान थे। प्रथम रानी की मृत्यु के पश्चात् राजा दशरथ ने दूसरा विवाह किया था। उससे भरत पुत्र हुए। द्वितीय रानी ने दशरथ से पूर्व प्राप्त वर की प्रतिज्ञा अनुसार भरत के लिए राज्य माँगा। दशरथ ने सीता, राम, लक्ष्मण को बारह वर्षों के लिए वनवास दिया। बारह वर्ष बीतने पर राम राज्य लेने नहीं आए। भरत ने राम की पादुका सिंहासन पर रखकर तीन वर्ष तक राज्य किया।

कालान्तर में राजा दशरथ ने भगवान् बुद्ध के पिता शुद्धोधन, भरत ने बुद्ध के भ्राता आनन्द, लक्ष्मण ने बुद्ध के शिष्य सभी पुत्र, सीता ने राहुल की माता यशोधरा तथा राम ने बोधिसत्व रूप से जन्म ग्रहण किया।

ऋग्वेद — २ : ३० : २०
३ : १ : २१
३ : १८ : ४
३ : २६ : १-३
३ : २९ : १५
३ : ३३ : ५
३ : ४२ : ९
३ : ५३ : १३
१० : ८९ : १७

धूल के पोंछ देने से तुम्हारा मन पुनः निर्मल हो जायगा। उस धूल के मार्जनमात्र की आवश्यकता है। ज्ञातव्य विषयों को शुक की तरह तुम्हारी बुद्धि जानती है। तुम सब समझते हो। तुम्हें इस समय केवल आवश्यकता है शान्ति की। वही तुम्हें इस समय शुक की तरह अपेक्षित है।'

'महात्मन्! शुक कौन थे?' राम ने गम्भीर होते हुए पूछा।

और कहने के लिए सन्नद्ध विश्वामित्र मुसकरा उठे।

▣

अथर्ववेद — ४ : २९ : ५
तैत्तिरीय संहिता–२ : २ : १ : २
काठक संहिता—१६ : १९
२० : ६
निरुक्त — २ : २४
ऐतरेय ब्राह्मण—६ : १८ : १
७ : १६ : १८
शतपथ ब्राह्मण—८ : १ : २ : ६
पंचविंश ब्राह्मण–१४ : ३ : १२
२१ : १२ : २
शतपथ ब्राह्मण—८ : १ : २६
कौशीतकी ब्राह्मण—
१५ : १
२६ : १४
२८ : १ : २
२९ : ३
जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण—
३ : ३ : १३
३ : १५ : १
वाल्मीकि रामायण—
बालकाण्ड–सर्ग ३, २०, २१, २७, २८

मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरण

- शुकदेव ....
- वसिष्ठ ....

शुक

'यह संसार किस तरह उत्पन्न हुआ है ? इसका देश-काल क्या है ? यह कितने दिन स्थिर रहेगा ? कब और किस तरह इसका अवसान होगा ? मैं यह जानना चाहता हूँ, पिता जी !'

आत्मज्ञ महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यासदेव से निर्जन सुमेरु शैल सुखासीन तत्त्वज्ञ विमलमति श्री शुकदेव ने नम्रतापूर्वक अपनी जिज्ञासा निवेदन की। व्यासदेव की पवित्र वाणी मुखरित हुई। वेद, पुराण आदि सभी ज्ञातव्य विषयों की बातें तथा तत्त्वज्ञान निर्मल प्रेमपूर्ण भाव से उन्होने समझाया। सब सुन चुकने के पश्चात् नम्रतापूर्वक शुकदेव जी ने कहा– 'यह सब तो मैं पहले से जानता था पिता जी !'

पुत्र की शंका-समाधान करने में सफल होते न पाकर, व्यास जी गंभीर हो गए। पुत्र पर स्नेह दृष्टि फैला कर, मुसकराते हुए व्यास जी ने कहा : 'पुत्र ! तुम्हें सन्तोष शायद नहीं हुआ।'

शुक का मस्तक नत हो गया। व्यास जी ने मुसकरा कर कहा : 'वत्स ! मैंने जो कुछ तुमसे कहा है, सचमुच उससे अधिक मैं और कुछ नहीं जानता। मुझे खेद है, मैं तुम्हें सन्तोष नहीं दे सका।'

व्यास जी शान्त हो गए। शुक यज्ञवेदी ऊर्ज्जस्वित मण्डलाकार उज्ज्वल व्योम रेखा को देखते हुए अपने आसन पर किंचित् झूमने लगे। वेदव्यास जी की विमल दृष्टि शून्य नभस्थल में शान्त स्थिर जैसे कुछ देखती स्थिर थी। उनकी पवित्र दृष्टि नीलाम्बर से हटती, पुत्र पर स्थिर हो गई। शुक को निर्विकार दृष्टि से देखते हुए व्यास जी कुछ सोचने लगे। शुक पिता को अपनी ओर देखते देख दूसरी ओर देखने लगे। पुनः दृष्टि हो गई नत। व्यास जी की निर्मल संयत वाणी मुखरित हुई : 'शुक ! भूमण्डल में एक व्यक्ति है। वह ज्ञातव्य विषयों को जानता है। उसके सान्निध्य में तुम्हें सन्तोष प्राप्त हो सकेगा।'

शुक की उत्सुक दृष्टि पिता के पवित्र कान्तिमय मुखमण्डल पर स्थिर हो गई। शुक ने धीरे से निवेदन किया : 'देव ! उस तत्त्वज्ञानी का परिचय प्राप्त करने का क्या मैं अधिकारी हूँ ?'

व्यास जी अपने आसन पर दार्शनिक मुद्रा में किंचित् झूम कर बोले : 'विदेह !'

शुक का मुख आश्चर्य से खुल गया।—'जनक !'

व्यास ने किंचित् मुसकराते हुए कहा।—'हाँ पुत्र ! राजर्षि जनक !'

:o: :o: :o:

'श्रीमन् ! राजन् ! ! महर्षि वेदव्यास-पुत्र शुकदेव जी द्वार-देश पर महाराज के दर्शनार्थ...' दौवारिक ने राजर्षि जनक को राजकीय अभिवादन किया।

जनक ने दौवारिक के मुख की ओर देखते हुए पूछा : 'कहाँ हैं वे !' 'द्वारदेश पर।' दौवारिक का मस्तक झुक गया।

जनक ने अवज्ञापूर्वक कहा : 'खड़ा रहने दो।'

:o: :o: :o:

'राजन् !' दौवारिक ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक अभिवादन किया।

राजा की प्रश्नपूर्ण दृष्टि दौवारिक की ओर उठ गई।

दौवारिक ने करबद्ध निवेदन किया : 'देव ! अपराध क्षमा हो। शुकदेव जी आज सात दिन से दिन-रात द्वारदेश पर अनवरत खड़े हैं।'

'हूँ'। जनक गम्भीर हो गए। दौवारिक ने पुनः झुकते हुए कहा : 'महाराज की आज्ञा ?'

जनक ने उपेक्षापूर्वक आदेश दिया—'प्रांगण में आने दो।'

:o: :o: :o:

'देव !' दौवारिक किंचित् उदास मुद्रा में राजर्षि जनक के सम्मुख नत-मस्तक खड़ा हो गया।

राजर्षि की प्रश्नपूर्ण वाणी मुखरित हुई–'क्या चाहिए ?'

'राजर्षि ! श्री शुकदेव आज सात दिन से दिन-रात एक रूप से प्रांगण में खड़े हैं।'

राजर्षि मुस्करा उठे—'अन्तःपुर में ले जाओ।'

:o: :o: :o:

शुक ने अपनी मौलिक शान्ति मुद्रा के साथ प्रवेश किया राज्य प्रासादान्तर्गत अन्तःपुरीय रमणीम शोभा में। वे घिर गये नाना मोहक प्रसाधनों से।

चारों ओर उल्लास था, उत्साह था, प्रसन्नता थी और काम को लज्जित करने वाली सुन्दरता की चारु छटा थी। अन्तःपुरीय मदमत्त सर्वांग सुन्दरी कामनियों की युवती-सुलभ कान्त-प्रभा से अन्तःपुर प्रतिभासित था। सरल चित्त सहज ही विचलित हो जाता था। अन्तःपुर का भौतिक वायु-मण्डल एवं वातावरण भूमण्डल के सभी प्रसाधनों से युक्त, शोभा सम्पन्न एवं सुखद था।

शुक के स्वागत में दौड़ पड़ीं चारों ओर से, रति को लज्जित करती हुई, कटाक्ष-चतुर कमनीय कामिनियाँ। उनके सुन्दर कोमल कर-कमलों में थे भोज्य पदार्थ। आईं काम को उन्मत्त बनाती चामरधारिणी एवं अन्य परिचारिकाएँ। चली संयत को असंयत करने कृशकृशोदरी यौवन मदमत्त युवतियाँ। किन्तु व्यासपुत्र शुकदेव के सुस्थिर शान्त हृदय को विचलित करने में सफलीभूत न हो सकीं, उस सरल सरस मधुर मन्द समीरण की तरह जो कल्पना करता है, शैल को विचलित करने की। पूर्ण शशि-तुल्य शुक सुसम, स्वस्थ, मुदित चित्तावस्था का अवलम्बन कर हो गए थे मौन। इस तरह बीत गए सात दिन। अन्तःपुरवासी परिचारिका को आज्ञा मिली: 'शुक को राजा के सम्मुख लाओ।'

'देव ! मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।' श्री शुकदेव मुदित चित्त प्रसन्नमुख शान्तभाव से नतमस्तक करबद्ध जनक के समीप आए।

जनक का मुख मण्डल प्रसन्न था। उस पर विचित्र कान्ति थी। नेत्रों में शान्ति थी। अवयवों में स्थिरता थी। चित्त पर संयम था। शुक विदेह का रूप देखकर अवाक् हो गए। कुछ बोल न सके। श्रद्धा

भक्ति से उनकी आँखें स्वतः ऊपर उठ न सकीं। आत्मस्थित जनक ने निवेदन किया :

'महर्षि व्यास कुशल से तो हैं ? आप सकुशल हैं ? आपको कष्ट तो नहीं हुआ ? मैं आपका इस जनपद में, इस पुरी में, इस स्थान पर स्वागत करता हूँ। आपके सभी मनोरथ परिपूर्ण हैं। आपकी क्या अभिलषित आकांक्षा है ? मैं आपके किस काम आ सकता हूँ। यह क्षुद्र प्राणी आपकी कौन-सी सेवा कर पुण्यार्जन कर सकता है ?'

शिष्य-तुल्य अत्यन्त विनम्र वाणी में शुक ने निवेदन किया : 'गुरो ! यह संसार किस प्रकार उत्पन्न हुआ है ? इस संसार का किस प्रकार अवसान होगा ? क्या आप यथायथ भाव से मुझे बता कर, मेरा उपकार करने का कष्ट स्वीकार कर, मुझे अनुगृहीत कीजिएगा ?'

विदेह ने शुक के प्रश्नों का वही उत्तर दिया जो वेदव्यास ने दिया था। शुक को सन्तोष नहीं हुआ। विनयपूर्ण वाणी मुखरित हुई : 'राजर्षि ! अपने विवेक द्वारा मैं इन तत्त्वों को पहले से जानता हूँ। मेरी जिज्ञासा पर पूज्य पिता जी ने यही बातें मुझें सुनाई थीं। आपने भी वही सुनाया है, किन्तु—।'

विदेह गम्भीर हो गए।

'शास्त्रज्ञ प्रवर !' शुक ने किंचित् रुक कर पुनः कहा। 'आपने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे शास्त्रों में अध्ययन किए जा सकते हैं। पर सिद्धान्त शास्त्रों में वर्णित है कि यह दग्ध संसार अज्ञान से उत्पन्न होता है। अज्ञान के क्षय के साथ-ही-साथ इसका अवसान हो जाता है। शास्त्र-वचन, पिता-वचन, गुरु-वचन सुनने के पश्चात् भी—।'

विदेह के अधरों पर रेखा खिंच उठी। शुक ने जनक की ओर जिज्ञासा मिश्रित उत्सुक दृष्टि से देखते हुए अत्यन्त मृदुल वाणी में शिष्य-तुल्य पूछा :

'महाबाहो ! क्या यही सत्य है जिसे आपने कहा है ? सत्य एक बात हो सकती है, किन्तु क्यों है वह सत्य ? उसके सत्य होने का कारण क्या है ! यही समझना वास्तव में सत्य को समझना है।

सत्य का वास्तविक दर्शन करना है। केवल यह जान लेना कि यह सत्य है, पर्याप्त न होगा। यह होगा अन्धविश्वास। जिस तरह मेरे हृदय का संशय दूर हो जाय, उसी तरह आप दया करके उपदेश दीजिए, ताकि तत्त्वाशय प्रयुक्त यह चंचल हृदय स्थिर हो।'

विदेह ने सरलता से कहा : 'मुने! जिसे तुम स्वयं जानते हो, जिसे तुमने गुरु-मुख से सुना है, उसके अतिरिक्त और कुछ ज्ञातव्य नहीं है।'

महात्मा जनक ने शनैः शनैः गगन की ओर अपने अर्धप्रस्फुटित लोचनों को स्थिर करते हुए कहना आरम्भ किया :

'इस जगत् में प्रकृति अस्तित्वहीन है। पुरुष किंवा आत्मा का ही अस्तित्व है। अवरण चैतन्य पुरुष किंवा आत्मा का रूप है। आत्मा अद्वितीय है। अज्ञानमय संसार में वह आबद्ध है। अज्ञान के लय होने पर उसका दर्शन हो सकता है।'

शुक को सम्बोधन करते हुए वे पुनः बोले : 'महात्मन्! भोगरत न होने के कारण समस्त दृश्य प्रपंचों में आपकी वितृष्णा हो गई है। अतएव आपको समस्त ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान है। अल्पावस्था में अत्यन्त तीव्र वैराग्य आप में उत्पन्न हुआ था। महारोग-स्वरूप भोग-जाल से आपकी बुद्धि विरत हो गई है। आप और क्या सुनना चाहते हैं? आपकी जिस प्रकार कामना निवृत्त हुई है, उस प्रकार आपके यशस्वी, सर्वज्ञानी, महानिधि, महातपोनिधि पिता की नहीं हो सकी है। वेदव्यास की अपेक्षा हमारी श्रेष्ठता जन्म से ही है। आप वेदव्यास के पुत्र हैं। उनके शिष्य हैं। किन्तु भोग-विलास के परिहार द्वारा आप मुझसे भी बहुत श्रेष्ठ हैं। जो कुछ लाभ किया जा सकता है, आपने वह सब प्राप्त कर लिया है। आप पूर्णमनोरथ हैं।'

नीरव एकान्त पवित्र वातावरण में शुक, शिष्य-तुल्य शान्तिपूर्वक महात्मा जनक की बातें सुन रहे थे। उनकी दृष्टि शान्त, कान्तिमय, सरल महात्मा विदेह के पवित्र मुखारविन्द पर केन्द्रस्थ थी।

महात्मा जनक ने निश्वास लेते हुए पुनः कहा : 'ब्रह्मन्! दृश्य प्रपंच में आपको अब और पतित होना शोभा नहीं देता। इस अवस्था को पार करना आपके लिए श्रेयस्कर है। भ्रान्ति का परित्याग करने से मुक्ति

मिलेगी। शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने से, केवल तत्त्व-ज्ञान जान लेने से न कोई मुक्त हुआ है, और न हो सकता है। तत्त्व जिस बात का प्रतिपादन करता है, उसका अनुकरण कर स्वयं आत्मज्ञान एवं आत्मदर्शन प्राप्त करना होगा। दूसरों की आँखों से वस्तुएँ नहीं देखी जातीं। यह आत्म-दर्शन आपको न तो शास्त्र करा सकेगा और न मैं। उसे तो स्वयं करना होगा। यह होगा उस समय जब भ्रान्ति दूर होगी। दृश्य-प्रपञ्च मिटेगा। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का ज्ञान लोप होगा और रह जाओगे केवल शुद्ध चैतन्य विकारहीन आत्मा।'

महात्मा जनक के शान्त हो जाने पर निर्मल तुष्णीभूत शुकदेव ने उठ कर नमस्कार किया।

महात्मा विदेह ने पूछा : 'शुक ! अब कहाँ ?'

शुकदेव बोले : 'गुरो ! आज्ञा दीजिए। मैं प्रस्थान करूँ। सुमेरु-शिखर पर जाकर अपनी समाधि में आत्मदर्शन करूँगा। समझूँगा, आत्मा क्या है। इसका स्वरूप क्या है। और है क्या इसका वास्तविक दर्शन।'

योग वासिष्ठ — मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण: सर्ग: १—

पुराण :

स्कन्ध :	६ : १४७–१४८
नारद :	१ : ५८
ब्राह्मण	३ : ८ : ९३
वायु	२ : ९ : ८५
भागवत	१ : ७–८; १ : १९ : २६–२८;
	६ : २१ : २५
मत्स्य	१५
हरिवंश	१ : १८
पद्म	१९८
देवी भागवत	१ : १४

महाभारत: आदिपर्व १ : १०४, १०६–१०८

	६३ : ८९
स्वर्गारोहण	५–५५–५६
सभापर्व	४–११

शुकदेव ने ठहर कर पुनः कहा : 'निर्विकल्प समाधि में अवस्थित होकर, मैं तेलहीन दीपक-तुल्य आत्मस्वरूप में निर्वाण प्राप्त करना चाहता हुँ। जिस प्रकार मेघ से अकेला जलबिन्दु अलग होकर पुनः सागर से मिल जाता है, उसी प्रकार दृश्य सम्बन्ध तथा अज्ञान से बहुत दूर, निर्मल स्वरूप परमपावन परमात्मा में मैं मिलना चाहता हूँ।'

□

वनपर्व ३१ : १२

शान्तिपर्व २३१ : ६

२३९ : २–२५५

३२१ : ९४

३२४ : ६, १०, १६,

३२५

३२६ : ३–५, १०–१३, २२–५१

३२७ : ३१

३२८ : २८–५६

३२९ : ४

३३१ : ४९–६२

३३२

३३३ : १–१८

अनुशासन पर्व ८१ : ८–११

वसिष्ठ

सत्वर तरंग जिस प्रकार दूसरी तरंग के समीप शीघ्रता से जाती है, उसी प्रकार एक व्यक्ति ने कमण्डलु एवं अक्षमाला लिये हुए, कमण्डलु एवं अक्षमालाधारी सर्वज्ञ ब्रह्मा के सम्मुख उपस्थित होकर, श्रद्धा से प्रणाम करते हुए कहा : 'पिता जी !'

'आओ पुत्र !' शुक्ल मेघमण्डलान्तर्गत शशितुल्य पितामह ब्रह्मा ने अपने कमल-आसन पर आगन्तुक का करस्पर्श करते और प्रेम से उसे बिठाते हुए कहा। जिस प्रकार सुन्दर हंस सारस से अपना मनोभाव प्रकट करता है, उसी प्रकार मृगचर्म परिधानकारी ब्रह्मा ने मृगचर्म परिधानकारी उस व्यक्ति से अपना अभिप्राय प्रकट किया।

'पुत्र वसिष्ठ ! मैंने जम्बू द्वीपान्तर्गत भारतवर्ष में आधि-व्याधि द्वारा समाक्रान्त मानव की सृष्टि-रचना की है। मानव उत्पन्न एवं नष्ट होते तथा नाना प्रकार के विषय-भोगों में डूबने-उतारने लगे हैं।'

ब्रह्मा जी कहते-कहते रुक गए। अपने पुत्र के अज्ञान एवं दुःख को देखकर जैसे पिता कातर हो उठता है, उसी प्रकार ब्रह्मा जी का मुख कातर हो गया।

ब्रह्मा ने पुनः कहा। 'अल्पायु एवं हताश मानव का दुःख किस प्रकार निवृत्त होगा, इस चिन्ता से मैं कुछ दुःखित हो गया था। उनके कल्याण के निमित्त मैंने तपस्या, धर्म, दान, सत्य तथा तीर्थों की सृष्टि की। किन्तु मानव का दुःख इस सृष्टि रचना के पश्चात् भी दूर न हो सका। मानव ज्ञानशक्ति-युक्त होकर परम पद प्राप्त कर सकता है। संसार के उद्धार का वास्तविक और एकमात्र उपाय है—तपस्या, दान तथा तीर्थ। मैं इस प्रकार विचार कर रहा था कि तुम मेरी कमलयोनि मन द्वारा उत्पन्न हो गए।'

उत्फुल कमलासन-स्थित कमलनयन ब्रह्मा ने वसिष्ठ की ओर देखते हुए कहा : 'वत्स ! बानरों की तरह चंचल अज्ञान शशिकलंक सदृश तुममें प्रवेश करे।'

पितामह ब्रह्मा के इस प्रकार कहते ही वसिष्ठ अपने निर्मल पूर्ण-स्परूप को भूल गए। अप्रबुद्ध बुद्धि द्वारा दीनभावापन्न निर्धन लोक में दुःख एवं शोक द्वारा सन्तप्त होकर रहने लगे। यह संसार नामक दोष कैसे उत्पन्न हो गया? विचार करते हुए संसार-बन्धनों के बीच विचरने लगे।

:o: :o: :o:

'पुत्र! तुम किसलिए दुःखी हो? तुम्हें क्या चाहिए? दुःख-निवारण का उपाय मुझसे क्यों नहीं पूछते? क्या उपाय जान लेने के पश्चात् तुम सुखी न रह सकोगे?' पितामह ब्रह्मा ने विश्वास के साथ कहा।

वसिष्ठ ने कमलपत्र-दल पर स्थित लोक-निर्माता अपने पिता ब्रह्मा के चरणों को स्पर्श करते हुए निवेदन किया: 'प्रभो! जीव का यह दुःखमय संसार किस प्रकार उत्पन्न हुआ है और इसका क्षय कैसे होगा?'

योगवासिष्ठ रामायण : मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण : सर्ग १०

महाभारत :

आदि पर्व : ६४ : ४०–४५
९८ : २३
९९ : ५–६, २८–३३, ३५–४१
१०० : ३५
१२२ : ५१
१७२ : १३–३४
१७३ : १–१०
१७४ : १६–१८
१७४ : २१–४३
१७५ : १–४३
१७५ : ४४–४६
१७६ : १–६, १२–४७
१७७ : ११–१८०
सभापर्व : ११ : १९

ब्रह्मा ने वसिष्ठ को तत्त्वज्ञान का उपदेश किया। वसिष्ठ परमपवित्र तत्त्वज्ञ हो जाने के कारण, अपने पिता ब्रह्मा से भी अधिक निर्मल, परिपूर्ण-स्वभाव, तत्त्वज्ञान-स्वरूप अवस्थित हो गए।

विदित वेद्य, निज प्रकृति-प्राप्त, जगत्-कर्ता ब्रह्मा ने गम्भीरतापूर्वक कहा : 'हे पुत्र! मैंने अधिकारियों की ज्ञानसिद्धि के निमित्त शाप द्वारा

वनपर्व	२९१ : ६६
उद्योग पर्व	८३ : २७
द्रोण पर्व	१९० : ३३–४०
शल्य पर्व	३८ : २७–२९
	४२
शान्ति पर्व	४७ : ७
	७४ : ५–६
	२३४ : २७
	२९१ : २१–२६
	२९६ : १७
	३०२–३०८
	३३४ : ३६
	३३५ : २८–२९
	३४२ : ३१
अनुशासन पर्व	६
	१३७ : १३
	७८ : ५–८०
	८४ : ४४–८५
	९३ : ३९
	९३ : ६१
	९३ : ८४
	९३ : ११४–११५
	९४ : १७
	१२६ : ४४–४५
	१५५ : १६–२५
	१५८ : १९
आश्वमेधिक पर्व	११ : ६८–१९

तुम्हें अज्ञ किया था। अब तुमको पुनः मुक्त करता हूँ। शाप इसी समय नष्ट हो जायगा और तुम परम ज्ञान प्राप्त करोगे। मालिन्य-संसर्ग-भावापन्न स्वर्ण जिस प्रकार शोधन द्वारा अपना पूर्व पूर्णशुद्ध स्वर्ण-स्वरूप प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मेरी तरह एक आत्मारूप अवस्थित होगे।'

सन्दर्भ :—

योग वासिष्ठ रामायण : वैराग्य प्रकरण : सर्ग : १ : २

ऋग्वेद	७ : ३३ : १०-१३
	७ : १८ : ३३
	३ : ५३ : १५; १६; २१—२४
	७ : ३२
	७ : ५५
	७ : ८३-८
	७ : ३३-१
	७ : ४ : ७—८
	७ : ५९, १२
	७ : १०४
बृहद्देवता	५ : १३४
नि०	४ : १४
ऐ० ब्रा०	७ : १६
	७ : ३४
	८ : २१
सां० ब्रा० :	१५ : २१ : ४
शतपथ ब्राह्मण	१२ : ६ : १ : ४१
	४ : ६ : ६ : ५
ब० ब्रा०	१ : ५
तैत्तिरीय संहिता	३ : १ : ७ : ३
	७ : ४ : ७
	३ : ५ : २

वाल्मीकि रामायण : उत्तरकाण्ड : ५७

गो० ब्रा०	१ : २ : १३

'हे साधो !' ब्रह्मा ने आदेश स्वर से कहा—'इस समय तुम जम्बूद्वीप मध्यवर्ती भारतवर्ष में जाओ। तुम हो महाधी-सम्पन्न। तुम वहाँ जाकर मानव को क्रियाकाण्ड पर क्रियाकाण्ड के क्रम की बात सुनाओ। तुम आनन्ददायक ज्ञान विचारशील एवं विरक्त-चित्त महाप्राज्ञ व्यक्तियों में अनुप्राणित करो।'

□

कूर्म १ : १९
भा० ४ : १ : ४१
लिंग पुराण १ : ६३, ७८–९२
हरिवंश पुराण १ : १८
१ : २
वायु पुराण २ : ९, ८२–९०,
ब्रह्माण्ड पुराण २ : १३ : ३९–४३, ३ : ८०, ९० : १००
३ : ८–९
मत्स्य पुराण ६० : २०–४०, २००, ५ : १७–२७, २५२
पद्म पुराण उ. १३८, २२२, १२४
सृ० ३४
रामायण वाल्मीकीय उत्तरकाण्ड : ५७
वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड : सर्ग ७ : ८ : १०–१२, १३, १९

उत्पत्ति-प्रकरण

- आकाशज ....
- लीला ....
- कर्कटी ....
- एन्दवोपाख्यान ....
- अहिल्या ....
- माण्डव्य ....
- चित्त ....
- बाल्याख्याइका ....
- इन्द्रजाल ....

□

आकाशज

'मृत्यु !' यम ने मृत्यु के उदास मुख की ओर देखते हुए पूछा।

'विफल—'। नतमस्तक मृत्यु कहते-कहते रुक गई।

'विफल ?' यम की ललाट-रेखाएँ संकुचित हुईं।

'भगवन् !' मृत्यु यम के चरणों पर आँखें स्थिर करती हुई बोली : 'मैं ध्यान-परायण, परहित-तत्पर, परम धार्मिक आकाशज ब्राह्मण को चिरंजीवी देखकर और यह समझ कर कि मैं अविनाशी हूँ, समस्त प्राणियों का भक्षण करती हूँ, उसके भक्षणार्थ अग्रसर हुई। खड्गधार जिस प्रकार पत्थर काटने से पराङ्मुख हो जाती है, उसी प्रकार मेरी शक्ति उस पर कुंठित हो गई। उद्यमशील मनुष्य अपने उद्यम का त्याग नहीं करता। अपनी कर्तव्यनिष्ठा एवं कर्म करता है। मैं भी उसी प्रकार उसे हनन करने चली थी।'

'तदुपरान्त ?' यम ने गम्भीर मुद्रा में पूछा।

''देव !' मृत्यु ने करबद्ध निवेदन किया : 'उसके गृह में प्रवेश करते ही कल्पान्तवह्नि-सदृश अग्नि मुझे दग्ध करने दौड़ी। अग्नि-शिखावलय भेद करती हुई, मैं अग्रसर हुई। उसे पकड़ने की चेष्टा करने लगी। किन्तु—।'

यम ध्यानस्थ होने लगे। मृत्यु ने अत्यन्त विनीत वाणी से पूछा : 'प्रभो ! आकाशज को मैं क्यों न पकड़ सकी ?'

यम का मुख अचानक कान्तिपूर्ण हो गया। वे किंचित् दार्शनिक मुस्कान के साथ बोले : 'मृत्यु, तुम आकाशज को नहीं मार सकती।'

आश्चर्य-विस्फारित मृत्यु के नेत्र यम की ओर घूम गए। यम ने नीरव गगन की ओर देखते हुए कहा : 'कर्म वध का कारण है। मृत्यो ! प्राक्संचित कर्म आदि रहित आकाशज तुम्हारी अधिकार सीमा के परे हैं।'

'तो फिर ?' मृत्यु कुछ कहना चाहती थी। यम ने मुसकरा कर कहा :

'मृत्यु ?' तुम आकाशज के कर्म खोजो। यदि उसके कर्मों को खोज सकी तो शायद तुम्हें सफलता मिल जाय।'

:o: :o: :o:

'भगवन्—!' मृत्यु यम को करबद्ध नमन करती हुई बोली : 'आपके आज्ञानुसार आकाशज के कर्मान्वेषण निमित्त चतुर्दिक् नदी, कूप, सरोवर, वन, पर्वत, शैलशिखर, देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर, सागर, राष्ट्र, नगर, ग्राम-समूह में भ्रमण करती रही। भूमण्डल भ्रमण करने पर भी बन्ध्या के पुत्र, अथवा जैसे एक के मानस-संकल्प को दूसरा नहीं जान सकता, उसी प्रकार मैं आकाशज के कर्मों को प्राप्त न कर सकी। सर्वार्थकोविद ! अनुजीवियों के संशयोच्छेदक ! ! प्रभो ! ! ! कृपापूर्वक बतलाइए आकाशज का कर्म कहाँ है ?'

'मृत्यु !' यम बोले : 'आकाशज कर्महीन है।'

'धर्मराज !' मृत्यु का मुख नत हो गया। यम ने दार्शनिक मुद्रा में कहा।

'आकाशज का जनक आकाश है। आकाश द्वारा उत्पन्न आकाश-तुल्य निर्मल होता है। अभिमान, विषय, वासना मरण के सहकारी कारण हैं। प्रत्येक कर्मों के साथ आकाशज का सम्बन्ध, अनुत्पन्न पदार्थ एवं वन्ध्या-पुत्र के समान मिथ्या है। आकाश में वृक्ष नहीं होता। आकाश में कर्म नहीं होता। पूर्व कर्म न होने के कारण उसका चित्त अवशीभूत नहीं है। यह ब्राह्मण अद्यभोग्य निमित्त भी कोई कर्म-संचय नहीं करता। अतः आकाश-कोष में चिदाकाश रूप स्थित है। वह विज्ञान एवं आकाश-स्वरूप है। उसमें जो कुछ प्राण तथा क्रिया आदि लक्षित होते हैं, वे सब द्रष्टा किंवा अविद्या का भ्रम है।'

'सुनो मृत्यु !' यम ने किंचित् काल रुक कर कहा : 'लकड़ी के स्तम्भ में खुदी मूर्तियाँ भिन्न आकार प्रकट करती हुई लकड़ी के खम्भे से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्म अधिष्ठित प्रपंच-रचना चित्त विकार

के कारण भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यत्व एवं वायु में स्पन्दन अवस्थित है, उसी प्रकार आकाशज परम पद में अवस्थित अर्थात् परमात्मा से अभिन्न है। न तो उसका इदानीन्तम कर्म है और न प्राक्तन कर्म संचित है। अतएव वह सांसारिक बन्धनों से दूर है। पूर्व एवं वर्तमान का कोई भी कर्तृत्व आकाशज का नहीं है। अतएव मृत्यु ! तुम उस पर किस तरह आक्रमण कर सकती हो ? वह शुभ चिदाकाश-स्वरूप है। चेतना ही उसका वपु है। आकाश पर कोई रस्सी फेंक कर नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार निराकार आकाशज को तुम ग्रहण नहीं कर सकती।'

'महात्मन् !' मृत्यु बोली : 'आकाश शून्य है। शून्य आकाश से आकाशज उत्पन्न कैसे हो सकता है ?'

'मृत्यु !' यम ने कालदण्ड हाथ में उछालते हुए कहा : 'आकाशज कहीं उत्पन्न नहीं हुआ। चिरकाल से वह वर्तमान है। वह केवल मात्र विज्ञान, प्रभा एवं निराकार स्वरूप है।

योगवासिष्ठ रामायण : उत्पत्ति प्रकरण: सर्ग २

यम का उल्लेख निम्नलिखित स्थानों पर मुख्यतया आया है !

ऋग्वेद	: १० : १४ : १, ५८, १; ६०, १०; १६४; २; १४; १०;
	१० : १४ : ५
	१० : १७ : २
	१० : १०
	१० : १६५ : ४
	१ : ३५ : ६
	१० : १३५ : १
अथर्ववेद	: ८; ३ : १३
मैत्री उपनिषद	: ६ : ३६
बृहदारण्यक उपनिषद	: १ : ४ : ११
	३ : ९ : २१
शतपथ ब्राह्मण	: २ : २ : २
तैत्तिरीय संहिता	३ : ३ : ८ : ३
निरुक्त	: १० : २० : १

'मृत्यु !' वही हिरण्यगर्भ आकाशज ब्राह्मण है। सृष्टि के आरम्भ में भी आकाशोदर में निर्विकल्प आकाश-स्वरूप का अवलम्बन कर स्थित था। यह वासना कर्म इसे कुछ भी नहीं है। यह शुद्ध चिदाकाश है। विज्ञान-घन-स्वरूप है। प्राक्तन वासना जातादि से परे है। जिस प्रकार तेज का रूप तेज का प्रकाश है, उसी प्रकार आकाश-स्वरूप ब्राह्मण का आकाश के अतिरिक्त और कोई रूप नहीं है। वेदना अर्थात्-बहिर्मुख चित्त शांत हो जाने पर प्रतिभासित शरीर भी नहीं रह जाता। चिदाकाश के स्वरूप का जब ज्ञान हो जाता है तब वेदना शांत हो जाती है।'

'भगवन् !' मृत्यु बोली : 'यदि आकाशज का स्वरूप-शून्य है तो साकार क्यों प्रतीत होता है ?'

महाभारत :

आदि पर्व : ७४ : ३०
७५ : २
१०७ : १४–१६
१८६ : ६
१९६ : १
२२६ : ३२

सभा पर्व : ३ : १५
८
११ : ५९

वनपर्व ४१ : २५
५७ : ३७
२९७ : ११–६०

उद्योग पर्व : १६ : १४

द्रोण पर्व : ६९ : २६
२०२ : ७६

शल्य पर्व : ४५ : ३०, ४५;

शान्ति पर्व : १२९
१९९ : ३

'मृत्यु !' यम ने गम्भीर मुद्रा में कहना आरम्भ किया : 'वह निराकार चैतन्य वपु है। उसके साथ अहंभाव एवं आकार नहीं है। अहंभाव एवं आकार का नाश होता है। उसे न तो जगत् का निश्चय है और न 'मैं-तुम' का ज्ञान है। वह तो चिह्लमात्र है। जिनके मन में पदार्थों की भावना होती है उनका नाश होता है, जिसमें जगत् का भान नहीं, उसका नाश कैसे होगा ?'

यम ने किंचित् रुक कर कहा : 'मृत्यो ! आकाशज पर आक्रमण करने का निष्फल प्रयत्न मत करो। आकाश को कोई किसी प्रकार भी नहीं मार सकता।'

अनुशासन पर्व १७ : १७८-१७९
६८ : ६-९
६८ : १६-३२
७१ : १८-५६
१३० : १४-३३
१४५
आश्वमेधिक पर्व ८ : ४-६
पुराण :
हरिवंश : १-९
मार्कण्डेय ४७ : ७
७४ : ४
भागवत ६ : ६ : ४०
१ : १३ : १५
७ : २ : २६
मत्स्य ११ : ९
११ : ११, १२, १७,
विष्णु : ३ : २ : ४
३ : ७
पद्म: सृष्टि खण्ड : ८
पाताल खण्ड : ५३
" " ९६
३९

मृत्यु की विस्मित आँखें यम की ओर उठ गईं। यम मुसकराते हुए बोले :

'मृत्यु ! जाओ। देहधारियों का नाश करो। आकाशज के मारने का प्रयास वृथा होगा।'

वराह : २० : ८
भविष्य : प्रति स्वर्ग पर्व : ४ : १८
ब्राह्म पर्व ५३
ब्रह्म : ६
१६५
१६–३२;
वायु : २ : २२; २३ : ६२१
स्कन्द : २ : ४ : ११
३ : २ : ४

लीला

'सौभाग्यवती !' देवी सरस्वती लीला की श्रद्धा-भक्ति से प्रसन्न होकर बोली। राजा पद्म की स्त्री ने देवी के चरण-कमलों का स्पर्श करते दयनीय स्वर से कहा।

'देवि ! कृतार्थ हुई। आप मेरे मन की—' लीला लज्जित हो गई।

देवी सरस्वती ने सस्मित कहा। 'पुत्रि ! मैं अभयदान देती हूँ।'

'देवि ! वागीश्वरि ! !' रानी बोली : 'कौन नारी पतिविहीन जीवन पसन्द करेगी ? इस सेविका ने ब्राह्मणों, विद्वानों एवं तत्त्वविदों को बुलाकर पूछा, क्या ऐसा कोई उपाय है कि राजा का देहावसान न हो सके ?'

'क्या उत्तर मिला रानी ?'

'एक ही उत्तर मिला, देवि !'

'संसार विनाशशील है। उत्पन्न मानव का मृत्यु धर्म है। कोई उपाय न देखकर, दासी ने आपकी उपासना आरम्भ की।'

'तुम्हारी इच्छा ?'

'माँ ! यदि स्वामी की मृत्यु मुझसे पहले हो जाय तो भी उनका जीव अन्तःपुर के बाहर न जाय।'

'और कुछ ?'

'भगवति ! चरणकमल के दर्शन की इच्छा होने पर देवी का दर्शन प्राप्त कर सकूँ।'

'एवमस्तु !'

समुद्र की तरंगें जिस प्रकार समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार देवी सरस्वती अन्तर्ध्यान हो गईं।

:o: :o: :o:

'वत्से ! तुमने क्यों स्मरण किया है ? तुम शोकाकुल क्यों हो ? क्या तुम्हें नहीं मालूम है कि यह संसार भ्रमपूर्ण एवं मृगमरीचिका-तुल्य नितान्त मिथ्या है।'

पुष्पों द्वारा सज्जित राजा पद्म के शव की ओर देखती हुई लीला बोली :

'देवि ! पतिदेव यहाँ से कहाँ गए ? क्या कर रहे हैं ? मुझे उनके समीप पहुँचा दीजिए। उनसे एकाकी जीवन व्यतीत करते नहीं बनेगा।'

'लीले !' देवी बोलीं : 'आकाश तीन हैं, भूताकाश, चित्ताकाश एवं चिदाकाश। भूताकाश का आश्रय चिदाकाश है। तुम्हारा पति भूताकाश का त्याग कर चिदाकाश में इस समय अवस्थित है। तुम भी उस चिदाकाश में अवस्थित होगी तो केवल अपने पति को नहीं, बल्कि समस्त ब्रह्माण्ड को देख सकोगी।'

'भूताकाश क्या है देवि ?'

'रानी ! पृथ्वी का आश्रय आकाश है। जीवमात्र आकाश के आश्रय में विचरण करते हैं। स्थूल दृष्टिगम्य आकाश भूताकाश है।'

'चित्ताकाश ?'

'सुनो ! चित जिस स्थिति किंवा क्षेत्र में विचरण करता है, कहीं-का-कहीं एक क्षण में पहुँच जाता है, नाना प्रकार की कल्पना करता है, वह सब चित्ताकाश के आश्रय में करता है।'

'और चिदाकाश ?'

'भूताकाश एवं चित्ताकाश से चिदाकाश सूक्ष्म है। एक विषय से दूसरे विषय की प्राप्ति के मध्य में जिस अवस्था का अति स्वल्प निमेष के लिए अनुभव होता है, वही चिदाकाश है। संकल्पत्याग के पश्चात् जो कुछ अव-शेष रह जाता है वही चिदाकाश है।'

:o: :o: :o:

'पुत्री, क्या चाहती हो ?'

'सृष्टि की विचित्रता एवं तीव्र जिज्ञासा के कारण स्मरण किया है। आपके शुभ प्रस्थान के पश्चात् मैंने समाधि लगाई। इच्छा थी सूक्ष्मरूप द्वारा पति को देख सकूँ। सूक्ष्म रूप अपने पति को मैंने देखा। वह सोलह वर्ष के थे। राजा थे। दो सृष्टियाँ देखकर बुद्धि संदेहाक्त हो गई। इन सृष्टियों में देवि ! कौन कृत्रिम और कौन अकृत्रिम है ?'

'सुन्दरी ! इसका उत्तर आगे दूँगा।'

'देवि ! यह सृष्टि जहाँ हम और आप उपस्थित हैं कृत्रिम है अथवा वह कृत्रिम, है, जहाँ हमारे पति इस समय राजस्वरूप स्थित है। मैं इसे समझ नहीं सकी।'

'वत्से ! अकृत्रिम सृष्टि से कृत्रिम सृष्टि कैसे होगी ? कारण के अनुसार कार्य होता है। सत् से असत् उत्पन्न नहीं हो सकता।'

'अम्बिके ! कारण द्वारा अन्य कार्य सत्ता हो सकती है, इसका प्रमाण मिलता है। मिट्टी से पानी नहीं उठाया जा सकता। किन्तु मिट्टी घट का कारण है। मिट्टी के बने घड़े से पानी उठाया जा सकता है।

'रानी ! कार्य जब सहकारी कारण के सहयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं तो उनसे अन्य कारणों की सत्ता होती है। जहाँ सहकारी कारण नहीं होते, वहाँ कार्य की सत्ता नहीं होती। तुम्हारे पति एकरूप होते हुए, दूसरे स्थान में भिन्न रूप हो गए। अतएव पृथ्वी आदि पंच-तत्व तुम्हारे पति की सृष्टि के कारण नहीं हैं। यदि जीव इसी भूमण्डल पर उत्पन्न एवं मरणशील होता है तो भूमण्डल के अतिरिक्त उसका आवागमन और कहाँ हो सकता है ? यहाँ से जाने पर अनुरूप सृष्टि किस प्रकार होगी ? तुम्हारे स्वामी की सृष्टि में भिन्नताकारक कोई भी सहकारी कारण नहीं।'

'देवि !' रानी बोली : 'प्रतीत होता है, स्वामी को जन्मान्तरीय द्वितीय सृष्टि का ज्ञान था। उसी ज्ञान ने बढ़ कर सृष्टि-सम्पादन किया है ?'

'हे वत्से ! संसार आकाश-स्वरूप है। तुम्हारे पति संस्कार-सम्भूत सृष्टि में अनुभूत होने पर भी आकाश में ही हैं।'

'देवि !' लीला बोली। 'आपने कहा है कि स्वामी की सृष्टि स्मृति-सम्भूत होकर आकाश-स्वरूप है। यहाँ की दृश्यमान् सृष्टि तथा पूर्व के दृष्टान्त को आकाशरूप कल्पित कह कर, आप विवेचना करती हैं। यही बात ठीक है न ?'

'पुत्रि ! तुम्हारा कहना सत्य है। यह सब दृश्यमान् सृष्टि, जिसे हम तुम सब देख रहे हैं, तुम्हारे स्वामी की सृष्टि-तुल्य असत् है।'

'देवि ! अमूर्त आकाश-स्वरूप सृष्टि किस प्रकार होती है ? और किस प्रकार मेरे स्वामी उस भ्रमात्मक सृष्टि में हैं ? मेरा जगत्-भ्रम दूर करने के लिए कृपा कर इस विषय पर कुछ कहिए ।

'सुन्दरी ! पूर्व स्मृति जिस प्रकार स्वप्न प्रतीत होती है, उसी प्रकार भ्रमस्वरूप सृष्टि का प्रकाश प्राप्त होता है ।

'शौमने ! महा-चिदाकाश के किसी एक कोने में चिद् अणु के किसी एक अंश में, जगत्स्वरूप वृक्ष है । सुमेरु उस वृक्ष का तना है । सप्त लोक शाखाएँ हैं । आकाश शिखा है । सप्त समुद्र रस है । त्रैलोक्य फूल है । सिद्ध, गन्धर्व, देवता, मनुष्य तथा दैत्य-मच्छर उसके नागरिक हैं । तारागण फल हैं । उस वृक्ष के किसी एक भाग के सामान्य छिद्र में एक देश है । उस देश के पर्वत की उपत्यका में एक नगर है । उस नगर के मानस-तुल्य निर्मल सलिल-धारा के उपकूल में पादप की छाया में शान्त रम्य एक कुटी थी । उस कुटी में वशिष्ठ नामक ब्राह्मण तथा उसकी अरुन्धती नामक पत्नी रहती थी । पातिव्रत, धर्मशील, विद्या, कर्म, कांति, चेष्टा, पराक्रम तथा चैतन्य में अरुन्धती ऋषि वशिष्ठ के समान थी ।

'किसी समय समीरण के मृदुल मनोरम प्रवाह में पर्वत-शिखर पर वशिष्ठ बैठा था । वह प्रकृति की अपूर्व शोभा पर मुग्ध था । पर्वतमालाओं के बीच यज्ञोपवीत-तुल्य सरिता का प्रवाह एवं हरे-भरे क्षेत्रों में नाना प्रकार के प्राणियों की शोभा देखता प्रकृति-सुषमा में लीन हो गया था । उस समय सर्वालंकार भूषित, सुन्दर वस्त्रों द्वारा आच्छादित, प्रसन्न एक राजा सपरिवार मृगया निमित्त उसकी उपत्यका से चला जा रहा था । चामरधारिणी कमनीय कामिनियाँ दिव्य चँवर डुला रही थीं । चँवर के केश शशिकिरण प्रतीत हो रहे थे । छत्र की छाया रजत आकाशतुल्य थी । मण्डलेश्वर राजवृन्द राजकीय अस्त्र-शस्त्र एवं आभूषणों द्वारा शोभित पार्षदों-तुल्य उसका अनुकरण कर रहे थे । दुन्दुभि आदि दिव्य वाद्यों द्वारा रवित राजा की वह शोभा-यात्रा गजगामिनी तुल्य चल रही थी । वशिष्ठ ब्राह्मण मृत्युलोकीय मानवीय सौन्दर्य को देखकर मोहित हो गया । प्रबल वासना-वेग में उसने सोचा कि, यदि वह भी इसी प्रकार राजा होता तो, युवति कामि-

नियों के साथ विलास करता। भूमण्डल विजय करता। आनन्द का जीवन व्यतीत करता।

'शुभे ! वृद्धावस्था आई, किन्तु पर्वत-शिखरीय कामना का लय न हो सका। मृत्यु का कराल मुख समीप आते देख कर, अरुन्धती स्त्रीजन्य स्वभाव के कारण अत्यन्त कातर हो गई। उसने मेरी आराधना की। तुम्हारे समान ही उसने वर माँगा कि उसके पति का जीव मृत्यूपरांत बाहर न जाय।

'रानी ! कुटी के आकाश के समान वसिष्ठ का जीव कुटी में रह गया, किन्तु अरुन्धती अत्यन्त शोकाकुल हो उठी। उसका अन्तर्वाहक शरीर अपने पति से उसी प्रकार मिल गया, जिस प्रकार सरिता समुद्र से मिलती है।

'पुत्रि ! वासना के कारण वशिष्ठ ब्राह्मण तुम्हारा पति राजा पद्म और तुम अरुन्धती रानी लीला हुई। यह जगत् भ्रम मात्र है। केवल आभास है। संकल्पों ने इसका सर्जन किया है। आकाश, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, त्रैलोक्य आदि सब उस वशिष्ठ की कुटी के एक कोने में स्थित हैं। हम-तुम सब उस ब्राह्मण की कुटी में स्थित हैं।'

'देवि !' लीला साश्चर्य बोली। 'आपका वचन असत्य नहीं हो सकता। किन्तु आपका यह कहना कि उस ब्राह्मण का जीव उस कुटी में है। हम आप सब वहाँ हैं। देश-देशान्तर, समुद्र-पृथ्वी आदि सब उस कुटी में हैं। बात समझ में नहीं आई। भला उस छोटी-सी कुटी में उनका रहना कैसे सम्भव हो सकता है ?'

'लीले !' देवी बोली। 'मैंने जो कहा है, वह असत्य नहीं है। जैसे सोये हुए मानव को स्वप्न में त्रैलोक्य दिखाई पड़ता है; स्वप्न में जाग्रत अवस्था प्राप्त होती है; उसी प्रकार मृत्यु है। मृत्यूपरान्त मानव आकाश-रूप हो जाता है। अपनी वासना के अनुसार जगत् का ज्ञान होता है। स्वत्व का जगत् आकाश-रूप है। जीव का जगत् आकाश-रूप होता है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब प्रकट होता है, उसी प्रकार चित्त में जगत् प्रतिबिम्बित होता है। जगत् चित्ताकाश में अवस्थित है। चित्त यदि उस छोटी कुटी में है तो, आश्चर्य क्या ? संकल्प नगर, मृगतृष्णा का जल, भ्रम के

कारण प्रतीत होता है। उसी तरह जगत् प्रतीत होता है। एक स्वप्न के पश्चात् दूसरा स्वप्न दिखाई देता है। सृष्टि उसी प्रकार भ्रम द्वारा दिखाई देती है।'

'देवि !' लीला ने पूछा। 'वसिष्ठ ब्राह्मण की मृत्यु हुए केवल आठ दिन हुए हैं और हम न जाने कितने दिनों से जीवित हैं ! इस छोटे से काल के अन्तर्गत इतना विस्तृत काल कैसे समा गया है ?'

'लीले !' सरस्वती बोली। जिस प्रकार देश का दीर्घ एवं ह्रस्व भाव नहीं होता, उसी प्रकार छोटे और बड़े काल में अन्तर नहीं होता। जगत् केवल प्रतिभास मात्र है। उसी प्रकार क्षण में पर्यन्त काल, चिन्मय का प्रतिभास मात्र है। क्षणादि, कालान्तकाल, त्रिभुवन, हम, तुम सब परमात्मा के प्रतिभास हैं।'

'यह घटना घटती कैसे है देवि ?' रानी ने पूछा।

देवी बोली। 'जीव क्षण मात्र मिथ्या मरण, मोह का अनुभव कर प्राक्तन संस्कार भूल कर, अन्य रूप देखता है। चिदाकाश में आकाश-रूप जीव विवेचन करता है। क्या उसका आधेय एवं आधार है ? हस्त-पादादि विशिष्ट देह हमारी है। यह पिता है। यह पुत्र है। बान्धव हमारे हैं। सुरम्य भवनादि हमारे हैं। मैं जन्मा था। बालक था। युवा हुआ। वृद्ध हुआ। यह सब बान्धव पहले मेरे समान थे, आदि-आदि।

'लीले ! चित्ताकाश के प्रभाव से सब भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। स्वप्न-अवस्था के समान परलोकावस्था होती है। अतएव कहती हूँ, द्रष्टा और दृश्य चित्त के खेल हैं। वास्तव में आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वप्न जगत्, जाग्रत जगत एवं परलोक जगत् में किंचित् मात्र भेद नहीं है। उपाधिरहित आत्मा आकाश-स्वरूप है। उसमें प्रमाद उत्पन्न होने पर जगत् भ्रम का उदय होता है।'

'लीले !' देवी पुनः बोली। 'भ्रम से क्या नहीं हो सकता ? राजा हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में बारह वर्ष का अनुभव भ्रम से हुआ था। उसी प्रकार यहाँ थोड़े काल में लम्बे काल का अनुभव हुआ है। मिर्च की तीक्ष्णता-सदृश आत्मा में जगत् है। जिस प्रकार खम्भे में खुदी हुई मूर्तियाँ कलाकार के मन की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी प्रका रनम

शिल्पी किंवा कलाकार ने जगत्-स्वरूप पुतलियों की कल्पना किया है। आत्मरूप सत्ता अजर, अमर, नित्य, शुद्ध एवं अपने आप में स्थिर है।'

'देवी !' लीला ने कहा। 'मैंने समझा। पूर्व संस्कार सबका कारण है। ब्राह्मण की जो सृष्टि दिखाई पड़ती है, उसके संस्कार का उदय मुझमें किस प्रकार हुआ है ? मैं उस सृष्टि का कुछ अनुभव नहीं कर पा रही हूँ।'

'वसिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि संकल्प में हुई है।' देवी बोलीं।

'वसिष्ठ को मरे आठ दिन हो गया। उसको मैं किस प्रकार देख सकूँगी ?' लीला ने पूछा।

'रानी !' सरस्वती बोली : 'वह सृष्टि चिदाकाश में उत्पन्न हुई। चिदाकाश-स्वरूप प्राप्त करने पर तुम्हें वह सृष्टि दिखाई देगी। वह सृष्टि दूसरे के संकल्प की सृष्टि है। अतएव जब तक दूसरे के संकल्प में प्रवेश करने की सामर्थ्य न होगी, तब तक तुम कैसे उसका अनुभव कर सकोगी ? मेरा देखा हुआ स्वप्न तुम नहीं देख सकती। निराकार का ग्रहण निराकार कर सकता है। व्यवहार जब तक आधिभौतिक शरीर में है, तब तक उस सृष्टि को नहीं देखा जा सकता। आधिभौतिक का योग एवं अभ्यास द्वारा त्याग करने के पश्चात् चिदाकाश में आवरणहीन स्थिति होगी। उस समय अपने इच्छानुसार तुम गमनशील होगी। इच्छानुसार सब कुछ देख सकोगी।'

'लीले ! अपना संकल्प अपना मनोराज्य है। उस मनोराज्य में लीन होने पर शरीर-ज्ञान नहीं रहता। अतः दूसरे का ज्ञान कैसे होगा ? संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिकता का अनुभव होता है। आधिभौतिकता एवं तदुत्पन्न स्थूल शरीर से वैराग्य होने पर, आधिभौतिकता का नाश होगा। दृढ़ शीतलता द्वारा जल बर्फ हो जाता है। उसी प्रकार दृढ़ संकल्प से अन्तर्वाहकता आधिभौतिकता में परिणत हो जाती है। संकल्प पुनः अन्तर्वाहकता की ओर लौटता है। आधिभौतिकता मिट जाती है। अन्तर्वाहकता का उदय होता है। अन्तर्वाहक रूप प्राप्त करने पर तुम संकल्प-सृष्टि में प्रवेश करोगी। एक अद्वैत आत्मा सब में स्थित है।'

'देवि !' लीला ने पूछा। 'यदि अद्वैत आत्म-सत्ता एक मात्र वस्तु है, तो कल्पना नाम की दूसरी वस्तु क्या है ?'

'हे ! वत्से ! ! जिस प्रकार सुवर्ण में भूषण, जल में तरंग, स्वप्न एवं संकल्प में नगरादि की सत्यता नहीं है, उसी प्रकार सत्व-स्वभाव निरामय वृक्ष की भी कोई कल्पना नहीं है। आकाश में धूल जिस तरह नहीं है, उसी तरह परब्रह्म की किसी तरह की सृष्टि नहीं है। वह शान्त, अद्वितीय एवं अज है।'

'वागीश्वरि !' लीला बोली : 'अब तक द्वैताद्वैत का भय मुझमें कौन उत्पन्न कर रहा था ?'

'चंचले ! तुम्हारा अविचार रूप मोह ही तुम्हें भ्रमित किये था। विचार द्वारा भ्रम का नाश होता है। आत्म-साक्षात्कार से आधिभौतिक भ्रम शान्त हो जाता है। दृश्य के अत्यन्ताभाव एवं वैराग्य द्वारा दृढ़ अभ्यास होता है। अनन्तर आत्मा का साक्षात्कार होता है। भ्रम शान्त हो जाता है। दृश्य जगत् में वासना के लोप के साथ शान्ति प्राप्त होती है।'

'देवि ! अन्तर्वाहिक किंवा सूक्ष्म शरीर में किस प्रकार प्राप्त कर सकूँगी ?'

'लीले ! चित्त की चार अवस्थाएँ है, जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति और तुरीय।'

'लीले ! स्थूल शरीर के अन्दर जीवधातु नामक तत्त्व उपस्थित है। उसी के कारण मनुष्य जीवित रहता है। क्रियाशील अवस्था में जीवधातु प्राणों द्वारा क्रियाशील अंगों की ओर प्रवाहित होती है। अंगों को जीवधातु प्रसरण करती है। उनमें चेतनता का अनुभव होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर, बाह्य जगत् के नाना प्रकार के अनुभव करती हैं। इस अवस्था का नाम है जागृत। मनुष्य अपनी वासना द्वारा इस अवस्था में विचरता है। मोह में फँसा रहता है। इस अवस्था को घोर-अवस्था भी कहते हैं।

'रानी ! सुषुप्ति के साम्यावस्था में प्राप्त हुए प्राणों द्वारा जीवधातु क्षुब्ध होती है, चित्त का स्वरूप धारण करती है। अपने अन्तर्गत जगत्

के भाव, अभाव, भ्रमादि को विस्तृत रूप से अनुभव करती है, जैसे बीज के भीतर बीज अनुभव करता है। इस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं।

'मनुष्य की वासनाएँ जब सोई रहती हैं, उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। शरीर में मनसा, वाचा, कर्मणा कोई क्रिया जब नहीं होती, तब जीवधातु शान्त भाव से अपने स्वरूप में स्थिर रहती है। प्राणों की कृपा से समता आ जाती है। दृश्य-स्थित जीवधातु किसी प्रकार क्षुभित नहीं होती। इस अवस्था में जीवधातु ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मन्द्रियों की ओर नहीं दौड़ती। अतएव ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों में चेतना का अभाव रहता है। उनकी कृपा बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती। इस अवस्था में चेतन जीव के भीतर तिल के तेल, हिम की शीतलता एवं घी की चिकनाई की तरह रहता है। इसे मूढ़ावस्था कहते हैं।

'शुभे ! संकल्प-विकल्प-हीन स्थिति का नाम तुरीय अवस्था है। चित्त की स्थिति का नाम ही तुरीयावस्था है। अहंभाव का अनहंभाव, सत्-असत्-रहित सम एवं शुद्ध स्थिति तुरीयावस्था की स्थिति है। मानव चेष्टा करता हुआ अन्तःकरण की वासना से रहित रहता है। वह जीवन-मुक्ति है। जिस प्रकार गरमी से बर्फ गल कर जल हो जाती है, उसी प्रकार आधिभौतिकता क्षीण होकर अन्तर्वाहकता में परिणत हो जाती है। अन्तर्वाहकता प्राप्त होने पर शरीर आभासमय चित्त-रूप हो जाता है। जन्मान्तर एवं सर्वज्ञान का अनुभव हो जाता है। इच्छानुसार वह गतिशील होता है। दृष्टत्व वस्तु एवं सिद्धि प्राप्त करता है। अन्तर्वाहकत्व में वृत्ति स्थित हो जाती है। दूसरे संकल्प एवं सृष्टि का प्रतिभास होता है। संकल्प के अभ्यास द्वारा आधिभौतिकता उत्पन्न हुई है। इसी से संसार की वासना दृढ़ हुई है। उसी से जन्म, मरण आदि विकार चित्त में उत्पन्न होते हैं। जीव न तो जन्म ग्रहण करता है, न मृत्यु। जिस प्रकार संकल्पों से भ्रम एवं स्वप्नों में जन्म-मरण प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार जन्म-मरण भ्रम के कारण प्रतीत होते हैं। जब तुम आत्म-पद का अभ्यास करोगी, मनोविकार स्वतः नष्ट हो जायँगे।'

'देवि !' लीला ने पूछा : 'वह अभ्यास क्या है ? उसका ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? अभ्यास दृढ़ किस प्रकार होता है ? अभ्यास दृढ़ होने पर किस फल की प्राप्ति होती है ?'

'तू ब्रह्म का अभ्यास कर।' देवी बोली।

'ब्रह्माभ्यास क्या है देवि ?'

'लीले ! ब्रह्म-कथालाभ, ब्रह्म–चिन्तन, बोधव्रत, कथा-उपदेश, तत्परता एवं आत्मपद के मनन का नाम ब्रह्माभ्यास है।'

'चिन्तन किसे कहते हैं ?'

'शास्त्र एवं गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान एवं उपदेश का युक्ति से विचारना और कहना, ब्रह्मचिन्तन है। रागद्वेषमुक्त पुण्यात्मा ब्रह्मसेवक है। अध्यात्म-शास्त्र-लीन, वासनाहीन, विरक्त-चित्त, दृश्य को असत्य और परम तत्त्व को सत्य जो जानता है, वही ब्रह्माभ्यासी है।

'सुनो ! बोध का साधन अभ्यास है। अभ्यास शास्त्र द्वारा प्राप्त किया जाता है। प्रयत्न से पुष्ट होता है। पुष्ट होने पर आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। बोध उत्पन्न होने पर उत्तम मनुष्य अभ्यासी होता है। दृश्य का असम्भव ज्ञान प्राप्त करता है। जिसमें दृश्य ज्ञान उत्पन्न हुआ है, परन्तु उसमें बोध का उदय नहीं हुआ है, वह मध्यम अभ्यासी है। जिसको दृश्य का असम्भव ज्ञान नहीं हुआ है और सोचता है कि, उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह प्रकृत अभ्यासी है। लीले ! तुम अभ्यास द्वारा परम पद प्राप्त करो।'

सरस्वती और लीला ने राजा पद्म के पुष्पाच्छादित शव के समीप बात करते-करते रात्रि के बारह बजा दिये। सरस्वती एवं लीला दोनों निर्विकल्प समाधि में स्थित हुईं। उनका दृश्य भ्रम शान्त हो गया। वे निर्मल-भाव को प्राप्त हुईं। चिदाकाश में स्थित हुईं। सृष्टि देखने का संकल्प स्मरण हो गया। स्मरण होते ही, वे आकाश-रूप सूक्ष्म देह से चिदा-काश में स्थित हो गई।

:o: :o: :o:

सरस्वती देवी प्रथम लीला का हाथ पकड़े हुए सूर्यमण्डल, चन्द्रमा-मण्डल आदि को लाँघते हुए अग्रसर होने लगीं। उन्होंने कहीं सृष्टियों का क्षय होते देखा और कहीं सृष्टियों की रचना होते देखा। कहीं धूमकेतु का उत्पात हो रहा था। कहीं भूत भविष्यत् हो रहा था। कहीं प्रलय हो रहा था। कहीं नक्षत्र नष्ट हो रहे थे। जगत् के विभिन्न रूपों को आकाश-मण्डल से गिरि ग्राम को जाते हुए मार्ग में भूमितल को देखा।

भूमितल ब्रह्माण्ड पुरुष का विशाल हृदय-कमल था। आठों दिशाएँ उस कमल-दल की गिरि केसर से भरी थीं। चित्ताकर्षक सुगन्धियों से उसकी सुन्दरता वार्धक्य प्राप्त कर गयी थी। सरिताएँ केसर की शिराएँ थीं। हिमकण नाल-मध्य-स्थित मध्यबिन्दु थे। रात्रि उनकी भ्रमरी थी। प्राणि-मात्र मशक थे। भोग्य गुण नाल-दण्ड के तन्तु थे। पातालादि छिद्र थे। नवरस मकरन्द थे। नभोपथगामी हंस था। पाताल पंक में निमग्न शेषनाग मृणाल-दण्ड थे।

उस भुवन-कमल में जम्बूद्वीप विशाल कर्णिका-तुल्य था। उसमें नगर तथा ग्राम केसर की क्यारियाँ थीं। सरोवर उसके नीहार-बिन्दु थे। वन तथा जंगल उसके पराग थे। जनसमुदाय अलि-वृन्द था। समुद्र भ्रमरों से व्याप्त था। शाकद्वीप नामक पद्म लता उसमें लगी थी। क्षीर सागर की रेखा उसमें खिची थीं। कुश द्वीप रेखा से वेष्ठित था। क्रौंच द्वीप रेखा की परिखा से वेष्ठित था। घृत समुद्र तथा सुरा समुद्र से परिवृत, शाल्मली द्वीप रेखा से घिरा था। गोमेदक द्वीप इक्षु समुद्र से आवृत था। पुष्कर द्वीप स्वादु जल समुद्र से परिवेष्ठित था। उन्होंने राजा पद्म के ब्रह्माण्ड मण्डल से निकल कर वसिष्ठ ब्रह्माण्ड मण्डल में प्रवेश किया।

उन्होंने वसिष्ठ ब्राह्मण तथा अरुन्धती का मण्डल, नगर तथा ग्राम देखा। वसिष्ठ का स्थान शोभा-शून्य था। कुटुम्ब के लोग शोकाकुल थे। मृत्यु की छाया स्थान को घेरे हुए थी। वसिष्ठ का घर गृहपति के वियोग में हतप्रभ हो गया था।

लीला ने संकल्प किया। उसके बन्धु-बान्धव उसको सामान्य स्त्री-वेश में देखें। लीला के दृढ़ संकल्प के कारण देवी सरस्वती तथा उसका रूप

सामान्य स्त्रियों-तुल्य हो गया। उनकी कान्ति से गृह जगमगा उठा। वे दोनों अंगनाएँ अम्लान पुष्प-मालाओं से सिर से नख तक परिवेष्ठित थीं। वसन्त-लक्ष्मियों-तुल्य उन्होंने अपने सौरभ से गृह भर दिया।

वसिष्ठ के पुत्र ज्येष्ठ शर्मा ने उन्हें पुष्पांजलि दी। ज्येष्ठ शर्मा ने सानुनय कहा, 'देवी ! यह मेरे पिता का स्थान है। पिता के दिवंगत होने पर यहाँ के पशु-पक्षी भी चले गये। गिरि-कन्दराओं में पवन रोता बहता है। सरिता की सुन्दर धारा शोकनिमग्न हो गई है। तरंग-मालाएँ सो गई हैं। दिशाओं का सन्देश-वाहक पवन शोक के कारण उष्ण श्वास परित्याग करता है। देवेशि ! महात्माओं का आगमन निरर्थक नहीं होता। क्या हमारा दुःख दूर होगा ?'

'एवमस्तु।' वरदान देते हुए देवी सरस्वती तथा लीला लोगों की दृष्टि से लोप हो गईं।

'भद्रे !' व्योम रूपी देवी सरस्वती ने व्योम रूपी लीला से पूछा : 'तुमने ज्ञातव्य बातें पूर्णतया जान ली हैं। द्रष्टव्य देख लिया है। तुम्हारी और क्या जिज्ञासा है ?'

'देवि !' लीला ने कहा : 'मेरे मृत पति का जीव जहाँ पर विदूरथ रूप से राज्य करता है, वहाँ पर लोगों ने मुझे नहीं देखा। यहाँ मेरे पुत्र ज्येष्ठ शर्मा ने मुझे प्रत्यक्ष किस प्रकार देख लिया ?'

'वत्से !' देवी सरस्वती ने कहा : 'उस समय तुम्हारा अभ्यास पूर्ण नहीं था। तुम्हारा द्वैत ज्ञान नष्ट नहीं हुआ था। मैं लीला हूँ, मैं देह हूँ, तुम्हारा यह संस्कार नहीं मिटा था। तुममें सत्य संकल्प का उदय नहीं हुआ था। तुममें अब सत्य संकल्पता आ गई है। तुमने अभिलाषा की। तुम्हारा पुत्र तुम्हें देख ले। वह पूर्ण हुई।'

'देवि !' लीला ने गम्भीरतापूर्वक पूछा : 'इस मण्डपाकाश में मेरे पति वसिष्ठ ब्राह्मण हुए। उनकी मृत्यु के पश्चात् इसी मण्डपाकाश में जगत् प्रतिभासित होने के कारण राजा पद्म हुए। इसी मण्डपाकाश में पृथ्वी-पति होने की भावना से वह राजा विदूरथ हुए। इसी मण्डपाकाश में सब का जन्म हुआ है। मृत्यु हुई है। जिस प्रकार एक दोने में रखे अनेक

सरसों के दाने रखे रहते हैं, उसी प्रकार इस गृहाकाश में अनेक ब्रह्माण्ड समीप-समीप दिखाई देते हैं। मुझे अपने पति की सृष्टि भी अलग-अलग दिखाई देती है।'

'लीले ! भूतल की अरुन्धती ! ! तुम्हारे तीन पति किंवा अनेक पति हो चुके हैं। तुम्हारा वशिष्ठ ब्राह्मण पति मृत्यु पश्चात् जल कर राख हो चुका है। राजा पद्म अपने अन्तःपुर में पुष्पों से ढका शव रूप में पड़ा है। तुम्हारा तीसरा पति राजा विदूरथ इस समय वसुधा-पति है। बोलो भद्रे ! आँधी जिस प्रकार सुगन्ध को एक वन से दूसरे वन में ले जाती है, उसी प्रकार तुम्हें किस पति के पास ले चलूँ ?'

'भद्रे !' देवी ने पुनः कहा : 'जिन ब्रह्माण्डों को, जिन गृहमण्डपों को समीप कहती हो, वे चिदाकाश के कारण अत्यन्त समीप दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु स्थूल दृष्टि एवं विचार से उसमें अनन्त कोटि योजनों का अन्तर है।'

'देवि !' लीला ने कहा : 'मुझे अपने पूर्व जन्म की सब बातें स्मरण हो रही हैं। वहाँ पर मेरा जन्म राजस है। तामस तथा सात्विक नहीं है। मैं आठ सौ योनियों में जन्म ले चुकी हूं। मैं किसी समय विद्याधर लोक में विद्याधर राजा की पत्नी थी। दुर्वासनाओं द्वारा कलुषित होने के कारण मनुष्य हुई। पन्नग-राज की कामिनी हुई। अनन्तर कदम्ब, कुन्द, जामुन तथा करंज वन-निवासिनी पत्राम्बरधरा श्याम शवरी हुई। मुनियों के संसर्ग से पवित्रता प्राप्त कर वनाग्नि में जलकर आश्रम के महामुनि की कन्या हुई। सौराष्ट्र देश में सौ वर्ष राजा बनकर राज्य किया। राज-दोष के कारण, कुष्ट-ग्रस्त विकलांग नकुली हुई। सौराष्ट्र देश में आठ वर्ष तक गो-योनि में रही। तत्पश्चात् पक्षी-योनि प्राप्त की। भ्रमरी हुई। हरिणी हुई। मत्स्य हुई। पुलुन्दी हुई। सारसी हुई। अप्सरा हुई। कच्छपी हुई। राजहंशी हुई। मशक हुई। जल-वेलि हुई। अरुन्धती होकर वसिष्ठ-ब्राह्मण की पत्नी बनी। अरुन्धती-काल में मैंने क्या-क्या किया था, मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

'गिरिग्राम के गृहाकाश में वशिष्ठ ब्राह्मण विदूरथ होकर राज्य का ऐश्वर्य भोगता था। राजा पद्म बनकर उसी मण्डपाकाश में पृथ्वी,

सागर, राजधानी, राजप्रासाद का अनुभव किया। अंगुष्ठमात्र गृहाकाश में मैंने यहीं अपने पति का राज्य समझा। लीला नाम धारण कर मैं अरुन्धती राज-महिषी हुई थी। आपकी मैंने उपासना की। आपके प्रसाद के कारण आकाश में विचरण की शक्ति मिली।'

'लीले!' देवि बोली: 'शरीर के नाभि-कमल से दस अंगुल ऊपर हृदयाकाश है। हृदयाकाश का क्षेत्र सौ अंगुल तक है। इस सौ अंगुल में हृदयाकाश है। वसिष्ठ ने अपनी राजसी भावना के कारण पृथ्वी के राजा बनने की भावना की। वहाँ उसे मरे केवल आठ दिन हुआ है। किन्तु वह चिरकाल राज्य का अनुभव करता है। भद्रे! स्वल्प काल में लम्बे काल का अनुभव होता है। वसिष्ठ के जीव में जगत्-भावना की उत्पत्ति हुई। वही राजा विदूरथ हुआ है। राज्य के संकल्प से उसका सेवित जीव इसी मण्डपाकाश में स्थित है। जिस प्रकार पवन सुगन्ध लेकर आकाश में विचरण करता है, उसी प्रकार उसका चेतन जीव का संकल्प लेकर इस मण्डपाकाश में स्थित है।'

देवी सरस्वती तथा लीला वसिष्ठ के गृह से बाहर निकलीं। ग्रामवासी उन्हें नहीं देख सकते थे।

'देवि!' लीला ने कहा: 'ग्राम देख कर मुझे अपना पूर्व जन्म तथा तत्सम्बन्धी अपनी लीलाओं का स्मरण हो रहा है। मैं यहाँ वृद्धा ब्राह्मणी थी। मैं अनेक सन्तानों की माता थी।'

शिखर ग्राम-कोटर में संचरण करती देवी सरस्वती को विस्मयापन्न दृष्टि से दिखाती हुई लीला बोली: 'देवि! यह पाटल वृक्षों से सुशोभित मेरी पुष्प-वाटिका है। मेरे उद्यान-मण्डप की अशोक-वाटिका पुष्पित है। यह मेरी पुष्करिणी है। उसके तट पर मेरी 'तरणी' बँधी है। कर्णिका नाम की मेरी यह तर्णिका है। इसने मेरे वियोग में आठ दिन से तृण ग्रहण करना त्याग दिया है। यह मेरी जल-हारिका है। वह वियोग से अलसाई-सी पड़ी है। यहाँ पर मैंने जन्म लिया है। यहाँ पर निवास किया है। मेरा ज्येष्ठ शर्मा पुत्र हमारे वियोग में रो रहा है। मेरी दुधार गाय वन में चर रही है। पाँच खिड़कियों वाला

बरामदा, पाँच इन्द्रियों की तरह मुझे प्रिय लग रहा है। तुम्बीलता से वेष्ठित मेरा यह संस्थान रसोई गृह है।'

लीला कहती हुई, देवी को प्रणाम कर, विहंगम-तुल्य मण्डपाकाश से नील नभ में देवी के साथ आकाश लाँघती चली। प्रवह, आवह आदि उनचास वायु-लोकों का अतिक्रमण किया। सूर्य तथा चन्द्रमार्ग का उल्लंघन कर ध्रुव लोक के ऊपर पहुँची। साध्यों के लोक में जाकर सिद्धों के लोकों को पार किया। स्वर्ग-मण्डल से ऊपर जाती हुई ब्रह्मलोक में जाकर तुषितों के लोक में पहुँची। अनन्तर क्रमशः गोलोक, शिवलोक और पितृलोक अतिक्रमण करती हुई, विदेह तथा सदेह के मुक्तों के अति दूर लोकों के पार करने पर लीला किंचित् प्रबुद्ध हुई।

वे उस स्थान में पहुँचीं जहाँ सूर्य, चन्द्रमादि कुछ दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। वहाँ गम्भीर अन्धकार था।

'देवि !' लीला ने विस्मयापन्न भाव से पूछा : 'यहाँ घोर अन्धकार है। हम कहाँ आ गई हैं ?'

'लीले !' देवी ने कहा : 'तुम महाकाश में आ गयी हो। यहाँ से सूर्य आदि कुछ नहीं दिखाई देते।'

'भगवति !' लीला ने साश्चर्य पूछा : 'इसके पश्चात् मार्ग कैसा होगा ?'

'लीले !' देवी ने कहा : 'ब्रह्माण्ड-संपुट के ऊपर कपाल में तुमको जाना है।'

वे उस स्थान पर पहुँचीं जहाँ ब्रह्माण्ड में दस गुना जल था। उसके पश्चात् दस गुना अग्नि थी। उसके पश्चात् दस गुनी वायु थी। उसके पश्चात् दस गुना आकाश था। उसके पश्चात् चिदाकाश था। उस परमाकाश में आदि-मध्य-अन्त की कोई कल्पना उदित नहीं होती थी। वह अद्वितीय था। असीम था। शान्त था। कारण-रहित था। भ्रम-शून्य था। अपनी महिमा में स्थित था। धूप में जिस प्रकार त्रसरेणु दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार करोड़ों सृष्टियाँ स्वप्रकाश-अधिष्ठान चैतन्य से भासित थीं।

असंख्य ब्रह्माण्ड वहाँ बुद्-बुद् तुल्य थे। उनमें कुछ नीचे गिर रहे थे। कुछ ऊपर उठ रहे थे। कुछ स्थिर थे। कुछ तिरछे चल रहे थे। किसी ब्रह्माण्ड के अन्दर भूमि वृक्षों तथा व्योम से व्याप्त थी। किन्हीं में मनुष्यों का अस्तित्व नहीं था। किसी ब्रह्माण्ड में प्रलय-समाप्ति काल का घर्-घर् शब्द हो रहा था। किसी ब्रह्माण्ड में महाप्रलयाग्नि सब कुछ जला रही थी। कितने ही ब्रह्माण्ड आधार-हीन होने के कारण कल्पों से गिर रहे थे। कुछ ब्रह्माण्ड निश्चल थे। कुछ वायु के स्पन्दन तुल्य थे। कुछ ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा सृष्टि कर रहे थे। कुछ के विष्णु अधिपति थे, कुछ के रुद्र, दुर्गा, विनायक आदि अध्यक्ष थे। कुछ ब्रह्माण्ड केवल पशु-पक्षियों से भरे थे। कुछ में एकमात्र समुद्र था। कुछ प्राणियों से शून्य थे। कुछ शिला-तुल्य निविड़ थे। कुछ के अन्दर केवल कृमियाँ थीं। कुछ में देवताओं का आवास था। कुछ में मानव अधिक संख्या में रहते थे। कुछ कभी नष्ट न होने वाले अन्धकार से आवृत थे। कुछ गूलर फल की तरह मच्छरों से भरे थे। कुछ प्रकाश-पूर्ण थे। कुछ में जीव-गति शून्य थे। कुछ का मध्य भाग शून्य था।

वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को देखती रहीं। एक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुईं। वहाँ अन्तःपुर देखा। तुरन्त बाहर निकल आईं। उस अन्तःपुर में पुष्पाच्छादित महाराज पद्म का शरीर शय्या पर पड़ा था। वहाँ लीला बैठी थी। स्थान धूप, चन्दन, कर्पूर तथा कुंकुम की सुगन्धि से भरा था। अनन्तर वे राजा विदूरथ की सृष्टि देखने के लिए अन्तर्वाहक सूक्ष्म शरीर द्वारा आकाश मार्ग से चलीं।

:o: :o: :o:

देवी सरस्वती तथा लीला ने जम्बू द्वीपान्तर्गत भरत खण्ड में राजा विदूरथ के मण्डप को देखा। राजा विदूरथ तथा सिन्धु राजा में घनघोर युद्ध हो रहा था। स्वर्गाकांक्षी सदाचारी राजा के लिए शास्त्र-प्रतिपादित युद्ध में शूर भट जुटे थे। नरकगामो असदाचारी युद्ध करने वाले डिम्भावह भटों का अभाव था।

'देवि !' लीला ने पूछा : 'शूर भट का रूप क्या होता है ?'

'लीले !' सरस्वती बोली : 'युद्ध में आत्मोत्सर्ग करने वाले स्वर्गगामी होते हैं। शूर भट सदाचारी राजा के लिए विधिवत् शास्त्रसम्मत युद्ध करते हैं। वे गो, ब्राह्मण, मित्र, शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध द्वारा स्वर्ग-अलंकार बनते हैं। वे अपने देश की रक्षा के लिए, प्रजा-परिपालक राजा के लिए, युद्ध में प्राण विसर्जन करते और स्वर्ग प्राप्त करते हैं। युद्ध में भट के रक्त से जितने कण सिक्त होते हैं, उतने सहस्र वर्षों तक वे स्वर्ग का फल भोगते हैं। उपद्रवी प्रजा-पीड़क राजा के लिए युद्ध करने वाला नरकगामी होता है। उसे डिम्भावह भट कहते हैं। शूर को पद-पद पर मृत्यु-पश्चात् स्वर्ग मिलता है। धर्म के लिए युद्ध करने वाला शूर है। देखो ! लीले ! ! दुन्दुभी का धम्-धम् शब्द कितना भयंकर सुनाई पड़ रहा है ! मुखवाद्यों से रण-स्थल गूँज उठा है।'

'भगवति !' लीला ने कहा : 'देखिए ! चक्रव्यूह की रचना की गई है। वह देखिए, राजा विदूरथ पर आक्रमण करने के लिए प्रलयकालीन कल्लोल-तुल्य भट निकले हैं। बहुत लोग व्यूह त्याग कर बाहर निकल कर युद्ध कर रहे हैं।'

भयंकर चतुरंगिणी सेना का युद्ध आरम्भ हुआ। देवी सरस्वती तथा लीला युद्ध देखने लगीं। चक्रधारी योद्धा चक्रधारी योद्धाओं से; धनुर्धारी योद्धा धनुर्धारियों से; खड्गधारी खड्गधारियों से; भुशुण्डीधारी भुशुण्डी-धारियों से; मुसलधारी मुसलधारियों से; भालाधारी भालाधारियों से; ऋष्टिधारी, वल्लधारी, मुद्गरधारी, गदाधारी, शक्तिधारी, शूलधारी, प्राश-धारी, दण्डधारी, लकुटधारी, पत्थरधारी, पाशधारी, शंखधारी, क्षुरिकाधारी, भिन्दपालधारी, वज्रमुष्टिधारी, अंकुशधारी, हलधारी, त्रिशुलधारी, शृंखला जालधारी, अश्वारोही आदि, परस्पर अपने जैसे अस्त्र-शस्त्र धारण करने वालों से गुँथ गए।

राजा पद्म की सहायता निमित्त उस युद्ध में पूर्व दिशा से कौशल, काशी, मगध, मिथिला, उत्कल, मेंखल कर्कर, मुद्रसंग्राम शौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्र मुख्य, ताम्रलिप्ति, प्राग् ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ट, पुरुषादक, वर्णकोष्ट, शविश्वोत्र, किरात, सोवीर, साममीनाशन, व्याघ्र, वक्त्रा; एक

पादक चौबीस देशों का राजा तथा माल्यवान्, शिखि, आंजन, वृषक, ध्वज, पद्म तथा उदय सात पर्वतों के सहायक आये थे ।

पूर्व-दक्षिण दिशा से विन्ध्यादि-वासी, चेदि, वत्स, दशार्ण, अंग, वंग, उपवेग, कलिंग, पुण्ड्र, जठर. विदर्भ, मेकल, शवरानन, शवर वर्ण, कर्ण, त्रिपूर, पूरक, कण्टकस्थ, पृथग् दीपक, कोमल, कर्णान्ध्र, मौलिक, चर्मण्वती निकटवर्ती, काकक, हेमकुण्ड, श्मश्रुधर, बलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्धा, नारवेली के सत्ताराम के राजा तथा चार पर्वतों के निवासी वीरगण थे ।

दक्षिण दिशा से विन्ध्य, कुसुमापीड, महेन्द्र, दर्दुर, मलय, सूर्यवान्, अनेक गणराज्य, अवन्ती, शाम्बवती, दशपूरक, कथा चक्रार, ईषिक, आतुर कच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नगर, दण्डक, गणतन्त्रराज्य, जनतन्त्र राज्य, साह, शैव, ऋश्यम्क, कर्कोट, वनविम्बल, पम्पा, कैरक देशीय, कर्क वीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपन्तन, ताम्रीक दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजित द्वीप, कणिक, कणिकार, शिखि, कौकण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टबटक, महा कटविक, आन्ध्र, कोल पर्वत, आवन्तिक, विचैरिक, चण्डाक्त, देवनक, क्रौंच, वाह, शिला क्षारोद, भौनन्द, मर्दन, मलय, चित्रकूट शिखर आदि तिरसठ देशों तथा छ पर्वतों के निवासी एवं लंका के राक्षसगण युद्ध-भूमि में राजा पद्म की ओर से उपस्थित थे ।

पश्चिम तथा दक्षिण दिशा के मध्यवर्ती देशों, महाराज्य, सुराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीटक, सिद्धखण्ड, कालिरुह, सुमेरु पर्वत, रैवतक पर्वत, जयकच्छ, मयवर, जिनमें पवन निवास करते थे, चार पर्वत तथा वाह्लीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण और उक्त दिशा के पर्वतों के निवासी, समुद्र-तट एवं तोकिन देशवासी तथा राजा पद्म के सहायक थे । वे युद्ध में लगे थे ।

राजा पद्म के पक्ष में मध्य देश के उद्देहिक, शूरसेन, गुड़, अश्वघनायक, उत्तम ज्योतिभद्र, मद मध्यमिकादि सालुक, अकोद्य माला, दौर्जेय पिखलाभन, माण्डव्य, पाण्ड नगर, सौगीवादि, गुरुग्रत, पारिपात्र,

कुराष्ट्र यस्मुन, उदुम्बुर, राज्य नामक, उज्जिहान, काल कोटिक, माथुर, पांचाल धर्मख्यि, तथा उत्तर दक्षिण के पांचालक, कुरुक्षेत्र, सारस्वत-वासी थे।

पश्चिम दिशा के माणायान, शैलेन्द्र, कुरापर्ण गिरि, वन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल पर्वतों के लोग थे। काश तथा ब्राह्मण समूहों के अत्तक पंचजन नामक जन, भारक्षतथ, पारक, शात्तिक, शैव्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैह्य, सुह्यगाय, तजिक, हूण दक्षिण तथा उत्तर में कतक देश के निकटवर्ती कर्क, गिरिपूर्ण और अवम, जिन्हें धर्ममर्यादा त्याग देने के कारण म्लेच्छ कहा जाता है, युद्धभूमि में राजा पद्म के विरोध में उपस्थित थे। इस स्थान से दो सौ योजन पृथ्वी जनपदों से शून्य है। तत्पश्चात् महेन्द्र पर्वत, अश्वपर्वत, परियात्र पर्वत, पश्चिम उत्तर दिशा के वेणुपति, नरपति देश, फल्गुणक माण्डव्य, अनेक नेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भार मण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन दीर्घा, रंग, स्तनिक, गुरुह, लुह, स्त्री राष्ट्र, उत्तर दिशा के हिमवान, क्रौंच, मधुमान, कैलाश, वसुमान, मेरु तथा उनके सहायक पर्वत तथा मद्र, वारेव, यौधेय, मालव, शूर सैनिक, तथा क्षत्रिय देश राजन्य, अर्जुनाननय, त्रिगर्त, एकपाद, क्षुद्र, आमवल, अस्ताचल-वासी, अवल, प्रखल, शाक, क्षेम, धूर्ति, दश प्रकार के नाग, अवसनी, अदण्ड, अय-यसन, धानद, सरक, वाटधान, अन्तरदीप, गान्धार, अवन्ति, सुर, तक्षशिला, बीलव, गोधनी, पुष्करावर्त, यशोवती, नाभि-मति, तिक्षा, कालवरा भूमि, काहक नगर, सुरभूतिपुर, रति कादर्श, अन्तरादर्श, पिंगल, पाण्डव्य, यमुना तीरवासी यातुधान, नांगन, हेम ताल, स्वस्वमुख, हिमालय, वसुमान, क्रौंच, कैलास, तथा उत्तर पूर्व दिशा के कालुत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खादेन, मालव, रन्ध्र राज्य, वन राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, साराकत् चापलवट्ट, कामेर, दरद, अभिसासद, जावकि, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात, दील, स्वर्ण-भूमि, देवस्थल, गन्धर्वराज विश्वावसु का स्थान, कैलास भूमि, मंजु वन पर्वत, विद्याधर तथा देवगणों की भूमि के लोग उपस्थित थे। दोनों पक्षों में घनाघोर युद्ध हो रहा था।

सन्ध्या समय राजा विदूरथ ने मन्त्री तथा सेनापति को बुला कर, रात्रि में युद्ध बन्द करने के लिए आदेश दिया। दूसरे दिन पुनः युद्ध करने की आज्ञा दी। मन्त्री ने वस्त्र हिलाकर युद्ध बन्द करने का संकेत किया। राजा विदूरथ अपनी शय्या पर विश्राम करता हुआ, दूसरे दिन युद्ध के विषय में विचार-विनिमय करने लगा। परामर्श के पश्चात् वह सो गया।

दोनों देवियों ने मण्डपाकाश त्याग कर, सूक्ष्म परमाणु मार्ग से, अपने अन्तर्वाहक शरीर द्वारा, राजा के अन्तःपुर में प्रवेश किया। उनकी कान्ति से अन्तःपुर जाज्वल्यमान हो गया। राजा उस कान्ति-प्रकाश के कारण जागृत हो गया। उसने अपने राज-सिंहासन पर दो देवियों को बैठे हुए देखा।

राजा ने पुष्प द्वारा देवियों की पूजा की। देवी ने मन्त्री को अपने संकल्प द्वारा जगाया। मन्त्री देवी की पूजा कर राजा के पास बैठ गया।

'राजन् !' देवी ने प्रश्न किया : 'आप कौन हैं ? आपने राजा योनि कब प्राप्त की है ? तुम्हारी वंश-परम्परा क्या है ?'

'देवि !' मन्त्री ने करबद्ध उत्तर देना आरम्भ किया : 'इक्ष्वाकु-कुल में एक राजा कुन्दरथ हुए थे। कुन्दरथ के पुत्र भद्ररथ, भद्ररथ के पुत्र विश्वरथ हुए। विश्वरथ के पुत्र बृहद्रथ हुए। उनके सिन्धुरथ पुत्र हुए। उनके शैलरथ पुत्र हुआ। उसका पुत्र कामरथ हुआ। कामरथ का पुत्र महारथ हुआ। महारथ का विष्णुरथ पुत्र हुआ। उसका पुत्र नभोरथ और नभोरथ के पुत्र नाम विदूरथ हुए हैं। उनकी माता का नाम सुमित्रा है। इनके पिता जब विदूरथ दश वर्ष के थे, इनको राज्य देकर, वन में तपस्या करने चले गये। उस समय से आज तक राजधर्मों का अनुकरण करते हुए राजा प्रजा का पालन करते हैं।'

मन्त्री के तुष्णीभूत होने पर देवी ने राजा के मूर्धा पर वरदहस्त रखते हुए कहा : 'राजन् ! आप अपने पूर्व जन्म को विवेक दृष्टि से देखिए।'

देवि के कर-स्पर्श द्वारा राजा का अज्ञानान्धकार तिरोहित हो गया। उसने साश्चर्य कहा : देवि ! कितनी आश्चर्यजनक घटना है। मैं पूर्व जन्म में राजा पद्म था। लीला मेरी स्त्री थी। मेरी मृत्यु हुए केवल एक दिन हुआ है। मुझे यहाँ राज्य करते एक सौ वर्ष हो गए। पूर्व जन्मों में मैंने जो कुछ किया था, स्मरण हो रहा है। मित्र, शत्रु, बन्धु-बान्धव की स्मृति हरी हो गयी है। किन्तु देवी यह कैसे सम्भव हुआ है ?'

'राजन् !' देवी ने कहा : 'जब मनुष्य मरता है तो, उसे मूर्च्छा होती है। मूर्च्छान्तर में अनेक लोक दिखाई पड़ते हैं। मुहूर्त मात्र में वर्षों का अनुभव हो जाता है। मृत्यु मूर्च्छा के पश्चात् तुम्हें लोक-भ्रम हुआ था। जहाँ तुम राजा पद्म थे, जिस गृह में तुम मृतक हुए थे, तुमको एक मुहूर्त में, वर्षों का अनुभव हो गया है। तुम पूर्वकाल में वसिष्ठ थे। वसिष्ठ के मृत्यु के पश्चात्, उसकी स्त्री के वरदान के कारण, तुम्हारा जीव उसके मण्डपाकाश में रहा। उसका पुर्यष्टक मण्डप में रहा। राजा की दृढ़ भावना उसके संवित् में थी। अतएव उस मण्डपाकाश में राजा पद्म की सृष्टि का स्फुरण हुआ। राजा पद्म रूप में तुम्हारी मृत्यु हुई। तुम्हारी संवित् में इस सृष्टि का उदय हुआ। तुम्हारा जगत् पद्म राजा के जगत् में उद्भूत हुआ। मण्डपाकाश में स्थित है राजा पद्म का जगत्। और राजा पद्म का जगत् वसिष्ठ ब्राह्मण के मंडपाकाश में स्थित है। यह जगत् मन की कल्पना के कारण प्रतिभासित हो रहा है। वह कहीं उत्पन्न नहीं हुआ है।'

'देवि !' राजा ने पूछा : 'हमारे अनुचर अपनी आत्मसत्ता में सत् हैं अथवा असत् ?'

'राजन् !' देवी बोली : 'वेद-विदित मनुष्य शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। उसे जगत् सत्य-रूप नहीं किन्तु चिदाकाश-रूप प्रतीत होता है। जगत्-भ्रम-निवृत्त होने पर, आत्मबोध हो जाने पर, इस जगत् का वास्तविक रूप आँखों के सम्मुख आ जाता है। उस समय प्रतीत होता है, यह जगत् सत् नहीं असत् है। स्वप्न-काल की मृत्यु जागृत अवस्था में असत् प्रतीत होती

है। जिनकी आत्मा जागृत है, उन्हें जगत् असत्य और जिनकी आत्मा जागृत नहीं है, उसमें असत् प्रतीत होता है। तुम, तुम्हारी तथा तुम्हारे भृत्यों की सृष्टि तुम्हारी आत्मा में उद्‌भूत हुई है। केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। उसके अतिरिक्त जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह सब भ्रम के कारण है।'

'देवेशि !' विदूरथ ने विनयपूर्वक पूछा : 'यह जगत् क्या है?'

'राजन् !' देवी ने कहा : 'यह जगत् लम्बे स्वप्न के समान है। अहं भाव के कारण इसका स्थूल-स्वरूप दिखाई पड़ता है। आदि काल में शुद्ध आत्मसत्ता थी। उसमें स्पन्दन हुआ। स्पन्दन स्वरूप का नाम ब्रह्म पड़ा। ब्रह्म के संकल्प में यह समस्त जगत् स्थित है। यह जगत् स्वप्न-तुल्य है। उस स्वप्न-जगत् में तुम उत्पन्न हुए हो। इसी प्रकार संसार के अन्य व्यक्ति हैं।'

'राजन् !' देवि ने पुनः कहा : 'स्वप्न एवं जागृत में कोई अन्तर नहीं है। स्वप्न असत् उस समय प्रकट होता है, जब मनुष्य जागृत होता है। इसी प्रकार स्वप्न में लीन हो जाने पर, यह जागृत जगत् असत् प्रतीत होता है। अतएव जब तक मनुष्य अपने वास्तविक रूप अथवा आत्मा से जागृत नहीं होता, तब तक यह स्वप्नमय जगत् सत्य प्रतीत होता है। जागृत होने पर जगत् भ्रम की असत्यता प्रकट होती है।'

राजा ने अपनी आत्मबुद्धि द्वारा देवी को प्रणाम किया। 'विदूरथ !' देवी बोली : 'तुम युद्ध में हत होगे। तुम्हें पूर्व जन्म का राज्य प्राप्त होगा। तुम्हारी कुमारी कन्या तथा मन्त्री को नगर मिलेगा। इस समय आपको शव-स्वरूप शरीर प्राप्त होगा।'

'देवि !' राजा ने किंचित् चिन्ता प्रकट करते हुए कहा : 'आपका दर्शन निरर्थक नहीं होना चाहिए। महात्मा तथा देवताओं के दर्शन का फल मिलता है। युद्ध में मृत्यु के पश्चात् राजा पद्म का शरीर पुनः प्राप्त कर लीला तथा मन्त्रियों को प्राप्त करूँ, यही मेरी इच्छा है।'

'एवमस्तु !' देवी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

देवी प्रस्थान निमित्त प्रस्तुत हुईं। उसी समय प्रतिहारी ने प्रवेश किया।

'राजन् !' प्रतिहारी ने निवेदन किया । 'शत्रु-सेना प्रबल वेग से बढ़ती चली आ रही है। नगर में शत्रु आग लगा रहे हैं । मानव-रक्त से राजपथ लाल हो गया है।'

राजा, मंत्री, देवी तथा लीला ऊँचे गवाक्ष में चली गईं। चारों ओर प्रलयकालीन अग्नि-तुल्य अग्नि-ज्वाला उठ रही थी। नगर हू-हू-हू कर जल रहा था। शत्रुओं के गण उड़ते हुए सर्पों के समान घनीभूत होते हुए राज-प्रासाद को घेर रहे थे। परिचारिकाओं के साथ राजा विदूरथ की दूसरी रानी लीला भग्न अलंकार तथा खण्डित वस्त्रों में आई। एक परिचारिका ने व्याकुल स्वर में कहा :

'भगवन् ! अन्तःपुर की रमणियों को शत्रु लिए जा रहे हैं । हम बड़े प्रयास तथा चातुरी से रानी को बचाकर यहाँ लायी हैं । आपके द्वारदेश पर सेना तथा शत्रुओं के साथ विकट युद्ध हो रहा है।'

रानी लीला दुःखी थी । देवी सरस्वती गम्भीर हो गई । प्रबुद्ध लीला दूसरी रानी लीला का विगलित रूप देखने लगी । राजा के नेत्रों से क्रोधाग्नि निकलने लगी। किन्तु क्रोध शीघ्र उदासी में परिणत हो गया। राजा की आँखें अचानक भर आईं।

'देवि !' राजा ने करुण स्वर से कहा : 'यह लीला आपकी शरण में है। मुझे युद्ध की आज्ञा दीजिए।'

राजा ने देवी सरस्वती का चरण-स्पर्श किया। लीला की ओर देखते हुए स्नेह से कहा : 'लीले ! हम चले।'

राजा उन्मत्त की तरह युद्ध निमित्त चल पड़ा। लीला के नेत्रों से अश्रुधारा महाप्रलय की अग्नि को शान्त करने के लिए जैसे निकल चली। वह शोक से मूर्च्छित हो गई। प्रबुद्ध लीला ने रानी लीला का रूप देखकर देवी से कहा :

'देवि ! इस लीला ने मेरा आकार तथा रूप कैसे प्राप्त कर लिया है ?'

'भद्रे !' देवी बोलीं : 'चेतन चित्त में जिस प्रकार का स्पन्दन उद्भूत होता है उसी प्रकार की तत्काल सिद्धि होती है। मृत्युकाल में चित्त जिन

चिन्तनीय वस्तुओं का ध्यान करता प्राण-त्याग करता है, उन्हें वह प्राप्त करता है। जिस समय तुम्हारा पति मरने लगा था, उस समय उसका स्नेह तुममें लगा था। अतएव वह रूप, उसके संकल्प द्वारा सत्य होकर, वासना के अनुसार इस समय दिखाई पड़ रहा है। असत् पदार्थ अज्ञान-काल में दृष्टिगोचर होते हैं। जागृत अवस्था का स्वप्न काल में तथा स्वप्न अवस्था का जागृत काल में अभाव हो जाता है। जागृत अवस्था का शरीर मृत्यु के कारण नाश हो जाता है। मृतक अवस्था का जन्म के कारण नाश हो जाता है। अतएव दोनों अवस्थाएँ भ्रान्ति हैं। उनमें कोई सत्य नहीं है। यदि कुछ सत्य है तो ब्रह्म सत्ता है। वह स्वयं अपने आपमें स्थित है। जगत् कल्पना का प्रतिभास मात्र है। समुद्र की तरंगें समुद्र में उठकर विलीन हो जाती हैं। उसी प्रकार यह जगत् आत्मा में उत्पन्न होकर विलीन हो जाता है। पृथ्वी आदि भूत हैं। वे चेतन-स्वरूप हैं। चेतन में जब स्पन्दन होता है, तो वह जगत् रूप होकर दिखाई पड़ता है। अतएव वे भी चेतन रूप हैं। जीव-रूप सागर में, तरंग स्वरूप जगत् का उदय और अस्त होता रहता है। स्थूल आँखों से देखने पर तरंगें समुद्र से भिन्न प्रतीत होती हैं; परन्तु वे वास्तव में समुद्र से भिन्न नहीं हैं।

'अग्नि की उष्णता की तरह जीव में सृष्टि है। ज्ञानी को सब एक रूप दिखाई देता है किन्तु अज्ञानी को उसके कल्पनानुसार, उसमें भिन्नता दिखाई पड़ती है। सूर्य किरणों के त्रसरेणु, पवन का स्पन्दन तथा पुष्पों की सुगन्धि निराकार है। उसी प्रकार आत्मा में जगत् निराकार है। इस जगत् का साकार-रूप आत्मा से भिन्न नहीं है। ब्रह्म सत्ता साकार रूप होकर अपने मनोवृत्ति के अनुसार प्रतिभासित होती है। जिसके अन्तःकरण में जैसी भावना तथा कल्पना उत्पन्न होती है, वह उसका उसी प्रकार अनुभव करता है।

'मृत्यु के पश्चात् यह जगत् किसी को एक ही क्षण में पूर्व रूप, अपूर्व रूप और किसी को पूर्व-अपूर्व मिश्रित रूप स्पन्दित होता है। तुम्हारे पति के हृदय में तुम्हारे लिए तीव्र वासना थी। अतएव मृत्यु के पश्चात् वासनानुसार उसमें जो स्पन्दन हुआ, उसी के फलस्वरूप, सत्य-रूप दूसरी

लीला हुई है। अपने मनोराज्य में जैसी प्रतिभा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सत्य रूप प्रकट होता है। राजा पद्म की तीव्र वासना के कारण, तुम्हारा प्रतिबिम्ब-स्वरूप, यह लीला उसे प्राप्त हुई है।'

'देवि !' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'यह जगत् क्या है ?'

'सुन्दरी !' देवी सरस्वती ने कहा : 'यह विश्व अनन्त प्रकाश तथा अनन्त चिन्मय परमात्मा की स्वाभाविक सत्ता की अपेक्षा और कुछ नहीं है। आकाश की अपेक्षा सूक्ष्म तथा निर्मल है। उसमें सर्वप्रथम चैत्यता का प्रकाश हुआ। वह चैत्य ज्ञान अहंज्ञान-पूर्वक हुआ। उसके द्वारा समस्त ज्ञान संस्कार हुआ है। वही हम लोगों के संस्कार-विशिष्ट चित्त का उद्बोधक है। अन्तर उस चित्तवृत्ति की तरह, वृत्तिशाली चेतनात्मक ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त चिन्मय की परम सत्ता रूप व्यवहृत हुआ है। तत्पश्चात् चिदाणु वृत्त, ईक्षण, संवेदन के कारण ज्ञानघन हुआ आत्मभाव विस्मृत तथा परमपद त्यागकर संसारी बन्धनमय जीव हुआ, क्योंकि पूर्वोक्त ब्रह्म सत्ता भावना विशेष द्वारा प्रकाशोन्मुखी हुई है। इस जीवसत्ता के परे शून्यता-स्वरूपिणी आकाश-सत्ता का आविर्भाव हुआ। उसी से शब्दादि गुण हुए। तत्पश्चात् काल सत्ता की धारणा के सहित जीव का अहं, त्वाम्, प्रभृति अभिमान उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अहं आदि संवलित संविद् सकल्प-रूप वृक्ष इस जीव का स्वरूप है। स्पन्दन-धर्मी वायु की उत्पत्ति हुई। अहं भाव विशिष्ट आकाश-रूप सत्ता को, शब्द तन्मात्रा कहते हैं। उक्त तन्मात्रा शब्द रूप वृक्ष का कारण है। उससे पद, वाक्य और प्रमाण-स्वरूप वेद-निचय प्रकाशित हुए हैं।'

देवी सरस्वती कहती-कहती चुप हो गईं। दूसरी अर्थात् अप्रबुद्ध लीला ने करबद्ध निवेदन किया :

'देवि ! मुझ अनाथ पर कृपा कीजिए।'

'वत्से ! तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

'पति की मृत्यु के पश्चात इसी शरीर से मैं उनकी पत्नी बनूं।'

'एवमस्तु।'

अप्रबुद्ध लीला ने देवी के चरण-कमलों का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्पर्श किया। प्रबुद्ध अर्थात् प्रथम लीला बोली :

'देवि ! मुझे आप सशरीर विदूरथ तथा वसिष्ठ ब्राह्मण के यहाँ क्यों न ले गईं ?

'लीले !' देवी ने कहा : 'मैं कुछ नहीं करती। सब कुछ करता है, जीवों का संकल्प। मैं केवल ज्ञप्ति मात्र हूँ। भावना के अनुसार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तुमने मेरी आराधना इस दृढ़ संकल्प के साथ की थी कि, तुम्हारे पति का जीव उसी आकाश मण्डल में रहे, तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो। चित्त संवित् में जिस प्रकार का दृढ़ संकल्प होता है, उसी प्रकार की सिद्धता प्राप्त होती हैं। जिस दृढ़ निश्चय के साथ तप किया जाता है, उसकी दृढ़ता से चिदात्मा देवता रूप होकर फल देता है।'

:o: :o: :o:

राजा विदूरथ तथा राजा सिन्धु का भयंकर युद्ध दोनों लीला देवी सरस्वती के साथ देखने लगीं। सिन्धु-राज के सम्मुख विदूरथ दुर्बल प्रतीत हो रहा था। उसकी पराज्य अवश्यम्भावी थी। राजा विदूरथ को शक्तिहीन होता देखकर लीला चिन्तित हो गई।

'देवि', लीला ने आतुरतापूर्वक देवी सरस्वती से पूछा : 'मेरे पति की विजय क्यों नहीं हो रही है ?'

'लीले !' देवी सस्मित बोलीं : 'तुम्हारे पति की इच्छा, उसका दृढ़ संकल्प मोक्ष की ओर है। सिन्धुराज चाहता है विजय। अतएव विजय सिन्धुराज की होगी। मोक्ष प्राप्त होगा तुम्हारे पति को।'

:o: :o: :o:

राजा विदूरथ तथा सिन्धुराज का युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। राजा विदूरथ को परास्त होता न देखकर, सिन्धुराज ने गन्धर्वों द्वारा प्राप्त मोहनास्त्र का प्रयोग किया। राजा विदूरथ की सेना मूक तथा

मृतप्राय हो गई। राजा विदूरथ ने प्रबोधशास्त्र का प्रयोग कर, मोहनास्त्र के प्रभाव व्यर्थ कर दिया।

सिन्धुराज ने क्रुद्ध होकर नागास्त्र का प्रयोग किया। राजा विदूरथ ने सौपर्णास्त्र द्वारा उसे व्यर्थ कर दिया। राजा सिन्धु ने तमोस्त्र का प्रयोग कर चारों ओर अन्धकार उत्पन्न कर दिया। राजा विदूरथ ने सूर्यास्त्र का प्रयोग कर प्रकाश द्वारा अन्धकार तिरोहित कर दिया। क्रोध से व्याकुल होकर सिन्धुराज ने राक्षसास्त्र का प्रयोग किया। चारों ओर राक्षसों की उत्पत्ति हो गई। वे राजा विदूरथ की सेना का संहार करने लगे। राजा ने तुरन्त नारायणास्त्र का प्रयोग किया। राक्षसों का संहार हो गया। सिन्धु-राज ने आग्नेयास्त्र छोड़ा। प्रलयकालीन अग्नि चारों ओर उत्पन्न हो गई। राजा विदूरथ ने वारुणास्त्र का प्रयोग कर अग्नि शान्त कर दी। युद्धस्थल में बाढ़ आ गई। सिन्धुराज का रथ जल में तैरने लगा। सिन्धु ने शोषणास्त्र का प्रयोग कर जल सुखा दिया। राजा विदूरथ ने पर्जन्य अस्त्र का प्रयोग किया। मूसलाधार वृष्टि होने लगी। सिन्धुराज ने वायव्य अस्त्र का प्रयोग कर, मेघ-मण्डलों को उड़ा दिया। अपनी सेना की रक्षा की। राजा विदूरथ ने पार्वतास्त्र छोड़ा। वायु शान्त हो गई। राजा विदूरथ ने वज्रास्त्र की सृष्टि की। पहाड़ टूट-टूटकर गिरने लगे। राजा विदूरथ ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। अस्त्र शान्त हो गए।

राजा सिन्धु ने पिशाचास्त्र का प्रयोग किया। पिशाचों की सेना राजा विदूरथ की सेना का संहार करने लगी। विदूरथ ने पिशाचों की माया जान ली। उसने माया का प्रयोग किया। साथ-ही-साथ रूपिकास्त्र का प्रयोग किया। पिशाच रूप-जाल में फँसकर व्यर्थ होने लगे। राजा सिन्धु ने वैंतालास्त्र का प्रयोग किया। राजा विदूरथ ने राक्षसशास्त्र की सृष्टि की। अनन्तर सर्वश्रेष्ठ अस्त्र श्री वैष्णवास्त्र का प्रयोग राजा सिन्धु ने किया। राजा विदूरथ ने वैष्णवास्त्र का सामना अपना वैष्णवास्त्र छोड़ कर किया। राजा विदूरथ ने आग्नेयास्त्र छोड़ा। उसके कारण राजा सिन्धु का रथ जल गया। आग्नेयास्त्र का वारुणास्त्र छोड़ कर शान्त दिया।

अस्त्रों के प्रयोग से कोई फल होता न देखकर राजा सिन्धु तथा विदूरथ खड्ग लेकर रथ से उतर आए। उनका परस्पर युद्ध होने लगा।

उनकी तलवारें आरे की धार की तरह परस्पर टकराने से हो गयी थीं। विदूरथ ने तलवार फेंक दिया। शक्ति से सिन्धुराज पर प्रहार किया। सिन्धुराज आहत हो गया। उसके वक्षःस्थल से रक्तधारा बहने लगी।

अप्रबुद्ध लीला अपने पति की वीरता पर प्रसन्न हो गई। उसे विजय की आशा हो गई थी। उसने देवी सरस्वती से कहा।

'हिरण्यकशिपु को मेरे पति नरसिंह ने मार दिया है। मेरे पति के लिए रथ देखिए लाया गया है।'

राजा विदूरथ रथ पर चढ़ ही रहा था कि सिन्धु ने खड्ग प्रहार से विदूरथ के स्कन्ध प्रदेश पर आक्रमण किया। राजा विदूरथ सम्हलने न पाया सिन्धुराज ने उसकी पेंडुली काट दिया। उसकी दोनों जानुओं को मृणालतुल्य सिन्धु ने काट दिया। राजा विदूरथ गिरना चाहता था कि उसका सारथी तत्क्षण उसे रथ पर बिठा कर युद्ध-भूमि से बाहर निकाल लाया।

अपने पति की शोचनीय अवस्था देखबर प्रबुद्ध लीला कटी लता तुल्य गिरकर मूर्च्छित हो गई। सिन्धु ने रथ का पीछा किया। विदूरथ के कण्ठ पर खड्ग प्रहार किया। राजा का आधा कण्ठ कट गया। सारथी रथ भगाकर राजगृह में लाया। देवी सरस्वती के प्रभाव के कारण राजा सिन्धु वहाँ नहीं पहुँच सका। सूत ने राजा को कोमल शय्या पर सुला दिया।

:o: :o: :o:

नगर ने राजा विदूरथ की मृत्यु का समाचार सुना। शोक तथा भावी विपत्तियों की आशंका से काँप उठा। लोगों में आतंक फैल गया। नागरिक भय से भागने लगे। गाड़ियों पर सामान, स्त्री, बाल-बच्चे लिए समूह-के-समूह नगर से निकल कर जाने लगे। आततायियों ने उत्पात आरम्भ कर दिया। भागती हुई, मार्ग में अनेक युवतियाँ हर ली गयीं। चारों ओर लूट-खसोट होने लगी। राजा की मृत्यु से शासन-व्यवस्था समाप्त हो गई। राजकर्मचारी निरंकुश हो गए। राज-कोषागार तोड़कर लूट लिया गया। अनेक राज-महिलाएँ आततायियों द्वारा हत कर दी गईं।

रक्त तथा अँतड़ियों में लथपथ यत्र-तत्र पड़ी थीं। मनचले युवक अन्तःपुर की युवतियों के केशपाश खींचते, अपनी क्रूरता तथा कलुषित वृत्ति का परिचय दे रहे थे। नगर में, राजप्रासाद में हाहाकार मच गया था।

राजा सिन्धु ने सोचा, विदूरथ के राज्य पर अपने पुत्र का राज्याभिषेक करना चाहिए। उसने मन्त्रियों को आदेश दिया। उच्च राज्याधिकारी अभिषेक-उत्सव मनाने की तैयारी में जुट गए। राजधानी के क्षत स्थानों के पुर्ननिर्माण निमित्त शिल्पी लगा दिये गए।

राजा सिन्धु की रानियों ने गर्वपूर्वक नगर में प्रवेश किया। उनका जय-घोष राजपथों पर होने लगा। राजा विदूरथ के मित्र, सहानुभूति-प्रदर्शक, प्रियपात्र, अपने स्थानों में छिपते-लुकते, भय के कारण राज्य छोड़कर भाग गये। उन्हें विश्वास हो गया राजा सिन्धु के कठोर शासन के वे शिकार बन जायेंगे। एक तरफ युद्धस्थल तथा अराजक-काल में मरे हुए लोगों के लिए शोक मनाया जा रहा था और दूसरी तरफ विजयोल्लास में सिन्धु राजा के पक्षपाती उन्मत्त हो रहे थे।

राज्य के प्रत्येक नगरों, ग्रामों तथा स्थानों में राजा सिन्धु के जनपद के साथ भेरियाँ बजने लगी। अपने पुत्र के राज्याभिषेक के पश्चात् विजयजनित गर्व से उन्नत मस्तक सिन्धुराज ने राजधानी में प्रवेश किया। राजधानी के लोगों के भेंटों और उपहारों से सिन्धुराज का कोष रत्न, सुवर्ण, मणि आदि से भर गया। राजा के हाथी-घोड़े राजधानी में चारों ओर से प्रवेश कर अपूर्व कोलाहल उत्पन्न कर दिए। मंत्रियों ने प्रत्येक दिशा में सामन्तों तथा उच्च कर्मचारियों के पास राजकीय नियम, चिह्न तथा आदेश भेज दिए। देश में व्याप्त अराजकता शान्त करने के लिए कालसदृश्य कठोर नियम बनाए गए। परिणाम यह हुआ कि, कठोर प्रतिबन्धों, दण्डों तथा नियमों के कारण देश में फैली अराजकता, अव्यवस्था तथा आतंक शांत हो गया।

:o: :o: :o:

राजा विदूरथ के मृत शव को लेकर राजकर्मचारी अन्तः पुर में आए। दूसरी लीला राजा का मृत शरीर देखकर मूर्छित हो गई। प्रथम लीला देवी सरस्वती से बोली :

'देवि ! यह लीला अपने इस शरीर से किस प्रकार यमराज के पास जा सकेगी ?'

'लीले !' देवी बोली : 'पद्म के मण्डपाकाश में यह समस्त जगत् और वसिष्ठ ब्राह्मण का मण्डपाकाश चिदाकाश के आश्रय में स्थित है। इस प्रकार वसिष्ठ ब्राह्मण के पुर्यष्टक में यह सब स्थित है। वसिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में नाना प्रकार के स्थान हैं। वसिष्ठ की सृष्टि पद्म के हृदय में है और पद्म की सृष्टि वसिष्ठ ब्राह्मण के हृदय में स्थित है। जिस स्थान पर पद्म का शरीर पड़ा हुआ है वहाँ पर दूसरी लीला प'ँच गई है।'

'किन्तु देवी। दूसरी लीला का शरीर यहाँ पड़ा है।' प्रबुद्ध लीला ने लीला के मृतवत् शरीर को देखते हुए कहा।

'भ्रमस्वरूप जगत पद्म के हृदय में स्पन्दित हुआ था। उसमें विदूरथ का जन्म भ्रम मात्र था। लीला का प्राप्त होना भ्रम था। युद्ध भ्रम था। विदूरथ की मृत्यु भ्रम थी। उस भ्रममय जगत् में हम तुम बैठी हैं। मृत्यु काल के समय पद्म का प्रेम तुम पर लगा था। अतएव तुम सर्वालंकृता, वस्त्राभरण-पूर्ण पद्म को प्राप्त हुई।

'मृत्यु के पश्चात् अन्तर्वाहक शरीर होता है। लीला के शरीर से अंगुष्ठ-प्रमाण जीव प्राण ने वायु रूप धारण कर नाड़ी मार्ग से देह का परित्याग किया। उसे न तो तत्त्व-ज्ञान हुआ था और न उसने योगाभ्यास किया था। जीव वासना के कारण आधिभौतिकता प्राप्त करता है। पद्म मर गया तो उसे अपना जन्म लीला का जन्म, माता-पिता और लीला के साथ होना प्रतिभासित हुआ। दूसरी लीला पद्म को प्रतिभासित हुई थी। विदूरथ को तुम प्रतिभासित हुई। संविद् में जैसे-जैसे स्पन्दन, उसी प्रकार कार्य होता चलता है। मृत्यु-मूर्च्छा के अनन्तर उसे अपना शरीर प्रतिभासित हो गया। अतएव वह जहाँ तुम्हारा पति पद्म पड़ा है, वहाँ पहुँच गई।'

:o: :o: :o:

लीला को अपनी मृतक मूर्च्छा में पूर्व वासनानुसार अपना पूर्व शरीर प्रतिभासित हुआ। वह अपने अन्तर्वाहक शरीर द्वारा आकाश में पक्षी-तुल्य उड़ी। उसे आकाश में अपने आगे गमनमील एक कुमारी दिखायी पड़ी।

'सुन्दरि !' कुमारी ने लीला से कहा : तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी कन्या हूँ।'

'नीरज-लोचने।' लीला ने कहा : 'क्या मुझे मेरे पति के पास आप पहुँचा दीजिएगा ?'

'अवश्य।' कुमारी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

कुमारी आकाश-मार्ग में लीला के आगे मार्ग-प्रदर्शन करती चलने लगी। लीला मेघ-मार्ग का उल्लंघन कर वायु-मार्ग में पहुँची। वायु-मार्ग उल्लंघन कर सूर्य-मार्ग में आई। सूर्य-मार्ग उल्लंघन कर तारा-मार्ग में पहुँची। तत्पश्चात् वायु, इन्द्र, सुर सिद्धों के लोकों को लाँघा। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के लोकों का अतिक्रमण करती हुई ब्रह्माण्ड में पहुँची। जलादि स्वरूप आवरणों को पारकर चिदाकाश के मध्य में पहुँची। वह चिदाकाश इतना विशाल है कि यदि गरुड़ देव सैकड़ों-कोटि-कल्प अनवरत उड़ते रहें तब भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते। वहाँ लाखों नहीं, असंख्य ब्रह्माण्ड उसने देखा। प्रतीत होता था जैसे महावन में असंख्य फल लगे हों। उन ब्रह्माण्डों ने परस्पर एक-दूसरे को नहीं देखा था। उनमें एक ब्रह्माण्ड जो विस्तृत आवरण से आवृत था उसमें कुमारी के साथ लीला ने, बदरी फल में कृमि जैसे प्रवेश करती है, उसी प्रकार प्रवेश किया। पुन: वे ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि के भास्वर लोकों को अनुलंघन करती आकाश के नीचे राजा पद्म के श्री सम्पत महीमंडल में पहुँचीं। राजा पद्म के राज्य में आकर वे उसके नगर में पहुँचीं। नगर के पश्चात् पुष्पों से ढके राजा पद्म के शव के पास बैठ गईं।

कुमारी स्वयं अन्तर्धान हो गई। लीला को अनन्तर ज्ञान हुआ। उसने पुष्पाच्छादित राजा पद्म का शरीर देखा। उसने विचार किया, राजा सिन्धु द्वारा युद्ध में वीरगति प्राप्त करने के अनन्तर राजा पद्म

स्वर्ग में सुखपूर्वक विश्राम कर रहा है। सरस्वती देवी के वरदान के कारण वह स्वर्ग पहुँच गई है। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह सशरीर स्वर्ग आ गई है। उसने चामर उठा लिया। राजा पद्म के मृत शरीर पर ढारने लगी।

:o: :o: :o: :o:

प्रबुद्ध लीला ने देवी सरस्वती से निवेदन किया : 'देवी ! राजा विदूरथ का जीवन शून्य हो रहा है। वह राजा पद्म के शरीर में प्रवेश करेगा तो उसके सेवकादि उसे कैसे जानेंगे ?'

'लीले !' देवी सरस्वती बोलीं : 'इसके संकल्पों को केवल तुम और पूर्व लीला जानती है। दूसरे के संकल्प को अन्य कोई कैसे जान सकेगा ? अतएव मंत्री आदि उसका जागृत होना नहीं जान सकेंगे कि क्या आश्चर्य घटनाएँ घटी हैं।'

'देवि !' प्रबुद्धा लीला बोली : 'ललितवादिनी लीला का शरीर यहाँ पड़ा है। आपका वरदान था कि वह सशरीर अपने पति को प्राप्त करेगी।'

'शुभे !' देवी शरस्वती ने कहा : 'इस जगत् का भ्रम-रूप शरीर दूसरे जगत् में नहीं जाता। दूसरे के संकल्प में कोई सशरीर प्रवेश नहीं कर सकता। मूर्छा में दूसरी लीला को अपना शरीर प्रतिभासित हुआ था। उसका शरीर उसके संकल्प में स्थित था। उसका संकल्प उसके साथ गया है। उसने अपने संकल्प में यही समझा कि वह पूर्व लीला है। मृत्यु-मूर्छा के पश्चात् मेरे वरदान के कारण, अपने संकल्पानुसार शरीर प्राप्त करेगी। उस दृढ़ निश्चय, वासना तथा संकल्प के कारण उसने पद्म के समीप वर्तमान शरीर पाया है। अप्रबुद्ध लोग पुण्य-प्रभाव द्वारा प्राप्त किए जानेवाले लोकों को उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार छाया धूप को नहीं पा सकती। भद्रे, जो तत्वज्ञानी हैं, जिन्होंने धर्म का आश्रय लिया है, वे आतिवाहिक लोक प्राप्त करते हैं।'

'देवि !' प्रथम लीला ने पूछा : 'यदि जगत् संकल्प मात्र है तो भाव-अभाव, रूप-अरूप, अग्नि की उष्णता, पृथ्वी की स्थिरता, हिम की शीत-

लता, आकाश की काल-सत्ता, सूक्ष्म-स्थूल, ग्रहण-त्याग, जन्म-मरण आदि की सत्ता किस प्रकार प्रतीत होती है ?'

'लीले !' देवी सरस्वती बोलीं। 'महाप्रलय काल से सब कुछ विनष्ट हो जाता है। केवल एकमात्र अनन्त, आकाश रूप, प्रशान्त सत् ब्रह्म रह जाता है। स्वप्न में तुम आकाश गमनादि का बोध करती हो, उसी प्रकार वह चिद्रूप ब्रह्म 'तेजःकणोऽहमिति' मैं तेज का कण हूँ, इस प्रकार विचार करता है। वह तेज-कण अपने में स्थूलता की कल्पना करता है। वह स्थूल वह दृश्यमान ब्रह्म कहा गया है। वह दृश्यमान ब्रह्माण्ड असत्य होने पर भी सत्य दिखाई पड़ता है। वह ब्रह्माण्ड मध्य अवस्थित होकर 'मैं हिरण्यगर्भ ब्रह्म हूँ'—अनुभव करता है। अपने मनोराज्य का विस्तार करता है। ब्रह्म सत्य संकल्प का फल यह मनोराज जगत् है। सृष्टि के आरम्भ-काल में जो संकल्प वृत्तियाँ जहाँ पर जिस अवस्था में विकास को प्राप्त हुईं उसी प्रकार आज भी स्थित हैं। चित्र जिस प्रकार प्रस्फुटित होता है उसी प्रकार आत्म-चैतन्य भी प्रस्फुटित होता है। अतएव जगत् में किसी प्रकार की अनियमितता उत्पन्न नहीं होती। चित् जहाँ जिस प्रकार आविर्भूत हुई वह अभ्यासवश दृढ़ प्रतीत होने के कारण स्वयं विचलित नहीं होती। अतएव सृष्टि अपनी किसी मर्यादा का परित्याग नहीं करती। चेतन विकास-परम्परा जैसे आविर्भूत हुई हैं उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। अतएव उसे नियति नाम की संज्ञा दे दी गई है। चिदाकाश व्योम संविद् ग्रहण करने पर व्योमत्व प्राप्त करता है। काल संविद् ग्रहण करने पर कालत्व प्राप्त करता है। जल संविद् ग्रहण करने पर जलत्व प्राप्त करता है।'

'देवि !' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'आयु मनुष्य की क्यों क्षीण होती है ?'

'प्रबुद्धे !' देवी सरस्वती बोलीं : 'स्वकर्म तथा धर्म का ह्रास होने पर आयु क्षीण होती है। उनके वृद्धि करने पर आयु वार्धक्य प्राप्त करती है।'

'किन्तु बालक, युवा, वृद्ध इनके आयु में अन्तर क्यों जाता है ?' प्रबुद्ध लीला ने पूछा।

'लीले !' देवी ने उत्तर दिया : 'बाल्यावस्था में मृत्युकारी कर्मों के कारण बाल्यावस्था, युवावस्था में मृत्युकारी कर्मों के कारण युवावस्था तथा वृद्धावस्था में मृत्युकारी कर्मों से वृद्धावस्था में व्यक्ति मर जाता है। किन्तु शास्त्र द्वारा प्रतिपादित स्वधर्म का अनुष्ठान करनेवाला पुण्यात्मा शास्त्र-वर्णित पूर्ण आयु प्राप्त करता है। अपने कर्मों के अनुसार प्राणी आयु पाता है। आयु समाप्त होने पर मनुष्य को मार्मिक वेदना होती है।'

'इन्दुवदने !' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'मृत्यु के पश्चात् क्या गति होती है? क्या अनुभव होता है? क्या मैं इसे जानकर अनुगृहीत हूँगी ?'

'भद्रे !' देवी ने स्नेह से कहा : 'मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। मूर्ख, धारणाध्यासी तथा युक्तिमान् के तीन वर्गों में उन्हें विभाजित किया जा सकता है। मृत्यु-आकांक्षी को मुमूर्षू कहा जाता है। धारणाध्यासी तथा युक्तिमान मनुष्यों को मृत्यु सुखकर होती है। जिनकी धारणा अभ्यस्त नहीं है जो युक्तिमान नहीं हैं उन्हें मूर्ख कहा जाता है। मूर्खों को मृत्युकाल में असीम दुःख का अनुभव होता है। वासना के बस में होकर तथा विषयों की भावना में पड़कर मूर्ख मृत्युकाल में खण्डित पद्म की तरह अत्यन्त दीन हो जाता है। जिन लोगों की बुद्धि शास्त्रों द्वारा सुसंस्कृत नहीं हुई है, जो असज्जनों के साथी हैं, वे मृत्यु पश्चात् प्रज्वलित अग्नि में पतित मनुष्य की तरह भयंकर अन्तर्ज्वाला का अनुभव करते हैं। अविवेकी कण्ठ-कफ के कारण घर्र-घर्र करने लगता है। दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाता है। वह अपनी इस परवश अवस्था में अत्यन्त दीन हो जाता है।'

प्रबुद्ध लीला विचलित होने लगी। मृत्यु का रूप उसकी आँखों के सम्मुख खिंचने लगा। उसने कातर स्वर से पूछा, 'भगवती, उसके पश्चात् ?'

'शोभने', देवी सरस्वती ने लीला के पूर्ण यौवन-सम्पन्न सुन्दर शरीर पर दृष्टिपात करते हुए कहा : 'आसन्न मृत्यु-काल में मनुष्य अन्धकार

में विलीन होने लगता है। प्रकाश से वंचित हो जाता है। दिन में उसकी आँखों के सम्मुख जैसे तारों का उदय हो जाता है। आकाश तिमिराच्छन्न हो जाता है। दशों दिशाएँ बादलों से भरी मालूम पड़ती है। दृष्टि घूमने लगती है। वह जैसे कहीं कुछ खोजती है। देखने का प्रयास करती है। पृथ्वी आकाश तथा आकाश पृथ्वी प्रतीत होता है। दिशाएँ घूमती प्रतीत होती हैं। उसे अनुभव होता है जैसे वह समुद्र में बहाया जा रहा है। आकाश में उड़ाया जा रहा है। अन्धकार मय कूप में गिराया जा रहा है। शिला के अन्दर उसे प्रवेश कराया जा रहा है। प्रबल निद्राग्रस्त-सा पराधीन हो जाता है। अपने कष्टों को कहना चाहता है परन्तु वाणी खुलती नहीं। मुँह खोलकर शब्द उच्चरित नहीं होते।'

'ओह!' लीला के मस्तक पर स्वेद-बिन्दु उमड़ आये।

'पुत्रि!' देवी उसकी ओर किंचित् देखती हुई बोली: 'वह हृदय में कटा हुआ अनुभव करता है। प्रबल आँधी में ढँकेल कर उड़ाया जाता हुआ अनुभव करता है। अत्यन्त द्रुतगामी रथ में बैठाया हुआ अनुभव करता है। हिमशिला की तरह गलता हुआ बोध करता है। अपना उदाहरण जगत् के सम्मुख रखकर असार दुःख वर्णन करता अनुभव करता है। श्रवण यन्त्र में पत्थर की तरह फेंका जाता हुआ अनुभव करता है। वायु यन्त्र में पत्थर रखे हुए सा अनुभव करता है। भ्रमियन्त्र अर्थात् चर्खी में घुमाया जाता अनुभव करता है। रस्सी से खींचा जाता हुआ, जलावर्त में चक्कर काटता हुआ, शस्त्र-यन्त्र में रखा हुआ, तरंग-मालाओं में तृणा-तुल्य बहता हुआ, पर्जन्य वायु में असीम जलप्रवाह के साथ समुद्र में गिरता हुआ, चक्रावर्त रूप अन्ततः आकाश छिद्र में गिरता हुआ तथा पृथ्वी को उलटा-पलटा होता हुआ अनुभव करता है। ऊपर उठते हुए, नीचे गिरते हुए अस्थिर हो जाता है। निश्वासों के श्रवण से उसके इन्द्रिय-रूपी सब व्रण उद्भ्रान्त हो जाते हैं। इन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं। कल्पना-शक्ति नष्ट हो जाती है। उसे मालूम होता है जैसे उसकी जिह्वा खीच ली गई है। उन्मत्त-तुल्य उसे चारो ओर भयंकर ध्वनियां सुनाई पड़ने लगती हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान का कुछ ज्ञान नहीं रहता। वह घोर अन्धकार में डूब जाता है।'

'जगदम्बिके !' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'मस्तक, रस्त, याद, गुह्य, नाभि, हृदय, प्रभृति अष्टागों से सम्पन्न होने पर, इस शरीर को व्यथा, मोह, मूर्च्छा, भ्रान्ति, व्याधि और अचेतनावस्था कैसे उपस्थित होती है ?'

'भद्रे !' देवी ने उत्तर दिया : 'जीव स्वयं चित्त-परिकल्पित स्व-संकल्प-स्वभाव-जनित दुःखों को भोग करता है। जिस समय नाड़ियाँ व्यथा के कारण प्रतप्त पित्तादि रस-पूरित होकर, अपने संकोच एवं विकास द्वारा विषमतापूर्वक खाए और पीए गए पदार्थों को ग्रहण करती हैं, तो शरीर के समान वायु पदार्थों के रसों के समीकरण की अपनी क्रिया त्याग देती है। वायु जब नाड़ियों से बाहर नहीं निकलती, और बाहर से उनमें नहीं आती, तो नाड़ियाँ व्यापार शून्य हो जाती हैं। चक्षु आदि निस्पन्द हो जाते हैं। इन्द्रिय ज्ञान समाप्त हो जाता है। वायु-संचार के निश्चेष्ट हो जाने पर मनुष्य मृतक हो जाता है। मैं जन्म ग्रहण करूँगा, मैं मरूँगा, इस प्रकार की प्राक्तन चिरसंकल्प-रूप नियति मृत्यु का कारण होती है। मैं अमुक स्थान पर, अमुक रूप में रहूँगा, इस प्रकार के सृष्टि प्रारम्भ सम्भूत संकल्प माया-शक्ति का नाश नहीं होता। आदि सर्ग-सम्भूत संवि द् नामक ज्ञान स्वभाव से भिन्न नहीं है। संविद् स्वभाव रूप होने के कारण, जन्म तथा मृत्यु से भिन्न नहीं है।'

'लीले !' देवी ने पुनः कहा। 'नदी का जल किसी स्थानपर आवर्तयुक्त, किसी स्थान पर कलुषित और किसी स्थान पर निर्मल रहता है। चेतन भी कहीं साधनाओं द्वारा निर्मल और कहीं जीव धर्म राग-द्वेषों के कारण कलुषित हो जाता है। जिस प्रकार लम्बी लताओं के बीच-बीच में गाँठें होती हैं, उसी प्रकार चेतन सत्ता के बीच-बीच में जन्म एवं मृत्यु स्वरूप ग्रन्थि समूह है। किन्तु, वास्तव में चेतन न कभी मरता है और न जीता। यह प्रपंच स्वप्नवत् है। केवल भ्रान्ति के कारण प्रतीत होता है। प्राणी चेतन मात्र है। उसका कभी नाश नहीं होता। केवल लाखों देहों का नाश होता है। परन्तु अक्षय भाव द्वारा अवस्थित रहता है।

'प्रबुद्धे ! जीव का जन्म एवं मृत्यु वास्तविक नहीं है। आवागमन उसकी वासना का वैचित्र्य मात्र है। वासना चमत्कार के जीवन और मरण

दो नाम दिये गए हैं। केवल नाम से उसका जन्म एवं मृत्यु परिकल्पित होती है। जीव का जन्म नहीं होता, मृत्यु नहीं होती। वह केवल वासना-गर्तों में लुंठित होता रहता है। ज्ञान उदय होने पर वासनाएँ तिरोहित हो जाती हैं। वैराग्यादि साधन-सम्पन्न अधिकारी जीव, इस जगत् प्रपंच को मिथ्या भाव से देखकर, द्वैत-वासना-हीन होकर, सांसारिक भ्रमों से विमुक्त होता है।'

'देवेशि !' प्रबुद्ध लीला बोली : 'प्राणी किस प्रकार मरते तथा किस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, उसे कृपया कहकर, मुझे अनुपम ज्ञान प्रदान कीजिए।'

'भद्रे !' देवी सरस्वती ने कहा : 'नाड़ी निस्पन्द होने पर प्राण वायुओं की विसंज्ञ स्थिति हो जाती है। चेतना-शक्ति का लय हो जाता है। वस्तुतः चेतन शुद्ध एवं नित्य है। इसका क्षय किंवा उदय नहीं होता। स्थावर, जंगम, आकाश, शैल, अग्नि, पवन, प्रभृतादि में चेतन शक्ति विराजती है। केवल वायु-रोध के कारण नाड़ी शान्त हो जाती है। उस समय यह देह जड़ हो जाती है। प्राण वायु अपने कारण-रूप महावायु में लीन हो जाती है। वासना-रहित चेतन आत्मतत्त्व में लीन होता है। वासना के कारण अपने स्थान में उसे परलोक-गमन आदि का भ्रम होता है। यह सूक्ष्म चेतना पूनर्जन्म की बीजभूत वासना-विशिष्ट होकर, जीव नाम से सम्बोधित होता है। उस जीव को व्यावहारिक दृष्टि से प्रेत कहते हैं। पुष्प की सुगन्ध के समान, चेतन में जीव-वासना मिश्रित रहती है। जीव प्राक्तन देहादि दृश्य त्याग कर, अन्य दृश्य देहादि दर्शन प्रवृत्त होता है। उस समय वह स्वप्न तथा मनोरथ तुल्य, स्वयं परलोक-गमन, परलोक तथा वहाँ के भोग्यादि वासनामय नाना आकारों को धारण करता है। उस प्रदेश में जीव पूर्व जन्म के समान, जिस समय स्मृति होती है, उस समय मरण काल की मूर्छा के पश्चात्, अन्य शरीर का अनुभव करता है। आकाश, पृथ्वी तथा समस्त विश्व मृत मनुष्य की आत्मा में आकाशीय मेघ-घटा तुल्य दिखाई पड़ते हैं। उन्हें न देखकर, वह केवल गृहाकाश देखता है।'

'देवेशि !' लीला ने जिज्ञासा की : 'प्रेत का उल्लेख आपने किया है। वे कितने प्रकार के होते हैं ?'

'सुन्दरी !' देवी सरस्वती ने कहा : 'प्रेम छः प्रकार के होते हैं। वे स्थूल पापी, सामान्य पापी, मध्य पापी, सामान्यधर्मा, मध्यधर्मा तथा उत्तमधर्मा होते हैं। इसमें किसी के दो तथा तीन उपभेद होते हैं। कोई महापातकी पाषाण की तरह जड़ीभूत होकर, एक वर्ष तक मरण-मूर्छा का अनुभव करता है। कुछ काल पश्चात् प्रबुद्ध होने पर वासना-जठर में प्रवेश करता है। नरक-दुःख भोगता है। शत-शत योनियों में जन्म ग्रहण करता, कष्ट भोगता रहता है। कदाचित् इनसे निवृत होकर निर्वाण प्राप्त करता है। कोई मरण मोह के पश्चात् दुःखपूर्वक जड़ पदार्थ, वृक्षादि योनियों का भोग करते हैं। अपनी वासनानुरूप, नरक-दुःख का भोग करते हुए, भूतल में नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। मध्यम पापी मरण-मूर्छा के पश्चात् कुछ काल तक शिला जठर की तरह घनी मूर्छा किंवा जड़ता का अनुभव करते हैं। कालान्तर में प्रबुद्ध होकर, तिर्यंगादि योनियों में भ्रमण करते हुए संसार में आते हैं। सामान्य पापी मृत्युपरान्त के समान देह का अनुभव करते हैं। तत्काल जन्ममृत्यु का स्मरण करते हैं।

'महापुण्यात्मा मरण-मूर्छा के पश्चात् स्वर्ग तथा विद्याधर लोक का अपनी स्मृति द्वारा अनुभव करते हैं। तत्पश्चात् अपने कर्म-फलानुसार भोग करते हुए, मानव-लोक में जन्म ग्रहण करते हैं। मध्यम धर्माव-लम्बी मरण-मोह के पश्चात्, व्योम वायु से चालित होकर औषधि प्रधान चैत्ररथादि वन में किन्नरादि के शरीर में गमन करते हैं। वहाँ अपने पुण्य कर्मों का फल भोग कर वायु, वर्षा आदि द्वारा पृथ्वी पर अन्नादि में प्रवेश कर अन्न बनते हैं। वे मानवों के हृदय में खाद्य रूप से प्रवेश कर रेतस बनते हैं। और कालान्तर में स्त्रियों के गर्भ में रहकर जन्म ग्रहण करते हैं।

'भगवती !' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'प्रेत होने पर मनुष्य क्या व्यवहार करता है ?'

'शुभे !' देवी सरस्वती बोलीं : 'मृत्यु-मूर्छानन्तर वह विचार करता है कि काल-पाश लिए यमदूत आए हैं। यमभट हमें ले जा रहे हैं।

श्राद्धादि से तृप्त किया गया हूँ। एक वर्ष में यमपुर जा रहा हूँ। महा-पुण्यात्मा विचार करते हैं। देवलोक से विमान आया है। स्वर्गोद्यान हमारे कर्मों के कारण बारंबार प्राप्त होते हैं। महापापी हिमानी, काँटा तथा खड्ग के समान तीक्ष्ण धार वाले पत्तों से पूर्ण वन, जो दुष्कर्मों के कारण प्राप्त हुए हैं, अनुभव करते हैं। मध्यम पुण्य करने वाले अनुभव करते हैं, आनन्दपूर्वक पैदल चल रहे हैं। मार्ग शीतल है। हरित दूर्वादिलपूर्ण है। स्निग्ध छायामय है। स्थान-स्थान पर वापियाँ बनी हैं।

'मध्य पापी अनुभव करते हैं, यमपुरी पहुँच गया हूँ। यमराज के सम्मुख उपस्थित हूँ। चित्रगुप्त बैठे हैं। मेरे अपराधों का विचार किया जायगा। यमराज ने मुझे कर्म भोग निमित्त अमुक दिशा में जाने की आज्ञा दी है। मैं स्वर्ग में जाता हूँ। नरक में जाता हूँ। स्वर्ग का भोग करने के पश्चात् नरक जाना होगा। यम द्वारा निर्दिष्ट पशु आदि योनियाँ भोग कर संसार में पुनः जा रहा हूँ।'

'अम्बिके!' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'क्या उस समय हमारा शरीर यम-दण्ड भोगने के लिए इसी रूप में रहता है?'

'भद्रे!' देवी ने कहा : 'उस समय शरीर तथा इन्द्रियाँ नहीं रहतीं। इसी अवस्था में भुक्त अन्नादि द्वारा शरीर में रेतस् बनता है। माता के उदर में गर्भ बनता है। अपने पूर्व कर्मानुसार बालक बनकर जन्म ग्रहण करता है। मोक्ष न होने तक जीव इसी प्रकार योनियों में भ्रमण करता रहता है।'

'देवि!' प्रबुद्ध लीला ने कहा : 'सृष्टि का सर्वप्रथम भ्रम किस प्रकार होता है कृपया बताइए?'

'सुभ्रु!' देवी ने कहा : 'पृथ्वी परमार्थ घन है। परमार्थ घन नभ है। परमार्थ घन शैल हैं। परमार्थ घन द्रुमादि हैं। तुम जो कुछ देखती हो वह विशुद्ध चैतन्य है। विशुद्ध चेतन, इन सब मायिक प्रतिभासों में माया के प्रभाव के कारण उदित होता है। चेतना-प्रचुर ईश्वर सर्व-व्यापी है। वह जिस स्थान में, जिस रूप में उदित होता है, आज भी वह उसी प्रकार स्थित है। स्वप्न-संकल्पवान् मनुष्यों की तरह, जीव समष्टि रूप

प्रजापति होकर, सृज्य संकल्पमान होकर, लोक रूप विवर्त से स्फुरित हुआ है प्रजापति ईश्वर का यह पहला संकल्पित रूप है।

'संकल्प-जनित स्फुरण-स्वरूप पदार्थों का प्रथम विवर्त प्रतिबिम्ब की तरह था। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ, वह आज उसी रूप में स्थित है। देहों के छिद्र स्थानों द्वारा प्रविष्ट हुआ वायु, शरीर में चेष्टा उत्पन्न करता है। सृष्टि के आदि में, जंगम प्राणियों में, इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई। परन्तु वृक्षादि चेतन होते हुए भी चेष्टा-शून्य हैं। उन्हें स्थावर कहा जाता है।

'चिदाकाश प्रतिबिम्बित होकर आविर्भूत औपाधिक जीव विभाग करता है। वह अंश चेतन किंवा संवित् नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह अचेतन है। बुद्धि द्वारा अनुप्रविष्ट वह चिदाकाश नगर रूप शरीर प्राप्त करता है। चक्षुषादि गोलक स्थान प्राप्त करता है। चक्षुषादि बुद्धि वृत्ति द्वारा बाह्य पदार्थों का अनुभव करता है। किन्तु चक्षुषादि इन्द्रियाँ चेतन नहीं हैं। सब वस्तुओं का व्यवस्थापक चित्त संकल्प है। चित्तसंकल्प विशृंखलता का कारण है। शून्याकार चित्त संकल्प शून्य आकाश, भूमाकार चित्त संकल्प भूमि और जलाकार चित्त संकल्प जल है। स्थावर संकल्प द्वारा स्थावर तथा जंगम संकल्प द्वारा चित्त जंगम होता है।

'अन्तःकरण-स्थित संवित ने वृक्षों को, पर्वतों को, जड़नाम आदि रूप देकर भेदों की रचना की है। चित्त शक्ति जिन रूपों की संकल्प करती है, वे उसी रूप में स्थित होते हैं। वृक्ष, शिला, तृणादि उसी रूप से भावित होते हैं। जड़ चेतन नामक दो पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं। आदि सृष्टि में जड़ और चेतन के सत्ता-सामान्य में भेद नहीं था। वृक्ष, उपलादियों में जो उनका संविद निहित है, वह बुद्ध्यादि द्वारा कल्पित है। वास्तविक नहीं है। उनका रूप तथा नाम, उनके संज्ञा किंवा संकेत के अतिरक्त और कुछ नहीं है।

'आन्तरिक संवित् बुद्धि का रूप धारण करती है। बुद्धि ने विविध अर्थ तथा नाम वाचक, कीट, पतंग, कृमि, शब्दों की कल्पना, उनके रूप भेदों

के कारण किया है। चित्त परमार्थ रूप संस्थावर तथा जंगम दोनों में स्थित है। जंगम में वायु-स्पन्दन द्वारा चेष्टाएँ होती हैं। स्थावर स्पन्दन-शून्य होने के कारण चेष्टाहीन प्रतीत होता है।'

प्रबुद्ध लीला गम्भीर हो गई। विचार करने लगी। देवी सरस्वती ने उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए कहा :

'लीले! देख!! राजा विदूरथ की जीवन-लीला समाप्त हो रही है।'

'देवेशि!' प्रबुद्ध लीला ने जैसे जागते हुए कहा।

'देखा जाय यह किस मार्ग द्वारा शव-मंडप में जाता है।'

'वत्से!' देवी ने कहा : 'यह चिन्मय जीव, 'मैं दूर ऊपर परलोक में जा रहा हूँ', भावन करता हुआ अपने अन्तरस्थ वासनामय पथ का पथिक बनकर जायगा।'

:o: :o: :o:

पुष्प-समाच्छादित वसन्त ऋतु की तरह मनोहर, सुरभित, शीतल राजा पद्म के मन्दिर में देवी सरस्वती तथा प्रबुद्ध लीला ने प्रवेश किया। मन्दार, मुकुन्द मालाच्छादित राजा पद्म, शववत् अपनी पूर्वावस्था में पड़ा था। दोनों ने देखा। अप्रबुद्ध लीला पद्म के शव के समीप अलंकृत बैठी थी। वह बाएँ करतल पर चिबुक रखे थी, दाहिने हाथ से चामर डुला रही थी।

'देवी!' प्रबुद्ध लीला ने पूछा : 'मेरा यहाँ शरीर था वह क्या हुआ? मैं समाधि में कब तक लीन रही?'

'वत्से!' देवी ने कहा : 'तुम समाधि में इकतीस दिन स्थिर रही। जिस समय तुम ध्यानस्थ हुई उस समय तुम्हारा पुर्यष्टक विदूरथ की सृष्टि में विचार रहा था। उस शरीर के प्रति तुम्हारी वासना का जब लोप हो हो गया तब तुम्हारा वह शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ा। लोगों ने तुम्हें मृत समझा। चन्दन की चिता रचायी गयी। घृत से वह तर की गई। तुम्हारा दाह संस्कार कर दिया गया। तुम अपने पूर्व रूप को इसलिए प्राप्त करोगी कि तुम्हें लीला के शरीर का बोध हुआ है। अपने सत्य

संकल्प के कारण, अपने वासनानुसार, जिस प्रकार अनुभव करोगी, उस प्रकार का रूप तुम्हें प्राप्त होगा। देखो, अप्रबुद्ध लीला हम लोगों को देखेगी।'

अप्रबुद्ध लीला ने देवी सरस्वती तथा प्रबुद्ध लीला को देखा। देवी को सिंहासन पर बैठाया। उसकी विधिवत् पूजा की।

'देवी!' अप्रबुद्ध लीला ने सरस्वती के चरणों की वन्दना करते हुए कहा: 'आपके प्रसाद के कारण यहाँ आ सकी हूँ। देवि! आपकी जय हो।'

'शुभानने!' देवी ने पूछा: 'तुम यहाँ किस प्रकार आई?'

लीला ने राजा पद्म के शव तक पहुँचने का वृत्तान्त कह सुनाया।

'लीले!' देवी बोली: 'राजा की जीव कला को, राजा के शरीर में, उसकी नासिका द्वारा प्रवेश करती हूँ।'

देवी ने नासिका द्वारा जीव कला राजा के शरीर में प्रवेश किया। राजा का शरीर कान्तिपूर्ण हो गया। अंगों और प्रत्यंगों में प्राण वायु का संचार होने लगा। वसन्त ऋतु के उत्फुल्ल पुष्पों-तुल्य इन्द्रियाँ खिल गयीं।

राजा पुष्प-शय्या से स्वतः उठकर बैठ गया। उसने अपने सम्मुख दो लीला को देखकर साश्चर्य पूछा, 'तुम कौन हो?'

'राजन्!' प्रबुद्ध लीला बोली: 'मैं आपकी पूर्व रानी लीला हूँ। शब्द के साथ जिस प्रकार अर्थ रहता है, उसी प्रकार मैं सर्वदा आपके

योगवासिष्ठ रामायण: उत्पत्ति प्रकरण: सर्ग १५, ६०

विदूरथ: पुराणों में कई विदूरथों का उल्लेख आया है। वे सब एक ही व्यक्ति नहीं थे। निम्नलिखित सन्दर्भ अप्रासंगिक नहीं होगा:—

१. पौरववंशी सुरथ का पुत्र विदूरथ

पुराण—विष्णु—४ : २० : ३
वायु—९९ : २३०
भागवत—९ : २२ : १०
हरिवंश—३३ : ३

साथ रही। कभी आपसे अलग नहीं हुई। जिस समय आपकी मृत्यु हुई थी, उस समय मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह होने के कारण, मेरी प्रतिबिम्बस्वरूप वह लीला, आपको प्रतिभासित हुई थी।'

लीला ने समस्त कथा राजा को सुनाई। राजा दौड़ कर देवी सरस्वती के चरणों पर गिर पड़ा।

'देवि !' राजाने निवेदन किया : 'हम पर आपकी असीम अनुकम्पा है। कृपया मोक्ष तथा भोग दोनों प्राप्त करने की शक्ति प्रदान कीजिए।'

देवी ने राजा के मूर्धा पर वरदहस्त रख कर कहा, 'एवमस्तु।'

---

२. वृष्णि वंशी चित्ररथ का पुत्र स्वफल्क का भ्राता
पुराण भागवत—९ : २४; २८–२९

३. दन्तवक्र का भ्राता—
पुराण—भागवत—१० : ७८ : ११–१२

४. वृष्णिवंशी भजमान का पुत्र, शूर का पिता—
पुराण—ब्रह्माण्ड—३ : ७१ : १३६
वायु—९६ : २ : १३५

५. क्रोष्ठवंशी दशार्ह का पिता, निवृत्ति का पुत्र
पुराण—मत्स्य—४० : ४०

कर्कटी

'पुत्रि !' ब्रह्मा ने अत्यन्त सूक्ष्म सूची के समान विसूचिका का तप द्वारा जर्जरीभूत शरीर देखकर कहा ।

'भगवन् !' पितामह के चरणों में मस्तक रखते हुए कर्कटी ने कहा । 'मुझे श्यामकर्कटवर्णा, कर्कंढपुत्री, कर्कटी की तपस्या से प्रसन्न होकर, आप ने मेरे इच्छानुसार कर दिया कि मैं अपना भयंकर राक्षसीरूप परित्याग कर लौह बज्रसूचिका तुल्य हो जाऊँ ।,

'वत्से ! स्मरण है ।'

'देव ! उस समय मैंने उक्त वर इसलिए माँगा था कि उन दिनों मुझे अत्यन्त भूख थी । पूर्ण जम्बू द्वीप भक्षण कर जाने पर भी शायद तृप्त न हो सकती थी । एतदर्थ तपस्या की । आपने मुझे यह तुच्छ शरीर देने की कृपा की ।'

'तुम्हें कुछ कष्ट है ?'

'उस समय हिमालय पर आपने यह भी कह दिया था कि, जो दुराचारी होंगे उन्हें मैं मार सकूँगी । 'ऊँ' शब्द उच्चारण करने वालों को मैं स्पर्श न कर सकूँगी ।'

'स्मरण है ।'

'देव ! मैं आपके वर द्वारा इस अत्यन्त स्वल्परूप शरीरसे भीमकाय जन्तुओं का नाश करती हूँ । परन्तु मुझे मिलता है, केवल एक बूँद रक्त । हत्या मैं करती हूँ लाभ दूसरे उठाते हैं । अपने आहार को दूसरे द्वारा ग्रहण करते देखकर मुझे अत्यन्त कष्ट और विरक्ति होती है । तृष्णा-पूर्ति न होने के कारण, मैं जलती रहती हूँ । कष्ट पाती हूँ । सोचती हूँ, इससे अच्छा हमारा पूर्व रूप था । मुझे अपनी इस स्थिति पर बड़ा खेद होता है । एक गृद्ध मुझे खा गया । पचा न सकने के कारण, हिमालय पर उगल गया । मैं उस समय से आपके चरणों का पवित्र ध्यान करती हुई, तपस्या कर रही हूँ ।'

'पुत्रि ! तेरी किस इच्छा की मै पूर्ति करूँ ?'

'भगवन् ! तप द्वारा शान्त हुई हूँ। संशयहीन हुई हूँ। मुझे वर की आवश्यकता नहीं है। किसी इच्छा की कामना नहीं है। इस संकल्पम जगत् की मुझे किंचित् मात्र इच्छा नहीं है।'

'पुत्रि !' ब्रह्मा बोले : 'तुमने तप आरम्भ किया था। उस समय पूर्व शरीर प्राप्त करने का तुम्हारा संकल्प था। तेरा पूर्व संकल्प फलीभूत होगा। तुममें शक्ति उत्पन्न हो गई है। अपने संकल्पों का स्वरूप तुम स्वयं देख अथवा समझ सकोगी। अपने पूर्व संकल्पानुसार, अपना पूर्व शरीर धारण कर, हिमांचल पर विचरण करोगी। तुम्हें अनिश्चित योग प्राप्त हुआ है। यह योग उस व्यक्ति के समान प्राप्त हुआ है, जो वृक्ष की शीतल छाया के निमित्त उसके आश्रय में आकर बैठता है और वृक्ष का फल अनायास उसे मिल जाता है। तुमको छाया और फल दोनों प्राप्त हुए हैं। छायातुल्य तुझे शरीर, संकल्प के अनुसार प्राप्त होगा। फलस्वरूप, तुम विदेह होगी। इस जीवन के पश्चात् जीवन मुक्त होगी।'

'भगवन् !'

'वत्से ! दुःखी न हो। तेरा नाम न्याय बान्धव होगा। तुम पापियों का नाश करोगी। तुम्हें तुम्हारा पूर्व शरीर प्राप्त होगा।'

:o: :o: :o: :o:

'ओह मेरा आहार—।'

वन के घोर अन्धकार को और गम्भीर करती श्यामवर्णा, कर्कटी चली। उसने देखा। किरात देश का नृप अपने मंत्री तथा सेना सहित, जनपदीय दुष्ट-दलन निमित्त, अर्धरात्रि में विचरण कर रहा है। राजा सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित था। अलंकृत था। कर्कटी बोली।

'आप लोग कौन हैं ? कहाँ से आते हैं ? आपका क्या आचार है ? आप हमारे ग्रास हैं। मैं आप लोगों का भक्षण करूँगी।'

'क्यों ?' राजा बोला।

'मैं मूढ़ों का भक्षण करती हूँ। गुणियों को स्पर्श नहीं करती।'

'गुणी कौन है ?' राजा ने हँस कर पूछा।

'गुणी दो प्रकार के होते हैं राजन् !'
'सुनूँ ।' राजा ने मुसकरा कर कहा ।
'गुणवान् और महा गुणवान् ?'
'उनमें अन्तर !'

'अमानी, अहिंसक, अदम्भी, शान्त एवं पुण्य कर्म करने वाले गुणवान् हैं ?'

'और महागुणवान् !'
'ब्रह्मवेत्ता होता है, नृपशार्दूल !'

राजा किंचित् मात्र विचलित न हुआ। उसने कहा—'तुम अपने भौतिक तुच्छ शरीर के साथ कहाँ निवास करती हो ? तुम्हारा गर्जन मुझे भ्रमर-गुंजन से अधिक सुनाई नहीं पड़ता। तुम्हारी काया मायामात्र है। माया की क्षुधा क्या कभी शान्त हुई है ?'

राजा की बातें सुनते ही, विसूचिका ने भयंकर गर्जन किया। विकट स्वरूप धारण किया। उस स्वरूप को देखकर राक्षस एवं पिशाच भयभीत हो जा सकते थे। किन्तु राजा और मंत्री में किंचित् मात्र भय-संचार नहीं हुआ। मंत्री ने कहा :

'राक्षसी ! यदि तू महात्मा है, तो क्रोध कैसा ? क्रोध का परित्याग करो। रूप का आडम्बर तुम्हें शोभा नहीं देता। बुद्धिमान् क्रोध का परित्याग कर, अपने कर्तव्य एवं साधन की ओर ध्यान देते हैं।'

'अबले !' मंत्री ने स्थिर स्वर में कहा—'तुम्हारे जैसे सहस्त्रों मच्छर, हमारे धैर्य रूपी वायु में शुष्क तृण और पल्लव की तरह उड़ गये हैं। प्राज्ञ व्यक्ति क्रोध और रूप साधन को अपने कार्य का अवलम्बन नहीं बनाते। निर्मल बुद्धि एवं समुचित व्यवहार द्वारा, कार्य सिद्ध करते हैं। समुचित व्यवहार द्वारा कार्य चाहे हो अथवा नहीं, इसकी चिन्ता नहीं करते। यही सामंत्रणावलंबन नीति कही गई है। भ्रान्त जनोचित संरम्भ-अवलम्बन अनुचित है। तुम्हारा अभिमत विषय प्रकट होने पर, यदि वह स्वप्न में भी पूरा किया जा सकता है तो, हम पूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे।'

राक्षसी गम्भीरतापूर्वक बोली, 'आप कौन हैं ? सौहार्द भावना का उदय आप के लिए अनायास मेरे हृदय में हो रहा है। निर्मल चित्त व्यक्तियों से अनायास मित्रता हो जाती है।'

राक्षसी !' मंत्री ने कहा : आप किरात देश के राजा है और मैं मंत्री हूँ। तुम्हारे जैसे दुष्ट आचरणवालों से प्रजा की रक्षा के निमित्त रात्रि में निकले हैं। यह राजधर्म है। इस राजधर्म का जो परित्याग करते हैं, वे आग में ईंधन की तरह जल जाते हैं।'

'राजन् !' राक्षसी बोली : 'तुम दुर्मति मंत्री द्वारा वेष्ठित हो। दुर्मति मंत्री द्वारा राज्य-नाश अवश्यंभावी है। सत् मंत्री द्वारा राजा सत् होता है। 'राजा के विवेचनापूर्ण मंत्री-चयन पर प्रजा आर्यभाव धारण करती है। जगत् के गुणों में आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। वही ज्ञान राजा को प्राप्त करना चाहिए। मंत्री के लिए भी वह ज्ञान अभीष्ट है। समदर्शिता एवं प्रभुत्व आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। आत्मज्ञानरहित राजा एवं मंत्री दोनों अयोग्य हैं। यदि तुम में आत्मज्ञान नहीं है तो, प्रजा के लिए अनर्थ है। प्रजा का नाश हो जायगा। इस परिस्थिति में मेरे लिए केवल एक मार्ग शेष रह गया है। आप लोगों को मैं अपना ग्रास बना लूँ। यदि मेरे प्रश्नपिंजर को उत्तरों द्वारा आप लोग विदीर्ण करने में सहायक हो सके तो, हमारे पुत्रवत् स्नेहभाजन होंगे।

'हे राजन् ! आप या आपका मंत्री चाहे कोई भी मेरे प्रश्नों का उत्तर दे। मैं प्रश्नोत्तरकांक्षी हूँ। सज्जनोचित नीति के अनुसार, अभी की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, आप लोग अपने वचनों का पालन कीजिए :

'राजन् !' राक्षसी बोली : 'एक या असंख्य या किस अणु के अन्तर्गत लाखों ब्रह्माण्ड, समुद्र के बुलबुले के समान लय होते रहते हैं ? कौन वस्तु आकाश है और नहीं भी है ? कौन वस्तु किंचित् है और नहीं भी है।

'कैसे आपको अहंभाव प्राप्त हुआ है ? मेरा आत्मबोध कि आप क्या हैं ? मैं क्या हूँ ? कौन गमन करता है ? कौन अवस्थान करता है ? और

नहीं भी करता है ? कौन चेतन होने पर पाषाण-अचेतन है ? चिदाकाश किन विचित्र चित्रों का निर्माण करता है ? अग्निधर्मा होकर भी कौन नहीं जलता ? क्या आप लोग बताएँगे ?'

'हे राजन् ! ! कौन न जलाने वाला होकर भी, निरन्तर अग्नि उत्पन्न करता रहता है ? चन्द्र, सूर्य आदि नक्षत्रों के न रहने पर भी, कौन प्रकाशक तथा अविनश्वर है ? नेत्र-लभ्य होने पर, वह कौन वस्तु है, जिससे प्रकाश प्रतिबिम्बित होता रहता है ? जन्मांध, इंद्रियविहीन, लता, गुल्म, अंकुरादि इन सब वस्तुओं का उत्तम आलोक क्या है ? आकाशादि का जनक कौन है ? सत्ता कौन प्रदान करता है ? यह जगत् किस मणी का कोष है ? वह कौन अणु है, जो तपोरूप होकर भी प्रकाश करता है ? अणु की सत्ता एवं असत्ता क्या है ? कौन अणु से दूर होने पर भी अदूर अवस्थित है ? अणु का पर्वत क्या है ? निमेष मात्र होने पर भी, कल्प क्यों प्रतीत होता है ? क्या कल्प होने पर भी निमेष मात्र होता है ?

'राजन् !' राक्षसी बोली । 'कौंन प्रत्यक्ष असद् रूप है ? कौन चेतन और अचेतन है ? कौन वायु होने पर भी, वायु नहीं है ? कौन शब्द होने पर भी, शब्द नहीं है ? कौन समुदय होने पर भी, समुदय नहीं है ? कौन मैं होने पर भी, मैं नहीं है ? कौन वस्तु महाप्रयत्न के पश्चात् प्राप्त होती है ? वह कौन वस्तु है जो कुछ होने पर भी, पूर्ण दुर्लभ है ? कौन स्वस्थ एवं जीवित रहने पर भी आत्मा से हार जाता है ?

'कौन अणु सुमेरु को नहीं, त्रिभुवन को तृणवत् कर देता है ? कौन वस्तु होने पर भी, शतयोजन-व्यापी है ? कौन वस्तु अणु होने पर भी, शतयोजन में सीमित नहीं होती ? किस अणु के मध्य पर्वत स्थित है ? कौन अणु अणुत्व धर्म त्याग करने पर भी सुमेरु की तरह जात किंवा स्थूल है ? केशाग्र के शत भाग के एक भाग स्वरूप कौन अणु विशाल पर्वत के समान है ? कौन अणु प्रकाश एवं अन्धकार दोनों में प्रदीपवत् प्रकाशकारी है ? सब ज्ञान किस के अन्दर है ? कौन अणु माधुर्य आदि रसविहीन होने पर भी, सुस्वादु है ? कौन अणु सर्वत्यागी होने पर भी, सबको आश्रय देकर रहता है ? कौन अणु आत्माच्छादन में अशक्त

होने पर भी, जगत् को आच्छादित करता है ? प्रलय तिरोहित होने पर भी, किसी अणु द्वारा जगत् पुनः उत्पन्न तथा पुनर्जीवी होता है ? कौन अणु अवयव-शून्य होने पर भी, सहस्रों कर-लोचन आदि वाला है ? कौन अणु महाकल्प है ? कौन अणु का शत कल्पस्वरूप है ?'

राजा और मंत्री दोनों की मुद्रा गम्भीर हो गई। राक्षसी उन्हें लक्ष्य करती हुई पुनः बोली :

'हे राजन् ! ! जीव जगत् के सृष्टिकाल में प्रकाशित होने पर भी किस अणु के कारण सर्वथा अमुदित रहते हैं ? कल्प बीज की तरह, कौन निमेष में स्थित है ? कौन कारकादि व्यापार प्रवर्तन करने पर भी, कारक नहीं है ? नेत्रहीन कौन द्रष्टा दृश्यसम्पादन निमित्त उक्त दर्शन करके, उसी आत्मा का दृश्य रूप दर्शन करता है ? कौन आत्मा को दर्शन एवं दृश्य रूप प्रकाशित करता है ? कौन द्रष्टा, दृश्य, दर्शन को तीन प्रकार से आत्मा में आरोपित करता है ?

'जल-तरंग की तरह कौन वस्तु पृथक् दिखाई पड़ने पर भी पृथक् नहीं है ? किसकी इच्छा जलतरंग की तरह सबसे अलग होकर रहती है ? दिक्-कालादि रूप, अवच्छिन्न, असत् होने पर भी, किसके कारण यह द्वैत दृश्य, जल की तरह, जल के द्रव्यत्व धर्म की तरह, अपृथक है ? कौन आत्म दर्शन, दृश्य दर्शन इस जगत्त्रय को सत् रूप से बीज की तरह मन में धारण कर अवस्थित है ? कौन त्रिकालगामी है ? जिस प्रकार बीज में वृक्ष अवस्थित है, उसी प्रकार नित्य एकरूप किसके बीजभूत, भविष्यत्, वर्तमान यह जगत् रूप विशाल भ्रान्ति अवस्थित है ? कौन अमुदित स्वभाव एवं अपनी एकरूपता न त्याग करने पर भी, बीज जिस प्रकार वृक्ष रूप से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उदित होता है ?'

राजन् !' राक्षसी पुनः बोली : 'जिसके समीप मृणालसूत्र महामेरु की तरह प्रतीत होता है, और मृणाल तन्तु की अपेक्षा अति सूक्ष्म किस वस्तु के अन्दर, कोटि-कोटि मेरु एवं मन्दर अवस्थित हैं ? कौन चिन्मय विश्व का विस्तार करता है ? आपमें वह सार पदार्थ क्या है, जो अतिशय स्पर्धा प्रकाशित करता है, प्रजापालन करता है और वृद्ध जीवों का वध करता है ?

'हे, सुबुद्धि ! राजन् ! ! मंत्रिन् ! ! ! यदि क्रमानुसार आप लोगों ने मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, तो हमारी जठराग्नि में आप बाध्य होकर भस्म होंगे। आप ही नहीं, आपके समस्त जनपद का मैं ग्रास करूँगी।'

'हे ! जलदसन्निभे ! !' मंत्री ने गम्भीरतापूर्वक कहा : 'सिंह जिस प्रकार हाथी का कायाभेद करता है, उसी प्रकार तुम्हारी प्रश्नावलियों का मैं क्रमशः भेदन करता हूँ।'

'हे ! कमललोचने ! !' मंत्री ने संयत भाषा में कहा : 'तुम्हारे शब्द संगीत की मधुर ध्वनि मैंने सुनी है। तुमने परमात्मा की कथा की जिज्ञासा की है। अन्तःकरण से भी अगम्य एवं अनाख्येय आत्माणु अकाश की अपेक्षा सूक्ष्म है। चित्तरूप परमाणु से यह जगत् कहीं असत् रूप स्फुरित होता है। जगत् प्रपंच में केवल आत्मा सत्य है। इन प्रपंचों में, सब कुछ आत्मस्वरूप में, अनुभूत होकर सत्ताधारण करता है। बाहर शून्यता के कारण आकाश है। चित्तरूपता निबंधन में आकाश है। इसे अनन्त अणु कहते हैं। वह सर्वात्मक है। जहाँ कहीं समुदाय है, वह आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

'चिद्अणु एक होकर अनेक प्रतीत होता है। वह केवल प्रतिभा मात्र है। वास्तविकता नहीं है। परमाकाश सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। वह सर्वस्वरूप होने पर भी मनोरूप इन्द्रियों से अतीत है। सर्वात्मक होने के कारण, वह कदाचित् शून्य नहीं है। चाहे वह हो, या न हो, जो बोलता तथा बोध करता है, वही आत्मा है। किसी प्रकार युक्ति द्वारा इस आत्मा की असत्ता प्रतिपादित नहीं की जा सकती। प्रत्यक् रूप में आच्छन्न रहने पर भी, सर्वमय आत्मा प्रत्यक्षगोचर होती है। वह चिन्मात्र अणु मनोरूप होकर किंचित् होता है। परिच्छिन्न रूप मन सब कुछ है। जहाँ वह परिच्छिन्न नहीं होता, केवल निर्मल रहता है, वही अणु एक होने के कारण, आत्मरूप अनुभूत होते हैं।

'वे अनेक अणु इस जगत् को धारण करते हैं। जगत् रत्न के वे कोष हैं। वही अणु चित्तरूप धारण कर, महासागर की लहरियों के समान चित्तरूप होता है। विकल्प रूप यह त्रिजगत् तरंग उद्भूत होता है। वही अणु चित्त, इन्द्रियों से अलभ्य होकर, शून्य-स्वरूप, संवेदनलभ्य होकर आकाश स्वरूप होने पर भी, अशून्य है।'

'हे राक्षसी ! सुनो ! !' मंत्री ने कहा : तुम–'मैं' आदि प्रकार भेद द्वैत, भावना द्वारा उत्पन्न होते हैं। अद्वैत भावना में यह अद्भुत द्वैत भावना नहीं रह जाती। एकमात्र बृहदाकार ज्ञान बल से 'मैं–तुम' का भाव दूर हो जाने पर, केवल आत्मा प्रकट होती है। इस आत्मा के गमन न करने पर भी, योजन शीलव्यापी होकर गमनशील होता है। स्व-प्रकल्पनावत् यह योजनसमूह, इस अणु के अन्दर स्थित ज्ञान होता है। देश एवं काल के सत्तास्वरूप आकाश कोष के मध्य, अवस्थित होकर, यह अणु गमन करने पर भी गमन नहीं करता। प्राप्त होने पर भी प्राप्त नहीं होता। गम्य स्थान इन अणु के अन्दर अवस्थित है। इनका अन्तस्थ महाप्रदेश गम्य है। सब का कर्त्ता अन्तःस्थित है। वह अणु किस प्रकार कहीं आये और जायेगा ?

'जिस प्रकार घड़े में बन्द घटाकाश दूसरी जगह घट रख देने पर कहीं आता जाता नहीं, उसी प्रकार आत्मा कहीं आती जाती नहीं। जिस प्रकार इस अणु से चेतन का चेतनत्व तथा जड़ का जड़त्व अनुभूत होता है, उसी प्रकार यह अणु चेतन और पाषाण दोनों होता है।

'हे निशाचरी ! देख, चेतन एवं पाषाण दोनों चिन्मयाकार आत्मा की सत्ता हैं। वह चेतन होने पर पाषाण नहीं होता। आदि-अन्त-विहीन वही चिन्मात्र परमात्मा, इसी परमाकाश में विचित्र जगत्त्रय रूप चित्त निर्माण करता है। अग्नि की सत्ता आत्मसंविद् से अनुभूत होती है। अतएव सर्वगामी होने पर भी, वह रूपनिर्दिष्ट हो सकती है। वह अदाहक अग्नि और जगत् दोनों के प्रकाश का कारण है। निर्मल गगन में सूर्य उदित होता है। गगन में होने पर भी वह चैतन्यरूप आत्मा है। अतएव आत्मा अग्नि हो सकती है।

'चैतन्यमय आत्मा, सूर्य, चन्द्रमा आदि का प्रकाशक है। अविनाशी है। आत्मप्रभा महाप्रलय के जलदावरण द्वारा भी नष्ट नहीं होती। आत्मा अगोचर है। हृदय-मन्दिर की ज्योति है। सब वस्तुओं की सत्ता है। अनंत प्रकाश है। आत्माणुओं के इन्द्रियातीत होने के कारण आलोक प्रर्वातत होता है। लता, गुल्म, अंकुर, अतीन्द्रिय वस्तु का जो पोषण करता है वही अनुभवात्मक परमात्मा लता, गुल्मादि का उत्तम प्रकाश है।

'काल, आकाश, कृपा, सत्ता सब कुछ में चैतन्य अवस्थित है। अत: चैतन्य स्वामी, कर्त्ता, भोक्ता एवं पिता है। जिन कारणों से, सब आत्मा स्वरूप है, उन्हीं कारणों से, वह आत्मा गगनादि समग्र जगत के स्वाभाविक अस्तित्व का कारण है। वही परमात्म-रूप अणु अपने अणुत्व को परित्याग न करने पर भी, जगत् रत्न की मञ्जूषा की तरह अवस्थित है। जगत्रूप संपुट में होने के कारण आत्मा प्रतीति की वस्तु हो जाती है। उसी परमात्मा स्वरूप की मणि एवं परमात्म मणि यह जगत् है। परम सूक्ष्म होने के कारण दुर्जय है। परमात्मा दुर्जेय होने के कारण तम अर्थात् अन्धकार एवं चिन्मात्र होने के कारण प्रकाश है।'

'शोभने!' मंत्री ने कहा। 'संविद स्वरूप होने के कारण इसका अस्तिव उपलब्ध होता है। जिन कारणों से, वह अतीन्द्रिय है, उन्हीं कारणों से, उसकी उपलब्धि नहीं होती। वन दूर और पास दोनों है। अतीन्द्रिय होने से दूर और चिद्रूप होने के कारण अत्यन्त समीप अर्थात् हृदय में अवस्थित है। अणु के कारण सर्वसंवेदना का हेतु महाशैल रूप है। वही प्रकाशमान जगत् है। ज्ञान है। अतएव उसी में सुमेरु आदि के विद्यमानता की अनुभूति होती है। जिस प्रकार परम सूक्ष्म आत्म-चैतन्य का एकांश, मेरु-मन्दरादि का अस्तित्व अनुभव होता है, उसी प्रकार परम सूक्ष्म परमात्मा अणु होने पर भी महामेरु कहा जाता है!'

'सुनो! विसूचिके!!' निमेष रूप प्रतिभासित होने पर निमेष होता है। कल्परूप प्रतिभासित होता है, तो कल्प होता है। जिस प्रकार

मन में कोटि योजन विस्तृत नगर प्रतीत होता है, उसी प्रकार मन में कल्पव्यापिनी काल-कृया का विलास निमेष मात्र में अनुभूत होता है। जिस प्रकार छोटे दर्पण में महानगर प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार निमेष काल में कल्प प्रतिभासित होता है। निमेष, कल्प, पर्वत, नगर जब चैतन्य स्वभाव के मध्य में हैं, तो क्या वे दो हैं? सब कुछ केवल भ्रान्ति का विलास है। मन में भ्रान्ति के उदित होने पर सत्य असत्य और असत्य सत्य प्रतीत होता है। निमेष भी कल्पस्वरूप प्रतिभासित होता है। फलतः कष्ट काल की दशा लम्बी और सुख की अत्यन्त छोटी प्रतीत होती है।'

'कर्कटी!' मन्त्री ने कहा: 'जिस प्रकार चित्त और देह अचल है, उसी प्रकार आलोक, अन्धकार, दूर-अदूर, क्षण, कल्प सब अभिन्न हैं। इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष हैं। दृष्टि से जो अगोचर हैं, उन्हें अप्रत्यक्ष कहते हैं। जब तक दृश्यज्ञान रहता है, तब तक दर्शन किंवा आत्म-चैतन्य ज्ञान नहीं रहता। जिस प्रकार आभूषण के ज्ञान के अभाव में स्वर्ण का ज्ञान स्थायी होता है, उसी प्रकार कल्पित दृश्य जाल का ज्ञान तिरोहित होने पर, वही एक अद्वय परम निर्मल प्रत्यक्ष ब्रह्म प्रतिष्ठित होता है। वही सर्वस्व हेतु सद्रूप और दुर्लक्ष्य हेतु असद्रूप होता है। वही आत्मा आत्मरूप में चेतन एवं जगत् रूप में अचेतन प्रतीतहोता है। हवा के समान चंचल जगत् चैतन्य से भिन्न और कुछ नहीं है।

'जिस प्रकार प्रचंड आतप का संचरण ही मृगतृष्णा होती है, उसी प्रकार चैतन्य का आधिक्य अद्वैत एवं चैतन्य प्रच्छादन ही जगत् है। सूर्य किरणें जिस प्रकार कांचन रश्मि किरणों का निर्माण करती हैं और उनसे अस्ति एवं नास्ति का द्विभाग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार परब्रह्म की द्वैत सृष्टि से भी, अस्ति-नास्ति द्विभाग उत्पन्न होते हैं।'

'राक्षसी!' मंत्री ने कहा: 'स्वप्नपुरी एवं गन्धर्व नगर तुल्य जगत् असत् है। यहाँ इस बड़े भ्रम के अतिरिक्त और कोई दूसरा भ्रम नहीं है। जगत् में मिथ्यात्व सम्पादन युक्ति विषय का, जो महात्मागण अध्ययन करते हैं, वे ही विमल अन्तःकरण द्वारा सर्वज्ञ व्रह्मा का दर्शन करते हैं। अज्ञान के विनाश हो जाने पर चिदाकाश के अतिरिक्त मिथ्या

सृष्टि का नहीं होता। युक्ति द्वारा निर्मलीकृत चित्त के तत्वज्ञों की दृष्टि में सृष्टि का न आदि है न स्थायित्व। दृश्य ही दर्शन का भेदक है। जहाँ दृश्य ज्ञान लुप्त हो जाता है, वहाँ आकाश एवं दीवार का भेद मिट जाता है। सामान्य तृण से जीवों तक ब्रह्म अनुभव की वस्तु है। हे! निशाचरी!! वही शान्त सर्वमय, अज, अनादि, अनन्त, द्वयरहित, एकमात्र आत्मा ही आभा स्वरूप में सर्वत्र सर्व प्रकार से प्रकाशमान रहती है। उससे भिन्न संसार में कुछ नहीं है।'

'मंत्रिन्!' राक्षसी बोली: 'तुम्हारा उत्तर सुना। शेष प्रश्नों का उत्तर राजा को देना चाहिए।'

'निशाचरी!' राजा ने शान्त मुद्रा में कहा: 'ज्ञानी लोग जिसको जगत् प्रतीत, निवर्तक, उत्कृष्ट इत्यादि सम्बोधित करते हैं, जो समस्त त्यागस्वरूप संकल्पों का विराम स्थल है, जो स्वयं तन्मात्र निष्ठा रूप चित्त संयम का फल कहा जाता है, उसके मायिक संकोच एवं विकार द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है। वेदान्त वाक्य का चरम लक्ष्य, वाणी से अगोचर, अस्ति-नास्ति का मध्यवर्ती, अस्ति नास्ति का सन्निविष्ट, चराचर जगत् जिसकी चित्तमयी, लीला है, स्वयं विश्वात्मा होने पर भी जिसकी परिच्छिन्नता नष्ट नहीं होती मैं समझता हूँ कि, अपने प्रश्न द्वारा तुमने उसी परब्रह्म की आकर्षक एवं मधुर वाणी द्वारा कथा कही है!'

'हे! भद्रे!!' राजा ने स्नेह से कहा: 'नित्य ब्रह्म सूक्ष्म होकर दृष्टि के वायु भाव द्वारा माया विवर्त के कारण, वायु हो जाता है। अतएव परमार्थ दृष्टि से अवायु एवं भ्रम दृष्टि से वायु प्रतीत होता है। तुम स्वयं निष्कर्ष निकाल सकती हो कि वायु शुद्ध चेतन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वही शब्द संवेदन द्वारा शब्द भ्रान्ति तिरोहित होने पर अहंभाव होने पर अहं, एवं भावविहीन होने पर अहं नहीं रह जाता। विद्या के कारण भ्रांति प्रतिभा अवास्तविक और स्वाभाविक प्रतिभा वास्तविकता की हेतु होती है। आत्मा निरतिशय यत्न द्वारा प्राप्त होती है।

'अज्ञान का नाश हुए बिना जन्म-वसन्त आता रहता है। और संसार-लता विकसित होती रहती है। जिस अण-रूप ब्रह्म को आकार

चित् सत्ता कहते हैं, वह आकार अवस्था प्राप्त करने पर दृश्य तुल्य हो जाता है। कहा जाता है कि जीवित है। स्वस्थ है। वही निर्मल चित् ब्रह्म बाहर एवं भीतर मायामय रूप अवलोकन करता है। चित् अणु के अन्तर में जो दृश्य विद्यमान रहते हैं, वे ही बाहर विद्यमान् होते हैं। सर्वशक्तिमान् चित् सृष्टि के आदि काल से जिन भावों द्वारा समुदित होता है, वे ही सृष्टि के पीछे भी परिलक्षित होते हैं।'

'राक्षसी !' राजा ने कहा : 'प्राथमिक संकल्प को नियति कहते हैं। चित् अपने जिस रूप में जहाँ अवस्थित रहता है, उसी रूप-विषय को देखता है। सूक्ष्मतम चित् अणुओं द्वारा समस्त जगत् परिपूरित है। वे अणु सर्वज्ञ, अनादि, रूपादिविहीन लक्षादि योजन तक भी सीमित नहीं रहते। जिस प्रकार कपटी, लम्पट कटाक्षादि द्वारा युवती को वशीभूत करता है, उसी प्रकार चिदात्मा उपाधि चेष्टानुसार पर्वतों एवं तृष्णादि विशिष्ट जगत् को नचाता है। अनन्त अणु ब्रह्म अपने ज्ञान द्वारा कपड़े की तरह मेरु आदि को लपेट कर अवस्थित है। अणु चित्कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न है। अतः एव महाशैल की अपेक्षा भी वृहत् है। मनोरथ रूप होने के कारण अति सूक्ष्म है। वृहत् होकर स्थूलतमाकृति ऊँचा और जीव होकर केशाग्र के एक भाग से भी सूक्ष्म है।'

'हे ! निशाचरी ! !' राजा ने सम्बोधन किया : 'पर्वत के साथ साँप की तुलना नहीं की जा सकती। शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आकाशात्म परमात्मा के परमाणु की तुलना नहीं हो सकती। अणु एवं परमाणु द्वारा उसे जो संबोधन किया जाता है, वह प्रयोग मुख्य नहीं, गौण है। परमाणु दुर्लक्ष्य है। परमात्मा भी दुर्लक्ष्य है। अपरिच्छिन्न परमात्मा का परिच्छिन्नतम परमाणु भी, अणु शब्द द्वारा प्रयोजित होता है। माया परमात्मा का अणु सृजन करती है। जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषणों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार परमात्मा की नाना सृष्टि होती है। परमात्मा-स्वरूप प्रदीप अन्धकार एवं प्रकाश दोनों में ही प्रकाश प्रस्फुरित करता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में शक्ति नहीं है कि वह स्वतः प्रकाश उत्पन्न कर सके।

'सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी जड़ हैं। आत्मा के अतिरिक्त सभी पदार्थ असत् हैं। आत्मा की सत्ता सभी पदार्थ स्वीकार करते हैं। आत्मा के प्रमाण एवं अनुभव परस्पर विरोधी हैं। जो शुद्ध एवं केवल सत्य है, वही आत्मा है। चित्त में अवस्थित रह कर आत्मा भीतर और बाहर प्रकाश की कल्पना करती है। चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्नि के तेजों में अन्तर नहीं है, बल्कि उनके वर्णों में है। वे जड़ हैं। अतएव उनमें अपना कोई प्रकाश नहीं है। काला घनीभूत कुहरा मेघ है। कुहरा एवं बादल में जिस प्रकार अन्तर है, उसी प्रकार प्रकाश एवं मेघ में अन्तर है। समस्त जड़ोपलब्धि का एक भाग निमित्त चिद्रूप सूर्य है। वह पदार्थों का अस्तित्व प्रमाणित करता है। उसके न रहने पर कुछ का न रहना प्रतीत होता है। वही चित्स्वरूप आदित्य रात-दिन भ्रमण करता हुआ, पाषाण तक को प्रकाश प्रदान करता है। वही त्रिलोक को प्रकाशित करता है।'

'शुभे!' राजा ने कहा : 'शरीर तम-स्वरूप है। चैतन्य आलोक इसका विनाश नहीं, प्रकाश करता है। प्रथम शरीर के परे, जगत् को प्रकाशित करता है। सूर्य अपने प्रकाश द्वारा कमलादि को उत्फुल्ल करता है। ठीक उसी तरह चित् भी शरीर का तम तिरोहित करता हुआ, उसे प्रकाशित करता है। सूर्य रात्रि-दिन का कर्त्ता है। चित् भी सत् एवं असत् सृष्टि का कर्त्ता है। वह अपने रूप का ही दर्शन करता है। वसन्त ऋतु पुष्प, फल एवं वासन्ती वायु में रहता है। चिद् अणु उसी प्रकार समस्त ज्ञान में विद्यमान् रहता है। वसन्त आगमन द्वारा सौन्दर्य-परम्परा का उदय होता है, उसी प्रकार सभी अनुभव चिद् अणु द्वारा उत्पन्न होते हैं। परमात्मा रसादि वाहित है। रसादिविहीन होने पर वही सब रसों की उत्पत्ति का हेतु होता है। निःस्वाद होने पर भी, स्वाद ग्रहण करता है। रसों की उत्पत्ति जल से होती है। वही चिन्मय सर्वत्यागी एवं सब पदार्थों में अवस्थित है। यही कारण है कि कहा जाता है कि वह सबका आश्रय है। उसी के स्फुरण द्वारा जगत् की सत्ता एवं अस्फुरण द्वारा जगत् की असत्ता होती है। अतएव उसका स्फुरण सब पदार्थों का आश्रय है।'

'कर्कटी!' राजा ने कहा : 'हाथी दूर्वादल में छिप नहीं सकता। आकाशात्मा परब्रह्म अप्रकाशित नहीं हो सकता। वासन्ती रस के उद्बोध

से वन अपूर्व श्री धारण करता है। उसी प्रकार जगत् के लय हो जाने पर भी चित् परमाणु का अवलम्बन कर सजीव रहता है। वासन्ती वनोल्लास-तुल्य, चित् सत्ता द्वारा जगत् सर्वदा समुल्लसित रहता है। पर्वत और गुल्म वसन्तकालीन रस से भिन्न नहीं हो सकते। तुम भी उस चिन्मय से अभिन्न नहीं हो। बाल्य एवं वार्धक्य स्वप्नकाल में एक दिन में देखा जाता है। कल्प एवं कोटि कल्प का अनुभव एक निमेष में हो सकता है। मैं भोजन कर लूँगा, इस प्रकार के ज्ञान तथा स्वप्नभूत मरण की तरह निमेष कल्प हो जाता है। प्रलय काल में जगत् परमाणु में अवस्थित हो जाता है। जिस पदार्थ में जो वस्तु होती है उसी के द्वारा उसका आविर्भाव होता है। साकार पदार्थ विकार के कारण दृश्यगत होते हैं। निराकार द्वारा कुछ प्रतीत नहीं होता। विशाल वृक्ष जिस प्रकार बीज में रहता है, भूत, वर्तमान, भविष्यत् कालत्रय विशिष्ट जगत् परमाणु में अवस्थित रहता है। चावल, धान द्वारा वेष्टित रहता है, उसी प्रकार निमेष एवं कल्प दोनों अणुरूप आत्मा में, एक देश में, आश्रय लेकर, उसी से वेष्ठित होकर रहते हैं। आत्मा-रूप परमाणु द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है। किन्तु जहाँ विशुद्ध चित् है, वहाँ भोग सम्बन्धादि-विहीन होकर रहता है। अतएव परमार्थ दृष्टि द्वारा वह जगत का न भोक्ता है, और न कर्ता।'

'हे निशाचरी!' राजा ने कहा: 'जगत हेतु वही चित् उपशब्द घन द्वारा व्यवहृत होता है। दृश्य योग सिद्धि निमित्त, वही चिद्अणु आंतरिक चित्त को चमत्कृत कर बाह्य रूप प्रकट करके निमेष मात्र होने पर भी सबका दर्शन करता है।'

'विसूचिके!' राजा ने सम्बोधन किया: 'साधकों की शिक्षा निमित्त ब्रह्म से भिन्न कुछ न होने पर भी अन्तस्थ, बहिस्थ इत्यादि कला कल्पित की गई है। अतएव पूर्ण स्वभाव परमात्मा की पदार्थान्तर में सत्ता असम्भव है। अस्तु, यह जानना आवश्यक है कि जो द्रष्टा है वही दृश्य है अर्थात् स्वयं ही स्वयं को देखता और दिखाता है।'

'राक्षसकन्ये!' राजा ने गम्भीरतापूर्वक कहा: 'आत्म-लोचन ही प्रकृति-लोचन है। वही देखता है। जड़ आँखें केवल द्वार हैं। दृश्य ग्रहण

की साधन हैं। चैतनरूप दृष्टि, वासना-भाव-विहीन, अपने वपु को दृश्य रूप कल्पना करके, दृष्टरूप समुदित होता है । पुत्र के अभाव में पितृत्व एवं द्वित्व के अभाव में एकत्व सम्भव नहीं है। उसी प्रकार दृष्टत्व न होने पर दृश्यत्व नहीं होता। सुवर्ण-शक्ति-निर्मित कटकादिवत् शक्ति द्वारा द्रष्टा एवं दृश्य निर्मित सुवर्ण कटक को बनाता है, न कि कटक सुवर्ण को उत्पन्न करता है। दृश्य समुदय जगत् का कारण है। जिस प्रकार सुवर्ण में कटक की भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार चित् जगत् भाव प्रकाशन में, शक्त होने पर, मोह कारण भूत असत् दृश्य को सत्-स्वरूप कल्पना करता है। दृश्य ज्ञान के विचलित होने पर दृष्ट सत्ता भासित होती है। चिद् वपु आत्मद्रष्टा होने पर भी दृश्य दर्शन करता है। द्रष्टत्व काल में, दृश्य दर्शन आवश्यम्भावी है। सभी दृश्यों में द्रष्टा दिखाई देता है। मैं द्रष्टा हूँ। यह ज्ञान उस समय विलुप्त हो जायगा जब दृश्य ज्ञान का तिरोधान होगा।

'जिस समय द्रष्टा और दृश्य दोनों ज्ञानों का अभाव हो जाता है। उस समय वाक्य पथातीत स्वस्थ तत्त्व मात्र अवशिष्ट रह जाता है। दीपक जिस प्रकार दूसरे और अपने को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चित् वपु परमात्मा स्वयं अपने को, दृष्टत्व ज्ञान को, एवं दृष्टत्व को, प्रकाशित करता है। प्रमातृत्व, प्रमाणत्व एवं प्रमेयत्व, इन तीनों ज्ञानों का तत्त्वज्ञान ग्रास करता है । अर्थात् तत्त्व ज्ञान के उदय होने पर उक्त, ज्ञानत्रय का तम दूर हो जाता है। कोई भी भौतिक पदार्थ जल एवं पृथ्वी से भिन्न नहीं है। इसी तरह स्वतः सिद्ध अणु से कुछ भी भिन्न नहीं है। वह सर्वगामी एवं सर्वानुभवात्मक है । एकत्वानुभव रूप की युक्ति द्वारा आत्मा, अद्वैत विख्यात होती है। उसकी इच्छा से भी पार्थक्य होता है। तरंग सागर-जल में रहती हुई भी जल से अपृथक् है, उसी तरह सब आत्मा में रहते हुए भी उससे अपृथक् हैं।

'सुनो! सूचिके!! अविच्छिन्न केवल परमात्मा की एक सत्ता है। सब की आत्मा एवं स्वतःसिद्ध साक्षात् अनुभव है। सबका चेतन है। असत् है। चेतनत्व रूप सत्य एवं इन्द्रियगोचर रूप असत्य है। चिद्रूपी होकर असत् का प्रकाशक है। द्वैत एवं अद्वैत उस महदात्मा में वर्तमान

हैं। अतएव यदि द्वित्व है, तो एकत्व भी हैं। दित्व एवं एकत्व धूप-छाया की तरह एक दूसरे के कारण हैं। अस्तु, 'जहाँ दित्व नहीं हैं, वहाँ एकत्व नहीं है। एकत्व की असिद्धि से दोनों की असिद्धि प्रमाणित होती है। जहाँ तत्त्व है, वहाँ द्वैत एवं अद्वैत है। वही उनका धर्म है। जल का द्रवत्व, वायु का स्पन्दन, आकाश की शून्यता एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। इसी प्रकार द्वैत एवं अद्वैत की ईश्वर के प्रति भावना भिन्न नहीं, अपितु एक है। द्वैत एवं अद्वैत की संज्ञा अनर्थकारी है। दोनों भावों का लोप हो जाता है तो केवल सत्ता रहती है। उसे शास्त्र ब्रह्म कहते हैं। परब्रह्म भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों कालों में वर्तमान रहता है। उसी का स्वरूप, सर्वसाक्षी चिदात्म-रूप, परमाणु से द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य होता है। जिस प्रकार वायु शरीर को स्पन्दित करती है, उसी प्रकार जगदात्मक अणु एवं परमाणु द्वारा शरीर विस्तृत एवं उपसंहृत होता है।'

राजा ने घोर तिमिराच्छन्न वन एवं आकाश में शान्त अवस्थित नक्षत्रों की ओर देखते हुए विरक्त-स्वर से कहा—

'अहो! माया कितनी भीषण है? माया की कैसी विचित्र शक्ति है? परमाणु :के बीच में है। क्या यह कम आश्चर्य की बात है? प्रकृति की सत्ता न होने पर भी, कितना आश्चर्य है कि, परमाणु द्वारा जगत् की सत्ता न होती है। यह असम्भव नहीं है। माया द्वारा सब कुछ सम्भव हो जाता है। यह त्रिजगत् स्वयं भ्रम है। जिस प्रकार घट में रखे बीज में विशाल वृक्ष समाया है, उसी प्रकार परमाणु में समस्त जगत् बैठा है। अपने शाखा, पत्र, पुष्पादि एवं विशाल शरीर का परित्याग न कर, वृक्ष बीज में अवस्थित रहता है। ठीक उसी तरह यह जगत् विशाल रूप एवं द्वैत भाव परित्याग न करके चित् परमाणु में रहता है। चित् परमाणु के अन्तस्थ द्वैतस्वरूप जगत को जो अद्वैत रूप से देखते हैं, वे ही वास्तव में सब कुछ देखते हैं।

'वास्तव में द्वैत एवं अद्वैत कुछ तत्त्व नहीं है। न तो ज्ञात है, न अज्ञात है, न सत्ता है और न असत्ता है। सर्व-स्वरूप चित् जब जहाँ जिस रूप में चित् प्रभाव द्वारा समुदित होता है, उसी समय उसी स्थान

पर वह व्यवहार प्राप्त करता है । परमात्मा परमाणु अनुदित स्वभाव पर भी प्रतिमास के क्रम से चित् रूप उदित होता है। यह प्रपंच विहीन एवं अभिन्न सब को अनित्य रूप अवस्थित करता है। उसी परम तत्त्व द्वारा यह जगत् रूप प्रमुदित होकर जगत् में मरणादि के वशीभूत होता है।'

'हे ! निशाचर-पुत्री ! !' राजा ने कहा : 'परम तत्व जगत् में प्रकाशित हो रहा है। यह तत्त्व त्याग रूपी है । असत् स्वभाव के कारण सर्वत्यागी है। वह स्वतः निर्विकार है। महामेरु परमाणु के निकट मृणाल-दण्ड-तुल्य है। जिन साधनों द्वारा मृणाल देखा जाता है, उनके द्वारा परमाणु नहीं देखे जा सकते। परमाणु आत्मा के निकट महामेरु सदृश है। परमाणु अगोचर होने पर भी बुद्धिगम्य है, किन्तु परमात्मा नहीं है। वह परमाणु की अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म एवं सुदुर्लक्ष्य है । उसी परमाणु के अन्दर कोटि मेरु-मन्दर राशि अवस्थित हैं।'

'हे ! राक्षसी ! !' राजा ने शान्त स्वर से कहा : 'सर्वत्र श्रेष्ठ परमाणु व्याप्त है। परमाणु का कर्तृत्व जगत् है। आकाशीय गन्धर्व नगर-तुल्य विश्व-प्रपंच दिखाई देता है। वह विचित्र एवं विविध होने पर भी शून्य है।'

'धीरद्वय!' राक्षसी प्रसन्न होकर बोली : 'आपने मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया है। आप मुक्त है।'

राक्षसी!' राजा ने दृढ़तापूर्वक कहा : 'मेरे जनपद में विशूचिका रोग का आक्रमण हुआ। यह विशूचिका संहार करती है । हम उसके निवारणार्थ वीर यात्रा निमित्त निकले हैं।'

राक्षसी का मुख उदास हो गया। राजा ने किंचित क्रोध से कहा :

'वह विशूचिका तू है। वह विशूचिका रोग तू ही है । तेरे वचनों का पालन कर, हमने प्रश्नों का उत्तर दिया है। हमने अपना जीवन तुम्हारी दया के कारण नहीं, अपितु ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है। तुम्हारे सम्मुख दो मार्ग हैं । उनमें एक को चुनने पर, तुम्हारे प्राणों की रक्षा हो सकेगी।'

'कहो राजन्!' राक्षसी ने धीरे से कहा :

राजा ने कहा : 'विशूचिके ! या तो तू हिंसा-वृत्ति का त्याग कर, अन्यथा मेरे कृपाण की आज तृष्णा शान्त कर।'

'राजन् !' विशूचिका ने सोचते हुए कहा : 'मैं अहिंसा चुनती हूँ।'

'और तुम्हारा आहार ?' राजा ने हँस कर कहा।

'नरव्रच !' राक्षसी के नेत्र ज्योतिमय हो उठे : दृढ़ स्वर मुखरित हुआ। 'मैं हिमालय में तपस्या करने जाऊँगी। समाधिस्थ हूँगी। समाधि खुलने और भूख लगने पर, हिंसा वृत्ति ग्रहण न कर, परमात्मा-ध्यान करती हुई, अन्न जल के बिना, इस नश्वर शरीर का त्याग करूँगी।'

'शुभे !' राजा बोले : 'मित्रता जीवन का रस है। तुम ईच्छावादी हो। तुम नारी हो। नारीत्व का तुम क्यों त्याग करती हो ? स्त्री का सुन्दर लघु रूप धारण कर, मेरे जनपद में क्यों नहीं रहती ?'

'राजन् !' कर्कटी बोली : 'लघु आकार होने पर भी, संस्कार एवं स्वभाव मैं कैसे बदल सकूँगी ? नारी-रूप धारण करने के पश्चात राक्षसी-स्वभाव बना रहेगा।'

'कल्याणी !' राजा ने विचार करते हुए कहा : 'तुम नारी बनकर मेरे साथ चलो। नारी-रूप से जनपद में रहना। भोजन निमित्त अपराधियों को मैं तुम्हें दे दूँगा। एकान्त में बैठकर उन्हें तुम अपना ग्रास बनाना।'

'लेकिन राजन् !' कर्कटी बोली : 'मैंने अहिंसा-वृत्ति का वरण किया है। मानव अथवा किसी प्राणी की कैसे हत्या कर सकूँगी ?'

'सुबुद्धे !' राजा ने कहा : 'वह हिंसा नहीं है।'

'क्यों ?'

'राजदण्ड द्वारा दण्डित व्यक्ति की हत्या का अपराध नहीं लगता। यह हत्या नहीं रक्षा है।'

'रक्षा ?'

'शुभे ! यह नीति है। राजा को अपराधियों की हत्या किंवा अपराधियों को प्राप्त होने वाले दण्ड द्वारा दुःख एवं कष्ट का ताप नहीं लगता। यही सनातन परम्परा एवं न्यायादेश हैं।'

'कारण ?'

'राजा अपनी स्वार्थ-सिद्धि निमित्त दण्ड नहीं देता। वह साधन मात्र है। अपराधियों के अपराध ही उन्हें दण्ड देते हैं। मनुष्य अपने अपराधों के कारण राजदण्ड द्वारा मरता है। विचार से काम न लेकर अपराधी अपराध करता है। अतएव वही अपराध दण्ड-स्वरूप उनके सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है। उसे दण्ड देता है।'

'राजन् !' राक्षसी प्रसन्न होकर बोली : 'मैं आपके साथ स्त्री-रूप में चलूँगी।'

योग वासिष्ठ रामायण: उत्पत्ति प्रकरण : सर्गः ६८–८४

एन्दव

एक समय की बात है। अखिल सर्ग का संहार लोक-पितामह ब्रह्मा ने किया। एकाग्र मन से कल्प तुल्य निशा व्यतीत की। ब्राह्म मुहूर्त में ब्रह्मा ने यथाविधि सन्ध्योपासना की। प्रजासृष्टि निमित्त उनकी दृष्टि नील गगन की ओर उठी। उस समय न तो अन्धकार था और न तेज।

अचानक वे चकित हुए। सर्ग की कल्पना के पूर्व उस शून्य छोरहीन आकाश में उन्होंने दश ब्रह्माण्डों को देखा। उन ब्रह्माण्डों में उनके ही जैसे दस ब्रह्मा राजहंसों पर आरूढ़ थे।

उन दसों सर्गों में पृथक्-पृथक् समुद्र, मेघ, महानदियाँ, पृथ्वी, देवता, नाग आदि सभी कुछ थे। उनमें ऋतुओं का गमन एवं आगमन हो रहा था। उनमें सात लोक, सात समुद्र, सात द्वीप, सात पर्वत कोलाहल पूर्ण स्फुरित थे।

ब्रह्मा ने अन्तःपुर की नायिका तुल्य अलंकृत पृथ्वी को देखा। उसकी करधनी लोकालोक पर्वत था। समुद्र की उत्ताल तरंगों का रव जिसके अलंकारों के झंकार थे। अन्धकार-खण्ड तुल्य-नील मणि से आभूषित थी। ध्यानादि उसकी अधर-सुधा थे। जनरव जिसके मधुर वाग्विलास थे। उसके कण्ठ में संवत्सरों की तेज एवं अन्धकार तुल्य उज्वल तथा नील कमल की माला थी। विद्युत् तथा नक्षत्र पद्म पुष्पों के पराग थे। चकित पितामह ब्रह्मा ने एक ब्रह्माण्ड के एक सूर्य को सम्बोधित किया।

'सूर्य्य !'

एक ब्रह्माण्ड का सूर्य्य रुक गया। भगवान् को पहचान कर सादर प्रणाम किया : 'भगवन् ! आज्ञा ?'

'मार्तण्ड ! तुम्हारा अस्तित्व बिना मेरी कल्पना के कैसे हो गया है ?'

'देवाधिदेव !' सूर्य ने सस्मित कहा : 'आप सर्वज्ञ हैं।'

'दिवाकर ! शंका होने पर प्रश्न किया जाता है।'

'लोक-पितामह !' सूर्य ने कहा : 'इस दृश्य प्रपंच के नित्य कारण आप हैं। अतएव आप मुझसे क्यों प्रश्न करते हैं ?'

'भास्कर !' पितामह ने कहा : 'मैंने सृष्टि की कल्पना नहीं की थी। उसकी कल्पना करने जा रहा था। मेरी दृष्टि गगन की ओर उठी। मैंने वहाँ सृष्टियों की रचना देखी। उन्हें कार्य करते देखा। बिना मेरी कल्पना तथा संकल्प से उनका अस्तित्व कैसे हुआ ! यह मेरे परम कौतूहल का विषय है ?'

'सर्वव्यापी !' सूर्य ने कहा : 'भगवन् ! आपका और कौतूहल ?'

'भानु !' ब्रह्मा ने कहा : 'मैं निशा-समाप्ति पश्चात् सृष्टि-रचना की कल्पना करने लगा। मुझे चिदाकाश में रची स्थायी सृष्टियाँ दिखाई दीं। मैंने विचार किया। भ्रम होगा। बिना मेरी रचना के सृष्टि-रचना कैसे हो सकती है ? किन्तु यह मेरी भ्रान्ति थी। मैं एक ही नहीं दस सृष्टियाँ देख रहा हूँ। मेरी रचित सृष्टियों-जैसे क्रियाकलाप इन दसों सृष्टियों में हो रहे हैं। मानव शुभ-अशुभ कर्म में रत हैं। कल्प होता है। प्रलय होता है। पुनः सृष्टि-रचना होती है। मै अन्तवाहक दृष्टि द्वारा इन सृष्टियों को देख रहा हूँ। कुछ निश्चय न कर सका। अतएव पूछने का विचार किया।'

'महात्मन् !' सूर्य ने कहा : 'एक विचित्र कहानी है।'

'आदित्य !' ब्रह्मा ने पूछा : 'ये दस सृष्टियाँ कहाँ से उत्पन्न हो गई हैं ? उन्हें उत्पन्न करने वाला कौन ?'

'देवाधिदेव !' सूर्य ने कहा : 'आप ईश्वर हैं। परन्तु आप महात्मा भी हैं। भगवन् ! जम्बू द्वीप के एक कोने में कैलास के तल में सुवर्णजट नामक सुन्दर समतल भूखण्ड है। वहाँ कश्यप-कुलोद्भव ब्रह्मविद् धर्मात्मा शान्त-मना इन्दु ब्राह्मण निवास करता था। प्राण-तुल्य अपनी भार्या सहित वह उस स्वजन-मण्डल में दिनचर्या करता था। जिस प्रकार मरुभूमि तृण न उत्पन्न होने के कारण निष्प्रयोजन होती है, उसी प्रकार सन्तानहीन होने के कारण सुन्दरी भार्या निष्फल-पुष्प तुल्य थी। अत्यन्त शुद्ध सीधी काश लता, पुष्प-फल शून्य होने के कारण महत्ता नहीं प्राप्त करती, वही दशा उस सुन्दरी की थी।

'सन्तानहीनता के कारण वे अत्यन्त खिन्न हो गए। दम्पति ने पुत्रप्राप्ति निमित्त तपस्या का निश्चय किया। निर्जन कैलास-शिखर पर निराहार तपस्या आरम्भ की। दिवस अवसान काल में केवल एक चुल्लू पानी पीते थे।'

'उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर शशि-कलाधर शिव उमा सहित वृषभारूढ़ वहाँ पर आए। शशि कुमुद को जिस प्रकार प्रफुल्लित देखता है, उसी प्रकार उनके हर्षोत्फुल्ल लोचन तुषार-स्वरूप विमल शरीरधारी शंकर पार्वती को देखकर प्रफुल्लित हो गए। पति-पत्नी ने शिव-पार्वती को प्रणाम किया।

'विप्र !' ईश्वर ने कहा : 'वांछित वर माँगो। मैं तुम्हारी तपस्या से संतुष्ट हूँ। मधुमास रसाक्रान्त वृक्ष के समान तुम लोग मुदित हो।

'देवदेवेश !' विप्र ने कहा : 'मुझे महामति दस पुत्र उत्पन्न हों।'

'एवमस्तु !' भगवान् कहकर अन्तर्धान हो गए।

'भगवन् !' सूर्य ने ब्रह्मा से कहा : 'भूतेश के दर्शन पश्चात् दम्पत्ति अपने निवास स्थान पर वापस आ गए। वसुधा नवांकुर से जिस प्रकार सुशोभित होती है, उसी प्रकार इन्दु की भार्या के प्रतिपदा के चन्द्रमा तुल्य कोमल दस पुत्र उत्पन्न हुए। संस्कार-सम्पन्न नवमेघ समान बालक विकास करने लगे। सात वर्ष की अवस्था में उन्हें शास्त्रों का ज्ञान हो गया। शास्त्र-ज्ञाता पुत्र, ब्राह्मण वृत्ति से, परस्पर प्रेमपूर्वक माता-पिता के प्रेममय संरक्षण में बढ़ने लगे।'

'महात्मन् !' सूर्य ने कहा : 'कालान्तर में इन्दु तथा उसकी भार्या का देहावसान हो गया। मातृपितृ-विहीन पुत्रों का मन खिन्न हो गया। उनका घर में मन नहीं लगा। वे कैलास-शिखर पर पहुँचे। वे तार्किक थे। विद्वान् थे। पारस्परिक विचार-विनिमय में वितण्डावाद कर बैठते थे। उनमें एक ने पूछा :

'इस जगत् में परम श्रेय-लाभ किस प्रकार किया जा सकता है ?'

'बन्धुओ !' दूसरा भाई बोला : 'इस समय हमारा कर्त्तव्य क्या है ?'

'संसार दुःखमय है ।' तीसरे भाई ने कहा : 'इस दुःख का मोचन कैसे हो सकेगा ?'

'महत्त्व क्या है ?' चौथे भाई ने कहा : 'महा विभव क्या है ?'

'शुभ क्या है ?' पाँचवें ने प्रकृति की ओर देखते हुए कहा ।

'कल्प में जिसका नाश नहीं होता वह शोभन वस्तु क्या है ?' छठवें ने नील गगन की ओर देखते हुए कहा ।

'विश्व में ऐश्वर्य देखा जाता है। वह साधारण है। क्या राजा को ऐश्वर्य प्राप्त है ?' सातवाँ बोला।

'राजा का ऐश्वर्य ?' आठवें ने व्यंगपूर्वक कहा : 'नगण्य है। सम्राट् का ऐश्वर्य तो हो भी सकता है ।'

'ऊँह', नवें ने उपेक्षापूर्वक कहा : 'सम्राट् से अधिक महेन्द्रत्व है ।'

'वाह !' दसवें ने हँस कर कहा : 'महेन्द्रत्व ! वह तो ब्रह्मा के मुहूर्त काल मात्र स्थिर रहता है। प्रलय में नष्ट हो जाता है।'

'तब तुम्हीं बताओ', प्रथम ने पूछा : 'वह कौन-सी शोभनीय वस्तु है, जिसका प्रलय में नाश नहीं होता ?'

'बन्धुओ !' महामति ज्येष्ठ भ्राता ने गम्भीरतापूर्वक कहा : 'कल्प-पर्यन्त जिस ऐश्वर्य का विनाश नहीं होता, उसे क्या तुम जानना चाहोगे ?'

'अवश्य।' ज्येष्ठ भ्राता को नवों भ्राताओं ने घेर लिया। उनकी दृष्टियाँ ज्येष्ठ भ्राता की विवेक-मुद्रा पर फैल गईं।

'वह ब्रह्म तत्त्व है' ज्येष्ठ भ्राता का मुख उठा।

'तात !' एक भाई ने कहा : 'जगत्पूज्य, पद्मासन-स्वरूप दुःखमोचन ब्रह्मतत्त्व को हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?'

'बन्धुओ !' ज्येष्ठभ्राता ने अर्ध-विस्फुटित नेत्रों से कहना आरम्भ किया : 'मैं कहता हूँ, उसका पालन करो। पद्मासीन भास्वान् हम ब्रह्म हैं। हमीं अपने तेज से संसार का सृजन करते हैं। इस ब्रह्म-भावना का एक रूप होकर आप लोग ध्यान कीजिये ।'

'बाढम् ।'

भ्राताओं ने सहर्ष कहा : ज्येष्ठभ्राता के संकल्प का समर्थन किया। वे ध्यानपूर्वक सुनने की मुद्रा में बैठ गए। ज्येष्ठ भ्राता ने कहा :

'मैं ब्रह्म हूँ। उत्फुल्ल कमल-कोश उच्चासन सृष्टि का स्रष्टा हूँ। मैं कर्त्ता हूँ। मैं भोक्ता हूँ। मैं महेश्वर हूँ। शिक्षादि अंग, पुराण प्रभृत्यादि उपांगों सहित, सरस्वती तथा गायत्री युक्त, मूर्तिमान् मैं वेदस्वरूप हूँ। मैं यह मूर्ति हूँ। समस्त वेद महर्षि-तुल्य मेरे याजक हैं। लोकपालों द्वारा परिवृत, सिद्धगणों के संचार से शोभनीय, देवांगनाओं के स्वर से विभूषित, स्वर्ग मेरे अन्दर है। पर्वत, द्वीप सागर एवं अरण्यादि द्वारा अलंकृत भूमण्डल, मेरे कर्ण-कुण्डल की तरह झूल रहा है। दैत्व-दानवों द्वारा भोग्य पाताल-कुहर, सुरबालाओं द्वारा शोभित गगन-कोटर, गृहवत मुझमें स्थित हैं। प्रजा-शोभा-विवर्धन नृपों में श्रेष्ठ त्रैलोक्य नगरी का पालन एवं पावन यज्ञों का कर्त्ता महाबाहु इन्द्र मुझ में स्थित है। दिशाओं को अपने ज्योति-जाल द्वारा परिवेष्ठित कर, रसों का स्रोत तथा ऋतुओं का सर्जक भानु मेरे अन्दर तप रहा है। लोकपालगण गौओं की रक्षा करने वाले गोपालों की तरह विशुद्ध वृत्ति तथा मर्यादा पूर्वक लोक की रक्षा मुझ में कर रहे हैं। जिस प्रकार सागर की तरंगे उन्मज्जित होती हैं, निमज्जित होती हैं, प्रस्फुरित होती हैं, पतित होती हैं उसी प्रकार लोग प्रतिदिन उत्पन्न एवं विनष्ट हो रहे हैं। इनका सृजन मैं कर रहा हूँ। संहार मैं कर रहा हूँ। मैं ही इस आत्मा में भुवनेश्वर-स्वरूप बैठा उपराम को प्राप्त होता हूँ। संवत्सर बीता। युग बीता। कल्प बीता। ब्रह्मा की रात्रि बीती। सृष्टि काल है। संहारकाल है। इन सब कालों में हम अपनी आत्मा में बैठे पूर्णात्मा हैं। परमेश्वर हैं।'

'आदित्य !' ब्रह्मा बोले : 'इस प्रकार विचार कर एन्दवों ने पुनः क्या किया ?'

'पितामह !' सूर्य ने कहा : 'ज्येष्ठ भ्राता के कहने पर इन्दु के दसों पुत्रों ने ब्रह्म की भावना का अवलम्बन किया। कुशासन लगाकर दृढ़ता-पूर्वक बैठ गए। वे सृष्टि आदि की कल्पना अपने को ब्रह्मा समझ कर करने लगे।

ब्रह्मा का संकल्प प्राप्त कर लिया। उनकी तुच्छ मनोवृत्ति तिरोहित हो गई। ब्रह्म-भावना धारण करने के कारण वे ब्रह्म-रूप हो गए।'

'भानु!' ब्रह्मा ने चकित होते हुए पूछा: 'वे कितने दिनों तक बैठ रहे?'

'लोकेश्वर!' सूर्य ने कहा: 'आपके समान वे दृढ़ संकल्प द्वारा जगत का संहार एवं सृजन करने लगे। सूर्य-ताप तथा पवन के थपेड़ों से सूखे पत्तों की तरह उनका शरीर कालान्तर में गिर कर विनष्ट हो गया। वन में गिरा सुन्दर फल बन्दर जिस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक खा जाते हैं, उसी प्रकार मांस भक्षी पशु-पक्षी इन्दु-पुत्रों के लुंठित शरीरों को भक्षण कर गए। उनके स्थूल शरीर के नाश तथा उनके बाह्य कार्यों से विरत होने पर भी, उनकी ब्रह्म-भावना का संकल्प चतुर्युग पर्यन्त स्थिर रहा। प्रलय आया। द्वादश आदित्यों का उदय हुआ। प्रलयकालीन पुष्करावर्त्त मेघ की भयंकर गर्जना हुई। प्रलयकारी वायु बहने लगी। सब कुछ महार्णव में परिणत हो गया। किन्तु एन्दव सृष्टि-रचना एवं संहार में लीन रहे। भगवन्! प्रलय निशा के पश्चात् आप सृष्टि-सृजन तथा संहार करने में निमग्न थे। चिदाकाश-स्थित उन्हीं एन्दवों की दस सृष्टियों को आपने देखा। उन सृष्टियों में एक सृष्टि का कर्म-नियुक्त एक सूर्य मैं हूँ।'

'भास्कर!' ब्रह्मा ने चिन्तनशील मुद्रा में कहा: 'मेरी रचना के पूर्व से ही दस सृष्टियाँ वर्तमान हैं। बोलो! अब मैं और रचकर क्या करूँगा?'

'जगत्पते!' सूर्य ने गम्भीरतापूर्वक कहा: आप निरीह हैं। आप निष्काम है। आप को किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। आपको सर्ग अर्थात् सृष्टि-रचना से क्या प्रयोजन! सृष्टि-रचना आप का केवल मनोविनोद है। देव! सूर्य दिन का संहार कर पुनः दिन की रचना करते हैं, इसी प्रकार सृष्टि करना आपका नित्य कर्म है। यदि आप नित्य कर्म त्याग देंगे तो और कौन कर्म करेंगे? कर्म परित्याग करने

पर आप को इसके अतिरिक्त और क्या मिलेगा कि आपने अपने नित्य कर्म का त्याग किया है । कलंकरहित दर्पण जिस प्रकार अपने प्रतिबिम्ब की क्रिया निरन्तर करता रहता है, उसी प्रकार सत्पुरुष आसक्ति-रहित अपनी क्रिया करते रहते हैं । आपने जिन सृष्टियों को आकाश में देखा है, उन्हें चित् नेत्र से देखा है । वे चिदाकाश में हैं । चर्म चक्षु से नहीं देखा है । जिन सृष्टियों का अस्तित्व चिदाकाश में है, वे चर्म चक्षु से नहीं देखी जा सकतीं । कौन अपनी कल्पना, कौन अपने संकल्प, कौन अपनी मानसिक भावनाओं का दर्शन चर्म चक्षु से कर सकता है । दूसरे के संकल्प, दूसरे की कल्पना, दूसरे की भावनाओं का दर्शन कौन अपने चर्म चक्षु से कर सकता है ? कर्म-इन्द्रियों द्वारा किए गए स्थूल कर्म दिखाई पड़ते हैं । उनका विनाश किया जा सकता है । परन्तु मन द्वारा किए जाने वाले क्रियाकलाप का कौन विनाश कर सकता है ?'

'परमेश्वर !' सूर्य ने कहा : 'अपने मन द्वारा, अपनी सृष्टि की कल्पना करने वाला, जिस प्रकार अपनी कल्पना, अपनी आँखों से नहीं देख सकता, उसी प्रकार दूसरा व्यक्ति भी उनको नहीं देख सकता । कोई दूसरा उनका नाश भी नहीं कर सकता । एन्दव के संकल्प के कारण, उनके चित्त की दृढ़ता के कारण, उनकी सृष्टियाँ स्थित हैं । चित्त के निश्चय द्वारा जो उत्पन्न होता है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता । जीव के मन में जो निश्चय बद्धमूल हो जाता है, उस निश्चय को, उस व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई नष्ट नहीं कर सकता । मन का दृढ़ निश्चय शरीरान्त पश्चात् भी नष्ट नहीं होता । मन में जिन भावों का उदय होता है, जो भाव स्थिर होते हैं, मनुष्य उसी भाव और रूप द्वारा प्रकट होता है ।'

'हूँ !' ब्रह्मा ने गगन में गमनशील एन्दवों की सृष्टियों को लक्ष्य करते हुए हुंकारी भरी ।

'लोक पितामह !' सूर्य ने प्रणाम करते हुए कहा : 'आज्ञा दीजिए ।'

योगवासिष्ठ रामायण: उत्पत्तिप्रकरण: सर्ग: ८५-९१

अहल्या

'महाराज !' ध्वनि हुई।

'मगधाधिपति महाराज इन्द्रद्युम्न की जय।'

प्रवेश द्वार पर प्रतिहार की गम्भीर वाणी गूँजी।

'परिचारिका ! राजमाता का स्थान।'

'देव !' परिचारिका नमन कर, मार्ग प्रदर्शित करती चली।

महाराज ने उस प्रासाद में प्रवेश किया जहाँ मरुत शान्तिपूर्वक शीतलता प्रसारित कर रहा था। पाटल द्वारा सिंचित भूमि एवं पाटल पुष्पों की हलकी सुरभि परमाणुओं से इठलाती अपनी मादकता बिखेर रही थी। राजभवन परिरम्भित, पुष्पित द्रुम गुञ्जित अलि पंक्तियों के गुञ्जन के साथ वसन्त का स्वागत कर रहा था। राजा की श्रान्त मुख-मुद्रा स्थान की शीतलता, सुरम्यता एवं सुरभि से प्रसन्न हो गई। किन्तु संगमरमर के उज्ज्वल मन्दिर में राजा ने प्रवेश किया, उदासी झलकी। राजा को देखकर खस के पंखों से व्यजन करती परिचारिकाएँ विनयपूर्वक खड़ी हो गईं। कमनीय परिचारिकाओं के मस्तक नम्रतापूर्वक नत हो गए।

भादों की मेघमाला पर बिजली-सी छिटकी। अहल्या को मृणाल एवं कदली-पत्र के आस्तरण पर लेटी राजा की आँखों ने देखा। उज्ज्वल चीनांशुक में अस्त-व्यस्त रानी का गौर वर्ण उज्ज्वल कमल-पंखड़ियों के मध्य कमल के सर-सा प्रतिभासित हो रहा था। शीतल अंगराग हृदय की कोमल सुरभित मनोवृत्तियों तुल्य उसके सुडौल शरीर पर फैले थे। मृणाल-सदृश केश-जाल में उसका मुख किसी सुख-स्वप्न में सन्ध्यामुखी कुमुदिनी-सा उत्फुल्ल था। प्रिया के सुन्दर रूप को देखकर राजा ने कहा :

'देवी की अवस्था कैसी है ?'

'पृथ्वीपते ! शरीर दिन-प्रतिदिन शुष्क होता जाता है।'

'हूँ।' राजा की मुद्रा गम्भीर हो गई।

परिचारिकाएँ नीरव थीं।

'राजवैद्य ने क्या निदान किया ?'

'प्रभु, कुछ निदान न कर सके।'

'कुछ कहा—?'

'औषधि-समय से—!'

'समझा—'

राजा की मुद्रा में चिन्ता ने प्रवेश किया। रानी पर वे झुक गए। परिचारिकाएँ बाहर चली गईं। उत्तमांग स्पर्श करते हुए मृदु स्वर में राजा ने सम्बोधन किया :

'देवि !'

अरुणोदय के अम्बुज-सदृश रानी के राजीव-लोचन किंचित् प्रस्फुटित हुए। राजा का प्रतिबिम्ब नेत्रों में पड़ते ही पलकें अनायास ढक गईं। विरक्ति मुख पर छिटक गई। राजा ने प्रेम से कहा :

'देवि ! कैसी अवस्था है ?'

रानी वस्त्रों से अंग ढकने लगी। अंगराग छूटने लगा। राजा ने पीताम्बर शरीर पर डालते हुए कहा :

'देवि ! क्या अपना कष्ट कहोगी ?'

रानी नीरव थी।

राजा ने फिर कहा : 'यदि—'

राजा कुछ कहना ही चाहते थे कि रानी बोली। 'मुझे कोई कष्ट नहीं है, आर्यपुत्र !'

'किन्तु—'

'अच्छी हो जाऊँगी।'

राजा समीप बैठ गया।

'आर्यपुत्र !' रानी ने पुनः कहा : 'आपके जीवनकाल पर्यन्त क्या मुझे कोई कष्ट हो सकता है ? क्षमा कीजिए, मैं आपको बहुत कष्ट देती हूँ।'

कहते-कहते रानी की आँखें अनायास भर आईं।

:o: :o: :o:

मनोहर क्यारिसाँ थीं। पुष्प खिले थे। कृत्रिम सरोवर में नील एवं शुक्ल पद्म झूम रहे थे। उन पर मधुकर गा रहे थे। मधुमक्खियाँ पाटल पुष्प पर बैठी गुलाबी आसव के रसास्वादन में लीन थीं। बसंत की उमंग भरी वायु में युवती परिचारिकाएँ हृदय की उमंग को कृत्रिम उदासी में छिपाये, रानी के समीप बैठी थीं। मंदिराकार मंजरियों से झुके आम्र वृक्ष पर कोयल बैठी कोई प्रेम गीत गा रही थी। उसकी कूक हृदय को उद्वेलित कर देती थी। रानी की आँखें अनायास भर आयीं। श्रेष्ठ परिचारिका बोली :

'देवि !'

परिचारिका के नेत्र नत हो गए। रानी शून्य गगन की ओर देखने लगी। परिचारिका धीरे से बोली :

'यह जीवन —!'

रानी के अंचल लोचनों पर लग गए। परिचारिका की आँखें भर आईं।

'घुल-घुल कर मरना :

रानी गगन-गमन-शील विहंगम-पंक्ति को देखने लगी। परिचारिका बोली।

'देवि ! आज्ञा हो तो—'

'रानी की आँखें झुक गईं।

:o: :o: :o:

'इन्द्र ! इन्द्र ! !'

'कौन है जी !'

स्त्री-जन्य स्वर में किसी पुरुष ने उत्तर दिया। आगन्तुक स्त्री थी। परिचय के भय अंगों उसके वस्त्रों में लपेट रखा था। द्वार पर हाथ थपथपाती बोली :

'मैं हूँ।'

'अजी तुम कौन ?'

'खोलो भी तो'

'कोई काम है या यों ही—हूँ ।'

'खोलो काम है । तुम्हारा लाभ—!'

'ओह लाभ ?'

'हाँ ।'

उत्साह से द्वार खुल गया, प्रवेश करते ही स्त्री ने भीतर से द्वार बन्द कर लिया । इन्द्र अकेला था । अपना शृंगार कर रहा था ।

आगन्तुक स्त्री बोली, 'आप से एक काम है ।'

'मुझसे ? आश्चर्य !'

'हाँ । आपसे ।'

'बैठो !'

नाटक के पात्र-तुल्य विनय तथा अभिवादन करते हुए इन्द्र ने अपनी शय्या की ओर लक्ष्य किया । आगन्तुका घृणा से उसकी शय्या की ओर देखती हुई बोली :

'आपसे प्रयोजन है ।'

'आज्ञा ?'

इन्द्र ने अपने भ्रू पर, दर्पण के सम्मुख बैठ कर, रंग लगाते हुए कहा । आगन्तुका ने अपना वस्त्र उतारा । उसका रूप देखते ही इन्द्र काँप उठा ।

'आप ! ओह ! ! क्षमा—! ! !

'सुनो—!' स्त्री की वाणी कठोर हुई ।

'मैं—परिचारिका जी—ओह ! नहीं श्रेष्ठ जी आप हैं ?—मैं—आप—!'

'बैठो !' तीक्ष्ण स्वर निकला ।

इन्द्र काँपता हुआ बैठ गया । उसकी भौं का रंग, अनजाने घबराहट से हाथ लगने के कारग, ललाट पर फैल गया था । हाथ जोड़कर बोला :

'मुझ जैसे लम्पट के कक्ष में आप—!'

'ठहरो—एक काम है ।'

'मैं दास हूँ'

'बात गोपनीय है ।'

'जीवन रहते न कहूँगा।'

'मेरे साथ चलो।'

'कहाँ ?'

'जहाँ मैं कहूँ।'

:o: :o: :o:

अन्तःपुर नीरव था। किसी को छिपाने के निमित्त अन्धकार शून्य गगन में बैठा था। निशापति लज्जित होकर ओझल हो गए थे। ताराओं की कान्ति मलिन थी। वासन्ती मरुत् उदास था। उसमें शीतलता आ गई थी। अन्तःपुर की पुष्पित लताएँ मुरझाई-सी थीं। जीवनमय अन्तःपुर बाहर से सूतक-गृह-सा प्रतीत हो रहा था। किन्तु किसी कक्ष में बैठा कोई अपने शरीर को रच-रच कर सजा रहा था।

उस एकान्तिक नारी के कक्ष में एक कोने शय्या सजी थी। पेय पदार्थ रखे थे। कामोद्दीपन के नग्न चित्रों द्वारा दीवारें लज्जित हो गई थीं। शय्या पर बिखरे पुष्प कुम्हला गए थे। दीप-शीखा द्वारा अद्भुत रमणी की छाया दीवार पर चलती उसका उपहास कर रही थी। दीप-ज्योति चाहकर भी जैसे स्थान को पूर्ण प्रकाशित करने में असफल प्रतीत हो रही थी। ज्योति अनुभव करती थी, जैसे दीप की बत्ती कोई मन्द कर देता था। अन्धकार घनीभूत होकर, स्थान को अपने अंकों में ले लेना चाहता था।

बाहर पद-ध्वनि सुन पड़ी। रमणी किंचित् कंपित हुई। अग्रसर होते पद रुक गए। दीप-शिखा हिल उठी। उसे कक्ष घूमता मालूम हुआ। अन्तःपुर भाँय-भाँय करता, जैसे दौड़ता उसकी ओर बढ़ रहा था। उसने अपनी समस्त शक्ति एकत्र की। नेत्र मूँद कर द्वार खोल दिया। सम्मुख देखा— इन्द्र ! वह उन्मादिनी-सी इन्द्र के चरणों पर गिर पड़ी। इन्द्र घबरा गया। परिचारिका स्वयं अपना मुख छिपाती बाहर से द्वार बन्द कर चली गई।

:o: :o: :o:

'इन्द्र !' राजा ने क्रोध से काँपते हुए कहा। इन्द्र नतमस्तक राजा के सम्मुख खड़ा था।

'लम्पट ! दुश्चरित्र ! पापी !'

'भगवन् !' इन्द्र ने कहा : 'यह पुरानी गाथा है। पुरानी पदवी है।'

'तुमने मेरी प्रतिष्ठा नष्ट की है। मैं तेरा क्या करूँ ?'

'राजा ने क्रोध से उसके दोनों कन्धों को दबाते हुए दाँत पीस कर कहा। दुःख से कातर होकर भी वह कुछ न बोला।

'पापी ! बोल तुझे क्या दण्ड दूँ ?'

'मुझे ?'

'हाँ।'

'कुछ नहीं।

'क्यों ?'

'मैंने कोई अपराध नहीं किया है।'

'तू कहाँ जाता था ?'

'राजमाता अहल्या देवी—!'

'क्यों ?'

'प्रभु ! यह प्रेम की अत्यन्त दुर्बल कहानी है।'

'प्रेम और तुम ?' राजा अट्टहास कर उठे।

'हाँ ! मैं ठीक कहता हूँ।' इन्द्र ने कहा। 'अब मेरी दुनिया नई है।'

'वाह—!' राजा का मुख खिन्न हो गया।

'धर्मावतार ! मैं सत्य कहता हूँ। मैं ही नहीं, मेरी दुनिया भी राजन् !'

राजन्, सम्बोधन सुनकर राजा कुछ उग्र हुए। कठोर वाणी निकली : 'कौन सी दुनियाँ ?'

'अहल्या की !'

'सावधान इन्द्र, इस नाम का उच्चारण मत करना।'

'यह नाम मेरा जीवन है।' इन्द्र ने दृढ़तापूर्वक कहा।

इन्द्र के अत्यन्त समीप राजा आ गया। उसने देखा, इन्द्र का रूप। उसमें लम्पटता न थी। उसमें हिमालय-सी दृढ़ता थी। समुद्र-तुल्य गम्भीरता थी। नम्रता थी। राजा उसका जैसे प्रतिद्वन्दी-स्वरूप उसके सम्मुख खड़ा था।

'इन्द्र ! तू कामी है। तूने मेरा नाश किया है।'

'राजन् ! कोई किसी का नाश नहीं करता।'

राजा का मुख आश्चर्य से खुल गया। वह जैसे फिसल गया। कुछ गम्भीर होते हुए राजा ने कहा : 'तू अहल्या का परित्याग कर दे।'

'क्यों ?'

'वह मेरी धर्मपत्नी है।'

'मुझे कोई आपत्ति नहीं। वह चाहे जहाँ रहे।'

'सत्य ?'

'हाँ राजन् ! हम में कोई अन्तर न होगा।'

'प्रतिहारी !'

'भगवन् !'

'राजमाता !'

:o: :o: :o:

राजा और इन्द्र को एक साथ देखकर अहल्या अवाक् हो गई। उसे मूर्छा आने लगी। दीवार का आश्रय लेकर वह खड़ी हो गई। राजा ने पूछा :

'इन्द्र के साथ—!'

अहल्या की आँखें झुक गईं। मुख श्याम वर्ण हो गया। लोचनों की शक्ति क्षीण हो गई। वह टूटे वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़ी। राजा अहल्या पर झुक गया। उसकी रीढ़ जैसे टूटने लगी। उसने कहा :

'इन्द्र का त्याग करना होगा ?'

अहल्या ने आँचल में भाव छिपा लिया। राजा ने पुनः कहा, 'बोलो!'

अहल्या की आँखों में आँसू था। राजा ने जोर से कहा : 'अहल्या ! बोलो ! !'

'नहीं—!

ध्वनि प्रतिध्वनित होते ही, राजा की आँखों के आंगे अँधेरा छा गया ।

:o: :o: :o: :o:

इन्द्र और अहल्या शीतल जल में खड़े किये गए। भोजन-पानी बन्द किया गया। राजा के अनेक प्रकार से कोपभाजन बने । किन्तु वे दुःखी न हुए।

'दुर्मति ! कठोर दण्ड से तुम्हें कष्ट नहीं होता ?'

'राजन् ! जब दण्ड-क्रया आरम्भ होती है तो हमें दण्ड द्वारा उद्भूत कष्ट एवं भोक्ता का ध्यान नहीं रहता। हम स्वयं अपने में लीन रहते हैं। उस आनन्द-सरिता में आपका दण्ड समुद्र में तृण के समान न जाने कहाँ जा लगता है। स्नेह-सूत्र में हम इतने बँध गए हैं कि, इस नश्वर शरीर का ज्ञान नहीं रहता। यदि हमारे अंगों को शनैः-शनैः आप कटवा दें तो भी हमें दुख न होगा। आपके प्रति दुर्भावना उत्पन्न नहीं होगी।'

'ठीक ! आप लोग अग्नि में प्रवेश कीजिए।'

:o: :o: :o:

प्रज्वलित अग्नि थी। चिता लगी थी। राजा ने आदेश दिया । इन्द्र और रानी प्रज्वलित अग्नि में प्रसन्नतापूर्वक चले गए। ज्वालाएँ उनके गले की मालाएँ बन गईं। अग्नि शांत हुई तो वे निर्विकार एक-दूसरे से सम्भाषण करते दिखाई पड़े।

लोग चकित हो गए। कुछ भय से भागने लगे । राजा विस्मयापन्न उन्हें एकटक देखने लगा।

'राजन् ! अग्नि हमारा कुछ न बिगाड़ सकी। अब क्या आज्ञा है ?' इन्द्र ने मुस्कराते हुए सरल वाणी में कहा।

:o: :o: :o:

'हाथी के पैर के नीचे कुचल दो।' राजा ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर आदेश दिया।

क्रूर हाथी आया। दर्शकों की भीड़ लग गई। हाथी ने उनपर पैर रखा। पैरों के नीचे वे निर्विकार बातें करते रहे। हाथी उन्हें कुचल न सका।

'राजन्! हमें कोई शक्ति अलग नहीं कर सकती।' अहल्या और इन्द्र ने कहा।

:o: :o: :o:

राजा अपने क्रूर साधनों का प्रयोग करके थक गया। इन्द्र ने विनय-पूर्वक कहा:

'राजन्। यह जगत् मन में स्थित है। मन के अनुसार मानव होता है। मन का दृढ़ संकल्प एवं निश्चय कोई दूर नहीं कर सकता। आप हमें चाहे जो कष्ट दें। उनका हम पर कुछ प्रभाव नहीं होगा। हमारे हृदयों में एक-दूसरे की मूर्ति स्थित है। उसके स्मरण में हमें किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता। हम संसार के अनिष्टों से दूर हैं। अतएव दुःख भी हमसे दूर रहता है। शरीर नष्ट हो सकता है। किन्तु मन का दृढ़ निश्चय नष्ट नहीं हो सकता। मन्द-मन्द शीतल वायु जिस प्रकार सुमेरु पर्वत को विचलित नहीं कर सकती, उसी प्रकार मन के निश्चय को कोई विचलित नहीं कर सकता। मुझे यह जगत् अहल्यामय और अहल्या को मुझमय प्रतिबिम्बित होता है। इसके विपरीत दशा में दुःख का अनुभव हो सकता है। ज्येष्ठ-आषाढ़ की वर्षा जैसे पर्वत को नहीं बहा सकती, ठीक उसी तरह दुःख भी अपनी तरंगों के आवर्त्त में हमें छिपा नहीं सकता।

'मन ही का नाम अहल्या है राजन्! इन्द्र ने ठहर कर कहा, 'मन ही का नाम इन्द्र है। जगत् भी मन है। दृढ़ निश्चयानुसार अनुभव तथा वस्तुएँ प्रतिभाषित होती हैं। पत्ता, फल, फूल और शाखाओं के काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर भी मन का दृढ़ निश्चय नष्ट नहीं होता। मन के नष्ट होने पर और शरीर के रहने पर भी कुछ क्रिया नहीं होती। मन का निश्चय मन ही द्वारा बदला जा सकता है। इसलिए राजन्। हमें कष्ट न होगा।'

राजा ने निकट बैठे भरत मुनि से कहा—'ऋषिवर! आपने देखा, यह पापी कितनी तत्त्व की बातें करता है। इसकी धृष्टता देख कर मेरे

क्रोध की सीमा नहीं रहती। और इस अहल्या ने तो लोक-लज्जा एवं कर्म सब त्याग दिया है। भगवन् ! न जाने पूर्व जन्म का मेरा कौन-सा पाप कैसे उदय हो गया है।

'राजन् ! भरत मुनि ने कहा,' 'तुम क्या चाहते हो ?'

'देव ! मुझे इनकी परछाइँ से घृणा हो गयी है। दण्ड देते-देते थक गया हूँ। कृपया आप इन्हें अपने शाप से दण्डित करें ताकि इनका नाश हो।'

'नृपवर !' भरत मुनि ने कहा, 'विचार कर पाप का दण्ड देना चाहिए। मैं समझता हूँ कि इनके पाप का समुचित दण्ड मृत्यु है।'

राजा प्रसन्न हो उठा। बोला : 'आपने ठीक कहा : मृत्युदण्ड : सुनो तुम्हें मृत्यु-दण्ड प्राप्त होगा, पापियों !'

योगवासिष्ठ रामायण : उत्पत्ति प्रकरण : सर्ग ८९–९०

अहल्या की यह कहानी बाल्मीकि रामायण तथा अन्य स्थानों पर वर्णित कहानियों के कथानक से भिन्न है। योग वासिष्ठ में वर्णित अहल्या गोतण ऋषि की स्त्री नहीं है। उसका उद्धार भगवान राम नहीं करते। सम्भव है कि पुरानी अनल्या की कहानी के कथानक के आधार पर योगवासिष्ठकार ने दार्शनिक रूप देकर इस प्रकार से लिखा हो।

वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड : ४८; ४९–५१

उत्तरकाण्ड : ३०

आनन्द रामायण : १ : ३

१ : १

शतपथ ब्राह्मण : ३ : ३ : १८

जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् : २ : ८९

महाभारत :

अनुशासन पर्व : ४१ : १५३

आश्वमेधिक पर्व : ५६ : २७

वन पर्व : ८४

रामायण कथा : ७०

इन्द्रद्युम्न : इस नाम के कई व्यक्तियों का उल्लेख आया है। उज्जैन के राजा इन्द्रद्युम्न का उल्लेख स्कन्द पुराण २ : २ : ७–२९ में हुआ है। जगन्नाथपुरी के सम्बन्ध में दूसरे इन्द्रद्युम्न राजा का उल्लेख नारद पुराण में २:४५

'राजन् एवं मुनिवर!' इन्द्र ने कहा, 'आप का शाप कुछ काम न करेगा। शाप केवल हमारा शरीर नष्ट कर सकता है। विश्व जानता है कि काया परिवर्तन शील है। जब तक हमारे मन का नाश नहीं होता तब तक आप लोग हमारे मनोभावों एवं संकल्पों को नहीं बदल सकते। हम शरीर के अधीन नहीं हैं। शरीर से विदा होकर दूसरे रूप में एवं शरीर द्वारा अपने संकल्पों एवं दृढ़ निश्चयों के अनुसार काम करेंगे।

'प्रिये चलो!' इन्द्र ने अहल्या से कहा, 'इस संसार के परे चलें। जहाँ न दण्ड होगा, न दण्डित होगा, न दण्ड देने वाला होगा।'

में आया है। पांड्य देश के राजा इद्रद्युम्न का उल्लेख पद्म पुराण उत्तर खण्ड १३९ तथा भागवत पुराण ८:४ तथा आनन्द रामायणसार खण्ड ९ में किया गया है। महाभारत के श्रीकृष्ण द्वारा मारे गये अमर-भावापन्न इन्द्रद्युम्न का वर्णन वनपर्व १२:३२ में आया है। एक महर्षि भी इस नाम के हुए हैं, वनपर्व २६:२२। राजा जनक के पिता का नाम इन्द्रद्युम्न था। वन पर्व १३३:४। योगवासिष्ठ के इन्द्रद्युम्न को मगध का राजा कहा गया है। जनक के लिए विदेहराज का प्रयोग किया गया है। अतएव विदेह के आधुनिक काल में मगध के अन्तर्गत होने की इसे मानना कठिन होगा। एक राजर्षि का वर्णन वनपर्व १९६ में आया है।

इन्द्रद्युम्न सरोवर : गन्धमादन पर्वत के समीप एक सरोवर का वर्णन महाभारत आदि पर्व ११८:५० में आता है। द्वारका पुरी में भी इस नाम के एक सरोवर का उल्लेख महाभारत सभापर्व ३८:२९ में किया गया है।

भरत— इस नाम से अनेक ऋषि तथा लोग हुए हैं। योग वासिष्ठ का भरत मुनि वेद, पुराण तथा महाभारत वर्णित भरत ऋषि से भिन्न है।

पुराण :
गणेश: १ : ३० , ३१
ब्रह्म पुराण : ८७ : १२२
विष्णु : ४ : १६
पद्म : सृष्टि खण्ड : ५०, ५४
भागवत : ९ : २१
मत्स्य : ५०
लिंग : १ : २६

इन्द्र ने मुसकराते हुए अहल्या का कर-पल्लव धारण किया। अहल्या ने इन्द्र के वक्षस्थल पर मस्तक रख दिया। दोनों का शरीर मृतवत् पृथ्वी पर गिर पड़ा। राजा और ऋषि अवाक देखते रह गए।

स्कन्द : १, २, ५२
हरिवंश : १ : ३२

माण्डव्य

'आततायी किस ओर गये मुनिवर!' ध्यानस्थ माण्डव्य मुनि से राज-कर्मचारियों ने पूछा।

माण्डव्य कमलासीन थे। आत्मरत थे। मौन थे। निश्चेष्ट थे। उनके लोचन अर्ध प्रस्फुटित थे। राज सैनिकों ने पुनः निवेदन किया।

'मुनिवर! हम राज-कर्मचारी हैं। दस्युओं को, लुटेरों को दण्ड देना धर्म है।'

माण्डव्य नीरव थे।

'ऋृषिवर! आपको बोलना चाहिए। आपको, इस धर्म-कार्य में सहायक होना चाहिए। मौनावलंबन द्वारा आप हमारी सहायता एवं राज्य की सहायता नहीं कर सकते।'

मुनि शांत थे।

'इस ओर डाकू आए थे।' एक कर्मचारी ने कहा।

'हाँ, हम लोग यहाँ तक तो उनको देख रहे थे।'

'यहीं से दृष्टि से ओझल हो गए।' तीसरा बोला।

'यहाँ से आगे जाने का कोई चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। वन में किसी प्रकार का स्पन्द भी नहीं मालूम होता।' चौथा बोल उठा।

'कौन जाने यहीं आश्रम में छिपे हों?' एक बोल उठा।

'ठीक!' नायक बोला।

'तो हम क्या करें?'

'आश्रम ढूँढ़ना चाहिए।' नायक ने किंचित् गम्भीर मुद्रा में कहा।

राज-कर्मचारी आश्रम ढूँढ़ने लगे। आश्रम के बाहर पद-चिह्न दिखाई पड़े। उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। एक बोल उठा।

'ओ-हो, यह देखो पद-चिह्न।'

'हाँ! बहुतों के हैं।'

'ठहरो!' 'नायक ने पद-चिह्नों को ध्यानपूर्वक देखते हुए कहा: इन्हें स्पर्श मत करो। इनका अनुसरण करो।'

दो-तीन कर्मचारी सतर्कतापूर्वक पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए चिल्ला उठे।

'कुटी में चिह्न जाकर लुप्त हो गए हैं।'

'अच्छा !' सब आश्चर्यपूर्वक बोल उठे।

नायक की दृष्टि किंचित् काल के लिए माण्डव्य के शांत मुखमण्डल पर स्थित हो गई। वह मुहूर्त काल के पश्चात् किंचित् मुस्कराकर बोला :

'आश्रम घेर लो।'

कर्मचारियों ने सावधानी के साथ आश्रम घेर लिया।

'ऋषि यहाँ से उठने न पाएँ।'

दो कर्मचारी ऋषि के पार्श्व भागों में खड़े हो गए।

'यदि कुटी के अन्दर कोई हो बाहर निकल आए।' प्रधान ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

कुटी से किसी प्रकार की आवाज न निकली।

'मैं पुनः कहता हूँ। यदि कुटी के अन्दर कोई हो तो बाहर निकल आए। यही राजाज्ञा है।'

कुटी नीरव थी।

'हम कुटी में प्रवेश करते हैं। हम पर हाथ उठाने वाला राज्य पर हाथ उठाएगा। शस्त्रका उत्तर सज्जनता से न दिया जायगा। बल का उत्तर बल से एवं सज्जनता का उत्तर सज्जनता से दिया जायगा। हम बली हैं। आश्रम घेर लिया गया है। कोई यहाँ से बचकर नहीं जा सकता। हम पर आक्रमण करना व्यर्थ होगा। मैं अब भी निवेदन करता हूँ कि अधिकार का उत्तरदायित्व समझते हुए, राज्य-कार्य में सहयोग देना वांछनीय है।'

कुटी शांत थी।

'सैनिको ! कुटी में प्रवेश करो। यदि कोई बाधा दे तो उसका सामना करो।'

सैनिकों ने कुटी में प्रवेश किया। प्रधान ने पुनः संबोधन किया :

'राज्य-कर्मचारियों पर यदि कोई हाथ उठाएगा तो वह मारा जायगा। राज्य इस प्रकार के वध के लिए उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं करेगा।'

नायक नंगी तलवार लिए द्वार पर खड़ा हो गया। कुटी से ध्वनि निकली।

'लूट का सामान।'

'क्या ?'

'लूट की वस्तुएँ।'

प्रधान नायक का मुख खिल उठा। उसने ध्यानस्थ माण्डव्य की ओर एक बार देखा। आँखों में व्यंग था। प्रधान ने कहा :

'मैं आता हूँ। खोजो-चोर भी वहीं होंगे!'

प्रधान ने प्रवेश किया। कुटी के अन्दर किंचित् कोलाहल हुआ। सैनिकों ने कुछ लुटेरों को पकड़ लिया। बाहर निकाला। उनके पीछे आया, लूट का सामान।

'तुम लोगों ने यह लूट का सामान कहाँ से पाया? यह द्रव्य यहाँ किसने रखा ?'

'हमने यहाँ द्रव्य नहीं रखा।

'हूँ: !' प्रधान की आँखें जल उठीं।

'तुम लोग कुछ जानते हो ?' स्वर में क्रूरता थी।

'नहीं।'

'यहाँ क्यों आए ?'

'आश्रम जानकर।'

'छिप क्यों गए ?'

'भय के कारण।'

'भय की आवश्यकता ?'

'मानवीय दुर्बलता।'

'ठीक है! न्यायालय के सम्मुख उत्तर देना।'

'हम निरपराध हैं। आप हमें क्यों पकड़ते हैं ?

'राजाज्ञा।'

'किन्तु हमने अपराध नहीं किया है। हमारा अपराध प्रमाणित नहीं हुआ है ?'

'मैं कब कहता हूँ कि आप अपराधी हैं। हमारा कार्य पूर्ण वस्तु-स्थिति के साथ आप लोगों को न्यायालय के सम्मुख उपस्थित कर देना है। हम न तो आपको दण्ड दे सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। हम राज्य-यन्त्र के सामान्य पुर्जे हैं। आप लोगों को पकड़ कर हम वास्तव में आप ही की आज्ञा का पालन कर रहे हैं।'

'किस प्रकार ?'

'आप लोग राज्य से भिन्न नहीं अपितु उसके अभिन्न अंग हैं। धर्मानुसरण आपका कर्त्तव्य है। हम आपके ही धर्म का पालन कर रहे हैं।'

'अच्छा।'

'मुनि को जाग्रत करो।' प्रधान ने आदेश दिया।

माण्डव्य के समीपस्थ कर्मचारियों ने मुनि को जाग्रत किया। मुनि आश्रम में राज्य-कर्मचारियों एवं अपराधी की तरह खड़े अन्य व्यक्तियों को देखकर आश्चर्यचकित हुए। उनकी विस्मयापन्न दृष्टि सम्मुख खड़े प्रधान के मुखपर पड़ी। शांत वाणी ऊर्जस्वित हुई।

'क्या है ?'

'हम आपको बन्दी करते हैं ?

'क्यों ?' मुनि की मुद्रा में किंचित् मात्र उद्वेग न था।

'आपका आश्रम इन लुटेरों का आश्रय था और आप—?' प्रधान कहता-कहता रुक गया।

'किस प्रकार ?'

'अपराधी व्यक्ति और लूट का धन आपकी कुटी में मिला है।'

'मेरी कुटी में ?' मुनि ने निर्लिप्त भाव से पूछा।

'जी !' प्रधान की आँखों में दृढ़ता झलक रही थी।

'आपकी क्या इच्छा है ?' माण्डव्य ने पूछा।

'आपको बन्दी बनाकर राजा के सम्मुख उपस्थित करना।'

'किन्तु मैंने कोई अपराध नहीं किया है।'

'ऋषिवर! इसका उत्तर राजा आपको देंगे। आपकी कुटी से लूट का धन मिला है। आप अपनी कुटी के स्वामी हैं। मैं आपको छोड़ नहीं सकता।'

'चलो।' माण्डव्य ने सरलतापूर्वक कहा।

:o: :o: :o:

'आपका शुभ नाम ?'

'माण्डव्य ?'

'जाति ?'

'ब्राह्मण।'

'कर्म ?'

'कुछ नहीं।'

माण्डव्य ने शांतिपूर्वक कहा। राजा एक दृष्टि से माण्डव्य को देख रहा था। सभा--मण्डप में नीरवता थी। एक ऋषि को अपराधी-रूप में देखकर सबको कौतूहल हो रहा था।

'क्या आप अपराध स्वीकार करते हैं ?' राजा ने स्वयं पूछा।

'नहीं।'

राजा सिंहासन के पृष्ठ भाग से उठता गया। उसकी पैनी दृष्टि सभा-मण्डप में उपस्थित उन बन्दियों पर उठ जाती थी, जो आश्रम में बन्दी बनाए गए थे।

'भगवन्!' प्रधान ने निवेदन किया। 'लूट का सामान और बन्दियों को मैंने मुनि की कुटी में पाया था।'

'मुनि उस समय कहाँ थे ?' मन्त्री ने पूछा।

'कुटी के बाहर मौन बैठे थे।'

'आपने कुछ पूछा ?'

'बहुत पूछने का प्रयत्न किया किन्तु कुछ उत्तर न मिला।'

'पुनः—?'

'आश्रम का अन्वेषण किया। सामान मिला। बन्दी मिले। वे आपके समक्ष उपस्थित हैं।'

'बन्दियों ने उस समय क्या कहा था ?'

'सबने अपने को निरपराध घोषित किया। मेरी जिज्ञासा पर कि द्रव्य कहाँ से आया, मुझे कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका।'

'प्रधान ठीक कह रहा है ?' राजा ने माण्डव्य से पूछा।

'हाँ।'

'प्रधान कुछ झूठ तो नहीं बोल रहा है ?' राजा ने बन्दियों से पूछा।

'नहीं, भगवन् ! हम निरपराध हैं।'

'देव !' मंत्री ने कहा : 'लूट का द्रव्य जिसका है, उसकी साक्षी भी आवश्यक है।'

'उपस्थित करो।'

एक नागरिक मण्डप में आया।

'आप इस राज्य के नागरिक हैं ?' मंत्री ने पूछा।

'जी हाँ।'

'इन वस्तुओं में आप अपनी वस्तु पहचान सकते हैं ?'

'जी।'

'अलग निकाल कर रखें।'

नागरिक ने अपनी वस्तुएँ एक ही प्रकार की अनेक ढेरियों में से निकाल कर रख दीं।

'इन में से इतनी ही आपकी है ?'

'जी हाँ ?'

'आप के यहाँ से कैसे ये गायब हुई थीं ?'

'मेरे घर पर डाका पड़ा था। डाकू उठा ले गये थे। उस दिन के पश्चात् मैंने आज ही इन्हें यहाँ देखा है।'

'क्या ये वस्तुएँ आप के यहां से निकली थीं ?' राजा ने नागरिक की छाँटी हुई वस्तुओं की ओर संकेत करते हुए माण्डव्य से पूछा।

'जी हाँ। जब मेरी आँख खुली तो प्रधान के पास मैंने इन वस्तुओं को वहाँ देखा था।'

'वस्तुएँ आश्रम से निकली थीं?' राजा ने अन्य बन्दियों की ओर देखते हुए पूछा।

'भगवन्!' बन्दियों ने मस्तक झुका दिया।

नागरिक बाहर चला गया।

'भगवन्!' मंत्री ने कहा: 'अपराध प्रमाणित है। बन्दियों को दण्ड देना चाहिए।'

'क्यों?

'वस्तुओं का पाया जाना यथेष्ट प्रमाण है, जब कि कोई दूसरी बात सम्मुख नहीं आती।'

'मुनिवर!' राजा ने कहा: 'हमें खेद है। हम आपको अपराधी समझ रहे हैं। आपका व्यवहार सन्देह उत्पन्न करता है। आपकी कुटी में चोरी की वस्तुओं तथा दस्युओं का मिलना निस्सन्देह आश्चर्य की बात है। यथोचित उत्तर न देना, इस बात को प्रमाणित करता है कि समाधि का स्वांग रच कर आप इन अपराधियों की रक्षा करना चाहते थे। अपने पाखण्ड से आप राज्य को धोखा देना चाहते थे। हो सकता है, सज्जनों-चित्त दया के वशवर्ती होकर, आप इनकी रक्षा करना चाहते थे। किन्तु इस प्रकार की दया विधान स्वीकार नहीं करता। दण्ड बिना समाज नहीं चल सकता। राज्य की शक्ति अपराधियों को दण्ड देने के लिए है। अराजकता का नाश बिना दण्ड नहीं हो सकता। मैं आप को दण्ड देने के लिए बाध्य हूँ। आप बोलिए मैं इस अवस्था में और कर ही क्या सकता हूँ?'

'राजन्!' माण्डव्य ने उन्नत मुद्रा में कहा: 'आपका विचार उचित है। किन्तु मैंने कोई अपराध नहीं किया। हो सकता है, अनजाने भ्रम के कारण अपराध दिखाई पड़ता हो। हो सकता है, आप भ्रम में हों। राज्य-सभा भ्रम में हो। निस्सन्देह लूट का धन मेरी कुटी से निकला मालूम पड़ता है। स्थूल दृष्टि से लोग मुझे अपराधी कहेंगे। इस दृष्टि से आपको मुझे दण्ड देना उचित प्रतीत होता है।'

सभामण्डप नीरव हो उठा।

'आप लोगों को कुछ कहना है ?' राजा ने बन्दियों से पूछा :

'हम निरपराध हैं।'

'क्यों ?'

'हमें किसी ने लूटते नहीं देखा।'

'तो ?'

'हमें किसी ने पहचाना नहीं। हम लूट करने गए थे, किसी ने देखा नहीं। लूट का धन लाकर कुटी में रखा था, किसी की साक्षी नहीं।'

'राज्यकर्मचारियों के बुलाने पर आप लोग बाहर क्यों नहीं आए ?'

'यह हमारी दुर्बलता थी।'

'अपराध छिपाने की भावना भी हो सकती है ?'

'महाराज !'

'मन में बिना विकार उत्पन्न हुए दुर्बलता कैसे उत्पन्न होगी नागरिक ?'

'कैसा विकार देव !'

'दुर्बलता मनुष्य का गुण नहीं, अवगुण है। अवगुण बिना कुत्सित भावना, वासना, कल्पना के उत्पन्न नहीं हो सकता। छिपता वही है जो छिपना चाहता है। वीर छिपकर आक्रमण नहीं करते। कायर अन्धकार का आश्रय ग्रहण करते हैं, छिप कर आक्रमण करते हैं। सरल मनुष्य पुण्यात्मा कहे जाने में हिचकता नहीं। वह कोई कर्म करने में भी नहीं हिचकता, क्योंकि उसका मन निर्मल रहता है। वह अपने विमल हृदय में विमल प्रतिबिम्ब की झाँकी लेता रहता है। जिसका हृदय दर्पण मलिन है, उसे दुनिया का प्रतिबिम्ब मलिन ही दिखाई पड़ेगा। मलिनता ही दुर्बलता और कायरता की जननी है। दुर्बलता, मलिनता एवं कायरता गुरुतर अपराध हैं। क्या ये मौलिक बातें इस राज्य के नागरिक होने पर भी आप नहीं समझ सकते ?'

'राजन् !'

'राज्य आशा करता है सच्चरित्र, शुद्ध, सत्यवादी, निर्भीक, साहसी, धर्मपरायण नागरिक की। आप राज्य के आदर्शों का अतिक्रमण करने के कारण भी अपराधी हैं। यदि आप सत्य बोल सके—!'

'तो महाराज ?'

'एक मनुष्य-हत्या के पाप से बच सकते हैं।'

'किसके ?'

'माण्डव्य के !'

'क्यों ?'

'इस अपराध का दण्ड आप लोग जानते हैं क्या है ?'

'नहीं।'

'सूली—!'

बन्दियों के मुख सूख गए। उन्हें बेहोशी आने लगी। वे बैठ गए। चिल्ला उठे।

माण्डव्य की मुद्रा अपरिवर्तनीय थी। राजा ने बन्दियों से पुनः पूछा :

'आप लोगों को कुछ कहना है ?'

'क्षमा भगवन् ! ! हम निरपराध हैं।'

बन्दी रोने लगे। वे राजा का पद-स्पर्श करना चाहते थे। प्रतिहारियों ने उन्हें रोक लिया।

'बन्दियो !' राजा ने कहा : 'आप लोग दण्ड के पात्र हैं। आपके लिए क्षमा ओषधि नहीं, विष है। कायर न अपनी रक्षा कर सकता है और न देश की। हमें आप लोगों की क्या आवश्यकता ? आप जैसे व्यक्तियों से भला राज्य क्या आशा कर सकता है ? हमें आप लोगों को सूली का दण्ड देते हुए किंचित् कष्ट नहीं हो रहा है।'

'महाराज ! हम निरपराध हैं। दया कीजिए भगवन् ! !'

'दण्ड दया नहीं जानता। वह जानता है केवल अनुशासन। दण्ड यदि मानव दुर्बलताओं में पड़ जाय, तो दुनियाँ का काम, राज्य का अनुशासन और मनुष्यों की कुवृत्तियों को रोका कैसे जायगा ?'

'भगवन् ! दया !' वे रो उठे।

'इस दयनीय स्थिति में, यह जानते हुए कि दण्ड के अत्यन्त समीप पहुँच गए हो, आप लोग सत्य का आश्रय नहीं ले रहे हैं। आप लोगों को लज्जा

नहीं आ रही है। आप लोग सत्य पर आवरण डाल रहे हैं। शायद सत्य के अप्रकाशित होने के कारण मैं मुनि को दण्ड दे रहा हूँ। यदि मुनि निरपराध हैं, तो उन्हें जो दण्ड दिया जा रहा है, उसका भागी मैं स्वयं हो रहा हूँ।' राजा ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

'माहेश्वर ! हम निरपराध हैं।'

'सत्य को छिपाने वालों के लिए राज्य में स्थान नहीं है। मानव जगत् को उनकी आवश्यकता नहीं है। मानव-जीवन की अमूल्य विभूति सत्य को आप लोग इसलिए छिपा रहे हैं कि आप लोगों को अपने प्राणों का मोह है। प्राण-लोभ के कारण सत्य छिपाने वालों पर दया नहीं की जा सकती। दण्ड का एक अंग दया भी है, परन्तु आप लोग उसके पात्र नहीं हैं। प्रतिहारी ! इन्हें यहाँ से हटाओ।'

बन्दी चिल्लाने लगे। सभा-मण्डप में बैठे प्रत्येक व्यक्ति की ओर हाथ फैला-फैला कर प्राण-भिक्षा माँगने लगे। उनकी करुण स्थिति देखकर मन विचलित हो जाता था। सूली के भयंकर रूप ने उनकी आँखों के सम्मुख नाचते हुए उन्हें विकल कर दिया था। वे मर चुके थे। अपनी दुर्बलता के शिकार हो चुके थे। प्रतिहारियों ने जबर्दस्ती उन्हें सभा-मण्डप से बाहर निकाला।

सभा-मण्डप शांत होने पर राजा ने माण्डव्य से कहा, 'मुनिवर ! हमें खेद है कि हम आपको सूली की सजा दे रहे हैं।'

'ऊँह !' माण्डव्य ने सरल चित्त से कहा :

मुनि की शांति, गंभीरता एवं अपरिवर्तनीय मुद्रा देखकर राजा हिचका। उसे अपने विचार एवं न्याय पर संदेह होने लगा। वह मुनि को देखता विचारशील हो गया। माण्डव्य ने मुस्करा कर कहा :

'राजन् ! चिन्ता का क्या प्रयोजन ? आपने अपराधी समझ कर मुझे दण्ड दिया है। अपने किसी स्वार्थ-साधन के निमित्त आपने दण्ड दिया नहीं है। आपने, आपकी न्याय बुद्धि ने, मुझे अपराधी समझा है। निश्चयानुसार कार्य भी होता है। अतएव मैं आपके दण्ड को स्वीकार करता हूँ।'

राजा नीरव हो उठा। मन्त्री ने प्रतिहारियों को संकेत किया।

प्रतिहारियों के बीच शान्त माण्डव्य सभामण्डल के बाहर चल पड़े। राजा का मस्तक गम्भीर होकर नत हो गया।

:o: :o: :o:

'महाराज !'

'प्रतिहारी !'

'देव !'

'क्या है ?'

'भगवन् ! आश्चर्य ! ! माण्डव्य पर सूली का किंचित् प्रभाव नहीं हुआ। वे सूली पर यथावत् शान्त बैठे हैं।

'और बन्दी—?

'उन्हें दण्ड दिया जा चुका है।'

'क्या माण्डव्य के शरीर पर सूली का किंचिन्मात्र प्रभाव नहीं हुआ ?'

'नहीं, धर्मावतार !'

'आश्चर्य है !' राजा की मुद्रा गम्भीर होने लगी।

'पृथ्वीपते ! ऐसा आश्चर्य तो आजतक देखने तथा सुनने में नहीं आया।'

'चलो, देखें।'

:o: :o: :o:

'महात्मन् ! मै आपकी पूजा करता हूँ। हमारी पूजा स्वीकार कीजिए।' राजा ने सूली पर शान्त चित्त बैठे माण्डव्य से करबद्ध निवेदन करते हुए कहा।

'राजन् ! आपको खेद नहीं करना चाहिए। आपने अपने कर्तव्य का पालन किया है।'

'प्रतिहारी ! मुनिवर को सूली पर से उतारो।'

प्रतिहारियों ने माण्डव्य को सूली पर से उतारा।

राजा ने मुनि के चरणों पर मस्तक रख दिया।

'मुनिवर ! अज्ञान के कारण आपको कष्ट दिया है । क्षमा कीजिए। मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है।'

'राजन् ! मैं अपने ही अपराध का फल भोग रहा हूँ। मैं भला किसे दोषी कह सकता हूँ ?'

'भगवन् ! मैं क्षमा का पात्र हूँ।'

'राजन् ! मैं आपको भला क्या क्षमा प्रदान कर सकता हूँ ? यदि आप पर क्रोध किया होता तो क्षमा का प्रश्न उठ सकता था।'

'भगवन् ! अत्यन्त आश्चर्य है। इस सूली से आजतक कोई बच नहीं सका है। आप पर इसका कुछ प्रभाव नहीं हो सका!'

सूली-स्थान नागरिकों से भर गया था।

एक मुनी ने माण्डव्य को प्रणाम कर कहा, 'राजन् ! माण्डव्य महर्षि हैं। विगत-ज्वर हैं। विषय-राग-विहीन हैं । दुःख एवं क्रोध पर विजय प्राप्त कर चुके हैं। संसार का कोई भी कष्ट और दुःख इनको विचलित नहीं कर सकता ।'

'क्यों ?' राजा ने साश्चर्य पूछा :

'राजन् !' उस मुनि ने कहा, 'पुरुषार्थ ही सिद्धि का मूल है। पुरुषार्थ के अनुरूप ही व्यक्ति होता है। चींटी से ब्रह्मा तक केवल पुरुषार्थ के ही परिणाम हैं। जिन लोगों ने अपने पुरुषार्थ पर विजय पाई है, उनको क्लेश, दुःख आदि स्पर्श नहीं करते।

'पर मन ?'

'हाँ, मन ! सुनो राजन् !! मनोमय तथा आधभौतिक दो शरीर होते हैं। आधिभौतिक हमारा स्थूल शरीर है। आधिभौतिक शरीर कुछ कर्म नहीं करता। इसका कर्म निष्फल है। कार्य करता है मन । मन के कार्य तथा चेष्टाएँ सफल होती हैं। शरीर केवल कर्म का साधन है। मांसमय शरीर में जिनका अहंभाव है, उसे ही आधि-व्याधि और शाप लगता है । मांसमय स्थूल शरीर के साथ जिसका सम्बन्ध रहता है, वे दीन हैं, कायर हैं, दुर्बल हैं । कारण यह कि वे नश्वर मांस-अस्थिमय शरीर को निधि

समझते हैं। अतएव उस निधि पर जब आघात होता है, वह खतरे में पड़ जाती है, तब उसे दुःख होने लगता है। किन्तु जिनकी भावना, अहंभाव, शरीर के साथ नहीं है, उनको शरीर के क्लेश एवं दुःख का किंचित् मात्र अनुभव नहीं होता। वे अपने आपको इस शरीर से भिन्न समझते हैं। जिनका चित्त आत्मपद में स्थित है, उनको चाहे आप अग्नि, अथवा जल में छोड़ दीजिए, फिर भी उन पर अग्नि एवं जल का कुछ भी प्रभाव न होगा। उनकी धारणा उनके शरीर में न रह कर, रहती है, आत्मा में। मन का निश्चय दृढ़भूत होता है। उसी निश्चय के अनुसार जगत् का स्वरूप दिखाई देता है। मन संसार के किसी कष्ट एवं शाप से विचलित नहीं होता। यदि दुःख एवं कष्ट द्वारा मन विपर्यत या भावापन्न हो गया हो तो यही समझना चाहिए कि मन में दृढ़ता नहीं थी। दृढ़ता के अभ्यास में शिथिलता थी। चित्त जिस समय आत्मा में स्थित होता है, उस समय वह चंचल नहीं होता।'

'आश्चर्य है।'

'राजन् !' मुनि ने पुनः कहा। 'पुष्प-प्रहार शिलाखण्ड को चूर्ण नहीं कर सकता। उसी प्रकार संसार के ताप धैर्यवान् को खण्डित नहीं कर सकते। जिनको, आधि-व्याधि दुःख देते हैं, जो उनसे दुःखी होते हैं, आप समझ जाइए कि वे परमार्थ-दर्शन-शून्य हैं। अपने स्वरूप को पहचान गए व्यक्ति को दुःख स्पर्श नहीं करता। स्वप्न में भी उसको दुःख का स्पर्श नहीं होता।

मण्डू के वंशजों के निमित्त वैदिक साहित्य में माण्डव्य के नाम का उल्लेख आया है। उन्हें आचार्य तथा काण्व का शिष्य कहा गया है।

योगवासिष्ठ रामायणः उत्पत्ति प्रकरणः सर्गः ९२

ऋग्वेद प्रातिशाख्यः

ऐतरेय अरण्यकः ३ : १ : १

शतपथ ब्राह्मणः १० : ६ : ५ : ८

सांख्यापन आरण्यक : ७ : २

आश्वलायन गृह्यसूत्रः ३ : ४ : ४

'राजन् ! मन कुम्भकार है। वृत्ति मिट्टी है। कुम्भकार के प्रयास के कारण मृत्तिका अनेक रूप धारण करती है। उसी प्रकार मन के निश्चय के अनुसार वृत्तियाँ अनेक रूप धारण करती हैं। मीठा, खट्टा, नमकीन भी अपनी वृत्ति के अनुसार अनुभव देते हैं। कितने ही व्यक्तियों के लिए शशि-किरण अमृत बरसाती है और कितनों को उसका कुछ अनुभव नहीं होता। कितनों को किरणें विष प्रतीत होती हैं। सब कुछ अपनी भावना एवं वृत्ति का मधुर खेल है।

'राजन् ! माण्डव्य आत्मरत हैं। वे उस समय समाधिस्थ थे, जिस समय आपके कर्मचारी उनके आश्रम में पहुँचे थे। वे चाहते तो, आपके कर्मचारियों को अपनी योग-शक्ति द्वारा भस्म कर सकते थे। किन्तु वे हैं राग-द्वेष एवं सभी भावनाओं के परे। आपके सभा-मण्डप में, अपनी सिद्धि के चमत्कार द्वारा, वे अपराध अप्रमाणित सिद्ध कर सकते थे, किन्तु उनको इसकी आवश्यकता न थी। सत्य छिपता नहीं, प्रकट होता है। उसके प्रकट होने में कुछ विलंब अवश्य लगता है। अतएव आइए, सत्य के महान् पुजारी माण्डव्य को हम लोग नमस्कार करें।'

वृहदाण्यक उपनिषद् : ६ : ५ : ४
सांख्यापन गृह्यसूत्र : ४ : १०
६ : १

महाभारत में अणीमाण्डव्य नाम से उल्लेख आता है।

आदिपर्व : १०६ : २–३, १२, १५, १६,
१०७ . ८, ११, १५, १६, १७,
६३ : ९२, ९६,
उद्योग पर्व : ८३ : ६४
शान्ति पर्व : २७६ : ३
अनुशासन पर्व : १८ : ४६

माण्डवाश्रम का उल्लेख
उद्योग पर्व : १८६ : २८–२९ में आया है।

पुराणः
मार्कण्डेय : १६

'सब के मस्तक झुक गए। माण्डव्य निश्चल, शांत, एकरूप काष्ठ मूर्तिवत् स्थिर थे। उनकी मुद्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन प्रतीत नहीं हो रहा था।

※

गरुड़ : १ : १४२
पद्म : उत्तर खण्ड : ५१
१४१
सृष्टि खण्ड ५१, ५२
स्कन्द : ५ : ३ १६९–१७२
१३५;
६ : १३५, १३७
भागवत: ३ : ५ : २०

चित्त

'सुनो !'

विवेक ने मन को पुकारते हुए कहा। भयंकर संसार-वन में मत्त हाथी-तुल्य मन इधर-उधर घूम रहा था। वन तिमिराच्छन्न था। रश्मियाँ कठिनता से भूमि का स्पर्श कर पाती थीं। नरक-स्वरूप कँटीली करंज की झाड़ियों से वन भरा था। प्राणिविहीन, जनविहीन वन अत्यन्त भयंकर तथा शून्य था। मन-पुरुष व्याकुल-चित्त वन में घूम रहा था। उसकी वासनाएँ सहस्रों लोचन एवं सहस्रों कर्मेन्द्रियों से पूर्ण न हो सकती थीं। वह स्वयं महान् अशान्ति का गेह बन गया। विवेक की पुकार सुनते ही वह ठिठक गया। बोला :

'क्या है ?'

'आप मेरे समीप आ सकते हैं ?' विवेक ने मुस्करा कर कहा।

'देखूँ शायद !' मन सोचने लगा। नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगे।

'आओ ! भली बात कहूँगा।' विवेक ने स्नेह से कहा।

मन हिचकने लगा। वासना के तीव्र वेग में सोचा, चलो अपना काम करें। बात सुन कर क्या होगा ? चलना ही चाहता था कि विवेक ने पुनः कहा :

'भाई, एक बात सुन लो ! तुम्हारा लाभ होगा।'

लाभ की बात सुनकर मन रुक गया। उसके कदम वेग से विवेक की ओर उठ गए। विवेक ने पूछा :

'मित्र ! तुम्हारा शुभ नाम ?'

'मन !'

'निवास—!'

'अपना शरीर, यह भयंकर वन।'

'कर्म ?'

'अपने अनुसार आचरण।'

'वाह—! विवेक मुसकराया।

मन ने चिढ़ कर कहा :

'हँसते हो ?'

'किन्तु तुम्हारे मन को चलाता कौन है ?'

'इच्छा !'

'कार्य किस प्रकार पूरा करते हो ?'

'मेरे दो हाथ हैं, पैर हैं, आँखें हैं, कान हैं, नाक है, मुख है, पूरा शरीर है।'

'इच्छापूर्ति से तुम्हारा मन भरा ?'

'हाँ !'

'किस प्रकार ?'

'सुनोगे ?'

'क्यों न सुनूँगा ?' विवेक ने सस्मित कहा :

'मेरी जब इच्छा होती है, एकांत में बैठकर खूब गाता हूँ। घोर जंगल में मन व्याकुल हो उठता है, तो किसी कँटीली झाड़ी में बैठ कर भरपेट रो लेता हूँ। इच्छा होने पर, अमृततुल्य स्वादिष्ट फल खाता हूँ। नहीं तो खाली पेट मन मारकर सो रहता हूँ। इच्छापूर्ति निमित्त जंगल में चक्कर लगाता हूँ। नाना प्रकार के कष्टों के पश्चात् भी वांछित वस्तु नहीं मिलती, तो सिर पीटकर बैठ जाता हूँ। क्रोध से जल उठता हूँ। कर्मेन्द्रियों से फल क्यों नहीं मिलता ? अपने शिथिल हाथ-पैरों को कालदण्ड की तरह दण्ड देने की इच्छा जाग उठती। कभी-कभी क्रोध में अंगभंग की नौबत आ जाती है। क्रोध शान्त होने पर पश्चात्ताप करता हूँ।' मन ने अत्यन्त गर्व के साथ कहा।

'और—?' विवेक ने मुसकरा कर पूछा।

"मैं इस प्रकार थक कर क्षुब्ध हो जाता हूँ। दुनियाँ से वैराग्य हो जाता है। समझने लगता हूँ कि संसार असार है। सब मिथ्या है।'

'तब—?'

'विरक्ति में इच्छा शान्त होती है । स्वर्ग-तुल्य कदली वन में पहुँच जाता हूँ । एकान्त स्थान में शान्तिपूर्वक विश्राम करता हूँ । किन्तु शरीर स्वस्थ होने पर, शिथिलता दूर होने पर, इन्द्रियों की शक्ति पुनः लौटने पर, धीरे-धीरे वासनाएँ लौटने लगती हैं । अनेक प्रकार की इच्छाओं का सृजन होता है । स्वर्ग-तुल्य कदली वन काटने दौड़ता है । इच्छा उठाती है । वासना उत्साहित करती है । इन्द्रियाँ भृत्यों की तरह उनका अनु-शासन मानती हैं । कभी इस चीज के लिए और कभी उस चीज के लिए भटकने लगता हूँ । कष्ट पाता हूँ । यह क्रम जब से होश सम्हाला है जारी है, कब तक जारी रहेगा नहीं कह सकता ।'

'मन ! तुम्हारे जैसा मुझे यहाँ एक व्यक्ति मिला था ।'

'यहाँ--?'

'हाँ ! एक ही नहीं, बहुत से मिले ।'

'तब—?'

'उनकी कहानी सुनोगे ?'

'यदि कहो—?'

'कहूगा । तुमने मेरी बात सुनी है यदि न आते तो न कहता ।'

'क्यों ?'

'मैं हमेशा कुछ-न-कुछ कहता रहता हूँ ।'

'किस प्रकार ?'

'जब कोई कार्य करने चलता हूँ तो कहता हूँ कि क्या बुरा है क्या भला है, किसमें हानि है और किसमें उपकार है । जो मेरी बात सुनते हैं, उन्हें अपना मित्र बनाता हूँ । उनका साथ देता हूँ । उत्तम स्थानों पर उन्हें ले जाता हूँ । उत्तम द्रव्यों द्वारा उनकी सेवा करता हूँ । अनन्तर वे स्वयं उत्तम होकर दूसरे को उत्तम बनाते हैं, सात्त्विक जगत् की सृष्टि करते हैं ।'

'और जो नहीं सुनते ?'

'मैं कहता चलता हूँ । मेरे कहने की एक सीमा होती है । थक कर चुप हो जाता हूँ । उन्हें उनकी इच्छा पर छोड़ देता हूँ । उन लोगों के साथी हो

जाते हैं हाथ, कान, नाक, पैर, आँख, कान आदि कर्मेन्द्रियाँ। वे बन जाती हैं, पथप्रदर्शक। वे संसार में उन्मादी की तरह घुमाती हैं।'

'उनकी मित्रता क्यों नहीं करते।'

'मैं सर्वदा मित्रता के लिए हाथ बढ़ाये फिरता हूँ। मित्र कभी शत्रु नहीं होता।'

'हाँ–! वह कहानी?'

'मैंने इस वन में एक पुरुष देखा, वह तुम्हारी तरह था। वह अपने शरीर को पीट रहा था। उसकी दशा शोचनीय हो गई थी। मैंने पूछा, भाई! मेरी बात सुनोगे? उसने मेरी बात नहीं सुनी। मैं मार्ग रोक कर खड़ा हो गया। उससे पूछा :

'भाई! तुम कौन हो? अपने शरीर को क्यों कष्ट देते हो? तुम्हारी इच्छा क्या है?'

'मैं कोई नहीं हूँ।' उसने क्रोधपूर्वक कहा : 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। तुमने मेरा गतिरोध किया है। तुम मेरे शत्रु हो।'

'वह अपने अंग-प्रत्यंग को देखता हुआ अपनी स्थिति पर कातर हो गया। रोने लगा। अपनी इन्द्रियों को देख कर हँसा। फिर चिल्लाने लगा। अट्टहास करता हुआ अपनी तीव्र उन्मादावस्था में, उसने मेरे ही सम्मुख शरीर त्याग दिया।'

'ओह––!'

'और सुनो। इसी वन में मैंने एक पुरुष और देखा। वह भी अपने अंगों पर प्रहार करता चला जा रहा था। विवेकशून्य दृष्टि से वह नरक-तुल्य अन्धकूप में गिर पड़ा। उसे वहाँ भी शांति न मिली। अन्धकूप की कँटीली झाड़ियों में वह तड़पता रहा। अनेक यंत्रणाओं को भोगने के पश्चात् वह बाहर निकला। अन्धे के समान वन के भयंकर गर्त में गिर पड़ा। वहाँ से निकल कर, अपनी मनोवृत्ति का अनुसरण करता हुआ, मन के पीछे विक्षिप्त के समान घूमने लगा। मेरे सम्मुख तुम्हारे समान जब आया, तो मैंने तुम्हारी तरह उससे प्रश्न किया। सुनकर वह भूल गया। फिर चला। उसकी भी वही अवस्था हुई जो पहले की हुई थी।'

'और—?'

'हाँ, एक मनुष्य से इसी वन के एक निर्जन स्थान में मुझसे भेंट हुई थी। मैंने उससे जब प्रश्न किया तब उसने कहा :

'रे पापिष्ठ! मूर्ख! द्विज! तू कुछ नहीं जानता। तू ज्ञानरहित है मेरे मार्ग से हट जा।'

'मैं उसके मार्ग से हट गया। वह अन्धकूप गर्त, महारण्य में भटकता रहा। मैंने इस प्रकार इस वन में अनेक मनुष्य देखे हैं। मैंने मित्रता के लिए हाथ बढ़ाया। उनके दुःख से सहानुभूति दिखाई। उनकी स्थिति पर दया वशीभूत होकर स्वयं दुःखी हुआ। उनके मोह-जाल का भेद करना चाहा। जिन्होंने नहीं सुना वे गए अपने रास्ते और मैं चला अपने।'

'मित्र! मैं तुम्हारी मित्रता प्राप्त कर सकता हूँ?'

'क्यों नहीं?'

'तो चलो—!'

'कहाँ—?'

'स्वर्ग-स्वरूप कदली वन में।'

योगवासिष्ठ रामायणः : त्पत्ति प्रकरण : सर्ग ९८–९९

बाल आख्यायिका

'धाई माँ ! अच्छी-सी एक कहानी कहोगी ?' मुग्धबुद्धि शिशु ने अपनी धात्री माँ से स्नेहपूर्वक कहा :

'कैसी कहूँ ?' धात्री ने प्रेम से कहा :

'मन की तरह अच्छी लगे ।'

'सुनो । बहुत बड़ा मिथ्या नगर था । उसमें आदमी नहीं रहते थे । उसमें तुम्हारे जैसे तीन राजा के लड़के थे । उनमें दो पैदा नहीं हुए थे और एक गर्भ में ही नहीं आया था । वे खूब रुपया पैदा करने के लिए नगर की ओर चले । सरसों के पुष्पों की तरह उनका शरीर कोमल था । कुछ दूर चलकर वे थक गए ।'

'फिर क्या हुआ माँ ?'

'धूप में शरीर कुम्हला गया ।' धाई ने शिशु का मुख चुमते हुए कहा : 'कमल की तरह कोमल हाथ और पैर ज्येष्ठ के पद्म की तरह सूख गए । पैरों में काँटे धस गए । धूल से उसका शरीर भर गया ।'

शिशु का मुख कुम्हला गया । धाई ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा :

'जब वे बहुत दु:खी हुए, तब उन्होंने तीन वृक्ष देखे । उनमें दो पैदा नहीं हुए थे और तीसरे का बीज ही नहीं पड़ा था । उन वृक्षों की शीतल छाया में इन्द्र, वायु, यम के समान वे विश्रान्तिशील हुए । उन वृक्षों के फल खाए । उनके रस का पान किया । उनके फूलों की मालाएँ बनाकर पहन लीं ।'

शिशु का मुख खिल गया । धाई ने कहा । मध्याह्न वेला आई । रश्मियाँ प्रखर हुईं । प्यास लगी । शीतल जल निमित्त वे आगे बढ़े ।

'उन्होंने तीन नदियाँ देखी । उनमें शीतल जल प्रवाहित था । लहरों की मालाओं से वे अलंकृत थे । भँवरों के कुण्डल पड़े थे । किन्तु उनमें दो नदियों का अस्तित्व ही नहीं था और तीसरी सूखी थी । उन नदियों में

ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तरह उन्होंने खूब स्नान किया। जल-विहार किया। जलपान किया।

'माँ, पानी।' शिशु जल माँग उठा। धाई ने जल पिलाया। शिशु बोला'

'माँ। बड़ी अच्छी कहानी है, फिर—!'

पानी पी कर वे आगे चले। उन्हें भविष्यत् नगर दिखाई दिया। सन्ध्या हो गई थी। नगर पताकाओं से सज्जित था। सुवर्ण कलश चमक रहे थे। उस नगर में उन्होंने तीन मकान देखे। उनमें दो थे ही नहीं। तीसरे की दीवारें भी नहीं खड़ी हुई थीं।

'फिर क्या हुआ, माँ?'

'उन्होंने विचार किया। पहले ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, तत्पश्चात् स्वयं खाना चाहिए।'

'तब—?'

'सुवर्ण की तीन बटलोहियां मँगवाई गईं। उनमें दो थीं ही नहीं। तीसरी सुवर्ण की चूर्ण मात्र थी। उन्होंने भोजन बनाया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं निर्मुख ऋषियों को भोजन कराया।'

'उसके बाद—?'

'ओह! उसके बाद तुम्हारे जैसे सब राजाओं के लड़कों ने भोजन किया और वे उस नगर में रहने लगे।'

'मैं भी खाऊँगा, माँ।'

'हाँ-हाँ। तुम भी खाना।'

जगत की तरह कल्पित कहानी को बालक सत्य समझ बैठा। वह प्रसन्न था। धाई हँसती हुई उठ कर उसे खिलाने चली।

योगवासिष्ठ रामायण : उत्पत्ति प्रकरण : सर्ग १०१

इन्द्रजाल

'जला, जला, जला।'

चामरधारिणी युवतियाँ स्तब्ध हो गईं। चमर ढुरना रुक गया। नृत्यशील नर्तकियाँ किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़ी रह गईं। वादक की उँगलियाँ वीणा तथा मृदंग पर चलती-चलती हठात् रुक गईं। मन्त्री चकित हो गए। राजा की दयनीय मुख-मुद्रा की ओर सामन्त एक टक देखते रह गए। मण्डलेश्वरों का श्वास रुक गया। शास्त्रज्ञ पण्डित गम्भीर हो गए। उनका एक हाथ पोथियों पर और दूसरा ठुड्डी पर लग गए।

राजा के विशाल लोचन खुले। चारों ओर विस्फारित लोचनों से देखते हुए पूछा :

'यह सभा किसकी है ? ओह।' राजा के मस्तक पर स्वेद-कण उमड़ आए। सभा विचलित हुई। राजा ने व्यग्रतापूर्वक पुनः पूछा :

'मैं कहाँ हूँ ?'

'राजन्। राजन्।' महामन्त्री ने राजा के मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहा।

'यह नगर किसका है ?' राजा ने अर्ध मूर्छितावस्था में पूछा।

'महाराज ! महाराज !!' महामन्त्री ने परिचारिकाओं के हाथों से सुगन्धित जल पात्र ले लिया। वह राजा के मस्तक पर शीतल सुगन्धित जल छिड़कने लगा।

'आह ! यहाँ का राजा कौन है ?' राजा ने सिंहासन के पृष्ठ भाग से उठँगते हुए कहा।

'भगवन् ! देखिए हम हैं।'

राजा की मूर्च्छा देखकर सभा में हलका कोलाहल हुआ। महामन्त्री शान्त रहने का संकेत किया। चामरधारिणी युवतियाँ चमर ढुराने लगीं। परिचारिकाएँ व्यजन करने लगीं। सुगन्धित जल राजा के शरीर पर छिड़का जाने लगा। महामन्त्री ने राजा को सचेत करते हुए कहा :

'प्रभु ! देखिए ! ! हम हैं। यह आपकी सभा है। क्या आप स्वप्न देख रहे हैं ?'

'स्वप्न !' राजा की चेतना लौटने लगी।

लोग अपने स्थानों पर बैठ गये। राजा शीतल जल तथा शीतल वायु के कारण स्वस्थ होने लगा। उसकी चेतना लौट आई। वह जागृत-तुल्य बैठ गया। अपने मस्तक पर हाथ फेरा। मूर्च्छा तिरोहित होने लगी।

'स्वप्न।'

'भगवन्। आप जला-जला कह कर व्याकुल हो गए थे।'

'भयंकर स्वप्न था मन्त्री !'

'जागृत अवस्था में स्वप्न !—आश्चर्य भगवन् ! !'

'मन्त्री ! उसे स्मरण कर रोमांच हो जाता है।'

'देव ! क्या हम सुन सकेंगे ?

'कहूँगा।'

राजा स्थिर होकर बैठ गया। उसने सभा में स्थित लोगों पर दृष्टि-पात किया। सबकी मुख-मुद्रा में कौतूहल जानने की उत्कट अभिलाषा थी। राजा की आँखें पार्श्व में खड़े ऐन्द्रजालिक पर पड़ीं।

'ऐन्द्रजालिक ! तुमने माया की रचना की थी ?'

'मैंने कुछ नहीं किया महाराज ! मैं यहाँ यथावत् खड़ा हूँ।'

'नहीं। तुमने इन्द्रजाल रचा है। मुझे व्यर्थ कष्ट दिया है।'

'कैसा कष्ट भगवन् ?'

'स्मरण कर मन काँप उठता है।' राजा सिहर गया।

महामन्त्री की पैनी दृष्टि ऐन्द्रजालिक की ओर उठी। उसमें क्रूरता थी। ऐन्द्रजालिक के अधरों पर पतली स्मित-रेखा थी।

'महाराज ! हुआ क्या ?' ऐन्द्रजालिक ने विनम्रतापूर्वक अंजलिबद्ध प्रश्न किया।

'सुनो।' राजा ने कहना आरम्भ किया, 'ऐन्द्रजालिक तुम्हें स्मरण होगा, तुमने सभा में अकस्मात् आकर प्रार्थना की थी कि तुम इन्द्रजाल

दिखाओगे। मैंने तुम्हें दिखाने का आदेश दिया था। तुम अपनी पिटारी से मयूर-पिच्छिका निकाल कर मेरे सम्मुख घुमाने लगे । मैं मयूर-पिच्छिका की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने लगा । देखते-देखते मुझे मूर्च्छा आने लगी। मैं चेतना-हीन होने लगा। मेरी आँखें लग गईं।

'मैंने देखा। सभा में एक अश्व-पालक आया । उसके पास उच्चैः-श्रवा तुल्य द्रुतगामी सुन्दर अश्व था।'

'राजन् !'—अश्वपाल ने कहा : 'अश्व मूर्तिमान वायु है। मेरे स्वामी की इच्छा है, अश्व किसी महान् विभवशाली व्यक्ति के पास रहे । एतदर्थ मैं महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आशा है, देव इसे स्वीकार कर अनुगृहीत करेंगे।'

'ऐन्द्रजालिक !' राजा ने कहा : 'मुझे स्मरण है । उस समय तुमने कहा था, प्रभो ! इस अश्व पर आरूढ़ होइए । सूर्य की भाँति पृथ्वी पर विचरण करते हुए सबको कृतार्थ कीजिए।'

'मैं विस्मयापन्न अनिमेष दृष्टि से उस अश्व को कुछ काल तक देखता रहा। अनन्तर में अश्व पर आरूढ़ हुआ। मेरे शरीर का भार पाते ही अश्व वायु वेग-तुल्य चला। उस समीरणोपम द्रुतगामी अश्व की सहायता से मैं यहाँ से बहुत दूर निकल गया। मैं उतनी दूर पहुँच गया, जितनी दूर विषय-लोलुप व्यक्ति परमार्थ-चिन्तन से हो जाता है।

:o: :o: :o:

'मैं उस निविड़ महारण्य में पहुँचा जो दरिद्र के हृदय के समान शून्य, रमणी-चित्त-सदृश जटिल, और प्रलय-दग्ध जगत्-तुल्य भीषण था । उस महारण्य में जल दुर्जनोंमें ज्ञान की तरह दुर्लभ था । यदि कहीं जल मूर्खों के मलिन विवेक की तरह झलक जाता था, तो वह लवणमय और अपेय था। वह निर्जन महारण्य आकाश के समान असीम, सागर-तुल्य विस्तृत और मूर्खों के क्रोध के समान विषम था। उस अरण्य से मेरा मन उसी प्रकार खिन्न हो गया, जिस प्रकार किसी मनचली योषिता का मन अन्न-वस्त्र विहीन पति की दरिद्रता से खिन्न हो जाता है । उस मरुभूमि-सदृश अटवी में यदि कहीं पेय जल था, तो उसका भ्रप मृग-मरीचिका

में हो जाता था। मैं वहाँ क्लान्त तथा परिश्रान्त अवस्था में सूर्यास्त तक घोर कष्ट में पड़ा रहा। उस समय वह वन मुझे ऐसा कष्टकर मालूम हो रहा था, जैसे किसी विवेक-सम्पन्न पुरुष का मोह अवसादित होने पर, उसे संसार अन्तःसार-शून्य प्रतीत होता है।

'जिस प्रकार भगवान् भुवन-भास्कर दिन भर नभ-मण्डल में भ्रमण करने के पश्चात् अश्वों के साथ अस्ताचल-गामी होते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने श्रान्त अश्व पर आरूढ़ उस घोर मरुस्थल का अतिक्रमण करता हुआ एक दूसरे वन में पहुँचा। विहंगम-कुल तरु-पल्लवों में बैठे कलरव द्वारा वन की नीरवता नष्ट कर रहे थे। यह वन पूर्व वन-तुल्य गहन था। पर उसकी अपेक्षा किंचित् सुखकर प्रतीत हुआ, जैसे मृत्यु के दुस्सह दुःख की तुलना में किंचित् कष्टकर व्याधि अच्छी लगती है। वहाँ पहुँच कर मैं एक जामुन के वृक्ष की छाया में उसी प्रकार शरणार्थी हुआ, जिस प्रकार महाप्रलय के समय मार्कण्डेय मुनि ने वट वृक्ष की शरण ली थी।

'मेरा अश्व शिथिल हो गया था। मैं एक वृक्ष की छाया में पहुँचा। हाथों की पहुँच तक वृक्ष की शाखाएँ लटक रही थीं। मैंने क्रीड़ावश वृक्ष की शाखा दोनों हाथों से थाम ली। अश्व की पीठ से किंचित् शाखा पकड़ कर उठ गया। मुझे कुछ अच्छा लगा। शाखा पर दोनों हाथों से जोर देकर लटक गया। अश्व की पीठ खाली हो गई। अश्वारोहीहीन समझ कर अश्व खसक गया। मैं चकित हुआ। शाखा त्याग कर भूमि पर कूद पड़ा। अश्व पकड़ने बढ़ा। उसके पास पहुँचूँ कि अश्व वन में वेगपूर्वक भाग कर लुप्त हो गया।

'मैं श्रान्त तथा व्यथित जामुन वृक्ष के मूल भाग में खिन्न मन विश्राम करने लगा। दिवाकर प्रतीची दिशा में लोप हो गए। जगत् श्यामता में विनिमज्जित हो गया। जीव-जन्तु विश्रामशील हो गए। विहंगम-कुल रात्रि में जिस प्रकार अपने पैरों में चंचु बटोर कर निश्चेष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मैं उस जामुन वृक्ष के नीचे अपने पैरों में मुख गाड़ कर निश्चेष्ट पड़ गया।

'उस भयंकर अरण्य में वेतालों का उत्कट तथा भयंकर चीत्कार उस समय शान्त हुआ जब नभ-मण्डल में बिखरी तारिका-पंक्ति म्लान होने लगी। मेरा दौर्बल्य तिमिर-रेखा की क्षीणता के साथ क्षीण होने लगा। शीताकुल जन्तुओं के दाँत बजने बन्द हो गए। उषा उत्साह के साथ आई।

'मैंने देखा। प्राची दिशा में उठती रश्मियाँ मुझे विपन्न देखकर मुसकरा रही हैं। गगन-मण्डल में भगवान् विभाकर का दर्शन प्राप्त कर मैं अपने शरीर को झाड़ता हुआ उसी प्रकार खड़ा हो गया जिस प्रकार भगवान शंकर अपने गजचर्म को झाड़ते हैं। मैं यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने लगा। मूर्खों में जिस प्रकार कमनीय गुणों का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार उस जरठ जंगल में मुझे किसी प्रकार का दर्शन नहीं मिल सका। केवल विगत शंका चंचल विहंगम ची-ची-चू-चू-कू-कू करते पल्लवों में विहार कर रहे थे।

'निशा के नीहार—बिन्दुओं द्वारा आर्द्र लता-वृक्षादि दिन-नायक की रश्मियों द्वारा सूख गए थे, जैसे स्नान करने के पश्चात् उन्होंने शरीर पोंछ लिया हो। भुवन-भास्कर ने दिन के अष्टभाग की यात्रा समाप्त की। मैं उस अरण्य में महादीन-तुल्य विचरण करने लगा। कहीं कुछ खाने-पीने को नहीं मिला।

'सूर्य-रश्मियों के उग्ररूप धारण करने के साथ-ही-साथ शरीरस्थ सलिल सूखने लगा। पंच तत्व के मिश्रण से बनी काया एक तत्व जल के कारण व्याकुल होने लगी। मैं व्यथित हो गया। काया पंचतत्वों के विघटित होने पर, गिर कर, समाप्त हो जाएगी, यह कल्पना उदित होते ही मैं घबरा गया।

'मुझे यह काया अनायास त्याग देनी होगी। मेरी यह काया इस भयंकर घोर अरण्य में लुंठित पड़ी रह जायेगी। उस पर विहंगमों, हिंस्र पशुओं का महोत्सव होगा, आदि कल्पनाएँ मेरी पीपासा शान्त नहीं कर सकीं। उन्होंने मेरी स्थिति और दयनीय बना दी। मैं अपनी शरीर-रक्षा निमित्त अधीर हो गया। अधीरता, शरीर में जो कुछ शक्ति शेष थी, उसे

भी नष्ट करने लगी। मैं अत्यन्त चंचल हो उठा। पथ भ्रष्ट पथिक की तरह उस जंगल में जल के लिए, विश्राम के लिए; आतुरतापूर्वक घूमने लगा। एक-एक उठते पद में जैसे मेरे शरीर की जीवन-श्री बिखरती जा रही थी।

'अकस्मात् मैंने देखी एक बाला। उसके सर पर भात का पात्र था। दानवों को जैसे अमृत कलश धारण किए हुए, माधवी-रूप-धारी भगवान् लगे थे, उसी प्रकार वह बाला मुझे लगी। उनके नेत्रों की तारिका चंचल थी। उसका रंग श्याम था। उसने श्याम वस्त्र पहना था। श्याम रात्रि-स्वरूप तारिका-युक्त उस बाला के समीप मैं चन्द्रमा-तुल्य चला।

'बाले !' मैंने पुकारा।

'मेरी पुकार सुनकर वह चकित हुई। सतर्क हरिणी की तरह उसकी तारिकाएँ घूमने लगीं। वह गतिहीन स्थिर खड़ी हो गई। मेरी स्वर-ध्वनि की ओर लक्ष्य करने लगी। मैं उसके समीप पहुँचा।

'शुभे !' मैंने दीनता से कहा : 'मुझे पानी दोगी ! मैं तृष्णा से मरा जा रहा हूँ।'

'श्यामांगी ने उपेक्षा-पूर्वक मेरी ओर देखा। उसे मेरी स्थिति पर दया नहीं आई। उसकी मुद्रा में किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। मालूम पड़ता था, उसे हृदय नहीं है। वह पाषाण-मूर्ति है। भावनाओं का प्रभाव नहीं पड़ा। उसने मेरी ओर किंचित् अति कमनीय दृष्टि से देखा। उसके हाथों में रस तथा मूर्धा पर भोज्य पात्र देखकर मेरी भूख और प्यास कामी की तृष्णा की तरह बलवती हो गई थी। प्राणान्तकारी भूख-ज्वाला से कातर होकर मैंने कहा।

'बाले ! मेरी प्राण रक्षा करो।'

'मेरी ओर उसकी मुसकराती आँखें उठीं। में क्षुब्ध हो गया। उसकी कोमल मानवीय प्रवृत्ति को जागृत किया।

'भूखों को भोजन, प्यासे को पानी देना पुण्य है। तुमने नहीं सुना है ?'

'दरिद्र की प्रार्थना लक्ष्मी नहीं सुनती।' उसने मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया। व्यंगपूर्वक कहा :

'आप राजा हैं ?'

'मेरा मुख लटक गया। उसने मेरी राजकीय परिधान का जैसे उपहास करते हुए कहा।

'आपका शरीर अलंकृत है। आप केयूर-हार-धारी हैं। शरीर पर सुन्दर परिधान है। रत्न-जटित मुकुट मस्तक पर शोभित है।'

'किन्तु—'

'उसके अधर लम्बे खिंच गए। कपोल की रेखा गम्भीर हो गई। 'राजन् !' हृदय को बेधती हुई वह बोली : 'मैं पुरुष, अश्व, गज-भक्षी, क्रूर राक्षसी हूँ।'

'उसने मुख फेर लिया। मेरी अवस्था बिगड़ती जा रही थी। मैंने अत्यन्त करुण शब्दों में कहा।'

'बाले ! तुम—! !'

'भद्र !' वह बोली। 'उन ग्रामीणों से, जिनकी इच्छा पूरी नहीं हुई होती, उनसे सौजन्य प्राप्त करना कठिन होता है। आप केवल याचना मात्र से भोजन प्राप्त नहीं कर सकते।'

'वह अनायास आगे बढ़ चली। मै उसका अनुसरण छाया की तरह करने लगा। प्रत्येक उठते पद के साथ मेरी अवस्था शोचनीय होती जा रही थी। मैंने अत्यन्त दीन स्वर से कहा।'

'मैं मर रहा हूँ।'

'यह भोजन मेरे पिता के लिए है। आपको कैसे दूँ ?' उसने मेरी ओर कटाक्ष करते हुए कहा।

'कुछ पीने को दे दो।'

'नहीं। जामुन का रस है। पिता पान करेंगे।'

'ओह ! मैं ! !' उसके अत्यन्त निकट जाकर मैंने अपनी पूरी शक्ति के साथ आर्त्त स्वर में कहा।

'नहीं दूँगी।' उसने नील गगन की ओर क्रूरतापूर्वक देखते हुए कहा।

'क्यों ?'

'मैं नीच हूँ। आप मेरा अन्न-जल कैसे ग्रहण करेंगे ?'

'आपत्ति में वर्ण, धर्म, कुल का कौन विचार करता है ?'

'ओह !' व्यंगपूर्वक वह मुसकराई। उसकी आँखें मेरे ऊपर फैल गईं।

'मैं ग्रहण करूँगा।'

'आप ग्रहण करेंगे ? किन्तु मैं न दूँगी।'

'मैं—' मेरी वाणी शिथिल हो गई। मेरे तालू सूख गए।

'आप मुझे ग्रहण करेंगे ?' उसके नेत्रों में किंचित् सरलता आने लगी।

'मैं भूमि पर गिर पड़ा। मेरा मस्तक झुक गया। शरीर की समस्त शक्तियों ने एक साथ जवाब दे दिया। वह मेरे पास चली आई। पात्र भूमि पर रखते हुए कहा : 'ग्रहण कीजिएगा ?'

'किंचित् आशा-स्वरूप मेरे मुख में जामुन रस की बूँदें अमृत-तुल्य जैसे पड़ने लगीं। शुष्क कण्ठ आर्द्र होने लगा। मेरा मस्तक अपनी ही ग्रीवा पर झुक गया। उसने अपनी क्रूर प्रवृत्ति में जैसे स्नेह का सृजन करते हुए कहा :

'आप मेरे पति होंगे ?'

'मैं उसकी प्रगल्भता पर अवाक् हो गया। उसकी ओर मेरी ज्योतिहीन आँखें उठीं। उसकी आँखों में ज्योति थी। उसके श्याम मुखमण्डल पर सरलता की आभा थी। मैं उसकी ओर देखता रह गया। मुझे कोई जवाब नहीं सूझा। अपनी ओर निरुत्तर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ मुझे देखते हुए रोष कर उसने निःसंकोच पूछा :

'क्या स्वीकार है ?'

'तुम !' मैं खिन्न मन कुछ चाह कर भी नहीं कह सका।

'मैं—चाण्डालिन हूँ।' उसने मुस्कराते हुए कहा।

'मेरा मुख घृणा से विवर्तित हो गया। मेरी आँखें उसकी दुष्टता देख कर लाल हो गईं। उनमें क्रोध उतर आया। मेरी असहाय अवस्था का वह अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहती थी। किन्तु मेरा क्रोध, मेरी घृणा मेरा कुछ उपकार नहीं कर सकी। मेरी स्थिति और बिगड़ गई। मैं भूमि पर लोट गया। मुझमें किंचित् मात्र शक्ति शेष नहीं थी। प्राणपखेरू जैसे काया-घोंसला से उड़ने की तैयारी कर रहे थे। उसने पात्र उठाते हुए कहा :

'पिता के समीप चलूँ। वे मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।'

'वह चलने का उपक्रम करने लगी। मैंने अपनी समस्त शक्ति एकत्र कर पूछा : 'कहाँ जा रही हो?'

'श्मशान भूमि के समीप मेरे पिता हल चला रहे हैं।'

'श्मशान!' मेरी आँखों के सम्मुख श्मशान का भयंकर रुप इस नारी हृदय की असहृदयता के साथ और भी भयंकर रूप में खिल उठा। उसने दूसरी तरफ देखते हुए कहा :

'श्मशान में पली हूँ। वह अपना घर है। वहाँ काम करती हूँ। पिता जी वहीं रहते हैं।' उसने अपने कर्म में जैसे गर्व का अनुभव करते हुए कहा।

'मैं खिन्न हो गया। अपने शरीर पर, अपने जीवन पर, इस जगत् पर और सबसे अधिक विपत्ति की इस क्रूरता पर क्रोध आ रहा था। क्रोध मेरी भूख-प्यास बुझाने में असमर्थ था। मन में विचार उठता था। उछल कर जामुन का रस छीन कर पी लूँ। भात खा जाऊँ। किन्तु मुझ में शक्ति शेष नहीं रह गई थी। मैं उठने में, चलने में, अपनी शक्ति प्रयोग करने में सर्वथा असमर्थ हो गया था। मैं जड़वत् हो गया था। अपनी काया, अपने शरीर की इस अवस्था पर मुझे रुलाई आने लगी। कर्मेन्द्रियाँ हमारा साथ छोड़ चुकी थीं। ज्ञानेन्द्रियों ने साथ छोड़ना आरम्भ कर दिया था।

'मुझे अपने शरीर की निस्सारता पर, उसकी शक्ति पर, उसके भ्रामक दर्शनीय रूप पर दया आने लगी। यह शरीर जिसे पाला था,

पोसा था, जिसे सुखी बनाने के लिए सब कुछ किया था, इस आपत्ति में कृतघ्न साथी की तरह साथ छोड़ चला था। किन्तु मेरा वैराग्य, मेरा ज्ञान, मेरा विवेक मेरे शरीर में शक्ति-संचार नहीं कर सका। मेरी दयनीय दशा युवती में दया का उद्‌बोधन नहीं कर सकी। वह मेरी ओर देखती निर्विकार भाव से खड़ी रही। श्मशान में रहते-रहते उसके हृदय की कोमल मनोवृत्तियाँ, भावनाएँ, कल्पनाएँ सब एक साथ सूख गई थीं। शरीर का दु:ख, दूसरों का दु:ख, दूसरोंकी करुणा, उसे द्रवित करने में असमर्थ हो चुकी थी। वह कहती हुई चल पड़ी।

'मैं चलती हूँ।'

'मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह चली। मैंने उसे जाते देखा। वह जितने पग आगे बढ़ती थी, उतने ही पग यम के दूत मेरे समीप आने लगे। मृत्यु का भयंकर रूप मेरी आँखों के सम्मुख आ गया। यमदूतों का ग्रन्थों में पढ़ा हुआ कल्पित रूप स्मरण कर भयभीत हो उठा। भय की भयंकरता के कारण रो नहीं सका। मेरी अवस्था विक्षिप्त हो गई। मैं यह संसार त्याग करूँगा। मुहूर्त मात्र पश्चात् प्रेतस्वरूप हो जाऊँगा। मैं अपनी कातरता, अपनी अधीरता, अपने मोह पर चिढ़ना, आवेश में चिल्ला उठा :

'बाले! बाले!!'

'मैं मूर्छित होने लगा। मेरा मस्तक भूमि पर गिर पड़ा। युवती समीप आई। मेरे कानों के पास मुख ला कर बोली।'

'क्या करूँ?'

'पानी', मेरी जिह्वा बाहर निकलने लगी। आँखों की पलकें खुली रह गईं। मैं शून्य गगन की ओर न जाने क्या देखने लगा। कानों में सीं-सीं की आवाज आने लगी। वह पुनः मेरे कानों के समीप अपना मुख ला कर बोली :

'स्वीकार है?'

'ओह! उसके मुख की दुर्गन्धि से मेरा उस अर्ध-विक्षिप्त अवस्थामें भी मन भिनक गया। मुझे मृत्यु उसके मुख की दुर्गन्धि से भली लगी।

किन्तु मिथ्या काया मुझे परेशान कर रही थी। मेरे कहने की शक्तियाँ भी लोप हो चली थीं। मैं केवल इतना ही कह सका :

'सुव्रते ! जल—!'

'युवती पात्र-स्थित आधा भात तथा जामुन का रस अलग करने लगी। मेरी बुझती आँखों ने देखी उसकी आँखों में विजय-ज्योति।

:o: :o: :o: :o:

'जामुन का रस पान किया। भात खाया। शरीर की जीवन-शक्ति पुनः लौट आई। मेरे नेत्र खुलने लगे। तेजहीन टिम-टिमाते दीपक में जैसे तेल पड़ गया। मैं स्वस्थ हो गया। तरु-छाया में विश्राम करने लगा। श्यामल बाला द्वारा प्रदत्त अन्न-जल ग्रहण करने से मैं हतप्रभ हो गया था। मोहग्रस्त होने पर मेरी विमल चेतना लुप्त हो गई। उसने चलने का संकेत किया। मैं हतबुद्धि खड़ा हो गया। वह बोली :

'चलो चलें !'

'कहाँ ?' मैं अनायास पूछ बैठा।

'पिता के समीप।' उसकी वाणी में माधुर्य आ गया था।

'क्यों ?'

'आपने मुझे पत्नीरूप ग्रहण किया है। पिता का आशीर्वाद लेने।'

'मुझे काठ मार गया। मैं जड़वत् हो गया। उसने मुझे अपना शिकार समझ लिया था। मैं कुछ बोल न सका। उसने उत्साह से कहा :

'मैं पिता जी से कहूँगी। वह हमारा विवाह-सम्बन्ध स्वीकार कर लेंगे।'

'उसने शेष जामुन का रस तथा भात उठा लिया। मैं उसके साथ चल पड़ा। मैं उसके साथ उसी प्रकार चलने लगा जैसे यमदूत के साथ पापी चुपचाप चलता है।

'मैं श्मशान भूमि में पहुँचा। दुराकृति, अति स्थूल, श्याम वर्ण, काल-स्वरूप उसका पिता बैठा था। जैसी यातना अवीचि नरक में पहुँचती है,

उसी प्रकार वह श्यामांगी युवती अपने कालस्वरूप घोर श्यामवर्ण पिता के पास पहुँची। उसका शरीर श्मशान की धूल से धूसरित था। पिता ने मुझे देखकर पूछा,

'वह कौन है ?'

'लज्जित नव-विवाहिता कन्या-तुल्य वह अपने पिता के कानों में कहने लगी। 'यदि आपको रुचिकर हो तो मैं इसे अपना भर्त्ता बना लूँ ?'

'उसके पिता ने मुझे ऊपर से नीचे तक कई बार देखा। कन्या मुझे देखकर ललना-सुलभ लज्जा से मुसकराने लगी। वह पिता के पीछे खड़ी हो गई। वहीं से पिता को प्रणाम करने का संकेत किया।

'मैंने उस चाण्डाल को प्रणाम किया। चाण्डाल अपनी आँखों से मुझे तौलने लगा। उसने मुझे आशीर्वाद दिया। युवती प्रसन्न हो गई। उसने भात और जामुन का रस पिता के सम्मुख रख दिया।

'सायंकाल युवती के पिता ने बैल, युवती तथा मुझे साथ लेकर उस वन से प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

'मैं उनकी आबादी में पहुँचा। नरक का वर्णन ग्रन्थों में पढ़ा था। उसमें वैसा ही दृश्य दिखाई दिया। उसका घर दुर्गन्धिपूर्ण था। यत्र-तत्र अस्थि, मांस, मज्जा तथा रुधिर पड़े थे। श्वान, मृग, गंधर्व, हस्ती आदि की खालें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। मक्खियाँ चारों ओर भिन-भिना रही थीं। मैं उन्हें लाँघता हुआ चला। यमदूतिनी बाला के साथ अपने नवीन श्वशुर-मन्दिर में प्रवेश किया। गृह के पश्चात् एक उजाड़ वाटिका थी। उसमें उसकी माता बैठी थी। बाला मुझे माता के पास ले गई। हम खड़े हो गए। आरक्त नेत्र मेरे श्वशुर ने अपनी धर्मपत्नी से कहा।

'जमाता है।'

'बाला लज्जित हो गई। उसकी माँ की काली आँखें मेरी ओर स्नेह से उठीं। उन बुझी आखों में जैसे ज्योति आ गई थी। उनमें मैंने देखा आनन्दाश्रु। अपनी कन्या की ओर उसकी आँखें उठीं। आँखों के प्रेमाश्रु

कपोलों पर लुढ़क गए। उसने स्नेह से मेरा मस्तक सूँघा। उसके शरीर तथा मुख की दुर्गन्धि से मैं व्याकुल हो गया। मैं चेतनाहीन होने लगा। मूर्च्छा को बल से रोका। श्वास रोक कर अपनी नवीन सास को प्रणाम किया। उसने अपने आँसुओं को पोंछते हुए कहा,

'पुत्र ! भगवान तुम्हें सुखी रखें।'

'मैं चर्म के आसन पर बैठ गया। वहाँ मैंने उसी प्रकार भोजन किया जिस प्रकार पापी अपने संचित पापों को भोगता है। भोजन करने पर मेरे पूर्व संस्कार नष्ट हो गए। मैं भूल गया, मैं कौन था। मैं केवल रह गया एक चाण्डाल मात्र।

'एक दिन चाण्डाल-मण्डली एकत्र हुई। धूमधाम हुआ। उस श्यामवर्ण बाला के साथ मेरा विवाह कर दिया गया। मद्य, मांस आदि का यथेष्ट पान तथा भोजन हुआ। चाण्डालों का नृत्य हुआ। सात रात तक उत्सव होता रहा। मैं बन गया चाण्डालों का जमाता।'

:o: :o: :o:

'मैं एक प्रतिभाशाली चाण्डाल था। चाण्डाल कर्म में निपुण हो गया। उस मण्डली में मेरी मान-प्रतिष्ठा बढ़ गई। आठ मास व्यतीत होने पर मेरी पत्नी पुष्पित हुई। तत्पश्चात् वह गर्भवती हुई। उससे मुझे एक कन्या उत्पन्न हुई। वह मूर्खों की विपुल चिन्ता-तुल्य बढ़ने लगी। तीन वर्ष पश्चात् आशा-पाश का निर्माण करने वाला अशोभन नामक पुत्र हुआ। इस पुत्र के पश्चात् मुझे एक कन्या तथा पुत्र क्रम से हुए। इस प्रकार तीन पुत्र, तीन कन्या तथा पति-पत्नी मिलकर आठ व्यक्तियों का छोटा कुटुम्ब बन गया।

'मेरे मुकुट-अलंकारादि नष्ट हो गए। मैं सर पर बोझा ढोने लगा। कंकड़ों पर, पत्थरों पर, भूमि पर शयन करने का आदी हो गया। श्मशान का वस्त्र मेरा परिधान हो गया। मैं एक कौपीन मात्र लगाकर रहने लगा। रक्तमय वस्त्र तथा अशुभ जन्तुओं के चर्मों की तकिया लगाता था। कुक्कुट, हस्ती आदि का मांस-भोजन साधारण बात हो गई।

जन्तुओं का रुधिर पान करने में संकोच नहीं होता था। जाल में पक्षियों को फँसाना, जल से मछलियों को पकड़ना, क्रूरतापूर्वक हत्या करना मेरा दैनिक कर्म हो गया। श्मशान में सेवा कार्य करना पवित्र कर्त्तव्य गिना जाने लगा। एक-एक टुकड़े मांस के लिए चाण्डाल-कुलों में लड़ाई होती थी। उस लड़ाई में गृद्धों के समान मैं भी सम्मिलित होता था।

'उच्छिष्ट भोजन, मिट्टी के पात्रों का व्यवहार, श्मशान की रखवाली, रक्त-मांस आदि के बीच रहकर चतुर चाण्डालवत् जीवन व्यतीत करने लगा।'

:o: :o: :o:

'मैं जराजर्जरित हो गया। मेरे श्वेत दाढ़ी-मूँछ तुषाराच्छादित तृण-तुल्य लगने लगे। कर्म वायु से प्रेरित सुख-दुःखमय दिन बीतने लगे।—कल्लोल-पूर्ण समुद्र के समान मेरा चित्त भ्रान्त हो गया। आलम्बनहीन पक्षी जिस प्रकार आकाश में स्वच्छन्द उड़ता हो, उसी प्रकार निराधार कल्पना-जगत् में उड़ता जड़वत् हो गया।

'मैं निर्जीव शव-तुल्य अपना भूपत्व भूल चुका था। भीषण अवर्षण उपस्थित हुआ। प्रलय काल में संसार जिस प्रकार नष्ट होता है, वनाग्नि जिस प्रकार वन को दग्ध कर देती है, वज्र जिस प्रकार सूखे वृक्ष को जला डालता है, समुद्र की उत्ताल तरंगे जिस प्रकार तट को ध्वस्त कर देती हैं, अकाल में जिस प्रकार मृत्यु होती है, उसी प्रकार के भीषण दुर्भिक्ष काल में अपनी चाण्डाल-मण्डली के साथ विन्ध्याचल के वन में आया।

'मेघ बरसात नहीं था। देखते-देखते आकाश में विलीन हो जाता था। अंगार-कण-मिश्रित वायु बहती थी। पादप सूख गए थे। तृणपल्लव तथा लताओं के कंकाल शेष रह गए थे। उड़ती धूल के कारण लोगों के अंग धूलि-धूसरित हो गया था। नगर तथा ग्रामों ने अरण्य का रूप धारण कर लिया था।

'माता-पुत्र-पिता परस्पर स्नेह और एक-दूसरे के दुःस्सह दुःख से दुःखित होकर एक-दूसरे से लिपट जाते थे। प्राणियों के रुधिर पीने के लिए जंगली पशु उत्कंठित हो उठे थे। सुरम्य विन्ध्य-अटवी भीषण अवर्षण के कारण प्रलयकालीन द्वादश सूर्यों के सदृश तपने लगी।

'मैंने अपने श्वशुर और अन्य सम्बन्धियों का साथ त्याग दिया। अपने कुटुम्ब के साथ भयंकर वन से बाहर निकला। एक ताल वृक्ष की छाया में अपने बच्चों के साथ विश्राम करने लगा। मेरी पत्नी अपना दुःख शान्त करने के लिए शिथिल सो गई। उसके छाती से लगकर दो पुत्र सो गए। कनिष्ठ पुत्र पृच्छक मेरे सम्मुख बैठा था। वह प्यास तथा भूख से व्याकुल होकर कहने लगा :

'पिताजी ! भूख लगी है ! !'

'मैंने अपनी पत्नी की ओर देखा। उसकी छाती सूख गई थी। मैंने अपने व्याकुल पुत्र से प्रेमपूर्वक पूछा :

'क्या खाओगे ?'

'मांस।'

'वह तो नहीं है।'

'मैंने विवश दृष्टि से चारों तरफ देखते हुए कहा। मैं स्वयं अपने पुत्र का दुःख देख कर अस्थिर हो गया। उसका मुख चूम लिया। उसका मन दूसरी तरफ फेरना चाहा। उसने गले से लिपटते हुए कहा :

'भूख लगी है।'

'वह रोने लगा। उसके आँसू मेरी ग्रीवा पर तरल धब्बे जैसे लग गए। मैंने उसे बहलाते हुए कहा :

'अच्छा सो जा, ला दूँगा।'

'ना—प्यास लगी है।'

'वह दुःख से कातर हो गया। उसकी माँ उठ गई। उसने बच्चे की व्याकुलता देखी। अपनी विवशता पर खिन्न थी। उसकी आँखों में आँसू आ गए। उसने दूसरी ओर मुख फेर लिया। बालक की पीठ सहलाते हुए मैने कहा

'मेरा मांस खाओगे ?'

'हाँ।'

'बालक प्रसन्न होकर बोला। उसे क्या मालूम था कि उसके पिता तथा दूसरे के मांस में अन्तर होता है। उसकी माता की गोद में उसे रख कर उठा।

'वन की सूखी लकड़ियाँ एकत्र कीं। चिता रची। अग्नि प्रज्वलित कर अपनी स्त्री के पास लौट आया। बालकों को उठाया। मांस मिलेगा, सुनते ही सब प्रसन्न हो गए।

'मैं चिता के समीप आया। मेरी स्त्री चिता देखकर चकित हो गई। उसकी भय-विह्वल दृष्टि मेरी ओर उठी।

'कुछ नहीं। यह शरीर किसी काम आना चाहिए।'

'ना-ना—यह कभी न होगा।' वह मुझे पकड़ कर रोने लगी। मुझसे लिपट गयी। बालक कुछ समझ न सके। कुछ किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गए। मांस की आशा में प्रसन्न थे। कुछ चिताग्नि कौतूहलपूर्वक देख रहे थे।

'बलपूर्वक स्त्री के पाश से मुक्त होकर वेग-पूर्वक अग्नि में यह कहता कूद पड़ा :

'मेरा मांस खिलाकर बच्चों की रक्षा करो।'

'प्रजागण !' राजा ने सभा स्थित लोगों की ओर देखते हुए कहा : 'मैं सिंहासन से विचलित होने लगा। मुझे चिता की अग्नि जलाने लगी। जलन की तीव्र मर्मान्तक पीड़ा के कारण मैं जला, जला आर्त नाद कर उठा। परिचर्या के कारण मुझे शान्ति मिली। मेरी मुहुर्त मात्र की मूर्च्छा दूर हुई। ऐन्द्रजालिक ! तुमने मुझमें उसी प्रकार मोह उत्पन्न कर दिया, जैसे अज्ञानियों में चारों ओर से मोह उत्पन्न होने लगता है।'

'राजन् ! ये घटनाएँ सत्य हैं। यदि आप चाहें तो आंखों देख सकते हैं।'

राजा ने ऐन्द्रजालिक की तरफ देखा।

सभा-स्थित लोगों की विस्मयापन्न आँखें ऐन्द्रजालिक की ओर केन्द्रस्थ होने लगीं। अचानक लोगों की चकित आँखों ने देखा ऐन्द्रजालिक अन्त-

हित हो गया। राजा लवण की आँखें सभा-मण्डल में चारों ओर उसे खोजती दौड़ने लगीं।

'देव !' विस्मयोत्फुल्ल लोचन सभासदों में एक सभ्य ने कहा। 'वह शाम्बरिक नहीं है। उसे धन की इच्छा नहीं थी। संसार-स्थिति समझनेवाला वह कोई दैवी मायावी था। शाम्बरिक अर्थात् ऐन्द्रजालिक का एक मात्र प्रयोजन इन्द्रजाल प्रदर्शन कर धन अर्जन करना है। वे कभी अन्तर्धान नहीं होते।'

'यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ ?' राजा ने पूछा।

'नृपवर !' सभास्थित महर्षि वशिष्ठ ने नम्रतापूर्वक कहा। 'मन ही शुभ तथा अशुभ फलों का भोग करता है। उस मन की भ्रान्ति, उसके स्फुरण के कारण मुहूर्त मात्र में आपने लम्बे जीवन का अनुभव कर लिया है।'

'आश्चर्य !' राजा ने दृष्टि नत करते हुए कहा। सभा में उपस्थित लोगों का ध्यान महर्षि की ओर आर्कषित हो गया।

'राजन् !' वशिष्ठ ने कहा : 'आपके पूर्वज महाराज हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में बारह वर्ष की घटनाओं का अनुभव हो गया था। आपने एकान्त में बैठ कर विचार करना आरम्भ किया। आपके पितामह महान् थे। उन्होंने राजसूय यज्ञ किया था। आप उसी कुल में उत्पन्न हुए हैं। आपने मानसिक यज्ञ का आयोजन किया।'

'महीपते ! आपने मन से राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली। ऋत्विज को बुलाया। मुनियों की पूजा की। देवताओं को आमन्त्रित किया। अग्नि प्रज्वलित की। देवता, ऋषि तथा द्विज की मानसिक पूजा में आपका एक वर्ष समाप्त हो गया। दक्षिणादि दान कर अपने उपवन में आपने सायंकाल पूर्ण चेतना प्राप्त की। आपने अपने संतुष्ट मन से राजसूय यज्ञ किया है। यज्ञ का फल मिलना आवश्यक है। राजन् ! मैंने अपने योग बल से यह सब जान लिया है।'

'ऋषिवर ! मेरे मानसिक राजसूय यज्ञ का फल, चाण्डालत्व की कल्पना, उसके द्वारा प्राप्त मानसिक दुःख द्वारा क्यों मिला ?' राजा ने जिज्ञासु वाणी में पूछा।

'राजन् !' वशिष्ठ ने कहा : 'ऐन्द्रजालिक द्वारा प्रदर्शित माया-जाल में राजसूय यज्ञ के अनिष्ट मानसिक फल को आपने प्राप्त किया है।'

'मुनि-पुंगव ! इस अनिष्ट फल का कारण क्या है ?'

'महीपते !' वशिष्ठ ने कहा : 'राजसूय यज्ञ करने वाले को बारह वर्ष तक आपदा, दुखः तथा नाना प्रकार की व्यथाएँ प्राप्त होती हैं।'

'ब्रह्मर्षि ! मुझे यह व्यथा देने का किसने आयोजन किया था ?'

'पृथ्वीपति !' वशिष्ठ ने कहा : 'इन्द्र ने स्वयं यह कार्य किया है । आपका राजसूय यज्ञ मानसिक था। अतएव आपको मानसिक अनिष्ट फल प्राप्त हुआ। इन्द्र ने देवदूत को ऐन्द्रजालिक का रूप बनाकर आपकी राजसभा में भेजा था। वह ऐन्दजालिक आपको क्लेश देकर नभो मार्ग द्वारा चला गया।'

'मुनिवर ! यह घटना !' राजा की मुद्रा विचारशील हो गई। वह जैसे कुछ खोजने लगे।

'राजन् !' वशिष्ठ ने कहा, 'समस्त जगत् मन में है। मन उसे निमेष मात्र में उत्पन्न तथा विलीन कर देता है। यह संसार स्वप्न-तुल्य है। मुहूर्त्त मात्र में स्वप्न में वे घटनाएँ घट जाती हैं जो बाह्य जगत् में युगों तथा कल्पों में घटित नहीं हो सकती हैं। यह बाह्य जगत् दूसरा स्वप्न है। बाह्य जगत् में जो बातें होती हैं, वे ही क्षण मात्र में स्वप्न काल में दिखाई देती हैं। उनका अनुभव होता है।'

'मैं कल उन स्थानों पर चल कर देखूँगा कि घटनाएँ सत्य हैं अथवा नहीं।'

:o: :o: :o:

राजा ने मन्त्रियों सहित दक्षिण दिशा-स्थित विन्ध्य की ओर प्रस्थान किया। उसने अपनी मूर्छा-स्थिति में जिन स्थानों को देखा था उन्हें देख-कर चकित हो गया। उसकी मूर्छा में अनुभूत सब चीजें परिचित-तुल्य दिखाई देने लगीं। उन्होंने अपने स्वप्न-काल के चाण्डाल साथियों तथा व्याधों कोपहचाना।

राजा महावन में धुआँ उठते उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ वह चाण्डाल होकर ग्राम में निवास करता था। पूर्वपरिचित पुरुषों, स्त्रियों, कुटियों तथा भूमितटों को देखा, जहाँ उसने अपना चाण्डाल-जीवन व्यतीत किया था।

अकाल द्वारा दुर्दशा-ग्रस्त पूर्वानुभूत वृक्षों, साथियों तथा स्थानों को देखा। उसके आश्चर्य की सीमा उस समय नहीं रही जब उस परिचित चाण्डाल स्त्रियों को उसी प्रकार बातें करते देखा, जैसा उसके बीच बैठा करता था।

राजा ने देखा। एक वृद्धा चाण्डालिन आँसू बहाती अपनी वृद्धा सखियों के मध्य बैठी है। वह रो रही थी। दुर्भिक्ष में अकाल मृत्यु-प्राप्त हुए बन्धु-बान्धवों के अगणित दुखों का वर्णन कर रही थी। वृद्धा कृशाङ्गी थी। उसके स्तन सूखे थे। वह फटी-पुरानी कथरी ओढ़े थी, उसका शरीर अन्न-जल बिना जर्जर हो गया था। वह कह रही थी। 'राजा ने मेरी पुत्री के लिए अन्तःपुरवासिनी कमनीय बालाओं को त्याग कर दिया था। हमारा जामाता वह राजा तथा हमारी कन्या दोनों इस दुर्भिक्ष में नष्ट हो गए। मेरे पति का देहान्त हो गया। पुत्री मर गई। मैं दुर्दशा में पड़ी हूँ। दरिद्र हूँ। चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हूँ। संकट में पड़ी हूँ। मैं स्वयं भयस्वरूप हो गई हूँ।'

राजा ने वृद्धा का करुण विलाप सुना। वह सर्वथा अकेली अपनी करुण-गाथा सुनाने के लिए बच गई थी। उसकी दीन तथा करुण अवस्था देखकर राजा की आँखें भर आईं। राजा ने परिचारिकाओं को संकेत किया। परिचारिकाओं ने वृद्धा को शान्त किया। वृद्धा किंचित् स्वस्थ हुई।

'वृद्धे !' राजा ने पूछा : 'यहाँ पर कौन-सी दुर्घटना घटी है ? तुम्हारा परिचय क्या है ? तुम्हारी पुत्री कौन है ? तुम्हारा पुत्र कौन था ?'

'राजन् !' वृद्धा बोली, 'इस ग्राम का नाम पुण्य घोष है। मेरे पति का नाम पुष्कसक था। शशि-तुल्य उसकी एक सुन्दर कन्या थी। उसने यहाँ पर आये हुए इन्द्र-तुल्य सुन्दर एक राजा से विवाह किया। उन्हें सन्तानें हुईं। जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा।'

'उसके पश्चात् ?'—राजा ने ध्यानपूर्वक सुनते हुए पूछा।

'पृथ्वीपते !' वृद्धा बोली : 'भयंकर दुर्भिक्षकाल उपस्थित हुआ। अनेक ग्रामवासी यहाँ से प्रस्थान कर गये । और शेष ने महाप्रस्थान किया। मैं अभागिन इस वन में वन्धु-वान्धव विहीन दुस्सह दुःख भोगने के लिए रह गयी हूँ।'

घटनाएँ सत्य पाकर राजा स्तब्ध हो गया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही। वृद्धा मूर्छाकाल में देखी गयी उसकी सास थी।

राजा की मुद्रा गम्भीर हो गई। वह बारम्बार वहाँ की अन्य घटनाओं को पूछने लगा। उसे सभी बातें सत्य मालूम हुईं । राजा ने वृद्धा का सत्कार किया। वहाँ कुछ समय निवास किया । उन चाण्डाल-कुलों का अनेक प्रकार से उपकार कर अपनी राजधानी लौट आया।

:o: :o: :o:

राजा ने अपने सभा-भवन में पुनः वशिष्ठ से प्रश्न किया :

'मुनिपुंगव ! यह स्वप्न किस प्रकार सत्य प्रमाणित हुआ है ?'

'राजन् !' वशिष्ठ ने कहा : 'उस चाण्डाल-मण्डली में किसी का विवाहादि सम्पन्न हुआ था। वही घटना पृथ्वीपति आपके मन में प्रतिभासित हुई है। अतएव स्वप्न होकर भी वह सत्य है। राजन् ! जिस प्रकार भ्रमवश चाण्डाल-भावना आप में स्फुरित हुई, उसी प्रकार यह जगत् मन का स्फुरण है। अपने संकल्प के अनुरूप लोंग होते हैं। यह मन विविध नगर, नदी, पर्वतादि रूप प्राप्त कर देह में जागृत-स्वप्न-मय जगत् का विस्तार करता है। भ्रान्ति के कारण जिस प्रकार आपने चाण्डालत्व प्राप्त किया था, उसी प्रकार चित्त भ्रमवश दैवत्व से लोग दैत्यता को प्राप्त होते हैं। चंचल समुद्र अपनी लहरों की पंक्तियों का विस्तार करता रहता है। ठीक उसी तरह मन स्वप्न में अपने आप पर्वत, नदी, नगरों आदि की परम्परा का विस्तार करता है। हाथ के दर्पण में जिस प्रकार कोसों दूर का पर्वत अत्यन्त निकट दिखाई देता है, उसी प्रकार मन में समस्त जगत् प्रतिभासित हो जाता है।'

'मन की शक्ति ?' राजा का विवेक जागृत होने लगा।

'नरेन्द्र !' वशिष्ठ ने कहा : 'वह शक्ति अद्भुत है। वह शक्ति अतुलनीय है। उस शक्ति, उस मन का नियंत्रण जगत् का नियंत्रण है।'

सभा नीरव हो गई। सब में विवेक उत्पन्न हो गया था। वशिष्ठ शान्त स्थिर बैठ गए। राजा ने करबद्ध वशिष्ठ के चरणों में प्रणाम किया। वशिष्ठ के विमल निर्विकार नेत्र स्वर्गीय मुसकान के साथ राजा की ओर उठ गए।

योग वाशिष्ठ रामायण : उत्पत्ति प्रकरण : सर्ग १०४–१२१

राजा लवण को लवणासुर किंवा मधु राक्षस के पुत्र से नहीं मिला देना चाहिए। लवणासुर का वध शत्रुघ्न ने किया था।

महाभारत : आदि पर्व २७ : २
सभा पर्व ३८ : २९
अनुशासन पर्व १४ : २६७

पुराण ब्रह्माण्ड : ३ : ३३ : १८६
भागवत : ९ : ११ : १४
वायु : २ : २६ : १८४

वाल्मीकि रामायण : उत्तर काण्ड : ६७ : ७०

रामायण कथा : २७९

इन्द्रजाल क्या था, स्वरूप क्या था, आदि का रोचक वर्णन मत्स्य पुराण—२२२ : २ तथा अग्नि पुराण—२४० : ४६, ६६–६८ में मिलेगा। अथर्व वेद—८ : ८ : ८ में भी इसका उल्लेख मिलता है।

स्थिति-प्रकरण

□ शुक्र ... ...
□ नगर ... ...
□ दाम; व्याल, कट ...
□ उपमन्यु ... ... —
□ भीम, भास, दृढ़ ... ...
□ दाशूर ... ...
□ कच गीता ... ...

□

शुक्र

तमाल विटपाकुल मन्दर शैल पर, कुसुम-संकुल भृगु मुनि का पवित्र आश्रम था। उनका पुत्र महामति तेजस्वी शुक्र था। शुक्र पिता की सेवा में रत रहता था। महर्षि भृगु प्रायः निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाते थे। उस समय उनकी काया प्रस्तर मूर्ति-तुल्य निश्चल रहती थी।

भृगु आश्रम में पर्णकुटी थी। पर्णकुटी के सम्मुख की भूमि गोबर तथा शुद्ध मिट्टी से लिपी हुई थी। यज्ञ-वेदी बनी थी। वेदी के पार्श्व में समिधा, हवन सामग्री, मृगचर्म तथा कुशासन पड़े थे। कुछ दूर पर परस्पर विरोधी प्रकृति के वन-जन्तु, आश्रम के शान्त, अहिंसक, पवित्र वातावरण में निश्चिन्त विचरण, विश्राम तथा शयन कर रहे थे। महर्षि भृगु की निर्विकल्प समाधि लगी थी। शुक्र एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठे थे। उनकी दृष्टि विहंगमों की क्रीड़ा में लगी थी।

शुक्र ने नभ-पथगामी एक अप्सरा देखी। वह मन्दार माला से विभूषित थी। मन्द-मन्द समीरण में उसकी अलकें उड़ जाती थीं। उसके हार की झंकार से उसकी गति मालूम पड़ती थीं। उसकी सुरभि से वायु सुरभित थी। वह लावण्य-लता तुल्य लगती थी। मद से उसके नेत्र चढ़े थे। उसकी देह-दीप्ति ने उस प्रदेश को अमृतमय बना दिया था। निर्मल पूर्ण शशि-बिम्ब देखकर समुद्र उमंगित होता है। पूर्ण शशि-बिम्ब तुल्य उसका मुख देख कर शुक्र के मन में कामोल्लास उल्लसित हो गया। अप्सरा में मन लगने लगा। मन में कोमल भावनाओं का उदय होने लगा। अपने मनोराज्य में लीन हो गए।

मनोराज्य के प्रभाव से शुक्र देवलोक में पहुँच शचीपति के पार्श्व में मुहूर्त मात्र रहने के पश्चात् देवताओं द्वारा उत्साहित होकर स्वर्ग में विहार निमित्त चल पड़े। वे चले, जैसे सारस उत्फुल्ल कमलिनी का अवलोकन करने के लिए चला। वन मध्य स्थित आम्र-लता-तुल्य शुक्र ने पूर्वदृष्ट विश्वाची अप्सरा को अप्सराओं के समूह में देखा।

शशि-ज्योत्स्ना देखकर चन्द्रकान्ति मणि गलने लगता है। शुक्र का शरीर अप्सरा को देखकर स्वेदमय हो गया। उनके नेत्र मिले। अप्सरा शुक्र पर अनुरक्त हो गयी। उन्हें प्रातःकालीन बिछुड़ी चकवी की तरह देखने लगी। कमलिनी-पत्र पर गिरते मेघ की बूँदों की तरह उसके कोमल अंगों पर काम-बाण गिर कर, उसे आहत करने लगे। अप्सरा की काम-मुद्रा देखकर शुक्र ने रुद्र द्वारा आह्वानीय प्रलयकालीन अन्धकार की तरह अन्धकार की कल्पना की। चंचल नेत्र प्रान्तवाली काम-पीड़ित अप्सरा मयूरी-तुल्य शुक्र-मेघ के समीप आई।

शुक्र ने अप्सरा के साथ मन्दाकिनी-तट पर विहार किया। पारिजात लता-कुंज में रसायन पान किया। चैत्ररथ उद्यान में क्रीड़ा की। नन्दन वन का एक छोर से दूसरे छोर तक परिभ्रमण किया। सुमेरु पर्वत की नदियों और भूखण्डों पर उन्मत्त गज तुल्य भ्रमण किया। कैलास वन में शिव के गणों के साथ अनेक रात्रियाँ व्यतीत कीं। गन्धमादन पर्वत-शिखर पर उसने अप्सरा को सुवर्ण कमलों से अलंकृत किया। लोकालोक पर्वत के तटों पर अप्सरा के साथ विहार किया। मन्दराचल मध्य हरिण-शावक-संकुल अपने कल्पित देव-मन्दिर में साठ वर्ष निवास किया। क्षीरसागर तटवर्ती श्वेत द्वीप-निवासियों के साथ उसने सतयुग समाप्त किया। पुरन्दर पुर में उसने पुनः आठ चौकड़ियों तक सुखपूर्वक दिन व्यतीत किये। पुण्य क्षय होने पर शुक्र अप्सरा सहित पृथ्वी पर पतित हुआ!

उनका शरीर शिलाखण्ड पर पतित जल-प्रपात की तरह अनेक खण्डों में बिखर गया। दुःख-मलिन उनका लिंग शरीर विहंगमों के समान आकाश में घूमने लगा। शशि की शीतल किरणों में लिंग शरीर मिल गया। उन किरणों के साथ वे धान पर निहार-बिन्दु होकर गिरे। धान में मिलकर वे धान बन गये। धान पकने पर उसका भक्षण दशार्ण देश-निवासी एक ब्राह्मण ने किया। उस ब्राह्मण का वीर्य बनकर उसकी भार्या के गर्भ से शुक्र ने पुत्रवत् जन्म लिया। मुनियों के संसर्ग में शुक्र ने एक मन्वन्तर मेरु पर्वत के गहन वन में निवास किया। वहाँ उसे शाप के कारण मृगी बनी अप्सरा द्वारा नराकार पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र स्नेह के

कारण शुक्र मोहग्रस्त हो गया। भोगचिन्तन में धर्म-चिन्तन भूलकर अल्पायु प्राप्त की। भोग की कामना के कारण मृत्युपरान्त मद्रदेशाधिपति का पुत्र हुआ। कालान्तर में मद्रदेश का राजा बना। वृद्धावस्था में उसे तप की इच्छा हुई। शरीरान्त पश्चात् शुक्र एक तपस्वी का तपशील बालक हुआ और महानदी समंगा के तट पर तपस्या करने लगा।

:o: :o: :o:

मन की कल्पना में लीन, शुक्र का शरीर मन्दराचल पर्वत के अपने आश्रम में सूख कर कंकाल मात्र रह गया। वह अपनी कल्पना को, मानसिक भावनाओं को, भ्रान्ति के कारण सत्य समझ कर, संसार-दशा का अनुभव करता रहा। उसका शरीर आश्रम के अहिंसक जन्तुओं के कारण नष्ट नहीं हुआ।

महर्षि भृगु की समाधि खुली। उन्होंने सर्वदा के समान शुक्र को सम्मुख उपस्थित नहीं पाया। उसके विमल नेत्र आश्रम में चारों ओर शुक्र को ढूँढ़ने लगे। उनकी दृष्टि सहसा स्थिर हो गई तमाल की शीतल छाया में पड़े देह-पंजर पर।

'शुक्र!' ऋषि ने पुकारा।

आश्रम में मुनि की प्रतिध्वनि गूँज कर लोप हो गई। ऋषि की ध्वनि आश्रम के पशु-पक्षियों ने सुनी। वे चारों ओर देखने लगे। मुनि ने किंचित् उच्च स्वर से पुकारा—

'पुत्र!'

उत्तर नहीं मिला। मृग-शावकों के कान खड़े हो गये। उनकी चंचल आंखें शुक्र की काया की ओर स्थिर होने लगीं। मुनि की भृकुटी में बल पड़ने लगा। वे चकित हुए। उच्च ध्वनि मुखरित हुई:

'वत्स!'

मुनि शंकित हो गए। किसी दिशा से उत्तर नहीं मिला। आसन त्याग कर उठे। उनके पीछे-पीछे आश्रम के पशु-पक्षी चलने लगे। शुक्र की भूमि पर पड़ी काया के पास घूमते हुए पहुँचे। ऋषि की मुद्रा गम्भीर हो गई। उन्होंने समझा, पुत्र के प्राण-पखेरू उड़ गए हैं। वे पुत्र की शुष्क

काया के पास खड़े हो गए। चुपचाप शुक्र की शव-रूप काया को देखने लगे। आश्रम के पशु-पक्षी भी शव को घेर कर खड़े हो गए। सब चिन्तित थे, उद्विग्न थे। किन्तु थे नीरव। सबकी गर्दनें झुक गई थीं।

मुनि में क्रोध का प्रवेश हुआ। पुत्र की अकाल मृत्यु पर आश्चर्य हुआ। मृत्यु के कारण काल पर उनका क्रोध उतरने लगा। भृगु ने काल को शाप देने का संकल्प किया।

प्रजा को कवलित करने वाले काल ने आधिभौतिक शरीर धारण किया। भृगु मुनि के सम्मुख विनम्र उपस्थित हो गया। काल का रूप अद्भुत था। उसके हाथों में खड्ग एवं पाश थे। उनके कानों में कुण्डल झूल रहे थे। शरीर पर कवच था। उसकी बारह भुजाएँ वर्ष के बारह मास थे। छः ऋतुओं तुल्य छः मुख थे। वह किंकरों की सेना से घिरा था। उसके शरीर द्वारा अद्भुत ज्वाला-जाल प्रफुल्लित किंशुक पादप तुल्य सुशोभित हो रहा था। त्रिशूल के फलों से निकलती अग्नि-शिखा सुवर्ण कुण्डल-तुल्य दसों दिशाओं को ज्योतिर्मय करने लगी।

'मुने!' प्रलयकालीन क्षुब्ध समुद्र-तुल्य गम्भीर काल ने शान्तिपूर्वक कहा, 'आप महातपस्वी हैं। आपको लोकमर्यादा का ज्ञान है। पर पूर्वा-पर बिना विचार किए, सहसा बुद्धिमान् कार्य नहीं करते। अपराधियों के अपराध को देखकर, ऋषिगण मोह-ग्रस्त नहीं होते। आप पूज्य हैं। अतएव मैं आपकी पूजा करता हूँ। आपके शापभय से आपके प्रति आदर प्रदर्शित नहीं कर रहा हूँ। किन्तु शाप द्वारा तप नष्ट करना आपके लिए उचित नहीं है।'

'काल!'

'ब्रह्मन्!' काल ने शुक्र के शव की तरफ देखते हुए कहा, 'हमने संसार की अनेक पंक्तियों की पंक्तियाँ, कोटि-कोटि रुद्रों को भक्षण कर लिया है। सहस्रों विष्णुओं को ग्रास कर लिया है। हम भोक्ता हैं। आप लोग हमारे भोजन हैं। अग्नि स्वतः ऊपर उठती है। जल स्वतः नीचे गिरता है। भोजन स्वतः भोक्ता के पास आता है। विनाश काल स्वयं जात वस्तुओं, प्राणियों के पास जाता है। मुनिवर तरुओं में पुष्प

लगते हैं। सुरभि बिखेरते हैं। गिरते हैं। जगत् में प्राणी आते हैं। जाते हैं। इस जगत् का यही क्रम है।'

'काल !' भृगु ने कहने का प्रयास किया।

'ऋषिवर !' काल ने नील गगन की ओर देखते हुए दृढ़ स्वर में कहा, 'आप के समीप आया हूँ। आपके क्रोध से भयभीत हो कर नहीं। आप तपस्वी हैं। तपस्वी के प्रति सम्मान प्रकट करना श्रेयस्कर है। यही मेरे आगमन का हेतु है। मैं समझता हूँ, आपको अपनी मर्यादा का ज्ञान है। आपकी ज्ञान-दृष्टि क्या हुई ? आपका महत्त्व कहाँ है ? आपका धैर्य कहाँ है ? आपमें मोह का उदय कैसे हो गया है ? कर्मों का ध्यान न कर, उसके परिणाम का विचार न कर, आप सर्वज्ञ होते हुए, अज्ञ-तुल्य मुझे व्यर्थ शाप क्यों दे रहे हैं ?'

'काल !' भृगु ने किंचित् शान्त होते हुए पूछा : 'शुक्र की अकाल मृत्यु क्यों हुई ?'

'ऋषिवर !' काल ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'मानव के मनोमय तथा स्थूल दो शरीर होते हैं। देह जड़ है। वह नष्ट हो जाती है। मन मोक्ष पर्यन्त रहता है। आपका वही मनोमय शरीर क्रोध से पीड़ित हो गया है। मन यदि सत्य तत्त्व का साक्षात्कार करता है, तो उस समय शरीर भावना का त्याग कर, निवृत्त हो जाता है।'

'उसकी मृत्यु ?' भृगु ने पूछा।

'मैं किसी की हत्या नहीं करता ऋषिवर !'

'शुक्र ?'

'प्राणी स्वयं अपना काल है।'

'शुक्र चिरंजीवी था !'

'तथापि उसका शरीर यहाँ पड़ा है।' काल ने शुक्र के शरीर की तरफ निर्विकार दृष्टि से देखते हुए कहा।

'आश्चर्य है !'

'जगत् में आश्चर्य कुछ नहीं है। यदि किसी बात का तर्क नहीं मिलता, किसी बात की व्याख्या नहीं होती तो वह आश्चर्य कहा जाता है।' काल ने शान्त स्वर से कहा।

'काल ! आप मेरे शाप से बच नहीं सकते।' मुनि की मुद्रा कठोर होने लगी।

'आपका शाप मुझे लग नहीं सकता।' काल ने विश्वास के साथ कहा।

'क्यों ?' भृगु मुनि चकित हुए।

'तत्वज्ञ !' काल ने कहा, 'मैं इस जगत् के महायन्त्र का एक यन्त्र मात्र हूँ। मैं अपने धर्म, कर्त्तव्य तथा भगवान् की नियति का पालन करता हूँ। मेरा कार्य प्राणियों के वासनानुसार उनका कलेवर बदल देना है। आप अकारण मोहित हो गये हैं। हम केवल जगत् की नीति का पालन करते हैं। प्रलयाग्नि भी मुझे प्रभावित नहीं कर सकती। व्यर्थ शाप द्वारा आप अपना तप क्यों नष्ट करते हैं ?'

'काल ! शाप में शक्ति है।'

'मुने !' काल ने सस्मित कहा : 'परमात्मा स्वयं अपनी आत्मा द्वारा जगत्-रूप में प्रतिभासित है। वही संहार करता है। निर्मल विवेक दृष्टि आपकी कहाँ गई ?। अज्ञान दृष्टि द्वारा कर्त्ता और भोक्ता में भेद मालूम होता है। अज्ञान-अन्धकार के तिरोहित होने पर सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है। भ्रान्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।'

'मेरा पुत्र ?'

'ब्राह्मण !' काल ने कहा : 'सारथी रथ चलाता है। मन अभिमान के कारण जड़ शरीर चलाता है। मन का कार्य मनुष्य का कार्य कहा जाता है। मन कल्पना के कारण भव-बन्धन में पड़ता है। हमारी काया है। हमारा अंग है। प्रत्यंग है। यह सब मन का विकार है। कल्पित विषय में निश्चलता होने पर अहंकार उत्पन्न होता है। उस अहंकार का आश्रय लेकर मन स्वयं नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता है। आपका पुत्र मनोरथ पर आरूढ़ होकर बहुत दूर निकल गया है।'

'मेरा पुत्र !' मुनि ने चकित होकर पूछा।

'हाँ !' काल ने मुस्करा कर कहा, 'वह है। इसी संसार में है।'

'कहाँ है ?'

'समंगा तट पर।'

'जीवित ?'

'हाँ।'

'कुछ समझ में नहीं आता।' ऋषि भृगु की मुद्रा में विचार ने प्रवेश किया।

'ऋषिवर !' काल ने कहा, 'आप समाधिस्थ थे। शुक्र प्रकृति के सौदर्य-संचय में तल्लीन होने लगा। मरुत् के साथ प्राण वायु द्वारा खेलने लगा। उसकी दृष्टि आत्मा की ओर से हटकर जगत् की ओर उठी। आश्रम में पुष्पित मन्दरादि पुष्वों की सुगन्धि में उसका मन प्रातःकालीन कमल की तरह खिल गया। उसने नभोदेश में विहंगमों का विलास देखा। तमाल तरु के कोमल हरित पल्लवों में कूकती कोयल की कूक सुनी। उसे मरुत् की लहरियों और प्रकृति के कणों से ऊर्ज्जस्वित, मधुर संगीत-ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। वह आत्मविस्मृत हो गया। मन के संग उड़ने लगा। रमने लगा प्रकृति की शोभा में। अनुभव किया, वह ऋषि कुमार नहीं है। इस जगत् के यौवन-सम्पन्न, सौन्दर्य-सम्पन्न, सब जीवों की तरह वह भी एक प्राणी है।'

'उसने गगनगामी विश्वासी अप्सरा देखी, उस पर आसक्त हो गया। अनेक योनियों में भ्रमण करता रहा। इस समय वह समंगा तट पर, जटाधारी रुद्राक्ष-कंकणों से आभूषित तपस्या कर रहा है।'

'मैं उसे देख सकता हूँ भगवन् ?' भृगु ने गम्भीरतापूर्वक पूछा।

'महर्षे !' काल ने शान्ति स्वर में कहा। 'आप अपनी योग दृष्टि से सब कुछ देख सकते हैं।'

:o: :o: :o:

समंगा नदी का शीतल उपकूल था। हरित् पादप की छाया में नवीन शरीर धारी शुक्र पद्मासीन था। उसकी इन्द्रियाँ शान्त थीं। मन-मृग स्थिर हो गया था। स्थान एकान्त था। वह अपनी शरीर-कान्ति के कारण

कमनीय लगता था। वह निर्विकल्प समाधि में स्थित लोक-व्यवहार का जैसे उपहास कर रहा था। कर्म-फलों से शून्य हो गया था। प्रवृत्तियाँ उससे पृथक् हो गई थीं। कल्पनाओं का उसने त्याग कर दिया था। वह अपरिछिन्न आत्म-सुख से परिपूर्ण था।

उसके सम्मुख सूर्य तथा चन्द्रमा-तुल्य काल और भृगु खड़े थे। शुक्र की समाधि खुल नहीं रही थी। काल ने बस स्थिर काया को देख सस्मित भृगु की ओर देखा।

'मुनिवर! यह आपका पुत्र है।' काल ने समुद्र-ध्वनि तुल्य गम्भीर स्वर से कहा।

'पुत्र! उठो।' महर्षि भृगु ने मेघ-समान गम्भीर ध्वनि द्वारा पुकारा।

मेघ-गर्जन से मोर जिस प्रकार जागृत हो जाता है, भृगु-पुत्र शुक्र ने भी उसी प्रकार शनैः-शनैः अपने अर्ध-प्रस्फुटित लोचनों को खोला। उसने अपने सम्मुख दो दिव्य विभूतियों को देखा। कदम्ब लता के आसन से उठा। विप्र-वेशधारी शिव तथा विष्णु-सदृश कान्तिमान् दोनों महानुभावों को प्रणाम किया। काल और भृगु ने उसे आशीर्वाद दिया। अनन्तर शिला-खण्ड पर वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश तुल्य बैठ गये।

'महात्मन्!' शुक्र ने पूछा, 'क्या आप लोगों के परिचय का अधिकारी यह अकिंचन हो सकता है?'

'अपने जन्मान्तर का दिव्य चक्षुओं द्वारा मुहूर्त्त मात्र के लिए स्मरण करो।' भृगु ने कहा।

'कारण?' शुक्र ने साश्चर्य पूछा।

'तुम प्रबुद्ध हो। मूढ़ नहीं हो।' भृगु ने स्नेह से कहा।

शुक्र ने अपने लोचन बन्द कर अपनी जन्मान्तर-दशा का स्मरण किया। उसके सम्मुख भूत की घटनाएँ दर्पण-सदृश प्रतिबिम्बित होने लगीं। उसका मन अनायास प्रसन्न हो गया।

'तात!' उसने पिता को सम्बोधित किया, 'उठिए चलिए मन्दराचल पर स्थित, वनलता-तुल्य सूखी, अपनी काया देखना चाहता हूँ।'

'चलो पुत्र !'

कहते हुए भृगु, काल तथा शुक्र ने मन्दराचल की ओर प्रस्थान किया।

मन्दराचल की कन्दरामें शुक्र ने अपने पूर्वजन्म के शरीर को हरित पल्लवों द्वारा आच्छादित देखा।

'तात !' शुक्र ने पिता से पूछा, 'क्या यही मेरा शुष्क शरीर है, जिसका आपने यत्नपूर्वक पालन-पोषण किया था।'

'हाँ पुत्र ! यही निश्चेष्ट शिला-खण्ड पर कंकालत्व प्राप्त तुम्हारा शरीर है।'

'पुत्र !' काल ने कहा : 'समंगा तट के अपने इस तपस्वी रूप का परित्याग कर अपने पूर्व शरीर में प्रवेश करो।'

'शुक्र !' भृगु ने कहा : 'भगवान् काल के आदेशों का तुम पालन करो।'

शुक्र गम्भीर हो गया।

योग वासिष्ठ रामायण स्थिति प्रकरण : सर्ग ५-१७
ऋग्वेद : ३ : ३२ : २
  ९ : ४६ : ४
पंचविंश ब्राह्मण : १२ : ५ : १६
शतपथ : ब्राह्मण : ३ : ६ : ३ : २५
  ४ : २ : १ : ३३
  ४ : ३ : १ : २६
  ४ : ५ : ६ : ६
  ६ : ४ : २ : ५, २१
ऐतरेय ब्राह्मण : ७ : १२
जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २ : ७ : ७
पुराण :
लिंग : २ : ५०
नारद : १ : ११
पद्म उ० : ४
ब्रह्म : १५ : ३ : २८

'वत्स !' काल ने स्नेह से कहा, 'अपने पूर्व शरीर से तपस्या कर असुरों के तुम गुरु बनो। महामते ! तुम्हारा कल्याण हो।'

भृगु के नेत्रों में आनन्दाश्रु आ गए। शुक्र काल की महती कृपा से द्रवीभूत हो गया। उसकी आँखें भर आईं। उसने करबद्ध काल को नमस्कार किया।

काल ने पिता-पुत्र के उत्तर की अपेक्षा नहीं की। वह अन्तर्धान हो गया। भृगु-पुत्र ने काल के आदेशानुसार अपने वर्तमान शरीर का त्याग किया। वह शरीर कम्पित होकर गिर गया। उसने अपने पूर्व शरीर में प्रवेश किया। महर्षि भृगु ने शुक्र के शववत् पूर्व शरीर का कमण्डलु के जल द्वारा आप्यापन किया।

महाभारत : आदि : ६५ : ३६
६६ : ४२–४३
७६ : ६, ७, ८, १५, १८, १९, ३१, ३४, ४१, ४२, ४३, ४४–६४, ६७–६८
७८ : ३७–४०
७९ : १–७
८० : १–६; ९–१२,
८१ : ३०, ३१, ३४, ३५,
८३ : ३१, ३९
सभा पर्व : ७ : २२
११ : २६
भीष्म पर्व : ६ : २२–२३
शान्ति पर्व : ४७ : ८
५६ : ११०
१२४ : २७
२४४ : १७–१८
२७६ : १५
२८० : [illegible]
२८९ : ९, १९–२०, ३३–३५,
३४२ : २६

आप्यापन के पश्चात् उस शव की शिराएँ वर्षाकालीन नदी की तरह परिपूर्ण हो गईं। उसकी उँगली, नख, केश आदि नव पल्लव तुल्य शोभित हो गए। जल तथा वायु के संयोग से पूर्ण मेघ के समान शुक्र उठा।

शुक्र ने पिता के चरणों पर मस्तक रख दिया। पिता भृगु ने वात्सल्य भाव से पुत्र का आलिंगन किया।

□

अनुशासन पर्व : ८५ : १२६
१८ : १६–६४
वाल्मीकि रामायण—अयोध्याकाण्ड सर्ग : २५ तथा १००
अरण्य काण्ड सर्ग ४३

नगर

नगर-कलाकार की कला देखकर लोग आश्चर्य करते हैं । उसकी शोभा एवं रमणीयता का वर्णन करते हैं। किन्तु आज तक उसकी शोभा, रमणीयता एवं सर्वगुण-सम्पन्नता के रहस्य का कोई पता नहीं लगा सका है। वैज्ञानिकों, ज्ञानियों एवं दार्शनिकों ने बड़े धूमधाम से अन्वेषण किया। किन्तु नगर के आदि-अन्त को नहीं पहुँच सके। नगर की शोभा, उसकी रमणीयता का वह स्रोत जो इसे सर्वप्रिय बनाता है, कहाँ है ?

यदि कभी कोई महापुरुषार्थी अन्वेषक भूला-भटका स्रोत के मूल स्थान पर पहुँच गया तो पहुँचते ही उद्‌गम स्थान की विचित्र शोभा में स्वयं आत्मविस्मृत हो गया है। उसकी वाणी मूक हो गई है। शब्दजाल निरर्थक सिद्ध हो गये हैं।

अन्वेषक के कमल-नेत्र उषाकालीन कमल के समान अर्ध-प्रस्फुटित रह जाते हैं। उनसे आकर लोग पूछते हैं, उद्‌गम स्थान का रूप। उनके मुख-मण्डल पर केवल स्वर्गीय मुस्कान छिटक जाती है।

किसी ने उस रूप के वर्णन करने का कष्ट नहीं किया है। यदि किसी ने प्रयत्न किया है तो रूप किंवा उद्‌गम का चित्रण करते-करते स्वयं आत्मविस्मृत हो गया है। चित्रांकन सर्वदा अधूरा रह गया है। लेखनी वर्णन में न जाने किन-किन लोकों में भ्रमण करने लगी है। वे आत्मविभोर हो उठे हैं।

उनकी आँखें खुलती हैं। उनकी लेखनी श्वेत कागज पर केवल मकड़ी का जाला बनाकर रह जाती हैं। चित्र खींचते-खींचते स्वयं अपने में लीन हो जाते हैं। आँखें आनन्द से बन्द हो जाती है। नेत्र खुलने पर देखते हैं, तूलिका ने न जाने कितने रंगों का मिश्रण कर स्थान भर दिया है। प्रकट होता है कोई आकार नहीं, केवल शून्य दृश्य !

नगर-निवासियों में ज्ञानी, अज्ञानी दोनों हैं। ज्ञानी पवित्र नगर में विचरण करते हैं, रमते हैं। नगर उनके आनन्द एवं लक्ष्य का साधन

हो जाता है। नगर उनके उज्ज्वल प्रकाश द्वारा प्रकाशित हो जाता है। वे देखना चाहते हैं नगर, शुद्ध पवित्र निष्कलंक एवं दोष रहित। नगर में रहते हैं। नगर की उपेक्षा नहीं करते। उत्तरदायित्व समझते हैं। नगर उनके उत्थान, गौरव एवं मुक्ति का साधन बनता है।

अज्ञानी नगर के उत्तुंग भवनों में भ्रामक सुख खोजता है। अन्तः प्रकाश त्याग कर बाह्य प्रकाश में नगर का सुन्दर रूप देखना चाहता है। रूप में भूल जाता है। समझ लेता है नगर का केवल इन्द्रिय-जन्य सुख। नगर को ईंटों, पत्थरों, सुर्खी, चूनों से सजाता है। अपनी सज्जा पर स्वयं प्रसन्न होता है। सुख अनुभव करता है। नगर की आत्मा का स्वरूप नगर का भौतिक रूप समझता है। वह भौतिक पदार्थों में विचरण करता है। एक दिन भौतिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना में जीवन शेष कर देता है।

नगर में शिराओं जैसी वीथियाँ हैं। चक्रों जैसे अनेक चौराहे हैं। किन्तु, नगर के वास्तविक रूप को देखकर चलनेवाला गुणों को ग्रहण करता है। सच्चा नागरिक होता है। नगर के बाह्य रूप द्वारा आकर्षित नागरिक बाह्य रूप में भटकता है। ईंटों, पत्थरों आदि में समय नष्ट कर आँख मूँद लेता है।

योग वासिष्ठ रामायण : स्थिति प्रकरण : सर्ग २३

दाम, व्याल और कट

आश्चर्यजनक मनोरम पाताल-कुहर में बैठा, दैत्येन्द्र शम्बर मायामणि का महार्णव था। उसने आकाश-स्थित-नगर उद्यानमें असुरों निमित्त मंदिरों की रचना की थी। कृत्रिम चन्द्रमा तथा सूर्य उसके नगर को विभूषित करते थे। सर्वत्र सुलभ शिलाखण्ड की तरह पद्मराग मणियुक्त नगर देव-पर्वत मेरु के समान हो गया था। अंगनाओं ने अपने मधुर गान से अप्स-राओं की स्वर-लहरियों को मात कर दिया था। उस नगर में नन्दनकानन की अपेक्षा अधिक सुन्दर कुसुम-कानन सुशोभित थे। सुवर्ण कान्ति तथा लावण्यमयी रमणियों से उसका अन्तःपुर भरा था। जाँघ पर्यन्त विविध पुष्पों की राशि से उनके गृह का आँगन पूर्ण रहता था।

शम्बर महासौभाग्यशाली था। ऐश्वर्य उसे प्रणाम करता था। उसके उग्र अनुशासन को सभी दैत्य नतमस्तक ग्रहण करते थे। उसके महान् शक्ति-आश्रय में असुर आराम करते थे। कठोर भीषण आकृति वाले असुरों की विपुल सेना, उसने देवताओं के विरुद्ध युद्ध निमित्त संगठित कर रखी थी।

देवता उसे परास्त करना चाहते थे। मायाबल के कारण शम्बर के निद्राग्रस्त होने तथा देशान्तर चले जाने पर, देवता उसके नगर पर आक्र-मण कर दिया करते थे। असुर-सेना का संहार करते थे।

अपनी सेना का बारम्बार संहार होते देख शम्बर ने मुण्डी, क्रोध, द्रुम आदि सेनापतियों को सुरक्षा निमित्त नियुक्त किया। आकाश में श्येन जिस प्रकार गौरेयों की हत्या करता है, उसी प्रकार देवताओं ने असुर-सेनापतियों का नाश कर दिया।

महासागर जिस प्रकार चंचल तथा उग्र शब्द करने वाली तरंग-मालाओं का सर्जन करता है, उसी प्रकार चपल तथा भयंकर घोष करने वाले सेनापतियों को शम्बर ने उत्पन्न किया। किन्तु देवताओं द्वारा वे पुनः मार डाले गये।

क्रोधी शम्बर देव-जनाकीर्ण स्वर्ग में देवताओं का संहार करने के लिए पहुँचा। भयभीत देवतागण प्राण-भय से मेरु कानन-कुंज में जाकर छिप गये। स्वर्ग में शम्बरासुर ने कुछ क्षुद्र देवताओं को क्रन्दन करते हुए सुना। अप्सराओं के मुखमण्डल को आँसुओं से भींगा देखा। कुपित शम्बरासुर ने रत्नादि लेकर लोकपालपुरी को जला दिया। देवतागण स्वर्ग का परित्याग कर यत्र-तत्र घूमने लगे। किन्तु शम्बरासुर का मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। वह जिन्हें अपनी सेना का सेनापति बनाता था, उन्हें देवतागण येन केन प्रकारेण मार डालते थे। शम्बरासुर देवताओं को परास्त करने में असफल हो गया।

अत्यन्त क्रोधावेग से उसने तीन महाबली मूर्तिमान काल-स्वरूप असुर-सेनापतियों का माया से सर्जन किया। वे अत्यन्त भयंकर पर्वत-तुल्य थे। उनका नाम दाम, व्याल तथा कट था। प्राक्तन कर्मों के अभाव के कारण वे वासनाहीन थे। वे भय, शंका, पलायन आदि विकल्पों से रहित थे। वे काकतालीय न्याय-तुल्य अन्ध-परम्परा से ही प्रस्तुत किया का अनुवर्तन करते थे। उनका व्यवहार योगियों के समान था। उनकी चेष्टाएँ वासना तथा आत्माभिमान से रहित थीं। माया-निर्मित सेनापतियों का शरीर शम्बासुर की वासना थी।

शम्बरासुर ने अपनी देव-विनाशिनी सेना को दाम, व्याल और कट के सेनापतित्व में देवताओं के संहार निमित्त भेजा। मेरु पर्वत के निकुंज तथा कन्दराओं से देवतागण बाहर निकले। सुरों तथा असुरों के मध्य अकाल कालीन दु:सह प्रलय के समान भीषण युद्ध हुआ। शस्त्रों के परस्पर प्रहारों द्वारा समुत्थित चंचल चिनगारियाँ उल्कापात की तरह निकल कर गिरने लगीं। प्रलय काल के अग्नि, वायु आदि से उल्लसित, द्वादश सूर्यों के सम्मिलन काल तुल्य उपस्थित उष्णता के कारण, पिघले सुवर्ण पर्वत की तरह भयंकर शब्द होने लगा। घोर युद्ध करने पर भी सुरगण पराजित हो गए। दाम, व्याल और कट के सेनापतित्व में असुर सेना विजयी हुई।

:o: :o: :o:

'जगत्पते !' पराजित देवताओं ने पितामह को प्रणाम करते हुए निवेदन किया।

कमलासीन, शुक्लाम्बरधारी, वेदयुक्त ब्रह्मा ने देवताओं के अग्रज इन्द्र की ओर देखा।

'पितामह !' इन्द्र ने भगवान् को पुनः प्रणाम किया। साथी देवताओं के उदास मुखमण्डल नत हो गए।

'देवराज ! प्रयोजन ?' ब्रह्मा ने वेद के पृष्ठों को उलटते हुए पूछा।

'भगवन् ! सुरगणों पर संकट उपस्थित हुआ है।' इन्द्र ने करबद्ध नतमस्तक होते हुए कहा।

पितामह की दृष्टि वेद के पृष्ठों से हटी। उन्होंने इन्द्र की ओर प्रश्नपूर्ण दृष्टि से देखा।

'महात्मन् !' इन्द्र ने करुण स्वर से कहा, 'सुरगण कई बार असुरों से पराजित हो चुके हैं।'

ब्रह्मा ने वेद कमण्डलु पर रखते हुए स्थिरचित्त इन्द्र की ओर लक्ष्य किया।

'भगवन् !' इन्द्र ने अंजलिबद्ध कहा, 'यदि सहायता न हुई तो सुरगणों का नाश हो जायगा।'

ब्रह्मा की मुखमुद्रा में किंचित्मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। उनकी दृष्टि नतमस्तक असुरों के भय से क्षुभित देवताओं के मुखमण्डल पर घूमने लगी।

'देवाधिदेव !' इन्द्र ने कहा, 'असुरों ने नवीन साधनों का अवलम्बन किया है।'

'पराजय का कारण शत्रु द्वारा नवीन नीतियों द्वारा अवलम्बन है।' ब्रह्मा ने मधुर स्वर में कहा।

'पितामह !' इन्द्र ने कहा, 'हम लोगों ने नाना प्रकार के उपायों का आश्रय लिया। किन्तु सफल नहीं हो सके।'

'कारण ?'

'उनके सेनापतियों का साहस ।'

'उनके सेनापति कौन हैं ?'

'दाम, व्याल और कट ।'

'इसके नाम मैंने नहीं सुने हैं ।'

देवताओं ने दाम, व्याल और कट की उत्पत्ति तथा युद्ध का सम्पूर्ण वृत्तान्त ब्रह्माजी से निवेदन किया ।

'देवतागण !' ब्रह्मा ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'आप लोग असफल रहेंगे ।'

देवता चकित हुए । उनके मुख आश्चर्य से खुल गए । वे कम्पित हुए । देवताओं ने पूछा :

'पितः ! यदि अपराध न हो तो हम कारण जानने के क्या अधिकारी हो सकते हैं ?'

'उनमें अहंकार नहीं है, ब्रह्मा ने कमण्डलु पर रखे हुए वेद की ओर देखते हुए कहा ।

'भगवन्--!'

'देवगण ! समय की प्रतीक्षा करनी होगी । अहंकार उत्पन्न होने पर सुगमतापूर्वक आप लोग उन्हें पराजित कर सकेंगे । इस समय वे वासनाहीन हैं । अतएव दुर्जेय हैं । वे आसक्ति-रहित, वासना-रहित और धीर हैं । जिनमें कोप तथा हर्ष का अभाव है उन्हें जीतना कठिन है । उनका पलायन सम्भव नहीं है ।'

भगवन् !' इन्द्र ने करबद्ध झुकते हुए कहा ।

'उन्हें मरने-मारने का ज्ञान नहीं है ।'

'क्यों पितामह ?'

'शक्र !' ब्रह्मा ने कहा, 'बात साधारण है । अलंकार द्वारा शरीर का ज्ञान होता है । शरीर का ज्ञान होने पर जन्म, जरा, मृत्यु, सुख, दुःख, भय, हर्ष एवं शोकादि का अनुभव होता है । उन्हें अहं का ज्ञान नहीं है । अतएव शरीर का ज्ञान नहीं है । मरने-जीने का भी ज्ञान नहीं है । वे अजेय हैं ।'

'सुरों की रक्षा निमित्त असुरों का विनाश आवश्यक है। पितामह !' इन्द्र ने नम्रतापूर्वक कहा।

'वासनाहीन को कोई नहीं मार सकता।'

'भगवन्—!'

'शक्र !' ब्रह्मा ने कहा, 'उनमें पूर्व कर्मों की स्मृतियाँ नहीं हैं। लोक अपने कर्म द्वारा मरते और जन्म लेते हैं। उनमें कर्म-भावना का अभाव है। उन्हें आप लोग कैसे मार सकेंगे ?'

'ठीक है। भगवन् !' इन्द्र ने गम्भीर श्वास लेते हुए कहा।

'इन्द्र !' ब्रह्मा ने कहा : 'वे धर्म एवं कर्म रहित हैं। उन्हें अपने स्थूल शरीर का मोह नहीं है। युद्ध में उन्हें शरीर-नाश की चिन्ता नहीं रहती। उन्हें मृत्यु का ज्ञान नहीं है। अतएव युद्धस्थल में मृत्यु का क्या परिणाम होता है, वे नहीं जानते। उनके अंग-उपांगों की चेष्टा बालकों की चेष्टाओं की तरह वासना-रहित है। वे पलायन करना, अपने स्थान से हटना नहीं जानते। जीवन तथा मृत्यु में क्या भेद है, नहीं जानते। वे शस्त्रों का प्रहार निष्काम रूप से करते हैं। उन्हें किसी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रहती है। देववृन्द ! आप लोग बताइए क्या ऐसे शत्रु को आप पराजित कर सकेंगे ?'

देवतागण उदास हो गए। ब्रह्मा ने वेद को पुनः अपने हाथों में लेते हुए कहा :

'शक्र ! और क्या बात है ?'

'पितामह !' शक्र ने पितामह के चरणों पर मस्तक रखते हुए कहा, 'कोई उपाय बताइए।'

'सुरवृन्द !' ब्रह्मा ने वेद के पृष्ठों को उलटते-पुलटते कहा। 'कायरता आप लोगों को शोभा नहीं देती। शक्तिशाली शत्रु को कौशल से पराजित किया जाता है। निर्बल शत्रु को केवल शक्ति का आश्रय लेकर उसे दबा देना चाहिए।'

'भगवन् !' इन्द्र का मुख खिल गया। 'वही कौशल बताइए।'

'शक्र!' ब्रह्मा की दृष्टि वेद के पृष्ठ पर स्थिर हो गई। वे बोले, 'अहंकार द्वारा उनका नाश होगा। उनमें कौशल से अहंकार उत्पन्न कीजिए।'

'किस प्रकार?' देवतागण एक साथ उत्सुकतापूर्वक बोल उठे।

'शक्र!' ब्रह्मा ने कहा, 'कौशल एवं चातुरी से युद्ध का अध्ययन कीजिए। समय-समय पर उन पर वाम, पृष्ठ, दक्षिण, पार्श्व, तथा सम्मुख भागों से आक्रमण कीजिए। आप लोगों का युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था में विजयी होना आवश्यक नहीं है। उन्हें युद्ध में उस प्रकार फँसाए रखिए कि युद्ध उनका कर्म हो जाय। युद्ध करते-करते उन्हें युद्ध का अभ्यास हो जायगा। अभ्यास के पश्चात् उनमें स्वतः अहंकार उत्पन्न होगा। अहंकार के पश्चात् वासना का उदय होगा। वासना के कारण उनमें, हम कौन हैं? हमारा क्या कर्त्तव्य है? क्या ग्रहणीय है? क्या अग्रहणीय है? क्या उचित है? क्या अनुचित है? किन कार्यों से उत्तम फल प्राप्त होता है, किन कार्यों से विजय प्राप्त होती है, किन कर्मों से पराजय होगी? किन कर्मों से अधम फल मिलेगा? किससे मान-प्रतिष्ठा मिलेगी? किसमें उनकी हानि होगी? इस प्रकार अपने अहंकार द्वारा उत्पन्न वासना तथा तज्जनित भावना की भँवर में फँस जायेंगे।'

देवतागण गम्भीरतापूर्वक भगवान् की बात सुन रहे थे। ब्रह्मा ने पुनः कहा।

'शक्र! वासना-सूत्र में बँधने पर लोग बन्धन में पड़ जाते हैं। निर्वासनिक मुक्त कहे जाते हैं। वासनामय जीव अपनी वासना द्वारा मुक्ति से पराङ्मुख हो जाता है। देहाभिमानी चाहे वह सर्वशास्त्र-वेत्ता क्यों न हो, उसे एक बालक भी पराजित कर सकता है। वे आपदाओं की जीवित मूर्ति हैं। सर्वज्ञ भावनाओं से वशीभूत महान् कृपण है। भावनाओं के दास हैं। पराधीन है। देहाभिमानी वास्तव में दीन है। जब तक उन असुर-सेनापतियों में संसार के प्रति आस्था उत्पन्न न होगी, तब तक उन्हें पराजित नहीं किया जा सकता।

'मक्खियां वायु का भक्षण नहीं कर सकतीं। वासना से छिदा हृदय मालों के दानों की तरह एक में गुहा जा सकता है। एकसूत्र में पिरो कर

सहस्रों दानों पर नियन्त्रण किया जा सकता है। यदि दानों में छेद न हों, तो प्रत्येक दाने का अस्तित्व अलग होगा। उन पर नियन्त्रण करना कठिन होगा। वे कोमल सूत्र से बँध कर नहीं रह सकते। दानों की तरह वेधित होने पर, गुण-अवगुण रूपी केवल सूत्रों का उनमें प्रवेश नहीं होता, अपितु मलिनतादि प्रवेश करने लगते हैं। सिंह जंजीर से बँध जाने पर अपनी उग्रता, दृढ़ता, वीरता, शक्ति, मान-अपमान जंजीर की कड़ियों में बाँध देता है। ठीक उसी प्रकार वासना से बँधा होने पर शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति तथा उसकी विभूतियाँ उसका साथ नहीं देतीं।

'इन्द्र!' ब्रह्मा ने स्नेह से कहा, 'वासना के हृदय में प्रवेश करने के पश्चात् वासना की सहचरी तृष्णा भी वासना का अनुसरण करती है। बालक फंतिगा पकड़ता है। उसकी कटि में डोरा बाँध देता है। डोरा बालक के हाथ में रहता है। फतिंगा बालक उड़ा देता है। फतिंगा स्वतन्त्रता-पूर्वक उड़ता है। परन्तु बालक जब डोरा खींचता है, तब फतिंगा डोरी में बँधा उसके इच्छानुसार खिच जाता है। इसी प्रकार मानव तृष्णा-डोर से बँध जाता है, यद्यपि वह फतिंगा के समान स्वतन्त्र दिखाई पड़ता है। आकाश में स्वतन्त्र उड़ते फतिंगे को कोई पकड़ नहीं सकता। तृष्ण-रहित व्यक्ति को पकड़ना-उसे बाँध रखना कठिन है।

'देवगण!' ब्रह्मा ने देवताओं को सम्बोधित किया। 'दाम, व्याल और कट शम्बर द्वारा कल्पित मन्त्र-पुरुष हैं। उनमें वासना नहीं है। वे अपनी रचना-काल से निर्वासनिक हैं। अतएव उनमें अभ्यास द्वारा वासना उत्पन्न कीजिए।'

देवताओं ने पितामह को शिरसा नमस्कार कर प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

सुर एवं असुरों में घोर युद्ध आरम्भ हुआ। सुरगण नवीन उत्साह से युद्ध करने लगे। ब्रह्मा द्वारा बताए रण-कौशल तथा चातुरी का उन्होंने आश्रय लिया। युद्ध बीस वर्षों तक निरन्तर चलता रहा कभी देवता पलायन कर जाते और कभी सम्मुख आकर युद्ध करते। कभी

दीन बन जाते। कभी अचानक आक्रमण करते। दाम, व्याल और कट में युद्धाभ्यास उत्पन्न हो गया। देवता जब घोर युद्ध कर भागने लगते तो असुर उनका पीछा करते। उन्हें ज्ञान होने लगा। देवताओं का पीछा कर उन्हें खोज-खोजकर मारना चाहिए, ताकि वे बारम्बार तंग नहीं कर सकें।

असुर-सेनापतिगण व्यूह बनाने लगे। कौशल तथा चातुरी का आश्रय लेकर अपनी सेना तथा नगर की रक्षा करने लगे। नगर तथा सेना की रक्षा की भावना के साथ उनमें शरीर-रक्षा की भावना आई। उनमें आशा-पाश का उदय हुआ। मुग्धा-तुल्य उनमें कृपणता ने प्रवेश किया। तत्पश्चात् उनमें ममता ने घर कर लिया। यह शरीर मेरा है, मैं वीर हूँ, समर्थ हूँ, शरीर स्वस्थ रहने पर जीता जा सकता है, आदि तृष्णा की छाया उनमें घनीभूत होने लगी। तृष्णा के पश्चात् उनमें दीनता उत्पन्न हो गई। वे किस प्रकार अमर हों, किस प्रकार दुःखविहीन हों, आदि भावना-जाल में वे फँस गये। विजय की कामना संघर्ष के समय होने लगी। पराजय तथा पलायन का स्मरण होते ही वे काँपने लगते। मृत्यु-भय से वे ग्रसित हो गए।

दाम, व्याल और कट को ज्ञान हो गया कि देवता उनके शत्रु हैं और असुरगण उनके मित्र हैं। उन्हें मारना कर्त्तव्य है। उन्हें उसी समय मारा जा सकता है, जब शरीर में शक्ति होगी। शरीर शक्तिशाली उसी समय तक रहेगा जब तक उस पर प्रहार द्वारा, रक्तपात द्वारा, दुर्बलता न आएगी। वह आधि-व्याधि से दूर रहेगा। उन्हें शरीर से मोह उत्पन्न हुआ। उनका पूर्वकालीन धैर्य लुप्त हो गया। शरीर-रक्षा की घोर चिन्ता उत्पन्न हो गई। अपने शरीर को क्रूर प्रहारों तथा कठोर कार्यों से बचाने लगे। शरीर-मोह ने वीरता के स्थान पर उनमें कायरता का सर्जन किया। उनकी प्रहार-शक्ति क्षीण होने लगी। वे सुख-दुःख का अनुभव करने लगे। उनमें विकार का उदय हुआ। यदि वे शत्रु पर भीषण प्रहार करेंगे तो शत्रु उन पर भीषण प्रहार कर, उन्हें अपार कष्ट पहुँचाएँगे। वे मृत्यु से भयभीत हो गए। मानसिक दुर्बलता के

साथ शारीरिक दुर्बलता आने लगी। वे देवताओं का भयंकर आक्रमण देखकर पलायन करने लगे।

सेनापतियों के मनोबल टूटने से असुर-सेना का मनोबल टूट गया। मोहग्रस्त असुर-सेना पर देवताओं ने विजय प्राप्त कर ली। असुर-गण अपनी रक्षा निमित्त जहाँ भी छिपने का स्थान मिलता भागकर छिपने लगे।

:o: :o: :o:

असुर-सेना के पराजित हो जाने पर दाम, व्याल और कट सेना-पतियों को अपने स्वामी का भय उत्पन्न हुआ। असुर-सेना की पराजय का वृतान्त सुनकर शम्बर क्रोध-मूर्च्छित हो गया। वह उन्हें दण्ड देने के लिए खोजने लगा। तीनों सेनापति शम्बर के भय से सातवें पाताल में चले गए। नरक-पालकों की शरण में शम्बर से भय-रहित रहने लगे। नरक-पालकों ने चिन्तास्वरूप उन्हें तीन कन्याएँ दीं। उन्हें गृहस्थ जीवन में बाँध दिया। तीनों सेनापतियों ने वहाँ दस हजार वर्ष कुवासनाओं में रत होकर व्यतीत किए। वह हमारी कामिनी है, यह मेरी कन्या है, यह मेरी प्रभुता है, आदि दुरूह स्नेह-बन्धन में वे अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक समय धर्मराज महानरक के कार्यों को देखने के लिए पधारे। वे मूढ़तावश महाकाल को पहचान नहीं सके। उनका आदर नहीं किया। काल के कारण उन्हें रौरव नरक में स्थान मिला। वे अग्नि-ज्वालाओं में बन्धु-बान्धव सहित जल गए।

यम-किंकरों के साथ रहने के कारण उनमें सेवा-भावना दृढ़ीभूत हो गई थी। वे राज-किंकर किरात हुए। गृद्ध-योनि के पश्चात् शुक हुए। शुकयोनि त्याग कर त्रिगर्त देश में सूकर हुए। सूकर योनि के पश्चात् पर्वतों में मेष हुए। मेष योनि के पश्चात् मगध में कीटत्व योनि प्राप्त की।

योनियों में भ्रमण करते हुए वे काश्मीर के अरण्य में एक सरोवर में मछली हुए। उनकी दुर्दशा देखकर यम-किंकरों ने उनकी मुक्ति के

लिए महाकाल से प्रार्थना की। काल ने कहा, 'वे जब अपनी आत्म कथा सुनेंगे तब यथार्थ तत्व को जानकर मुक्त होंगे।'

काश्मीर के महापद्म सर में वे मत्स्य-योनि-परम्परा में जन्म लेने तथा मरने लगे। वे उसी महापद्म सर में सारस हुए। काश्मीर मण्डल के मध्य में अधिष्ठान नगर हैं। उसमें प्रद्युम्न शिखर है। उस शिखर पर राजा का एक गिरीगेह था। उस गृह के ईशान कोण की ऊँची दीवार की ददार में एक घोंसला था। उस घोंसले में बाल गौरैया योनि धारण कर निवास करने लगे। राजा यशस्कर के राजप्रासाद के विशाल स्तम्भ के पृष्ठ भाग में मृदुध्वनि करता दाम मशक योनि में रहने लगा।

अधिष्ठान नगर में रत्नावली-विहार नामक क्रीड़ा गृह था। यशस्कर राजा का मन्त्री नरसिंह उसमें निवास करता था। उसके यहाँ मैना-योनि में कट निवास करने लगा।

मन्त्री नरसिंह योगवासिष्ठ वर्णित कथा को कहता था। उसे सुनकर यम के कथानुसार मैना रूपधारी कट को अपनी अपरिच्छिन्न आत्मा का स्मरण हो गया। शम्बर द्वारा कल्पित जीव-रूप त्याग कर उसने परम निर्वाण प्राप्त किया।

प्रद्युम्न शिखर पर गौरैया योनि में स्थित व्याल ने वहाँ के लोगों से अपनी आत्मकथा सुनी। उसे अपना पूर्व जन्म स्मरण हो गया। उसे आत्म ज्ञान हुआ। उसने परम निर्वाण प्राप्त किया।

महाराज यशस्कर के राजप्रासाद के स्तम्भ में मशक-रूप दाम ने अपनी कथा लोगों के मुख से सुनी। उसे अपना जीवन-वृत्त स्मरण हो गया। आत्म-स्वरूप का बोध हुआ। और उसने शान्ति प्राप्त की।

योग वासिष्ठ रामायण : स्थिति प्रकरण सर्गः २५-३३

उपमन्यु

उपमन्यु बालक हतभाग्य था, और दरिद्र ऐश्र्यहीन था। उसे पिता का स्नेह प्राप्त था। किन्तु, स्नेह रोटी बनाकर पेट नहीं भर सका।

पिता दरिद्रता की गोद में खेला था। देवी की एकान्त पूजा करता था। मृत्यु-आलिंगन देवी की गोंद में होने वाला था।

देवी पिता की पूजा से प्रसन्न थी। उसका घर छोड़कर नहीं जाना चाहती थी। वह भी देवी की उपासना करता था। निष्क्रियता उसके पूजा के पुष्प थे। उद्यमहीन वृत्ति अक्षत था। आलस्य गन्ध था।

उसने लोगों को पढ़ते देखा। कौड़ी-पति से करोड़पति होते देखा झटकने वालों को ऐश्वर्यशाली होते देखा, दरिद्रता की गोद से निकल कर लोगों को धनकुबेर होते देखा। लोगों को सिद्ध, तपस्वी और योगी होते देखा। कर्म की आकांक्षापूर्ति होते देखी। मूर्खों को विद्वान् होते देखा। सब कुछ देखती हुई भी उसकी आँखों ने उपेक्षापूर्वक आँखें फेर लीं।

सोच बैठा, सब भाग्य का खेल है। दैव प्रबल है। मनुष्य दुर्बल है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल मनुष्य भोग रहा है। भाग्य में जो कुछ लिखा है, वही होगा। परिश्रम, चिन्ता एवं प्रयास निरर्थक है।

वह देव का आश्रित हो गया। निष्क्रियता का आश्रय लिया। दरिद्रता देवी रूठी नहीं। घर की अधिष्ठात्री देवी बनी बैठी रही।

किन्तु पुत्र की ममता, पुत्र का स्नेह, पुत्र का भविष्य पिता देव के ऊपर नहीं छोड़ सका। उपमन्यु उसका पुत्र था। उसके कर्मों का फल था। उसका अंश था। उसका था। उस पर उसका अधिकार था। उसके भविष्य की आशा थी। पुत्र के लिए कुछ करना चाहता था। किन्तु आदतों के कारण कुछ न कर सका। माता की छाती में जब तक दूध था, उपमन्यु पीता रहा। एक दिन आया छाती दरिद्रता देवी के आशीर्वाद

सूख गई। दूध का स्थान लिया माता की आँखों से छलकते आँसुओं ने।

दूध के लिए रोते बच्चे को चुप कराने के लिए, सान्त्वना देने के लिए साधन बने शान्त परिवर्तित करनेवाले उपक्रम। पिता उपमन्यु का रोना सुनता। स्वयं रो उठता। चारों ओर उसे केवल अन्धकार दिखाई देता। वह हताश हो जाता था, खिन्न हो उठता था।

किसी को कुछ दिन धोखा दिया जा सकता है। कोई दो-एक दिन छला जा सकता है। दो चार दिन मन बहलाया जा सकता है। किन्तु, आवश्यकता पूर्ति निमित्त मन व्याकुल हो उठता है। बालक की व्याकुलता देख उपमन्यु के पिता ने उपाय सोचा।

दूध श्वेत होता है। जगत् रूपों से धोखा खाता है। रूप देखकर आकर्षित होता है। रूप पाकर सन्तोष करता है। अबोध बालक को रूप से छला जा सकता है। पिता ने आटा जल में मिला दिया। जल दूध जैसा श्वेत हो गया। उपमन्यु ने समझा उसे दूध। सन्तोष हो गया। मन तृप्त हो गया। समझ लिया दूध पी रहा है।

असत्य अधिक दिनों तक छिपता नहीं, अचानक अनायास प्रकट होता है। प्रकट होने पर छल के प्रति विराग उत्पन्न करता है। भ्रम के प्रति घृणा होती है। वास्तविक वस्तु-प्राप्ति-निमित्त मन व्याकुल हो जाता है।

एक दिन उपमन्यु को प्राप्त हुआ वास्तविक दूध। स्वाद ने रहस्य खोल दिया। घर आकर उसने दूध माँगा।

छल की पुनरावृत्ति हुई। कृत्रिम दूध देखते ही उपमन्यु की आँखें खुल गईं। उसने दूध का स्वाद लेते हुए कहा :

'पिता जी! यह तो वैसा दूध नहीं है, जैसा मैंने आज पान किया है।'

'वही है पुत्र।'

'ना -।'

उपमन्यु की सशंक दृष्टि पिता के मुखमंडल पर स्थिर हो गई। पिता की आँखें भर आईं। उसने कुछ उतर नहीं दिया। उठकर चला गया। उपमन्यु ने माँ से पूछा :

'माँ ! क्या दूध है ?'

माँ कुछ कह न सकी। गोद में पुत्र को स्नेह से ले लिया, पुत्र को हृदयस्थल से लगा लिया। जीवन की समस्त वेदना वात्सल्य स्नेह में विलीन करने जा रही थी। बालक ने देखा। स्नेह-अश्रु-धारा में छिपी माँ की विवशता।

उपमन्यु गम्भीर हो गया। उसकी आँखें स्वयं भर आईं। उसका मुख माँ के शुष्क स्तनों में अनायास छिप गया।

:o: :o: :o:

'पिता जी !' उपमन्यु की मुद्रा गम्भीर थी।

'पुत्र !' पिता ने स्नेह से कहा।

'मैं सच्चा दूध पीऊँगा।'

'किन्तु—।'

'पिता जी ! संसार में बालक सच्चा दूध पीते हैं। मैं क्यों न पीऊँ ?'

'अपने पास नहीं है।'

'दूसरों के पास कैसे हुआ ?'

'उन्हें भगवान् ने दिया है।'

'हमें भगवान् ने क्यों नहीं दिया ?'

'नहीं देता—हम क्या करें उपमन्यु !'

'माँगने पर भी न देगा ?'

'बहुत बार माँगा। किन्तु नहीं मिला।'

'भगवान् एक के माँगने पर देता है। दूसरे के माँगने पर क्यों नहीं देता ?

पिता चुप हो गया। निरुत्तर था।

'पिता जी ! भगवान पक्षपात क्यों करता है ?'

'उपमन्यु ! ऐसी बात न कहो।' पिता ने उपमन्यु के मुख पर हाथ

रखते हुए कहा :

'वह क्यों पक्षपात करता है ?' उपमन्यु ने पिता का हाथ मुख पर से हटाते हुए कहा।

'भगवान् को ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्षमा माँगो।' पिता ने नीरव गगन की ओर उँगली उठाते हुए कहा, 'हे ईश्वर ! हे ईश्वर ! ! यह बालक है। अज्ञानी है। बाल-बुद्धि है। क्षमा करो भगवन् !'

'पिता जी ! यह आप क्या कर रहे हैं ?'

'पुत्र ! तुमने परम पिता भगवान् को कठोर बातें कहीं हैं। भला उसे कोई ऐसी बात कहता है ! उसे हाथ जोड़ो उपमन्यु !'

'क्यों ?'

'पुत्र ! न जाने किन कारणों से हम दरिद्रता में पड़े हैं। भगवान् यदि और कुपित हो जायेंगे तो न जाने क्या होगा ?'

'ऊँह ! भगवान् क्यों कोप करेंगे ? उनका हमने क्या बिगाड़ा है ? एक पाव दूध तो मिलता नहीं। इससे बुरी गति और क्या होगी ?'

'तुम यह क्या कहने लगे ?'

'पिता जी ! मैं भगवान् से मिलूँगा।'

'तुम ?'

'हाँ'

'क्यों ?'

'उनसे माँगूँगा दूध। आपने कहा है, वह सबको दूध देता है। हमें क्यों नहीं देगा ?'

'उनसे मिलना कठिन है।'

'आप और माता जी रोज कथा सुनाया करती हैं। वह भक्तों, तपस्वियों, जोगियों, ज्ञानियों से मिलते हैं। हमसे क्यों न मिलेगा ?'

'वह ऋषि-मुनियों की बातें हैं उपमन्यु !'

'किन्तु आप कहते हैं, वे हमारे जैसे आदमी हैं।'

'पुत्र ! वे सिद्ध हैं, तपस्वी हैं। हम हैं दरिद्र। वे हैं पुरुषार्थी।'

'हम क्यों न बनें ?'

:o: :o: :o: :o:

उपमन्यु आसनस्थ था। उसका शरीर शुष्क हो गया था। वह दृढ़ अभ्यास से तपस्या कर रहा था। बहुत समय बीत गया। एक दिन उसने अपने सम्मुख देखा महेश्वर को।

उपमन्यु ने पूजा की।

'तुम्हारी क्या इच्छा है उपमन्यु!' भगवान् ने मुसकुराते हुए पूछा।

'भगवन्। मुझे दूध चाहिए।'

'और कुछ ?'

'केवल दूध। इसी के लिए तपस्या कर रहा हूँ।'

'पुत्र ! तुम जितना दूध चाहोगे मिलता रहेगा।'

'भगवन्, एक बात पूछूँ ?'

'प्रसन्नतापूर्वक।' भगवान् बालक-सुलभ सरलता पर प्रसन्न होकर बोले।

'हमारे पिता को दूध क्यों नहीं मिला ?'

योग वासिष्ठ रामायण : स्थिति प्रकरण : सर्ग ३३

यह कहानी विस्तार से योग वासिष्ठ में नहीं वर्णन की गयी है। इसका उल्लेख मात्र आया है। कहानी मुझे अच्छी लगी अतएव उसे यहाँ अन्य ग्रन्थों के आधार पर दे दिया है।

ऋग्वेद १ : १०२ : ९
६ : ९७
१३–१५
शिव वायवीय संहिता १ : ३५
३२
शिव उमा संहिता : १
महाभारत :

'वत्स ! वस्तुएँ पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त होती हैं । तुम्हारे पिता ने पुरुषार्थ नहीं किया । तुमने पुरुषार्थ द्वारा दूध प्राप्त किया है । निश्चय एवं पुरुषार्थ द्वारा मुझे तुम अपने समीप पा रहे हो । पुत्र ! तुम्हारी जब इच्छा होगी मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा ।'

'भगवन् ! मेरी पूजा स्वीकार कीजिए ।'

उपमन्यु ने भगवान् के चरणों पर मस्तक रख दिया ।

आदि पर्व : ३ : २२–७८

अनुशासन पर्व : १४ : ११–३७७

६३,

१६

१७

पुराण :

लिंग : १ : १०७

ब्रह्माण्ड : ३ : ९ : १०

भीम, भास और दृढ़

शम्बर अपनी सेना विनष्ट होने पर कुछ दिनों तक शान्त बैठा रहा। तत्पश्चात् उसने देवताओं को नष्ट करने की योजना बनाई। उसे मालूम हो गया था कि अहंकार उदय होने के कारण उसके सेनापति दाम, व्याल और कट का नाश हुआ था।

असुरराज शम्बर ने निश्चय किया तत्त्वज्ञानी, मिथ्या-भावनाहीन तथा विवेकशील सेनापतियों को उत्पन्न किया जाय। उसने भीम, भास, तथा दृढ़ नामक तीन सेनापतियों को अपनी माया से उत्पन्न किया। वे सर्वज्ञ थे। आत्मतत्त्वविद् थे। विरक्त थे। आत्मनिष्ठ थे। निष्पाप थे। निर्मल आशय वाले थे। जगत् को तृणवत् समझते थे।

सुर-असुरों का लोमहर्षण संग्राम आरम्भ हुआ। असुर-सेनापतियों ने युद्ध में विवेक का परित्याग नहीं किया। उनमें अहंकार का उदय नहीं हुआ। उनमें ज्योंही यह वासना उत्पन्न होती थी कि यह मेरा है, उसी समय वे विवेक का आश्रय लेते थे। मैं कौन हूँ, विचार करने लगते थे। उन्हें सत्य का ज्ञान हो जाता था। यह शरीर और देवता दोनों असत्य हैं। इन विचारों के उदय होने पर भय तिरोहित हो जाता था। आत्मा शुद्धचित्त स्थित है। अहं नाम की कोई चीज नहीं है। इस भावना से असुर-सेनापति तथा उसकी सेना युद्ध करने लगी।

अहंकार, जरा-मरण, भय रहित, धैर्यवान्, आसक्ति रहित, हन्तृत्व-अभिमान से रहित, वासना-रहित, कर्तव्याभिमान-रहित, रागद्वेष-शून्य, समदृष्टि केवल शम्बर का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए, इस अभिप्राय से युद्धरत हो गए। देव-सेना उनके पराक्रम के सम्मुख हिमालय से विच्युत गंगा के वेग की तरह भाग चली।

:o: :o: :o:

भयभीत सुरगण क्षीर सागर-शेषशायी भगवान् विष्णु के समीप पहुँचे। विष्णु ने उन्हें देखकर सस्मित पूछा :

'सुरगण ! आप लोगों के भयाकुल मुख-मण्डल को देखकर किंचित् चिन्ता होती है। परन्तु चिन्ता करना व्यर्थ है।'

'भगवन् !' देवगण बोले। 'हमें अत्यन्त कष्ट मिल रहा है। जीवन कठिन हो गया है।'

'यह देवसेना क्यों एकत्र की गई है ?' विष्णु ने अस्त-व्यस्त मनोबल-हीन देवसेना की ओर देखते हुए पूछा :

'परमेश्वर', देवगणों ने उत्तर दिया, 'यह सेना तुच्छ है। इसमें शक्ति नहीं है। असुरराज शम्बर के सेनापति भीम, भास तथा दृढ़ के फूँक मात्र से यह सेना उड़ जाती है। सुरगणों पर भयंकर विपत्ति आई है। यदि भगवन्, आप हम लोगों का उद्धार नहीं करते तो हम नष्ट हो जाएँगे।'

'कारण-!' विष्णु भगवान् ने हँसते हुए पूछा।

'प्रभो !' देवताओं ने निवेदन किया। पूर्व काल में शम्बर ने दाम, व्याल और कट तीन सेनापतियों को उत्पन्न किया था। वे अजेय थे। पितामह ब्रह्मा के सुझाव पर उनमें हमने अहंकार उत्पन्न किया। अहंकार के कारण उनका नाश हो गया।'

'तत्पश्चात् ?' भगवान् ने भयभीत देवताओं की ओर देखते हुए शान्त स्वर में पूछा।

परमात्मन् !' देवगण बोले, 'शम्बर ने पराजय स्वीकार नहीं की। वह पराजय का कारण ढूँढ़ने लगा। उसने सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया। उसने पुनः तीन सेनापति भीम, भास और दृढ़ को उत्पन्न किया।'

'वे कैसे हैं ?'

'भगवन् !' देवताओं ने भयभीत स्वर से कहा : 'वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं। वे वीतराग हैं। निष्पाप हैं। जिस समय कर्त्तव्य रूप से जो उपस्थित होता है, उसका एकाग्र मन तथा दत्तचित्त होकर सम्पादन करते हैं।'

'जगत् के विषय में वे क्या सोचते हैं ?'

'प्रभो !' देवता बोले, 'जगत् का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। विद्युत्-सदृश अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वर्षाकालीन घनघोर मेघमाला-तुल्य वे उठते हैं। गम्भीर गर्जन करते वारिधारा की तरह गगन-मण्डल आच्छादित कर बहुत दिनों से युद्धरत हैं। युद्ध में अभ्यस्त होने पर भी दाम, व्याल और कट के समान उनमें अभ्यास का उदय नहीं हुआ। अभ्यास के अभाव में अहंकार उनके समीप फटक नहीं सका है। पूर्व असुर सेनापतियों पर विजय-प्राप्ति-निमित्त, ब्रह्मा द्वारा बताये गये कौशल तथा चातुरी का अवलम्बन किया किन्तु सब कुछ विफल हो गया है।'

'उनकी मनोभावना कैसी है ?'

'भगवन् !' देवगण बोले, 'उनके मन में ज्योंही किसी प्रकार की वासना उदय होती है, त्योंही वे विचारशील हो जाते हैं। विवेक का आश्रय लेकर सोचने लगते हैं, वे कौन हैं। आत्म-समुद्भूत विचारधारा के कारण उनकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।'

'शरीर के विषय में वे क्या विचार करते हैं ?'

'विष्णो !' देवता बोले, 'उनका कथन है कि प्राणियों का शरीर असत्य है। वे शरीर के प्रति आस्था नहीं रखते। अतएव शरीर के लिए उसमें मोह का उदय नहीं होता।'

'युद्ध में उनका आचरण कैसा होता है ?'

'लक्ष्मीपते !' सुरगणों ने कहा, 'अहंकार-शून्य, वासना-शून्य, हत्या-भावना-शून्य, जन्म-जरा-मृत्यु-चिन्ता-शून्य, भूत, वर्तमान, भविष्य-चिन्ता-शून्य, अभिमान-शून्य, आसक्ति-शून्य-तुल्य वे व्यवहार करते हैं।'

'कार्य-सम्पादन के समय उनकी मनःस्थिति कैसी रहती है ?'

'प्रभो !' देवता बोले : 'वे केवल यह विचार करते हैं कि प्रभु का कार्य है। हमारा कर्तव्य है। राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा, अहिंसा भावनाओं से अलिप्त समरांगण में एकाग्र चित्त और समदृष्टि से प्रवेश करते हैं।'

'सुरगण !' भगवान् विष्णु ने विचारशील मुद्रा में कहा, 'उनके अभ्युदय और उनकी अजेयता का कारण, उनका वासनाहीन मन है।

धर्म का यथाविधि पालन है। उनके उत्थान तथा विजय का यही रहस्य है। इसी रहस्य में उनकी अमोघ शक्ति छिपी है।'

भगवान् के कमल-लोचन उषाकालीन प्रफुल्लोन्मुख कमल-तुल्य हो गए। देवताओं पर उदासीनता आने लगी। किसी का साहस भगवान् से कुछ पूछने का न हुआ। सब भगवान् के सम्मुख नतमस्तक खड़े रहे। भगवान् के कमल-नेत्र उन्मीलित हुए। सुरगण प्रसन्न हो गए। स्तुति करने लगे।

'सुरगण !' सस्मित राजीव-लोचन भगवान् ने कहा, 'आप लोगों का दु:ख दूर होगा।'

देवता प्रसन्न हो गए। उन्होंने उच्च स्वर से भगवान् का गुणानुवाद किया। परमेश्वर ने पुनः कहा :

'सुवाहिनी के साथ क्षीरोद-कुहर में कुछ दिन आप लोग विश्राम कीजिए।'

:o: :o: :o:

भगवान् विष्णु शम्बर-वध निमित्त कटिबद्ध हो गए। शम्बर तथा भगवान् का दारुण युद्ध हुआ। प्रलय काल का दृश्य उपस्थित हो गया। शम्बर तथा उसकी सेना का संहार भगवान् ने किया। पवन के हलके वेग के कारण दीपनिर्वाण-सदृश भीम, भास और दृढ़ शान्त हो गए। वे वासना-हीन थे। अतएव उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

□

योग वासिष्ठ रामायण : स्थिति प्रकरण : सर्ग ३४

भास एक पर्वत का नाम है। उसे पर्वतों का अधिपति कहते हैं (महाभारत आश्वमेधिक पर्व—४३ : ५)

भीम नाम के अनेक राजा हुए हैं। भीम का अर्थ महाकाय तथा महापराक्रमी होता है। भास, भीम और दृढ़ की कहानी में पराक्रम, पर्वत-तुल्य अडिगता तथा दृढ़ता का रूपक है।

दाशूर

इस वसुधा-पीठ में विचित्र कुसुम-द्रुमादि-पूर्ण मगध नामक विख्यात एक महान् जनपद था। कदम्ब वन के विस्तार द्वारा उसके जंगल वेष्टित हो गये थे। विचित्र विहंग-समूहों तथा आश्चर्यजनक वस्तुओं से पूर्ण था। उसके ग्रामों के सीमान्त सस्य द्वारा लहलहाते थे। नगर के उपवनों से सुशोभित थे। कमल कल्हार से सरिताओं का उपकूल भरा था। उपवन झूलों पर झूलती ललनाओं के मधुर गानों से उद्यान गुंजित थे।

उस सुन्दर देश का कोई गिरितट कर्णिकार वृक्षों से भरा था। कदली के कुंजों तथा कदम्ब पादपों से शोभित था। पुष्पों में विहार करता मरुत सस्वर हो जाता था। केसर की अरुण धूलि से वह व्याप्त था। कारण्ड तथा अनुरागी सारस वहाँ कलरव करते थे। विचित्र विहंगमों तथा द्रुमों से आच्छादित उस पुण्य पर्वत पर परम धर्मात्मा महान् तपस्वी एक मुनि रहते थे। उस महात्मा का नाम दाशूर था। वे तपोयोग से संयुक्त थे। वे वीतराग महामति तपस्वी कदम्ब वृक्ष के पृष्ठ भाग पर रहते थे।

शरलोम मुनि द्वितीय ब्रह्मा-तुल्य उस गिरि पर रहते थे। देवगुरु बृहस्पति के पुत्र के तुल्य उनका एक पुत्र था। उनका नाम दाशूर था। पिता-पुत्र एक साथ उस शिखर पर निवास करते थे।

खग अपने नीड़ का त्याग कर एक समय चला जाता है। उसी प्रकार युगों वहाँ रहने के पश्चात् शरलोम ने शरीर-त्याग किया। पितृविहीन पुत्र दाशूर वन में कुरर पक्षी-सदृश करुण रुदन करने लगा। उसकी कान्ति दु:ख के कारण मलिन हो गई।

दाशूर की करुणा से वन-देवता द्रवित हो गए। अदृश्य रहते हुए भी उन्होंने दाशूर को आश्वासन दिया।

'ऋषिपुत्र! तुम महाप्राज्ञ हो। अज्ञों के समान क्यों रुदन करते हो? संसार के चंचल स्वरूप का तुम्हें क्या ज्ञान नहीं है? संसार-सागर की असीम चंचलता में जीवन-मरण खेल है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्मादि

से लेकर सभी गोचर हैं और सबका निसन्देह विनाश होगा। प्रातःकालीन उदित सूर्य का अस्त सायंकाल अवश्यंभावी है। जिस वस्तु की उत्पत्ति हुई है, उसका विनाश होगा। पिता के मरण का व्यर्थ विषाद मत करो।'

अदृश्य वन-देवता द्वारा अद्भूत वाणी शान्त हो गई। रुदन द्वारा रक्त-लोचन हुए दाशूर के मन ने कुछ धीरता प्राप्त की। उसने पिता की जीवनहीन काया देखा। वह काष्ठवत् पड़ी थी। जीवन शिखा बुझ जाने से कान्तिमय शरीर में अन्धकार घनीभूत हो गया था। उसके अशक्त अवयव इस प्रकार पड़े थे, जैसे दुनिया से पूछ रहे थे, यह दशा किसने की है? इस दीन दशा का कोई कारण है तो उसे खोजकर उसका निराकरण क्या नहीं किया जा सकता? किन्तु इन कातर सनातन प्रश्नों का उत्तर यदि किसी ने दिया, तो उन मक्खियों ने, जो शव पर सोई पड़ी थीं। और जिनसे बचने का निरन्तर प्रयास जीवित काया करती रहती है।

मृत काया पड़ी थी। परन्तु प्रकृति का क्रम पूर्वकाल-सदृश निरन्तर चलता रहा। पुष्पित पुष्प सुरभि बिखेरते रहे। लता विहँसती तरु आलिंगन में झूलती रही। समीपस्थ सरोवर में उत्फुल काल पर भौंरे मस्त गूँजत रहा। कदम्ब के हरित पल्लव में विहंगम-कुल क्रीड़ारत थे। प्राणहीन काया के साथ समवेदना प्रकट करने कोई नहीं आया। ऋषिकुमार पिता की और्ध्यदैहिक क्रिया निमित्त प्रयास-रत हो गया।

:o: :o: :o:

दाशूर ने कल्पना की कि पवित्र स्थान पर तपस्या की जाय। यदि वृक्षाग्र पर निवास कर, तपस्या की जाय, वह स्थान अत्यन्त शुद्ध होगा। दाशूर ने तप का संकल्प किया।

ऋषि-पुत्र दाशूर ने पवित्र अग्नि प्रज्वलित की। उन्हें आहुति निमित्त सबसे अधिक अपना मांस पवित्र प्रतीत हुआ। वे अपने स्कन्ध-प्रदेश का मांस काट-काटकर अग्नि में आहुति देने लगे।

भगवान् भुवन-भास्कर जिस प्रकार बृहस्पति के सम्मुख प्रकट होते हैं, उसी प्रकार अग्निदेव ऋषिकुमार के सम्मुख प्रकट हुए।

'साधो !' अग्निदेव ने धीर वचन कहा, 'अपना वाञ्छित वर ग्रहण करो।'

अग्नि की वाणी सुनकर विप्रकुमार ने अग्निदेव की पूजा पुष्प तथा अर्घ से की। तत्पश्चात् स्तुति करने लगे।

'भगवन् !' मुनिपुत्र ने कहा : 'भूमण्डल में मैंने कोई पावन मण्डल नहीं पाया है अतएव मैं वृक्षों पर स्थित रहता हूँ।'

'एवमस्तु !' कहते हुए अग्निदेव अन्तर्धान हो गए।

कानन-मध्य गगनचुम्बी कदम्ब वृक्ष दाशूर ने देखा। कुसुम-लताओं से वह युक्त था। नगर तुल्य लगता था। वह नगर खग-कुल-संकुल था। उस प्रफुल्लित, फल-पल्लवशाली कदम्ब वृक्ष पर दाशूर आनन्दपूर्वक, भगवान् विष्णु के क्षीर सागर में स्थित वट वृक्ष पर आरूढ़ होने के समान चढ़ा। वह विगत-शंका था, एकाग्र था, शाखा के प्रान्त पल्लव पर पहुँचा। तपस्या निमित्त वहाँ आसन लगाया।

कौतुकवश क्षणमात्र पश्चात् उनकी चंचल दृष्टि ने दिशाओं को देखा। उसे जगत् नारी-रूप दिखाई दिया। सरिता स्वरूप एकावली रमणीय थी। शैलेन्द्र उसके स्तन थे। निर्मल आकाश केशराशि थी। चंचल नील मेघ उसकी अलकें थीं। नील पल्लव उसके वसन थे। पुष्प-राशियाँ उसके अवतंस (कुण्डल शिरोमाला) थे। आभूषण-भूषित उसके करपल्लवों में सागर पूर्ण कलश था। सरोवर प्रफुल्ल पद्मों से पूर्ण थे। मुख से सुगन्धित वायु निकल रही थी। नील घुंघुल (भँवर) तथा कोकिल-स्वर आधुर अलाप थे। निर्झरों के झर्झर शब्द नूपुरों की ध्वनि थी। द्युलोक मस्तक था। पृथ्वी चरण था। वनावली रोमरातियाँ थीं। जंगल उसके स्थूल निलम्ब थे। चन्द्रमा तथा सूर्य उसके कर्ण-कुण्डल थे। सस्यादि पूर्ण खेत उसके अंग-विलास थे। ललाट शीतलशर्वरी-चन्दन द्वारा चर्चित था। स्तन शिखर के चारों ओर तुषार तथा उज्ज्वल मेघ उसके वक्षस्थल पर पड़े शिथिल वस्त्र थे। नक्षत्र-पंक्तियां उसके स्वेद

बिन्दु थे। भुवन का मध्य भाग उसका अन्तःपुर था। महासागर की असीमित जल-राशि नवालंकृत रूप देखने का दर्पण था। षड्ऋतुओं के पुष्प-पल्लव उसकी कंचुकी थी। अरुण रश्मियों का कुंकुम तिलक भ्रूमध्य लगा था। विचित्र सुन्दर सुरभित कुसुमों से युक्त थी।

कदम्ब पर तपस्या करने के कारण दाशूर का नाम कदम्बदाशूर हो गया। वह अपने चित्तवृत्तियों के निरोध निमित्त उस लतादल में दृढ़ पद्मासन लगाकर बैठ गया।

दाशूर तत्त्वज्ञानी नहीं था। उसकी ज्ञानदृष्टि खुली नहीं थी। फलाभिलाषी था। कर्मकाण्ड का आश्रय लिया। मन से उसने यज्ञ करना आरम्भ किया। नभोगत लता-पत्र में स्थित्त उसने यज्ञ की मानसिक क्रियाएँ कर डालीं। उसने बिधिपूर्वक वैदिक रीति से अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि सनातन यज्ञों का मानसिक आयोजन कर, उन्हें मन द्वारा समाप्त किया। देवताओं की मानसिक पूजा की। मानसिक दान किया।

उसे निर्मल ज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई। यज्ञादि पुण्य कर्मों द्वारा उसका अन्तःकरण शुद्ध तथा निर्मल हो गया। अज्ञान-आवरण क्षीण हो गया। ज्ञान-प्राप्ति की भूमिका बन चुकी थी। उसमें विचार उत्पन्न हुआ। विचार ने उसे आत्मज्ञान के सोपान का दर्शन कराया। वह एक के पश्चात् दूसरी सीढ़ियों पर पद रखता ऊपर उठने लगा।

:o: :o: :o:

मुनि के लोचनों ने किसी समय शाखा के अग्रभाग पर स्थित वनदेवी को देखा। विशालाक्षी वनदेवी कुसुमाम्बर में आलोकित थी। कामिनी थी। कान्त वदन थी। मदपूर्ण नेत्र चंचल थे। मनोहर थी। उनके अंग-प्रत्यंगों द्वारा खिले पद्म की सुरभि विकीर्ण हो रही थी। अनिन्द्य सुन्दरी थी। कुसुम भार से झुकी थी। वनलता-तुल्य विनम्र थी।

'पद्मलोचने!' दाशूर ने पूछा, 'अपनी कान्ति द्वारा कामदेव को विक्षोभित करने वाली, तुम्हारा मधुर परिचय क्या है? पुष्पित शाखा सखी लता की तरह पकड़ कर क्यों स्थित हो?'

'भगवन् !' मृगशावाक्षी, गौर वर्ण, पीन-पयोधरा वनदेवी मनोहारी मुग्धाक्षर वचनों द्वारा बोली 'महीतल पर दुष्प्राप्य वांछित फल आपकी महती कृपा से अनायास प्राप्त हो जाते हैं। मैं इस लताकीर्ण तथा कदम्ब वृक्ष से अलंकृत वन की वनदेवी हूँ। चैत्र शुक्लपक्ष त्रयोदशी को नन्दन वन में मदनोत्सव था। अन्य वनदेवियों के साथ मैं उसमें सम्मिलित हुई थी। वहाँ त्रैलोक्य की ललनाएँ एकत्र थीं। उस महोत्सव में अपने पुत्रों सहित देवियाँ प्रसन्न थीं। केवल मैं ही पुत्रहीना थी।'

दाशूर वनदेवी के लज्जित अरुण मुखमण्डल की ओर दृष्टिपात करते स्थिर हो गए। वनदेवी पृथ्वी की ओर देखती हुई बोली :

'भगवन् ! आप मुझे पुत्र दीजिए, अन्यथा मैं पुत्र-दुःख-दाह-शान्ति निमित्त अपनी देह अग्नि आहुति कर दूँगी।'

'सुन्दरी !' दाशूर ने एक पुष्प उस तन्वी को देते हुए कहा, 'तुम्हें तत्वज्ञानी पुत्ररत्न समय पर प्राप्त होगा।'

:o: :o: :o:

बारह वर्ष बीत गए। उत्पलाक्षी वनदेवी अपने द्वादश वर्षीय पुत्र के साथ दाशूर मुनि के पास आई। मुनि को प्रणाम किया। उनके सम्मुख बैठ गई।

'भगवन् !' मृदुभाषिणी कोमलांगी वनदेवी ने जैसे भ्रमर आम्रमंजरी पर गूँजता है, बोली, 'यह हम लोगों का कुमार है। मैंने इसे सब कलाओं से दक्ष कर दिया है।

मुनि की स्नेह-दृष्टि कुमार पर फैल गई। वनदेवी कुमार के मस्तक पर प्रेम से हाथ फेंरती हुई बोली :

'ऋषिवर ! आप इसे ब्रह्म विद्या में पारंगत कीजिए। कुलजात कुमार को कौन माता-पिता मूर्ख रखना पसन्द करेंगे ?'

'अबले !' दाशूर ने कहा, 'तुम कुमार को यहीं रहने दो।'

वनदेवी ने ऋषि को श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया। पुत्र को निर्मल दृष्टि से देखती हुई, आश्रम से प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

'पितः !' कुमार ने स्नेह से पिटप कुहर, उस कानन में रात्रि भिनने पर कहा, 'आज कोई आख्यायिका सुनाइए।'

'सुनो !' दाशूर की वाणी मुकुलित कलि में तिष्ठित भ्रमर की तरह थी, 'संसार के उपमान तुल्य तुझे मैं एक महाश्चर्य-पूर्ण आख्यायिका सुनाता हूँ।'

कुमार का मुख खिल गया। वह पिता के और समीप आ गया। उनके मुख की ओर देखने लगा। मरुत् से प्रकम्पित दीप-ज्योति पिता-पुत्र के मुखमण्डल पर कभी हिल जाती थी।

'महाबुद्धे !' दाशूर ने कहा, 'इस भुवनत्रय में महावीर विख्यात तीनों लोकों पर आक्रमण करने में समर्थ एक राजा खोत्थ था। सभी भुवन-नायक उसके अनुशासन का पालन करते थे। वह नाना कार्य-कुशल था। व्यवहार-पटु था। पराक्रमी था। लोकों में वह किसी के वश में नहीं हुआ था। उसका व्यवहार उत्तम, मध्यम, अधम तथा सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकार के शरीर-जगत् को अक्रान्त कर स्थित था वह विशाल आकाश में उत्पन्न हुआ था। उस असीम आकाश में ब्रह्माण्ड नगर चौदह भुवनों की रचना की थी।'

पितः !' कुमार ने कौतूहल पूर्ण स्वर से पूछा, 'वह उत्तम आकृतवान् राजा खोत्थ कौन है ? इस आख्यायिका द्वारा आप क्या बताना चाहते हैं ?'

'पुत्र ! सुनो !' दाशूर ने स्नेह प्रदर्शन करते हुए करते कहा, 'परमाकाश द्वारा उत्थित संकल्प का नाम खोत्थ है। वह प्रवृत्ति संकल्प से उत्पन्न तथा निवृत्ति संकल्प से स्वयं विलीन होता है। यह जगत् संकल्प का परिणाम है। संकल्पों के लय के साथ जगत् का लय हो जाता है।

वृक्ष का अवयव शाखा, पर्वत का अवयव शिखर, कहा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्रादि संकल्प के अवयव हैं। उसके चतुर्दश स्थान चतुर्दश लोक हैं। अपनी क्रीड़ा निमित्त वन-उपवन-तुल्य उसने मन्दराचल सुमेरु आदि महाचलों की सर्जन किाय। सूर्य एवं चन्द्रमा दीपक-तुल्य उसे ऊपर-नीचे प्रकाशित करते हैं। क्षीर समुद्रादि बावलियाँ है। देवता ऊर्ध्व में, मनुष्य मध्य में एवं दैत्य पाताल में निवास करते हैं। इस मानव के श्याम केश वस्त्र हैं। दोनों आँखें, दोनों कान दोनों नासिका-रन्ध्र, मुख तथा दोनों मूत्र तथा पुरीष इन्द्रियाँ, उनके नव द्वार हैं। अस्थिरूप इसमें लकड़ियाँ लगीं हैं। उन पर रक्त-मांस का लेपन किया गया है। प्राण पवन से वह गरम तथा ठण्डा रहता है। भुजा-स्वरूप उसमें गलियाँ हैं। इसके पञ्चदीपक पाँच इन्द्रियाँ हैं। इस महायन्त्र को चलाता है वायु।'

'पितः! आपने शरीर-वर्णन किया है।'

पुत्र!' दाशूर ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'हाँ यह शरीर-गृह है। अहंकार इस घर का यक्ष है। इसमें समुद्र की लहरों की तरह संकल्प उठते और विलीन होते रहते हैं। अहंकार-जनित दुर्वासान दुःख-रूप धारण कर इसमें प्रवेश करती है। सकल्पों के अस्तित्व-काल तक दुःख कष्ट देता है। संकल्पों के तिरोहित होते ही दुःख स्वतः नष्ट हो जाता है।'

पिताजी! यह दुःख!'

'सुनो! बालक अपनी छाया से डर जाता है। दुखी हो जाता है। उसे बहुधा भूत समझ लेता है। अपनी छाया की तरह अपने संकल्पों द्वारा मनुष्य इसी प्रकार दुःख पाता है। चंचल बन्दर अनजाने काष्ठ यन्त्र को मूर्खतावश हिलाता और स्वयं उसमें फँसकर दुःख पाता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य अपने संकल्पों में फँस कर कष्ट पाता है। अज्ञानी विषयों में फँस कर प्रसन्न होता है। मनुष्य अपने संकल्प द्वारा कल्पित विषयों में विहरता प्रसन्न होता है। वह अपने शुभ एवं अशुभ

संकल्पों द्वारा संसार का अवलोकन करता है। शुभ संकल्पों की शृंखला में वह निर्मल तथा अशुभ संकल्पों में अनायास मलिनता प्राप्त करता है।

'किन्तु पितः ! आपने तीन शरीरों की बात कही थी।'

'कुमार ! तुमने उचित प्रश्न किया। मैंने खोत्थ के तीन शरीर का उल्लेख किया था। सात्त्विक, राजसिक, तामसिक शरीर के तीन गुण हैं, इन्हीं तीनों के आधार पर मनुष्य संकल्प करता है। सात्त्विक द्वारा मानव धर्म-ज्ञान-परायण होकर मोक्ष-पद प्राप्त करता है। राजसिक संकल्पों द्वारा सांसारिक भोगादि प्राप्त करता है। मृत्युपरान्त पुनः मानव-तन पाता है। तामसिक संकल्प द्वारा नीच चेष्टा में प्रवृत्त होता है। इस जीवन के पश्चात् कृमि, कीटादि योनि में जन्म लेता है। इन्हीं तीनों संकल्पों के कारण तीन प्रकार के शरीर और गुण की कल्पना करता है। तीनों गुणों तथा संकल्पों से विहीन होने पर अक्षय परम पद मिलता है।'

'पिता जी !' पुत्र ने पूछा, 'आप संकल्प की बात करते हैं। यह संकल्प है क्या ? किस प्रकार उत्पन्न होता, किस प्रकार वार्धक्य प्राप्त करता है, और वार्धक्य प्राप्त कर पुनः कैसे नष्ट होता है ?'

'पुत्र !' दाशूर ने जिज्ञासु पुत्र की ओर प्रसन्नतापूर्वक देखते हुए कहा, 'आत्मतत्त्व की स्वरूप सत्ता आत्मतत्त्व चित्त अर्थात् चैतन्य है। चैतन्य चैत्य विषयों से उन्मुख होता है। यह उन्मुख भाव संकल्प-वृक्ष का अंकुर है। संकल्प मेघ-स्वरूप चित्ताकाश को व्याप्त करता है। चैतन्य की चित्तस्वभावता का तिरोधान कर शनैः शनैः घनीभूत होता है। संकल्प से स्वतः संकल्प उत्पन्न होता है। जिस तरह समुद्र केवल जल मात्र है उसी प्रकार यह जगत् संकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। काकतालीय योगी की तरह यह संकल्प वृथा उत्पन्न होता है। मृग-मरीचिका सलिल-तुल्य असत्य होने पर भी वार्धक्य प्राप्त करता जाता है।'

'पुत्र !' दाशूर ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'तुम्हारा जन्म मिथ्या है। तुम्हारा अवस्थान मिथ्या है। इस तत्त्व-ज्ञान के बोध हो जाने पर मिथ्या

विषयों का स्वतः लोप हो जायगा। मैं ब्रह्म हूँ। सुख-दुःख सांसारिक भाव मिथ्या है। यह भावना जब तक तुममें उत्पन्न नहीं होती, दुःख तुम्हारे साथ छाया की तरह सर्वदा घूमता रहेगा।'

'पुत्र!' दाशूर ने विश्वास के साथ कहा, 'तुम पूर्ण ब्रह्म हो। भ्रान्ति के कारण तुम्हारी उत्पत्ति हुई है। अपने संकल्प के वितान में वृथा मुग्ध हुआ जाता है। तर्व भाव की भावना न रखने पर संकल्प स्वतः नष्ट हो जाता है।

'वत्स!' दाशूर ने कुमार की ओर स्नेह से देखते हुए कहा, 'तुम संकल्प द्वारा संकल्प का, मन द्वारा मन का उच्छेद करो। महामते! संकल्प के शान्त होने पर दुःख जड़ से उपशान्त हो जाता है।'

'पुत्र!' दाशूर ने कहा, 'स्मरण रखना। संकल्प ही मन है। जीव है। चित्त है। वासनामय बुद्धि है। उनमें केवल नाम भेद है। इनका वास्तविक रूप देखने पर इनमें कुछ अन्नर प्रतीत नहीं होगा। संकल्प के अतिरिक्त किसी स्थान पर और कुछ नहीं है। इस संकल्प को हृदय से निकालकर फेंक देने में तुम्हें क्या शोक होगा? आकाश तुल्य जगत् शून्य है। दिक्स्वरूप आत्मा शून्य नहीं है। संकल्प-क्षय से जगत् क्षय होता है। आत्मा का क्षय नहीं होता।'

'भगवन्! यह जीव?'

'बुद्धे!' दाशूर ने कहा' 'जीव मन में भूत-वर्तमान-भविष्य कालात्मक जगत् का संकल्प करता हुआ, उसका निर्माण, परिवर्तन, विनाश करता हुआ, स्फुरित रहता है। जीव का मन सम्बन्ध उसकी वासना से आक्रान्त होता है। अतएव जीव चंचल तथा मलिन होकर स्वेच्छानुरूप रचनादि व्यवस्था करता है। हृदय वन स्थली में मर्कट-जीव अपने अनुरूप खेल खेलता है। कभी वह दीर्घ आकार धारण करता है और कभी निमेष मात्र में अत्यन्त लघु हो जाता है।'

'महामते!' काशूर ने कहा, 'जिन साधनों से कृत्रिम का नाश किया जाता है उसी के द्वारा अकृत्रिम अनादि ब्रह्म की प्राप्ति होती है। विस्तीर्ण संसार मल को धोने में तत्वज्ञ व्यक्तियों को सुख मिलता है।

मानव-कर्म द्वारा धान का छिलका तथा ताँबे की कालिमा नष्ट हो जाती है। संसार मल का नाश कर्म द्वारा होगा।'

'पुत्र !' दाशूर ने कहा, 'तुम्हें उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति के निमित्त उद्यमशील होना चाहिए। अब तक तुमने संसार की विजय नहीं की है। उनका एक मात्र कारण साधन का अज्ञान तथा ज्ञान का अभाव था। उपाय द्वारा तुम्हें सहज ही विजय प्राप्त हो जायगी। असत्य वस्तु चिरस्थायी नहीं रह सकती। अन्धकार में दीपक द्वारा वस्तुएँ दिखाई देती हैं। ज्ञान प्रकाश होने पर तुम्हें संसार-व्यवस्था असत् दिखाई देगी।'

'वत्स !' दाशूर ने चेतावनी देते हुए कहा, 'वह संसार तुम्हारा नहीं है। तुम संसार के नहीं हो। भ्रान्ति दूर कर असत्य को सत्य-स्वरूप देखने का प्रयास मत करो।'

अकस्मात् स्थान ज्योतिमय हो गया। पिता-पुत्र चकित हुए। महर्षि वशिष्ठ आश्रम में उनके सम्मुख दण्डायमान हो गए। महर्षि को देखकर पिता-पुत्र आसन त्याग कर सादर खड़े हो गए। उनकी वन्दना की। अर्घ्य, पाद्य, पुष्पादि से पूजा की। स्वस्थ होने पर दाशूर बोले :

'महामुने! आपका इतना अनुग्रह हम अकिंचन पर कैसे हो गया?'

'देवर्षि !' वाशिष्ठ ने सस्मित कहा, 'मैं कैलासस्थ गंगा में स्नान निमित्त अदृश्य चला जा रहा था। तुम्हारी ब्रह्म वार्ता सुनकर ठहर गया। आप पिता-पुत्र का प्रश्नोत्तर सुनने लगा।'

'आसन ग्रहण कीजिए।' दाशूर ने करबद्ध प्रार्थना की।

वशिष्ठ ने आसन ग्रहण किया। दाशूर ने भक्तिपूर्वक निवेदन किया :

'ब्रह्मर्षे ! इस पुत्र को आपके तत्त्वज्ञान की अपेक्षा है। कृपया उसे उपदेश दीजिए।'

महर्षि वशिष्ठ ने कुमार को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। निशा समाप्त हुई। वशिष्ठ जी स्नान निमित्त उठे। पिता-पुत्र ने करबद्ध नमस्कार कर उन्हें कुछ दूर तक पहुँचाया।

योग वासिष्ठ रामायण स्थिति प्रकरण : सर्ग ४७-५५

कच गीता

मेरु पर्वत के किसी गहन वन में सुरगुरु बृहस्पति के तनय कच अवस्थान करते थे। अभ्यास के द्वारा कभी आत्मा में उन्हें विश्रान्ति मिली। उनकी बुद्धि सम्यक् ज्ञान-सुधा द्वारा परिपूर्ण हुई। पंचभूतों से उन्हें विरक्ति हो गई। उनकी प्रीति आत्मा तक सीमित हो गई। दृश्य पदार्थों में अप्रीति-भाव हो गया। उन्हें आत्म-भाव के अतिरिक्त और किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रह गया।

किसी समय निर्वेद प्राप्त कर कच की हर्षपूर्ण गद्‌गद् वाणी मुखरित हुई, 'महाप्रलय काल में समस्त जगत् जलमय हो जाता है। मुझे भी समस्त विश्व आत्मामय प्रतीत हो रहा है। मैं कहाँ जाऊँ? मैं क्या करूँ? क्या ग्रहण करूँ? क्या त्याग करूँ? महाप्रलय काल में जिस प्रकार समस्त विश्व जल से परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार यह समस्त विश्व आत्मा से परिपूर्ण है। यदि अन्वेषण किया जाय तो दुःख तथा दुःख का उपभोग करनेवाला जीव और जीव के अभिलाष-योग्य सुखादि आकाश मात्र सिद्ध होंगे। वह आकाश भी ऊर्ध्व में, अधो में तथा समस्त दिशाओं में सर्वत्र आत्मा है। सब कुछ आत्मामय है। यह मेरी समझ में आ रहा है। इसी आत्मा द्वारा मेरा सब कुछ ताप दूर होगा। बाह्य में, आभ्यन्तर में, अधो दिशा में, ऊर्ध्व दिशा में, समस्त दिक्-चतुष्टय, सर्वत्र एक मात्र आत्मा विराजमान है। अनात्ममय कोई स्थान नहीं है। ऐसा मुझे कोई स्थान देखने में नहीं आया है, जहाँ आत्मा का अभाव हो। आत्मा सर्वत्र स्थित है। सब आत्मामय है। सब कुछ आत्मा है। मैं स्वयं आत्मा द्वारा विद्यमान हूँ। चेतन होकर जो प्रसिद्ध है, वही अचेतन होकर प्रसिद्ध है। मैं उन सबके अन्तर्गत हूँ। सब सन्मय असीमित आकाश को पूर्ण करनेवाला आत्म-रूप मैं सर्वत्र स्थित हूँ। मैं आनन्द-स्वरूप हूँ। मैं सुख-स्वरूप हूँ। मैं एकार्णववत् पूर्ण होकर अवस्थान करता हूँ।'

मेरु गिरि-कुंज में भावित होकर कच ने कहा। घंटा-ध्वनि-तुल्य उनके मुख से ओंकार ध्वनि ऊर्ज्जस्वित होने लगी। अनन्तर प्रणव के अकारादि मात्रात्मक दृश्यादि लय करके, हृदयाकाश के पश्चात् सूक्ष्म एवं कोमल तुरीयावस्था ओंकार की कला मात्र भावना करते हुए, समाधि में शान्ति प्राप्त की।

योग वासिष्ठ रामायण : स्थिति-प्रकरण : सर्ग ५८

उपशम-प्रकरण

- ☐ जनक
- ☐ पुण्य पावन
- ☐ बलि
- ☐ प्रह्लाद
- ☐ गाधि
- ☐ उद्दालक
- ☐ वीतराग
- ☐ सुरधु
- ☐ भास विलास
- ☐ वीतहव्य

☐

जनक

वीर्यवान् राजा जनक विदेह के महीपाल थे। वे धैर्यवान् थे। परमार्थी थे। प्रजा-कमल के सूर्य थे। बान्धव पुष्पों के ऋतुराज बसंत थे। कामिनियों के कामदेव थे। कुमुदिनियों के शशि थे। अन्धकार के भानु थे। स्वजन-रत्नों के समुद्र थे। पृथ्वी के विष्णु थे।

शक्र के नन्दन कानन-तुल्य अपने उद्यान में महामति जनक ने शनैः शनैः प्रवेश किया। हरित दूर्वादल चरण-स्पर्श से अघाकर झुक गए। तरु-शाखाओं में लगे फलों में रस संचार हो गया। द्रुम-परिरम्भित वल्लरियों ने नत होकर नमस्कार किया। टहनियाँ आनन्दोद्रेक में झूम उठीं। राजा के दर्शन से प्रफुल्लित होकर पुष्पों ने बिखेर दिया सौरभ। पवन अपने सहचर तरुदल से मिलकर गा उठा मधुर स्वागत-गान। राजा की पवित्र कान्ति से जाज्वल्यमान उद्यान अपनी श्री राजा के चरणों में अर्पित करने के लिए तत्पर हो गया।

राजा सहचरों का साथ त्याग कर उद्यान-कुंज की ओर अग्रसर हुआ। शाल्मली वृक्ष के समीप पहुँचते ही उसके कानों में गूँजने लगा अति मनोहर मधुर संगीत। संगीत-लहरियों में दया की कोमलता थी। पवित्रता की शुद्धता थी। त्याग का माधुर्य था। गायक अदृष्ट सिद्ध थे। एक स्वर के पश्चात् दूसरा स्वर मुखरित होता था। एक कंठ-ध्वनि के पश्चात् दूसरी कंठ-ध्वनि उर्जस्वित होती थी। स्वरलहरियाँ कह रही थीं :

'द्रष्टा पुरुष है। दृश्य जगत् है। द्रष्टा और दृश्य का संयोग होता है। उस संयोग से उद्भव होता है, बुद्धिजन्य आनन्द। आत्म-तत्त्व से उदय होता है इष्ट के संयोग तथा अनिष्ट के वियोग का चित्तानन्द। निरन्तर इन स्वर-लहरियों के उद्गम स्थान आत्मा की हम उपासना करते हैं।'

दूसरे ने गाया, 'दर्शन का जो प्रथम प्रकाश-स्वरूप है; जिसके प्रकाश से द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन तीनों प्रकाशित होते हैं। उस आत्मा की हम उपा-करते हैं।'

तीसरे ने गाया, 'जिसमें यह सब है, जो यह सब है। जिसके द्वारा यह सब है। जिसके निमित्त यह सब है। उस सत्य की हम उपासना करते हैं।'

चौथे ने गाया : 'अ' जिसका प्रथम अक्षर है। 'ह' जिसका अन्तिम अक्षर है। जो 'अ' से 'ह' तक उच्चारणों में स्थित है। उस आत्मा की हम उपासना करते हैं।'

पाँचवें ने गाया, 'जिसमें मनोभावों का अभाव है। जिसमें द्वैत कल्पना का अभाव है। जो निर्मल है। जो निराभास है। जो अद्वैतरूप है। उस आत्मा की हम उपासना करते हैं।'

छठवें ने गाया, 'जो अस्ति-नास्ति रहित है। जो सत्-असत्, प्रकाश-अप्रकाश के परे है। जो सूर्यादि को प्रकाशित करता है। उस प्रकाश-स्वरूप सत्य आत्मा की हम उपासना करते हैं।'

सातवें ने गाया, 'जो आदिरहित है। जो अन्तरहित है। जो अनन्त आनन्द सुन्दर परमात्मा, सब जीवों में निवास करता है। उस आत्मा की हम उपासना करते हैं।'

आठवें ने गाया, 'जो हृदय-गुहा में स्थित परमात्मा को त्याग कर, अन्य देवों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं वे अपने करतल की कौस्तुभ मणि का त्याग कर, अन्य रत्नों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।'

नवें ने गाया, 'जो आशाओं का त्याग कर, हृदय-स्थित ज्ञानस्वरूप परं ब्रह्म का फल प्राप्त करते हैं। जिसकी प्राप्ति से जटिल हृदय-ग्रंथि वाले विषवल्लरियों की परम्परा नष्ट हो जाती है।'

दसवें ने गाया, 'जो विषयों में नीरसता जानकर भी उसमें तृष्णाभाव रखते हैं, वे नर नहीं गर्दभ हैं।'

ग्यारहवें ने गाया, 'जिस प्रकार इन्द्र वज्र द्वारा गिरि-शिखर पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार फण उठाए, इन इन्द्रियों-सर्पों पर विवेक-दण्ड द्वारा प्रहार करना चाहिए।'

बारहवें ने गाया : 'जो शमवान् पुरुष पवित्र उपशम सुख प्राप्त कर शान्त होता है, जिसका चित्त उपशम प्राप्त कर लिया है, उसकी अपने स्वरूप में चिरकाल तक स्थिति रहती है।'

सिद्ध गणों द्वारा गान राजा ने सुना। रणवाद्य सुनने वाले कायर की तरह राजाविषाद ग्रस्त हो गए।

जनक ने सिद्धों द्वारा क्रम-क्रम से गाया गान स्मरण किया। प्रकृति के प्रफुल्लित रूप को देखा। साज-सज्जा से पूर्ण राजकीय वातावरण देखा। उत्साह के साथ राज्योद्यान में पदार्पण किया था। उसके स्थान पर विषाद की हलकी छाया उन्हें घेरने लगी। उस छाया ने फैलते-फैलते जैसे समस्त उद्यान को अपने अंक में ले लिया। राजा प्रासाद की ओर मन मारे लौटे, जैसे नदी का जल तटों से टकराता समुद्र की ओर जाता है।

:o: :o: :o:

राजा अपने ऊँचे प्रासाद की अन्तिम मंजिल पर गम्भीरतापूर्वक चढ़ गए। उन्हें वहाँ से फैला नगर दिखाई दिया। बहुत दूर पर क्षितिज भूमि से मिलता एकाकार होता दिखाई दिया। नगर में अगणित लोग अपने गृहों में, अपने आलयों में पड़े, अपने कर्मों में रत थे। क्षितिज तक फैले मैदान में खेत लहलहा रहे थे। जनक ने जगत् को दूर से देखा। जगत् से उठकर देखा। उन्हें जगत् भगवान् का एक खेल लगा। वे विचार करने लगे :

'ओह! यहाँ कितना कष्ट है? मैं कितना मूढ़ हूँ। मैंने संसार की चंचलता का आश्रय लिया है। नहीं जान रहा हूँ कि मैं पाषाणवत् हूँ। मुझमें और पाषाण में क्या भिन्नता है? गतिशील काल में एक अंश में मैं जीवित हूँ। तथापि मैं इस जीवन पर आस्था करता हूँ। राज्य,

मन्त्री, सेना को मैं सुखकर मानता हूँ।' उनके पीछे भेड़ों की तरह दौड़ा जा रहा हूँ। किन्तु वे दुःख-पात्र हैं। संसार-प्रपंच इन्द्रजाल है। मैं न जानें क्यों इनमें मोहित हो गया हूँ। सब क्षणभंगुर है।

'आह! सुख में दुःख छिपकर बैठा। मुझे धिक्कार है। मैं उनमें मुग्ध हूँ। किन सुखों के आधार पर जीवित रहने की इच्छा करता हूँ? मुझसे अधिक अगणित लोगों ने सुख भोगा है। जिनकी स्मृति जगत् में प्रातः कालीन उत्फुल्ल कमल की तरह प्रफुल्लित है, वे सब मिट गए। पुनरपि मेरा क्या अस्तित्व है?

'ओ चित्त! तू किस महत् वस्तु पर मोहित हुआ है? मैं स्वयं आयुर्बल से बँधा हूँ। मैं किस वस्तु के अभाव में कलंकित हो रहा हूँ? मैं आत्मा हूँ, तथापि सोचता हूँ मेरा नाश होता है। किन मोहों के कारण अपनी इस आत्मा को नहीं पहचान रहा हूँ? बन्धु-बान्धव तथा भोग मेरा क्या उपकार कर सकते हैं? उनके लिए मुझमें क्यों मोह उत्पन्न हो गया है? देहाभिमान से मैं क्यों ग्रसित हो गया हूँ? देश में मुझे कौन-सी सुन्दर वस्तु प्राप्त होगी?

'ना! ना!! ना!!! यह सब क्षोभ के कारण हैं। सब असत्य हैं। उनमें मुझे किंचित् मात्र ममता नहीं रह गई है। मैं महान् धैर्य धारण कर क्यों जीवित हूँ? जिन्होंने ऐश्वर्य भोगा है, जो गुणवान थे, जो महान् थे, वे भी अपने कुटुम्ब सहित काल-कवलित हो गए हैं।

'कहाँ ब्रह्म-सुख और कहाँ यह राज्य? मिथ्या ऐश्वर्य, झूठी मान-मर्यादा, गौरव की विचित्र विडम्बना, कोटि-कोटि इन्द्र नष्ट हो गए हैं। अगणित मानवों की परम्परा जल-स्तर पर तैरते बुलबुलों के समान नष्ट हो गई है। न जाने कितने ब्रह्मा हो गए हैं। न जाने कितने पर्वत-सदृश विशाल महत्त्वाकांक्षी लोग हो गए हैं। न जाने कितने कण-सदृश अगणित राजा हो गए हैं। फिर भी मैं इस असत्य जीवन में आस्था करता हूँ!

'संसार-रात्रि में यह देह स्वप्न है। इस भ्रामक देह के विश्वास के कारण मैं धिक्कार का पात्र हूँ। मैं, तुम, वह आदि मिथ्या कल्पनाओं में भूलकर मैं मुग्ध हो गया हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश काल के भेद हैं। काल उनसे खेलता है। कोई एक मुहूर्त्त में, कोई एक निमेष में, कोई एक क्षण में, कोई एक घड़ी में, कोई एक दिन में, कोई एक मास में, कोई एक वर्ष में, कोई शत वर्ष में, कोई युगों में, कोई एक प्रलय में, कोई महाप्रलय काल में नष्ट हो जाता है। काल निरन्तर सबके साथ-साथ खेलता रहता है। सबको खाता रहता है।

'ओह! भोग-सरिता में तृष्णा-तरंगें, अपना मनोरम वितान फैलाकर, अपने मनोरम रूप द्वारा चित्त को मोहित कर रही हैं। और मैं विरक्त नहीं हुआ। यह जानकर मुझे, मेरे जीवन को, मेरी बुद्धि को, मेरे सम्बन्धित सब पदार्थों को धिक्कार है। अस्थि, मांस, मज्जा से युक्त यह शरीर मध्य में सुहावना लगता है। प्रारम्भ में चंचल, बलहीन, गिरता-पड़ता चलता है। अन्त में उसे देखकर विरक्ति होती है। किन्तु वाष्तव में जिन्हें हम अपवित्र वस्तु मानते हैं, जिन्हें स्पर्श करने से हिचकते हैं, जिन्हें देखकर भयभीत होते हैं, उन्हीं का संग्रह है।

'अपने पराक्रम के प्रदर्शन निमित्त लोग अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ करते हैं। वे किसी महाकल्प के किसी एक अंश मात्र में स्वर्ग-सुख भोग पाते हैं। अश्वमेध यज्ञ करने वाला ब्रह्मा के एक दिन के चतुर्दश भाग के इन्द्र का एक इन्द्र होता है। वाह! यह कितने दिनों का इन्द्रसुख है?

'और ब्रह्मा? अपने आयुर्बल के पश्चात् स्वयं महाप्रलय में विलीन हो जाते हैं। स्वर्ग में, पृथ्वी पर, पाताल में, कहीं भी कोई सुख ऐसा नहीं है, जो दुःख-मिश्रित न हो। इस शरीर-विवर में दुःख-स्वरूप चित्तसर्प निवास करता है। आधि-व्याधि दुःख-विष का सृजन किया करता है। इस संसार में सत्यता पर असत्य, रमणीयता पर अरमणीयता और सुख पर दुःख बैठा है। मेरी समझ में नहीं आता, मैं किस सुखकर कहे जाने वाले स्थान में आश्रय लूँ।

'नीलोत्पल लोचन, हासविलास द्वारा अलंकृत ललनाओं को देखकर मुझे हँसी आती है। इनका कथित सौन्दर्य अस्थि, मांस, मज्जा का संग्रह है। कुछ ही काल में विकारास्पद रूप धारण कर लेता है। तुषार द्वारा अग्नि नहीं उत्पन्न होती। संसार से सुख नहीं मिल सकता।

'उद्यान के एक पादप-तुल्य संसार है। इस पादप का मूल मन है। वह संकल्प-जल से सींचा जाता है। किन्तु जल के अभाव में अनायास सूख जाता है। मुझे अपने हृदय की दुर्बलता का आज ज्ञान हुआ है। उस दुर्बलता का मूल मन है।

'मैं इस मन को मारूँगा। यह मुझे अनन्तकाल से मारता आया है। मेरा मन जड़ होकर हिमकण हो गया है। मैं ज्ञानसूर्य द्वारा उसे तरल करूँगा। जड़ता तिरोहित होने पर शान्ति प्राप्त होगी। मुझे आज सिद्धों ने जगाया है। मैं उनका आभारी हूँ। उन्होंने मेरा पथ-प्रदर्शन किया है। मैं उस पथ पर बढ़ता हूँ। बढ़ता जाऊँगा। विवेक मेरा साक्षी होगा। आओ विवेक मित्र ! चलें। तुम्हें मेरा प्रणाम है।'

:o: :o: :o:

'देव !' प्रतिहारी ने करबद्ध निवेदन किया, 'श्रीमान् के भुजास्तम्भ पर वसुधा का भार है। नृपोचित व्यापार का सम्पादन कृपया उठकर कीजिए।'

जनक नीरव थे।

'देव' दूसरे प्रतिहारी ने प्रवेश कर निवेदन किया, 'कुसुम, कर्पूर, कुंकुम, जलपूर्ण, घट युक्त, स्त्रियाँ नदियों तुल्य मूर्तिमती खड़ी हैं।'

जनक शून्य गगन की ओर देखने लगे।

'देव !' तीसरे प्रतिहारी ने शिरसा नमन करते हुए कहा, 'स्नानादि से निवृत्त होकर दक्षिणा योग्य द्विजगण आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

जनक दूसरी ओर देखने लगे।

'देव !' चतुर्थ प्रतिहारीने कहा, 'अलंकृत कान्ताएँ शीतल भोजन निमित्त भूमि सुसज्जित कर चुकी हैं।'

जनक भूमि की ओर देखने लगे।

'भद्र !' महाप्रतिहारी ने प्रवेश कर निवेदन किया, 'महापुरुष गण स्वकर्मों में काल का अतिक्रमण नहीं करते।'

किन्तु राजा जनक का ध्यान प्रतिहारियों के ध्यान आकर्षित करने पर भी टूटा नहीं। वे पूर्ववत् विचार करने लगे। प्रतिहारीगण नतमस्तक खड़े हो गए। जनक की विचार श्रृंखला बढ़ने लगी।

'राजसुख तुच्छ है। क्षण-भंगुर पदार्थों से मुझे क्या प्रयोजन ? मिथ्या माया का त्याग करूँगा। प्रशान्त सागर-सदृश शान्त हूँगा। असत्य भोगों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं कर्मों का त्यागकर नैसर्गिक आनन्द का उपभोग करूँगा।

'ओ! चित्त! ! विचित्र कौतुकों में तू मुझे लुभाता है। विस्मय-जनक वस्तुओं में मुझे विमोहित करता है। वे वस्तुएँ दुःख में फँसाती हैं। चित्त! तू भोगों में कभी प्रवृत्त और कभी निवृत्तशील होता है। चिरकाल से तेरा यही स्वभाव पड़ गया है। इस प्रकार के प्रवृत्ति-निवृत्ति द्वारा तुम्हारी कभी परितृप्ति नहीं होगी। पाप मन! तुच्छ भोगों की मुझे कोई चिन्ता नहीं है। उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। उन विषयीं के अनुसरण से क्या लाभ। जिनसे कृत्रिम तृप्ति होती है ?'

राजा जनक विचार करते-करते शान्त हो गए। चित्त की चंचलता का लोप हो गया। चिन्तार्पित-तुल्य निश्चल निस्पन्द बैठे रहे।

राजाओं की चित्तवृत्ति के कुशल-दक्ष पारखी प्रतिहारियों ने राजा की मानशिक दशा का अवलोकन कर, किसी प्रकार का विघ्न डालना उचित नहीं समझा। स्वयं हटकर, आज्ञा निमित्त खड़े हो गए। कुछ काल पश्चात् राजा जनक कर्मों की चिन्ता करने लगे।

'मैं जगत् में किन उपदेय वस्तुओं को यत्नपूर्वक सिद्ध करूँ। इस जगत् में क्या अविनश्वर है जिसमें मैं अनुरक्त हो सकूँ ? काया नश्वर है। नश्वर से मुझे क्या प्रयोजन ? यह मेरी मिथ्या देह कर्मलिप्त हो

अथवा न हो, इससे मुझे क्या मतलब ? मैं शुद्ध आत्मचैतन्य-रूप हूँ। मैं अप्राप्य वस्तु की आकांक्षा नहीं करता हूँ। प्राप्त वस्तुओं में किसी प्रकार की आस्था नहीं है। अतएव वस्तु के परित्याग में मुझे चिन्ता नहीं है। कर्म तथा कर्म परित्याग द्वारा जो उपलब्धि होती है वह सब क्षणभंगुर है। योग्य एवं अयोग्य कर्म करने में मुझे कोई लाभ दिखाई नहीं देता।

'मैं केवल गात्रोत्थान करूँगा। मेरा यह शरीर चिर क्रमागत उपस्थित कार्यों का सम्पादन करे। क्रिया-शून्य होने पर, देह विशुद्धि द्वारा जो उत्तम फल प्राप्त होता है, उसकी मुझे कामना नहीं है। यदि निष्काम एवं वासना-सम्पर्क-शून्य होकर, समभाव से अवस्थान करे तो इस प्रकार शरीर एवं अंगों का कार्य सम्पन्न होगा। फल में निष्पन्द भाव स्थिर हो जायगा।

'कर्मफल ? मन के कर्तृत्व की अपेक्षा कर्म-फल और किस चीज का नाम है। मन के अतिरिक्त उनका भोगने वाला कौन है ? मन शान्ति प्राप्त करने पर भी मनुष्य को कर्म-फल प्रदान कर सकता है। मानव के अन्दर कर्म का मूल दृढ़ भाव से अवस्थित रहता है। अतएव मानव कृणावान् होता है। किन्तु मेरी बुद्धि अविश्वर परमपद का अवलम्बन करना चाहती है। मैं कर्म तथा कर्म-फल के मूलभूत आन्तरिक चांचल्य का परित्याग करूँगा।'

:o: :o: :o:

राजा जनक ने गात्रोत्थान किया। अनासक्त भाव से क्रिया करने का निश्चय किया। सूर्य प्रतिदिन नियमित रूप से अनासक्त भाव से दैनिक क्रिया करता रहता है। जनक अनासक्त भाव से दैनिक कर्मों के सम्पादन निमित्त तत्पर हुए। इष्ट-अनिष्ट का भाव त्याग दिया। जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति समान अपने कर्मों में लग गए। दिन भर कार्य किया। रात्रि ध्यानयोग व्यतीत की। मन में समता का उदय हुआ। विषय तथा भ्रमों के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया। ब्राह्म मुहूर्त पुनः उन्होंने अपने चित्त को सम्बोधन किया :

'चित्त ! संसार तुम्हारे सुख के लिए नहीं है। शान्ति लाभ कर। शान्ति प्राप्त होने पर;[१] शान्त सुख प्राप्त होगा। मन-ही-मन अनायास जिनकी कल्पना किया करता है, उन्हीं चिन्ताओं के कारण, जगत तुम्हारे लिए विषाक्त हो गया है। नियमित रूप से जल द्वारा सिंचित वृक्ष शाखा-प्रशाखा युक्त हो जाता है। उसी प्रकार भोग-विलास द्वारा शत-शत वेदनाएँ उत्पन्न होकर, तुझ पर आक्रमण करती हैं। तुम विचित्र चिन्ताओं को त्यागकर शान्ति प्रदान करो।

'सुन्दर चित्त ! तुम्हारी चिन्ताएँ संसार की तरह चंचल हैं। चंचल संसार की सृष्टि तथा चंचल चित्त की तुलना कर देखो। यदि उनमें कुछ सार प्राप्त हो तो ले लो। दृश्य पदार्थों के दर्शन का कारण भूत संसार से आस्था-शून्य होना उचित है। इसकी किसी भी सामग्री का अभिलाषावश ग्रहण तथा त्याग न करते हुए विहार करो। सब दृश्य पदार्थ असत् हैं। उत्पन्न होते हैं। विनष्ट होते हैं। साधो ! इनके दोष तथा गुण से विचलित मत हो। दृश्य जगत् के साथ तुम्हारा नाम मात्र के लिए भी सम्बन्ध नहीं है। मिथ्या पदार्थ के साथ तुम्हारा कैसे सम्बन्ध हो सकता है ?

'चित्त ! तुम असत्य हो। संसार असत्य है। असत्य से असत्य के सम्बन्ध द्वारा कुछ प्राप्त नहीं होता।

'चित्त ! यदि तुम और संसार दोनों सत्य हो, फिर भी तुझे हर्ष किंवा विषाद की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सत्य का कभी

योग वाशिष्ठ रामायण : उपदशम प्रकरण : सर्ग ८–१३
सखांयायन श्रौत सूत्र १६, २६, ७
जैमिनीय ब्राह्मण १ : १९ : २
२ : ७ : ६
शतपथ ब्राह्मण : ११ : ३ : १ : २
११ : ४ : ३ : २०
११ : ६ : २ : १ : १०
ऐतरेय ब्राह्मण ३ : १० : ९ : ९
३ : १० : ९ : २

परिवर्तन नहीं होता। अपरिवर्तनशील तत्त्वों में, वस्तुओं में, हर्ष-विषाद कैसे उत्पन्न होगा। अतएव तू वेदनाओं का त्याग कर आनन्द-स्वरूप का अवलम्बन ग्रहण कर। पतित उत्पतित ज्वालामय अंगार-तुल्य आत्म-प्रज्वलन का क्या प्रयोजन ?

'सद्बुद्धे ! ज्वलन्त अंगार अत्यन्त उष्ण होता है। पुनः शनैः शनैः अपनी ज्वाला त्यागता है। मलिन होने लगता है। अन्त में बुझ जाता है। निर्वाण प्राप्त करता है। उसी प्रकार तुम मोह प्राप्त कर अज्ञान से मन्दीभूत मत हो। वह जगत् उत्तम, उन्नत वस्तु नहीं है। उसके अवलम्बन द्वारा परम परिपूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती।'

बृहदारण्यक उपनिषद् १ : १ : १ : ३ : १ : १
४ : १ : १
४ : २ : १
४ : ४ : ७
५ : १४ : ८

कौषीतकी उपनिषद् ४ : १

पुराण ब्रह्माण्ड : ३ : ६४
वायु : २ : ३७
कालिका : ३८
विष्णु : ४ : ४
भागवत : ९ : १३, १३, ६ : ३, २०,
गरुड़ १ : १३८
गणेश : १ : ३५

द्म : पाताल खण्ड : ३०

ब्रह्म वैवर्त्त २ : १६

महाभारत : सभा पर्व : ८ : १९
३० : १३

वन पर्व : १३२ : १५
१३३ : २०–३०
१३४ : २९, ३२, ३६, ३७
२०७ : ३७–३९
२७४ : ९

'शठ मन ! बाधाओं का अतिक्रमण तथा धैर्य का अवलम्बन करो। चपलता का परित्याग श्रेयस्कर है।'

विदेह राजा जनक पर उषा की उठती किरणें प्रखर होने लगीं। प्रतिहारी ने संकेत किया। परिचारिकाएँ जल-पात्र लेकर उपस्थित हुईं। बन्दीजनों की वाणी मुखरित हुई। ब्राह्मणोंने स्वस्ति वचन कहा। राजा निर्लिप्त विदेह तुल्य नित्यकर्म निमित्त चले।

महाभारत : शान्ति पर्व : ८ : ४–५
२८ : ४
९९ : ४-७
१०६ : २१–२८
१७८ : २
२७६
२९० : ४
२९६ : १–२
२९८ : २
३०२–३०८
३०९
३१०–३१८
३२० : ७५
३२६ : ३–५
अनुशासन पर्व ११५ : ६५
आश्वमेधिक पर्व ३२
वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड : सर्ग १–३, १२, ३३, ४८, ५०, ६५, ६६, ६७ ७४, ७७
अयोध्याकाण्ड : सर्ग : –२

बौद्ध ग्रन्थों में जनक का उल्लेख आता है—

महाजनक जातक में उल्लेख है कि जनक मिथिला के राजा थे। पूर्व काल में वे एक बोधिसत्व थे। सत्तुभस्त जातक में जनक को काशी का एक राजा कहा गया है। जनक उनका मन्त्री था।

पुण्य-पावन

जम्बूद्वीपान्तर्गत महेन्द्र पर्वत है। उसके कल्पद्रुम-वन-छाया में मुनि तथा किन्नर विश्राम करते थे। उसके गगनचुम्बी शिखर की गुफाएँ सामवेद के गान से प्रतिध्वनित रहती थीं। उस रत्नपूर्ण मनोरम शिखर के एक भाग में मुनियों के स्थान निमित्त व्योम-गंगा अवतरित हुई थी। गंगा के रम्य तट पर विकसित द्रुमों द्वारा हरित ऋषि दीर्घतपा का पवित्र आश्रम था। बृहस्पति-पुत्र कच के समान दीर्घतपा के दो पुत्र पुण्य तथा पावन थे।

पुण्य तत्त्वज्ञानी था। पावन प्रातःकालीन कमल-तुल्य केवल प्रबोधोन्मुख था। मुनि दीर्घतपा अपनी भार्या तथा पुत्रों के साथ आश्रम में निवास करते थे।

ऋषि दीर्घतपा की एक सौ वर्ष की आयु हुई। उनकी देह-लता सूख चली। संसार का मोह त्याग कर मुनि ने अपने शरीर का भार उतार दिया। पक्षियों-तुल्य देह-नीड़ का त्याग कर दिया। उनकी आत्मा पुष्प की सुगन्ध-तुल्य उड़ गईं। वे परमपद में लीन हो गए।

प्राण एवं अपान रहित अपने पति का शरीर नाल-विहीन कमल-तुल्य भूमि पर लुण्ठित देखकर पत्नी ने अपने चिराभ्यस्त योग का आश्रय लिया। पति के अनुसरण का निश्चय किया। भ्रमरी जिस प्रकार अम्लान कमलिनी का त्याग करती है, उसी प्रकार मुनि की भार्या ने अपनी सुन्दर देह त्याग दी।

माता-पिता का और्ध्व दैहिक कर्म ज्येष्ठ पुत्र पुण्य ने अव्यग्रता-पूर्वक किया। उसे दुःख तथा शोक ने स्पर्श नहीं किया। आत्मज्ञानी-तुल्य वह किंचित् मात्र अस्थिर नहीं हुआ।

कनिष्ठ पुत्र पावन अपने प्रिय माता-पिता की मृत्यु देखकर व्याकुल हो गया। उसे व्यग्रता ने घेर लिया। शोक में विवेक ने उसका साथ

त्याग दिया। धैर्य उसके साथ चल न सका। उसका साथी हो गया विलाप। उसका साथी हो गई मानवीय दुर्बलता। वह हो गया अत्यन्त दीन। वह अरण्य में भटकने लगा।

पावन सब स्थानों पर माता-पिता का प्रेम, उनका स्नेह, बाललीला, उनके द्वारा प्राप्त सुखादि का स्मरण कर अत्यन्त दु:खी रहने लगा। बाल्यकाल की स्मृतियाँ उसे चारों ओर से घेर कर तंग करने लगतीं। उसे कहीं शान्ति नहीं मिलती थी। वह रात-दिन माता-पिता का स्मरण करता था। आँसू बहाता था। इस जंगल से उस जंगल में व्याकुल हरिण की तरह घूमता रहता था। उसे अपने शरीर तथा जगत् दोनों का ध्यान नहीं रहा। अपने सभी कर्मों को शोक में भूल गया।

:o: :o: :o: :o:

पुण्य अपने कनिष्ठ भ्राता के अन्वेषणार्थ निकला।

पावन मिलते ही ज्येष्ठ भ्राता पुण्य के गले से लिपट कर रोने लगा। पावन रोता था। पुरानी स्मृतियाँ आँसू बनकर आँखों में आती जाती थीं। पावन के विपुल शोक को निर्विकार देखता पुण्य स्थिर रहा। पावन शोक हलका होने पर वृक्ष की शीतल छाया में पुण्य के साथ बैठ गया।

'वत्स !' पुण्य ने सान्त्वना दी, 'तुम किस लिए शोक करते हो ? महाप्राज्ञ ! हमारे माता-पिता ने मोक्ष-नामक परमात्म पद पाया है।'

पावन माता-पिता का स्मरण कर पुनः रो उठा। पुण्य ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा :

'महाभाग ! अज्ञान के कारण वर्षाकालीन लता की तरह तुम अपने दु:ख की वृद्धि कर रहे हो। क्या तुम्हें नहीं ज्ञात है, हमारे तुम्हारे माता-पिता ज्ञानी थे। अपने ज्ञान द्वारा, अपने योग द्वारा, प्राणियों के एक मात्र गन्तव्य स्थान पर, जहाँ ब्रह्मज्ञानी रहते हैं, वहीं

ब्रह्म-स्वरूप अपने स्वभाव के कारण हैं। तुम क्यों दुःख करते हो ?'

'पिता जी !' पावन दुःखभार से पुण्य की गोद में गिर कर बच्चों की तरह रोने लगा। उसकी हिचकी बँध गई। पुण्य उसके केशों में स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुए सान्त्वनापूर्ण वचनों से कहा :

'प्रियवर !' माता-पिता ने अशोच्य दशा प्राप्त की है। उनके लिए शोक करना उचित नहीं है। तुम केवल मोह के कारण शोक कर रहे हो !'

'पावन !' पुण्य ने भाई के मस्तक पर झुकते हुए कहा, 'वे हमारे-तुम्हारे केवल माता-पिता नहीं हैं। वे असंख्य पुत्रों के माता-पिता वन के अगणित जलीय गड्ढों की तरह रह चुके हैं। हमारे-तुम्हारे अकेले वे माता-पिता नहीं हैं। नदियों के तरंग-तुल्य हमारे अनेक माता-पिता हो चुके हैं।'

पावन चकित होकर भाई की गोद से उठ गया। उसने आश्चर्य मुद्रा में पुण्य की ओर देखा।

'वत्स !' पुण्य ने प्रेम से कहा, 'जिस प्रकार अरण्य की बहती स्रोतस्विनियाँ निम्न भूमि की ओर बढ़ती चलती हैं, पूर्व स्थानों को पीछे छोड़ती जाती हैं, उसी प्रकार तुम अनेक माता-पिता के आश्रयों को त्याग कर आगे बढ़ते रहे हो। तरुओं में नवीन पल्लव लगते हैं। पुराने सूख कर गिरते जाते हैं। सरिता में तरंगें उठती हैं, विलीन होती हैं। उसी प्रकार हमारे माता-पिता को अगणित पुत्र-रत्न प्राप्त हो चुके हैं। ऋतुओं में वृक्ष फलों से लद जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जन्म में मित्र तथा बन्धु-बान्धव होते रहते हैं।'

पावन के वाष्प-पूर्ण नेत्र सूखने लगे। पुण्य ने उन्हें अपने उत्तरीय से स्नेहपूर्वक पोंछते हुए कहा :

'यदि स्नेह के कारण माता-पिता के लिए शोक कर रहे हो, तो अपने पूर्वकालीन अगणित माता-पिताओं के लिए क्यों नहीं शोक करते ?'

'महाभाग !' पुण्य ने पावन के स्कन्ध-प्रदेश पर हाथ रखते हुए कहा, 'यह जगत्-प्रपंच मिथ्या भ्रम मात्र है। यदि विचारपूर्वक देखोगे तो कोई तुम्हारा मित्र, बन्धु, बान्धवादि नहीं है।

'बन्धुवर !' पुण्य ने कहा, 'विशाल तप्त मरु भूमि में जल सम्भव नहीं होता है। परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म-भाव होने पर कुछ क्षय नहीं होता।'

'मतिमन् !' पुण्य ने कहा, 'लक्ष्मी, चामर, छत्र आदि राज-संपत्तियाँ तीन, चार, पाँच दिनों के स्वप्न हैं। परमार्थ दृष्टि से सत्य-दर्शन का विचार करो। उस समय तुम देखोगे, हमारा तुम्हारा कहीं कुछ नहीं है।'

'वत्स !' पुण्य ने कहा, 'तुम्हें यह भ्रान्ति त्यागनी चाहिए। अमुक व्यक्ति मर गया। अमुक व्यक्ति जीवित है। यह सब असद् दर्शन अपने भ्रम-जनित संकल्प के कारण उत्पन्न होते हैं। अज्ञान-स्वरूप तप्त महा-मरुस्थल से वासना के कारण आत्मा मृगतृष्णा के जल-तुल्य है। शुभाशुभ की स्पन्दन-स्वरूप महा तरंग-मालाएँ अनन्त होकर स्फुरित होती रहती हैं।'

'भ्रातः !' पुण्य ने पावन के कण्ठ में हाथ डालकर अपनी ओर खींचते हुए कहा, 'माता कहाँ हैं ? पिता कहाँ हैं ? मित्र कहाँ हैं ? बान्धव कहाँ हैं ? वे सब वायु में निरंत्र उड़ते धूल-कण के समान हैं। जगत् में कोई मित्र नहीं है। कोई शत्रु नहीं है। सब भावनाओं का स्फुरण मात्र है। बंधु-बांधव, पुत्र-कलत्रादि का स्नेह-बंधन केवल मोह की कल्पना है।'

'वत्स !' पुण्य ने पावन को अपने हृदय के पास लाकर कहा, 'माता-पिता का नामकरण मन करता है। जगत्-प्रपंच अपने मन के कल्पनानुसार प्रति-भासित होता है। जिस समय मित्र की भावना होती है उस समय मित्र, एवं शत्रु की भावना होती है तो शत्रु, एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। जब अमृत में विष की भावना होती है, तो विष अमृत और अमृत विष हो जाता है।'

'मित्रवर !' पुण्य ने पावन के कण्ठ-प्रदेश पर हाथ सहलाते हुए कहा, 'अपने और पराए की कल्पना मिथ्या है। हमारा देह रक्त-मांसादि का समूह है। अहंकार, मन, चित्त तथा बुद्धि क्या हैं ? विवेक दृष्टि द्वारा हममें और तुममें क्या अंतर है ? हममें जो कुछ अंतर प्रतीत होता है, वह हमारे मिथ्या ज्ञान का परिचायक है। केवल एक चिदाकाश अनंत असीमित सत्ता नित्य है। उसमें तुम्हारे माता-पिता भला कौन हो सकते हैं ? तुम्हारा भ्रम मिथ्या का आडम्बर मात्र है।'

'पावन !' पुण्य ने अपने शरीर की तरफ देखते हुए कहा, 'यह शरीर पंचतत्त्वमय है। जड़ है। माता-पिता का ध्यान त्याग दो। तत्त्व-दृष्टि का आश्रय लो। माता-पिता का मिथ्या स्नेह कर, यदि शोकाकुल होते हो, तो सम्यक् दृष्टि का आश्रय ग्रहण कर, उनके स्नेह में क्यों नहीं शोक करते ?'

'बन्धुवर !' पुण्य ने अपने शरीर की तरफ देखते हुए कहा, 'तुम मृग, हंस, वृक्ष, सिंह, मत्स्य, काक, दशार्ण देश में बन्दर, तुषार देश में राजपुत्र, पुण्ड्र देश में काक, हैहय देश में हाथी, त्रिगर्त देश में गर्दभ, शल्व प्रदेश में श्वान, वृक्ष पर पतत्री, विन्ध्याचल में पीपल, महावट में घुन, मन्दराचल में कुक्कुट, कन्दरा में ब्राह्मण, कोशल में द्विज, बंगदेश में तीतर, तुषार देश में अश्व, पुष्कर के ब्रह्म यज्ञ में पशु, विन्ध्य वन में ताड़ वृक्ष के मूल में कीट, गुर्जर में मच्छर, तत्पश्चात् वक, हिमालय की कन्दरा में भोजपत्र की पतली छाल के अन्दर छः मास तक चींटा, स्वदेश सीमा के ग्राम के छोर पर शुष्क गोबर के ढेरों में छः मास तक बिच्छू, शबरी के पुत्रादि तथा इस जम्बूद्वीप में अनेक योनियों में जन्म ग्रहण किया है। उन योनियों में तुम्हारे माता-पिता, मित्र-शत्रु, बन्धु-बान्धव थे। उनके लिए तुम क्यों नहीं शोक करते ? उन्हें तुम कैसे भूल गए ?'

'और भाई तुम ?' चकित पावन ने पूछा।

'और मैं भी।' पुण्य स्नेह से भाई की कटि में हाथ डाल कर अपनी ओर किंचित् खींचते हुए कहा, 'अनेक योनियाँ ग्रहण कर चुका हूँ। त्रिगर्त देश में शुक, नदी तट पर मेढक, वन में लावक, विन्ध्याचल में शबर, वंगदेश में वृक्ष, विन्ध्याचल में ऊँट, पुनः इस हिमालय कानन में

चातक, पौण्ड्र देश में राजा हुआ हूँ। सत्याचल में व्याघ्र, दस वर्ष गृद्ध, पाँच मास मगर, सौ वर्ष तक सिंह, आन्ध्र ग्राम में चकोर, तुषार देश में सामन्त, और शैलाचार्य का पुत्र हुआ, तुम्हारा भ्राता पुण्य हूँ। हमारे सहस्रों माता-पिता, भाई-बन्धु हो चुके हैं। किनके-किनके लिए शोक करें ?'

'हम और इतने जन्म ?' पावन भाई से कुछ हटते हुए गम्भीरता-पूर्वक बोला।

'वत्स !' पुण्य ने अपने दोनों हाथों की उँगलियाँ मिलाते हुए कहा, "अज्ञान तथा वासना के कारण नाना योनियों में तुम भ्रमण करते रहे हो। यह संसार दुःखस्वरूप हैं। सबका त्याग कर अपनी आत्मा का दर्शन करो।'

'किस प्रकार आत्म-दर्शन करूँगा ?'

'पावन ! अपनी वासना का त्याग-करने पर अहंकार त्याग करने में सफल होगे। अहंकार का क्षय होने पर संसार-भ्रान्ति मिट जायगी। विवेक का उदय होगा। तुम आत्मदर्शन करने में सफल होगे। ज्ञानीजन मृत्यु में दुःख का अनुभव नहीं करते। अभिमान-शून्य होकर कर्तव्य विषयों का व्यवहार मात्र करो। तुम भावाभाव दशा-विहीन जरामरण-शून्य आत्मा का एकाग्र भाव से स्मरण करो। मूढ़चेता मत बनो। तुम्हें दुःख स्पर्श नहीं कर सकता। तुम्हारा कोई माता-पिता नहीं है।'

'सुबोध !' पुण्य ने पावन की ओर देखते हुए कहा, 'देहादिविहीन तुम केवल आत्मास्वरूप हो। जगत्-चेष्टा-तुल्य नाना प्रकार के अभिनय दिखाई पड़ते हैं। वे मूढ़ जनों के पुरुषार्थ हैं। निशाकाल में दीप प्रकाश-पुंज फैलाता है। प्रकाश का कर्त्ता है। दूसरों द्वारा पूज्य है। फिर भी कर्त्तव्य-विहीन है। उसी प्रकार कर्त्ता होकर तुम स्वयं कुछ नहीं कर रहे हो। विचार करो। दर्पण, रत्नादि प्रतिबिम्ब-प्रकाश करने पर, अन्तर की वस्तु सत्ता से सम्पर्क नहीं रखते। उसी प्रकार महाज्ञानी लोग बाह्य कर्त्ता होने पर उसमें अभिनिविष्ट नहीं होते।'

'वत्स !' पुण्य ने कहा, 'इस समय तुम कलंक-शून्य, मननशील आत्मा द्वारा अपने हृदय-कमल-मध्य स्थिर होकर, संसार-भ्रम दूर कर, स्वस्वरूप में अवस्थित होकर, आत्मा में सन्तोष करो।'

ज्येष्ठ भ्राता पुण्य तुष्णीभूत हो गया। पावन ने उनके चरणों पर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपना मस्तक रख दिया।

'पूज्यवर !' पावन बोला, 'मुझे क्षमा करो भाई! मैं जड़ हो गया था।'

'नहीं, नहीं पावन !' पुण्य ने उसे हृदय से लगाते हुए कहा, 'आओ, चलें। हम जगत् की लीला निर्वासनिक चित्त से विचरण करते देखें।'

योग वासिष्ठ रामायण : उपसंहार प्रकरण : सर्ग : १९–२१
महाभारत : वन पर्व : ११० : २७
: ८३ : १७५
अनुशासन पर्व : ११ : ३०

बलि

'महामते !' बलि ने अपने पिता पातालाधिपति राजा विरोचन से विनयपूर्वक पूछा, 'जहाँ सब सुख-दुःख का लय हो जाता है, जहाँ सब भ्रम दूर हो जाते हैं, जहाँ सब इच्छाएँ दूर हो जाती हैं, जहाँ राग-द्वेष रहित विश्राम प्राप्त होता है, वह कौन-सा स्थान है? वह कौन स्थान है जिसके देखने पर, पुनः देखना शेष नहीं रह जाता ?'

'वत्स !' राजा विरोचन ने पुत्र के प्रश्नों का सस्मित उत्तर दिया, 'एक अत्यन्त विस्तृत विशाल देश है। उस देश में असंख्य त्रैलोक्य अधिष्ठित हैं। वह मेघ, सागर, पर्वत, वन, तीर्थ, नदी, सरोवर, भूमि, आकाश, स्वर्ग, पवन, चन्द्र, सूर्य, लोकपालगण, देवगण, दानवगण, पिशाच, पक्ष, वृक्ष, गुल्म, वनलक्ष्मी, काष्ठ, तृण, स्थावर, जंगम पदार्थ, जल, अग्नि, दिक्, ऊर्ध्व, अधः लोक, आलय, हम, तुम, हरि, हर, इन्द्रादि देवगणों से पूर्ण है। उसमें एक तेजस्वी राजा निवास करता है। वह सर्वकृत है। सर्वगामी है। सर्वस्वरूप है। मौनावलम्बी है।'

'पितः !' बलि ने चकित वाणी से पूछा, 'उस देश का मन्त्री कौन है ?'

'अनघ !' विरोचन ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, 'उस देश का मन्त्री संकल्प है। वह बड़ा शक्तिशाली है। वह सब कुछ बना सकता है। बिगाड़ सकता है। सब कुछ करता है। समर्थ है। स्वतः कुछ भोग नहीं करता। परन्तु वह स्वयं ज्ञानी नहीं है। राजा के ज्ञानाश्रय में रहता है। कार्य सम्पादन करता है। और राजा एकान्त में, स्वस्थ भाव से निवास करता है।'

'पितः !' बलि ने पूछा, आपने आधि-व्याधि-रहित देश का उल्लेख किया है। उस देश का नाम क्या है ? प्रभो ! वह देश किस प्रकार प्राप्त

किया जा सकता है ? क्या किसी ने उस देश को प्राप्त किया है ? उसका मन्त्री कौन है ? उस देश का महाबली राजा कौन है ? क्या उस राजा को हम लोग पराजित नहीं कर सकते ?'

'पुत्र !' विरोचन ने नील गगन की ओर देखते हुए कहा, 'उस देश का मन्त्री बली है। सुर तथा असुरगण मिलकर उसका सामना नहीं कर सकते। वह मन्त्री यम नहीं है। वह मन्त्री इन्द्र नहीं है। वह मन्त्री धनेश्वर कुबेर नहीं है। वह सुर नहीं है। वह असुर नहीं है। जिसे तुम परास्त कर सकोगे।'

'भगवन् !' बलि ने साश्चर्य पूछा, 'क्या वह अस्त्र-शस्त्रों से मारा नहीं जा सकता ?'

'सुव्रत !' विरोचन ने स्नेह स्वर में कहा, 'मूसल, प्रास, वज्र, चक्र, गदा प्रभृति अस्त्रों से पाषाण चूर्ण हो सकता है। किन्तु मन्त्री पर उनका प्रहार पुष्प से भी कोमल होगा। मन्त्री अस्त्र-शस्त्रों द्वारा मारा नहीं जा सकता। प्रचण्ड वीर योद्धा उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उसने सुर तथा असुर दोनों को वशीभूत कर रखा है। प्रलयकालीन वायु मेरु स्थित कल्पद्रुम को गिरा देती है। मन्त्री स्वयं विष्णु नहीं है। तथापि उसने हिरण्याक्षादि असुरों को गिरा दिया है। उसमें इतनी शक्ति है कि विवेकादि के उपदेश देने वाले नारायणादि देवगणों को बलपूर्वक गर्त्त में गिरा देता है। उसके अनुग्रह से कामदेव सम्राट्-तुल्य चारों ओर स्वच्छन्दतापूर्वक घूमता रहता है। वह मन्त्री सुर-असुरों को अपने अधीन करता है। पुनः उठाकर फेंक देता है। वह दुर्मति है। दुराकृति है। गुणहीन है। क्रोध उससे आविर्भूत हुआ है। बारम्बार होनेवाले देवासुर-संग्राम उसके लिए खेल है।'

'प्रभो !' बलि ने पूछा : 'उस मन्त्री पर विजय किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ?'

'वत्स !' विरोचन ने उत्तर दिया, 'राजा यदि चेष्टा करे तो मन्त्री जीता जा सकता है। अन्यथा वह पर्वत-तुल्य अचल है। उसके राजा की जब-जब विजय की इच्छा होती है, तो बिना प्रयास मन्त्री परास्त हो

जाता है। बलि ! यदि तुम उस मन्त्री को परास्त कर दोगे, तो पराक्रमशाली कहे जाओगे। उस मन्त्री के उदय होने पर, त्रैलोक्य-स्वरूप कमल-तड़ाग विकसित हो जाता है। उस सूर्य-तुस्य मन्त्री का अस्त होता है, तो सब कुछ विलीन हो जाता है।'

'तात !' बलि ने उत्सुकतापूर्वक पूछा। वह महापराक्रमी हैं कौन ? वह किन उपायों द्वारा पराजित किया जा सकता है ?'

'सुव्रत !' विरोचन ने कहा। 'यदि तुम मोहविहीन दृढ़ीभूत, एकाग्र बुद्धि-बल द्वारा उस मन्त्री पर विजय प्राप्त कर सकोगे तो मैं तुम्हें वीर कहूँगा। उसे जीतने पर जितने लोकों को तुम नहीं जीत सके हो, उन्हें भी जीत जाओगे। यदि तुम जय नहीं करोगे, तो यह सब लोक चिरकाल तक, अपने पास रहने पर भी, तुम उन्हें प्रकृतितः जय नहीं कर सकोगे। अक्षय सिद्धि तथा शाश्वत सुभ-लाभ निमित्त कष्ट-साध्य होने पर भी उस मन्त्री को पराजित करो। उस महाबली ने सुरासुर, यक्ष, किन्नर, उरग, नागादि सहित अनायास सबको अपने वशीभूत कर रखा है।'

'प्रभो !' बलि ने उत्साहपूर्वक पूछा, 'उस बलवान् को कब जीत सकूँगा ?'

'वत्स !' विरोचन ने शान्ति स्वर से कहा, 'मन्त्री महाबली अजेय होने पर भी सरलतापूर्वक जीता जा सकता है।'

बलि ध्यानपूर्वक सुनने लगा। विरोचन ने कहा : 'वत्स ! उसे युक्तिबल से वशीभूत किया जाता है। युक्ति असफल होने पर, वह मन्त्री सर्प-तुल्य अपने विष से दग्ध कर देता है। उसे वश में करने लगा व्यक्ति राजा का दर्शन करता है। राजा का पद प्राप्त करता है। उस महीपाल के साक्षात्कार होने पर मन्त्री स्वतः वश में हो जाता है। जब तक मन्त्रीस्वरूप व्यवधान बीच में उपस्थित रहता है, तब तक राजा का दर्शन मन्त्री कभी नहीं होने देता। उस मन्त्री पर आक्रमण कर, उसे मार्ग से हटा बेने पर, राजा के दर्शन का मार्ग खुल जाता है। राजा का दर्शन मन्त्री के हट जाने

पर होता है। राजा का दर्शन हो जाने पर दुर्मति मन्त्री केवल दुःख देता है। उस मन्त्री को जय न करने पर, राजा अदृश्य हो जाता है। जिन साधनों से राजा का दर्शन तथा मन्त्री की पराजय हो सके, उनका अवलम्बन करना चाहिए।'

'पितः !' बलि ने जिज्ञासा की, 'वे साधन क्या हैं ?'

'पुत्र !' विरोचन ने कहा। 'उत्तम अभ्यास द्वारा, अपने पुरुषार्थ द्वारा, शनैः शनैः कार्यों का सम्पादन करना चाहिए। दैत्येन्द्र ! अभ्यास द्वारा तुम यदि राजा के देश में पहुँच सके, तो तुम्हें शोक प्राप्त नहीं होगा। उस देश में जो लोग रहते हैं, वे किसी और आश्रय की कामना नहीं करते। वहाँ संशयों ना नाश हो जाता है। सर्वदा आनन्द का राज्य रहता है।'

'भगवन् !' बलि ने पूछा। 'उस देश का नाम क्या ?'

'वत्स !' विरोचन ने कहा। 'उस देश का नाम मोक्ष है।'

'मोक्ष !' बलि ने साश्चर्य कहा।

'महामते !' विरोचन ने कहा, 'हाँ–वह देश मोक्ष है। समस्त दुख वहाँ तिरोहित हो जाते हैं। परमानन्द मिलता है।'

'भगवन् !' बलि ने पूछा, उस देश का राजा कौन है ?'

'अनघ !' विरोचन ने उत्तर दिया, 'उस देश का राजा आत्मा है।'

'और मन्त्री !' बलि ने साश्चर्य पूछा।

'पुत्र !' विरोचन ने मुसकराते हुए कहा, 'उस राजा का मन्त्री मन है।'

'प्रभो !' बलि ने पूछा। 'उस मन्त्री पर विजय किस प्रकार प्राप्त की जा सकेगी ?'

'पुत्र !' विरोचन ने उत्तर दिया। 'विषयों के प्रति आत्यन्तिक आस्था का त्याग करना, जय की सबसे बड़ी युक्ति है। वह युक्ति कठिन है। अभ्यास द्वारा सरल हो जाती है, जल द्वारा सींची गयी लता जैसे धीरे-धीरे

बढ़ती पुष्ट हो जाती है, उसी प्रकार दृश्य पदार्थों में वैराग्य करते-करते, अभ्यास पुष्ट हो जाता है। दुःख के गर्त्त से निकलने का उपाय दैहिक विषय में वैराग्य उत्पन्न करना है। बिना चले कोई दूसरे देश में जा नहीं सकता। महाबली होने पर भी बिना अभ्यास विषयों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। वासना का त्याग करूँगा। इस प्रकार की दृढ़ इच्छा करनी चाहिए। देह-लता को विषय-विरत करते हुए अभ्यास द्वारा पुष्ट करना उचित है। बिना खेतों को जोते, बिना धान बोये, बिना उसे जल से सींचे, यह आशा करना कि खाने के लिए पुष्ट धान मिलेगा दुराशामात्र है। बिना अभ्यास फल की कामना करना मूर्खता है।'

'पितः !' बलि ने कहा, 'किन्तु भाग्य से, दैव से अनायास अलभ्य वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है।'

'पुत्र !' विरोचन ने स्नेहपूर्वक कहा, 'इस जगत् में जिसे भाग्य कहते हैं, उस भाग्य किंवा देव का कहीं आकार दिखाई नहीं देता। अवश्यम्भावी तथा स्वकीय नियति का नाम भाग्य है। भाग्य की बात अज्ञानदर्शी लोग करते हैं। जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, वे भाग्य की बात नहीं करते। हर्ष एवं क्रोधादि के हेतुभूत कर्म का क्षय होता है। वे विनाशक होकर उपस्थित होते हैं। इसी को भाग्य कह दिया जाता है।

'साधो !' बिरोचन ने कहा, 'हम जिसे भाग्य-फल कहते हैं, वह पुरुषार्थ द्वारा सम्पादित होता है। वैराग्य के दृढ़ अभ्यास में व्यतिरेक होने के कारण यह सम्पन्न नहीं होता। तात्त्व की बुद्धि दृढ़भूत होने पर जिस प्रकार मृग-मारीचिका का बल भ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ द्वारा वह सफल होता है। मन के संकल्पित विषय-जाल में, जो फलवत् रूप गृहीत किया जाता है, वही उसका अनुगामी होकर फल प्रदान करता है। सुख देता है।'

'सुव्रत !' बिरोचन ने कहा, 'मन कर्त्ता है। कर्त्ता मन जिस बात का संकल्प करता है, वह होता है। मन जिस प्रकार की नियति का संकल्प

करता है, उसी प्रकार नियति घटित होता है। मन कहीं पर नियति के विषयों की सृष्टि करता है। कहीं अनियमित के विषयों की सृष्टि करता है। कहीं नियति नियति के विषयों की सृष्टि करता है। इस प्रकार नियति का बनाने वाला उसका कर्त्ता स्वयं मन है। अतएव जितने समय तक मन रहेगा, उतने समय तक नियति रहेगी।'

'अनघ!' विरोचन ने पुनः कहा, 'मन के लय होने पर जो कुछ होता है, वही होगा। जीव जन्म लेकर पुरुष होता है। वह जीव पौरुष के सहयोग से संकल्प करता है। वह संकल्प सफल होता है। परम पुरुषार्थ ब्रह्म-प्राप्ति के अतिरिक्त मुझे कुछ और नहीं दिखाई देता। अतएव परम पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण कर विषयों को वैराग्य से दूर करो। जब तक विषय-भोग-भव-बन्धन-मोचनी अरति उदय नहीं होगी, जब तक मोह-कारिणी विषय-रति रहेगी, तब तक इस संसार के झूले में मनुष्य झूलता रहेगा।'

'असुरेश्वर!' बलि ने प्रश्न किया, 'भोग-जाल से किस प्रकार दीर्घ-जीवनदायिनी अरति उत्पन्न होगी?'

'पुत्र!' विरोचन ने कहा, 'मोक्ष-फलदायिनी आत्मावलोकिनी लता, शरतकालीन महालता की तरह, जीव भोग जाल में वैराग्य-स्वरूप आनुषंगिक फल उत्पन्न करती है। आत्मदर्शन-निमित्त वत्स! तुम अपने हृदय में उत्तम वैराग्य, सुचारु शास्त्रीय विचार द्वारा परमात्मा को देखने की चेष्टा करते हुए विषय-जाल के अनुराग का परित्याग करो।'

'दैत्येन्द्र!' बलि ने पूछा, 'यह किस क्रम से किया जायगा?'

'बलि!' विरोचन ने कहा, 'दिन के दो भागों में प्रथम भाग को देह के भोगों तथा दूसरे भाग को शास्त्र श्रवण तथा गुरु-सुश्रूषा से पूरा करो। यह प्रथम भूमिका है। यह चित्त सन्मार्ग में लगने लगे, तो दिन के एक भाग को भोगों, और दो भागों को गुरु-सुश्रूषा में; और शेष एक भाग को शास्त्र-चिन्तन में व्यतीत करो। यह द्वितीय

भूमिका है। इस भूमिका के प्राप्त करने के पश्चात् तीसरी भूमिका आती है। इसमें दिन के दो भागों को शास्त्र तथा वैराग्य और दो भागों को ध्यान तथा गुरु-पूजा में व्यतीत करना चाहिए। परिशुद्ध, उज्ज्वल वस्त्र पर कुंकम का रंग खिलता है। उसी प्रकार चित्त में साधु भावना प्रस्फुटित होने लगती है।'

'साधो!' विरोचन ने कहा, 'इस चित्त-शिशु का लालन-पालन पवित्र उपदेशों तथा विचारों से करना चाहिए। इस प्रकार परम ज्ञान-परिणत हुआ चित्त उज्ज्वल ज्योत्स्ना-युक्त स्फटिक के समान शीतल हो जाता है। तृष्णा के त्याग तथा प्रज्ञा द्वारा आत्मदर्शन करने पर, निस्पृहा होती है। निस्पृहता प्राप्त होने पर, परमात्म-दर्शन होता है। शाश्वत विश्रान्ति एवं निरतिशयानन्द प्राप्त होता है।'

'पुत्र!' विरोचन ने कहा, 'दीपक की तेजोवस्था तथा दीपावस्था परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं। उसी प्रकार आत्मदर्शन में तृष्णा भाव तथा तृष्णाभाव में आत्मदर्शन, एक-दूसरे पर आश्रित है। विषय-भोग-जालों के रसों को तुम ग्रहण न करोगे, तो तुम्हें एकमात्र परात्पर ब्रह्म दिखाई देगा। स्मरण रखो! केवल विषयानन्द के कारण आत्म-साक्षात्कार में व्यतिरेक होता है। यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थयात्रादि द्वार सुख होता है। किन्तु उसने आत्मदर्शन नहीं होता। विषय-परित्याग-पूर्वक ब्रह्मपद प्राप्त हो जाने पर, विश्रान्ति-जनित परम सुख मिलता है। वह किसी अन्य उपायों द्वारा इस जगत् में प्राप्य नहीं है। भाग्य को दूर से नमस्कार करो। भोग-जालों के प्रतिघृणा गाढ़ी होने लगती है, तो वर्षा के पश्चात् विमल शरद् काल-तुल्य विचार स्वयं उदय होने लगते हैं। घृणा के द्वारा अन्य विषय-जालों के प्रति, विचार उदय होने लगता है। विचार उत्पन्न होने पर, भोगों के प्रति घृणा होने लगती है। प्रगाढ़ स्नेह से प्रेरित बन्धु जिस प्रकार परस्पर मिल कर, एक दूसरे का कार्य करते हैं, उसी प्रकार विचार भोगों के प्रति घृणा एवं आत्मदर्शन मिलकर परमार्थ साधन करते हैं।'

'पुत्र!' विरोचन ने विश्वास के साथ कहा, 'सर्वप्रथम भाग्य किंवां देव को हेय समझो। प्रपत्ति तथा एकमात्र पुरुषार्थ द्वारा बलपूर्वक भोगों

के प्रति मन में वैराग्य उत्पन्न करो। देशाचर समस्त, आत्मीयों द्वारा अनुमोदित, पुरुषार्थ द्वारा धन-संचय, तत्पश्चात् उस धन द्वारा गुणवान साधुओं की सेवा करते हुए, उनके संसर्ग में रहना चाहिए। साधुओं के सत्संग से विषयों के प्रति घृणा उत्पन्न होगी। तत्पश्चात् मैं कहाँ आ गया हूँ, इस प्रकार के सद्विचार उत्पन्न होंगे। अनन्तर विचार किए हुए विषयों में ज्ञान, शास्त्र-प्रतिपाद्य विषयों में निर्णय करने की स्थिति प्राप्त होती है। यदि यौवन काल में विषयों का नितान्त परित्याग नहीं किया जा सके, तो यौवन काल के पश्चात् विचारों द्वारा परमपद प्राप्त हो सकता है। परम पावन परमात्मा के सम्यक् रूप में विश्रान्ति मिलती है। दु:खादि कल्पना-पंक में मानव नहीं फँसता।'

'बलि!' विरोचन ने बलि की ओर देखते हुए कहा, 'विषयों में तुम्हारी इस समय आस्था है। किन्तु मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। वह सब तुममें नहीं है। तुम विशुद्ध सदाशिव ब्रह्म हो। पुत्र! मैं तुम्हें ब्रह्म समझकर प्रणाम करता हूँ।'

विरोचन के दोनों बद्ध कर मस्तक से लग गये। पिता को प्रणाम करते देखकर पुत्र बलि चकित हो गया। पिता की ओर विस्मयापन्न दृष्टिपात करता नीरव हो उठा।

:o: :o: :o:

कालान्तर में विरोचन का देहावसान हुआ। पिता के स्थान पर बलि असुरों का राजा हुआ। उसने त्रैलोक्य विजय किया। ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करने लगा।

किसी दिन वह अपने राजप्रासाद के गवाक्ष में बैठा था। उसने ऊँचे प्रासाद से देखा, विस्तृत पादप, जल, प्रासादादि संकुल राजधानी। शीतल सुरभित वायु वह रही थी। वह अन्तर्मुख होने लगा। उसमें विचार-लहरियाँ उठने लगीं।

'मेरा यह साम्राज्य है। मैं चक्रवर्ती सम्राट् हूँ। इनसे मुझे क्या लाभ? इस साम्राज्य की अपने पराक्रम से रचना की है। अपनी बनाई वस्तु का भोग कर रहा हूँ। इन भोगों से मेरी तृप्ति नहीं हो सकी

है। भोजन नित्य करता हूँ। पेट नित्य भरता हूँ। भोजन के प्रति फिर भी न तो वासना कम हुई और न पेट ही भर सका। एक ही क्रिया प्रतिदिन करता रहता हूँ। उनके बारम्बार दुहराने में किंचित् मात्र क्षोभ नहीं होता है।

'प्रतिदिन का स्त्री-आलिंगन, पुष्प-शय्या पर शयन, हास, विलास, परिहास, एक चतुर अभिनय-कर्ता तुल्य नित्य करता हूँ। किन्तु उन्हें नित्य करते हुए, मुझे लज्जा नहीं आती है। मूर्ख बालकों की तरह नाना प्रकार के संकल्पों को करता तथा बिगाड़ता हूँ। जिस वस्तु के लिए लालायित होकर दौड़ता हूँ, जिसे न पाने से मालूम होता है प्राण निकल जाएँगे, उन्हीं वस्तुओं से दूसरे दिन विराग उत्पन्न हो जाता है। उनकी ओर आँख उठाने की इच्छा नहीं होती। जिससे आज स्नेह करता हूँ, जिसके लिए आज सब कुछ त्यागने के लिए तैयार हूँ, उसी में कल द्वेष भावना उत्पन्न हो जाती है। उसे स्वयं नष्ट करने के लिए उद्यत हो जाता हूँ।'

'ओह ! मैं किस का ग्रहण करूँ ? किसका त्याग करूँ ? मुझे कहाँ शांति प्राप्त होगी ? मुझे कहाँ विश्राम मिलेगा ? हे ! भगवान् ! ! इस संसार की गति कैसी है ?'

राजा बलि चिन्ताकुल शून्य गगन की ओर देखने लगा। नीरव गगन में उड़ते विहंगम-कुलों को देखा। बरस चुके उज्ज्वल बादलों को यत्र-तत्र छिटके देखा। वायु के प्रवाह में शीतलता का अनुभव किया। अकस्मात् जीवन के उषाकाल की स्मृति उसमें हरी होने लगी। उसे स्मरण हो गया। उसके पूज्य पिता ने उसी के पूछने पर, कितने स्नेह से उसे तत्त्वज्ञान समझाया था। वह उन्हें भूल गया था, अपनी युवाकालीन उमंग में पराक्रम के गर्व में, भौतिक पदार्थों के संग्रह में, मान-मर्यादा के मिथ्या आडम्बर में ख्याति के वितानों में।

अकस्मात् उसका मुख खिल गया। पवित्र कान्ति मुखमण्डल पर फैल गई। उसमें युवाजन्य उत्साह का संचार हो गया। बाल्यजन्य सरलता आ गई।

उसका विवेक जागृत हो गया। उसने विवेक का आश्रय लिया। अतीत की घटनाएँ एक के पश्चात् दूसरी उसकी आँखों के सम्मुख आने लगीं। उसने धन-संचय किया। धन से कामिनियों की इच्छा हुई। कामिनियों का संचय किया। उनसे उनका मन नहीं भरा। विशाल साम्राज्य की कामना हुई। साम्राज्य का विस्तृत त्रैलोक्य हुआ। त्रैलोक्य विजय किया। जगत् में विजय के लिए कुछ शेष नहीं रह गया। फिर भी उसका मन भरा नहीं। भोग्य पदार्थों को खूब भोगने लगा। दृश्य दृश्यों को देखने लगा। कर्तव्यों को करने लगा। भूतों को वश किया। किन्तु उसे तृप्ति नहीं मिली। उनसे उसकी शोभा बढ़ी नहीं। मृत्युलोक, स्वर्गलोक, पाताल लोक के रत्न, स्त्री, वैभवादि को एकत्र किया। उनका उपभोग किया। अपनी कल्पनानुसार स्वयं अपने शरीर; अपने प्रासाद, अपने राज्य को सजाकर, स्वयं प्रसन्न हुआ। किन्तु उसे शान्ति नहीं मिली। आनन्द नहीं मिला।

बलि आसन त्यागकर उठा। अपने चारों तरफ देखने लगा। टहलने लगा। मुद्रा गम्भीर हो गई। अकस्मात् उसे अपने गुरु शुक्राचार्य का ध्यान आया। ध्यान आते ही उसका मुख-कमल खिल गया।

:o: :o: :o: :o:

'पुत्र!' शुक्राचार्य ने बलि के सम्मुख उपस्थित होकर सम्बोधन किया।

बलि के नेत्र शनैः शनैः प्रातःकालीन पद्म की तरह खुले। उसने गुरु की चरण-वन्दना की। मन्दार कुसुम-माला द्वारा अर्चना की। अर्घ दिया। गुरु को सुखासन पर बैठाया। शुक्राचार्य ने स्वस्थ होने पर पूछा :

'वत्स! तुमने मुझे क्यों स्मरण किया है?'

'भगवन्!' बलि ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया। 'सूर्य की प्रभा जगत् के प्रत्येक कार्य में व्यावृत रहती है। आपके द्वारा प्रकाशित मेरी प्रतिभा, आपके चरण कमलों में, कुछ निवेदन करना चाहती है।'

'राजन् !' शुक्राचार्य ने स्नेह से कहा, 'निस्संकोच कहो।'

'गुरो !' बलि ने प्रश्न किया। 'महा मोहप्रद भोगों से मुझे विरक्ति हो गई है। इन मोहों से मैं किस प्रकार निवृत्त हूँगा ? यही मैं जानना चाहता हूँ।'

'और कुछ बलि !'

'भगवन् !' बलि ने कहा, 'भोगों की अवधि कितनी है ? इसका स्वरूप क्या है ? मैं कौन हूँ ? आप कौन हैं ? वह समस्त लोक क्या है ?'

'दानवेन्द्र !' शुक्राचार्य ने कहा, 'मैं आकाश मार्ग से जा रहा था। तुमने स्मरण किया। स्नेह के कारण आ गया हूँ। विस्तारपूर्वक कहना कठिन है। संक्षेप में यदि चाहो तो कहूँ।'

'भगवन् की जैसी इच्छा।' बलि ने गुरु को प्रणाम करते हुए कहा।

'राजेन्द्र !' शुक्र ने कहा, 'इस जगत् में केवल चित्त ही विद्यमान है। जगत् चित्त तथा चिन्मय है। मैं चित्त हूँ। तुम चित्त हो। जो कुछ देखते हो, जो कुछ सुनते हो, सब कुछ चित्त है। यह सूत्र-स्वरूप समझ लो। यदि तुमने विवेक तथा श्रद्धापूर्वक मैंने जो कुछ कहा है, उसे धारण करोगे, तो समस्त लभ्य विषयों की तुम्हें प्राप्ति होगी। यदि तुमने यह धारण नहीं किया, तो तुमसे कुछ और कहना भस्म में आहुति डालना होगा। चित्त की चैतन्य-रूप से कल्पना करना बन्धन एवं उस कल्पना का मोचन मुक्ति है। यह सब सिद्धान्तों का सार है। दृढ़ निश्चयी होकर, अपनी आत्मा से अपनी आत्मा को देखो। तुम्हें अनन्त पद की प्राप्ति होगी।'

बलि गम्भीर हो गया। शुक्राचार्य ने पुनः कहा, 'पुत्र ! मैं इस समय प्रस्थान करता हूँ। आकाश में सप्तर्षिगणों का आगमन होने वाला है। देव-कार्य से वहाँ जा रहा हूँ।

:०: :०: :०:

बलि में ध्यान, ध्याता तथा ध्येय तीनों भावनाओं का लय हो चुका था। वह शान्त-स्वरूप हो गया था। आत्म-दर्शन में लीन रहता था। समाधि में स्थिर हो जाता था। राजा बलि के मन्त्री राजा की दिनचर्या में परिवर्तन देखकर चिन्ताकुल हो गये। बन्धु, बान्धवादि समाधिस्थ राजा को घेर कर बैठ गए। राजा की समाधि लग गई थी। राज-कार्य रुक गया था। राजा को समाधि से जगाने का किसी को साहस नहीं हुआ।

मन्त्रियों ने मन्त्रणा दिया। निश्चय किया गया। शुक्राचार्य से परामर्श किया जाय। गुरु शुक्राचार्य का स्मरण किया गया। शुक्राचार्यजी का आगमन हुआ। मन्त्रियों ने पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, माल्य आदि से गुरु की पूजा की। उन्हें सुन्दर आसन दिया। शुक्राचार्य ने समाधिस्थ राजा बलि को शान्त, कान्ति पूर्ण, पद्मासन पर आसीन देखा।

'गुरुदेव !' मन्त्री ने अंजलिबद्ध निवेदन किया, 'राजा समाधिस्थ हैं। प्रजा का कार्य किस प्रकार सम्पादित होगा ?'

'मन्त्रिन् !' शुक्राचार्य ने कहा। राजा बलि का इस बार संसार-भ्रम तिरोहित हुआ है।'

मन्त्री तथा एकत्र जनसमूह गम्भीर हो गया। गुरु शुक्राचार्य ने कहा :

'दानवगण ! राजा अपनी आत्मा का अपनी आत्मा द्वारा दर्शन कर रहे हैं। उन्हें ब्रह्मपद का बोध हो रहा है। राजा शिथिल हो गए थे। शान्त थे। उनकी शिथिलता समाप्त हो चुकी है। उनमें शान्ति के स्थान पर विश्रान्ति आ गई है। वे पूर्ण विश्राम कर रहे हैं।'

'महात्मन् !' मन्त्री ने प्रश्न किया, 'हम लोग क्या करें ?'

'महोदय !' शुक्राचार्य ने कहा, 'राजा को जाग्रत करना अथवा उनसे किसी प्रकार की बात इस समय करना उचित न होगा।'

'गुरुदेव !'

'सौम्य !' शुकाचार्य ने कहा। 'राजा इस समय ज्ञानलोक में स्थित हैं। वहाँ पूर्ण विश्रान्ति तथा आनन्द प्राप्त हो जाने पर समाधि खुलेगी।'

'भगवन् !' मन्त्री ने निवेदन किया, 'राजा की समाधि कब तक खुल सकती है ?'

'दानवगण !' शुक्राचार्य ने कहा, 'आप लोग अपने प्रभु का सुचारु ढंग से कार्य करते रहिए। राज्यादि के व्यावहारिक कार्यों के कारण, समाधि में विघ्न मत उपस्थित कीजिए। इनके विश्राम में, इनके तत्वज्ञान की यात्रा में, विघ्न मत डालिए। आप लोग परम्परा, आचार, नियम, धर्म एवं विहित व्यवहारों द्वारा राज्य-सूत्र का संचालन कीजिए।'

मन्त्री ने नतमस्तक सादर आज्ञा शिरोधार्य की। असुरों की पूजा स्वीकार कर शुक्राचार्य ने प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

बहुत समय बीत गया। राजा बलि समाधि से जाग्रत हुआ। राजा को जाग्रत देखकर दानवगण प्रसन्न हो गए। उमंगपूर्वक नाचने लगे।

योग वासिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग २२–२९

आनन्द रामायण : सार १३

महाभारत :

आदिपर्व : ६५ : २०

सभापर्व : ३८ : ३९

४ : १०

९ : १२

वनपर्व : २८ : ३, ४

२७२ : ६३–६९

शान्तिपर्व : ९० : २४

२२३

२२४

२२५ : ३०–३२

२२७ : २१–८८

अनुशासन पर्व : ६ : ३५

९० : २०

९८ : १९

उद्योग पर्व : ८३ : ६४

जनपद में आनन्द की, उल्लास की, लहर दौड़ गई। घड़ी, घण्टा, दुन्दुभी, शंख, मुरज आदि वाद्य बजने लगे। पुष्पों से राजा ढक गया। प्रियजनों से घिर गया। नेत्रोन्मीलित होने पर राजा ने देखा जगत् का रूप। जगत् रूप के साथ ही साथ, करबद्ध कर्तव्य, उनके सम्मुख मूर्तिमान खड़ा हो गया। राजा ने आसन त्याग किया। उपस्थित लोगों को यथाविधि प्रणामादि किया। राज्यकार्य संचालन निमित्त विदेह-स्वरूप अग्रसर हुए।

पुनः बहुत समय बीत गया। उसके राज्य की अभिवृद्धि हुई। उसे यज्ञ करने की इच्छा हुई। अखिल भुवन तप्तकारी यज्ञ का आयोजन किया गया। शुक्राचार्य आदि प्रधान पुरुषों के साथ देवर्षिगणों की पूजा की गई।

पुराण :

वायु : ६७ : ८२–८५
९८ : ७५–८८

भागवत : ५ : २४ : १८
६ : १८; १८;
८ : १३; ६; ८; १०–११; १५;
८ : २० : १७,
१० : ६३
८ : १३ : १८–२३
८ : २२ : २३
९ : २३

वामन : २३ : ७७
७४
२९
३१
७५,
९२,

राजा बलि भोगार्थी नहीं हैं। भगवान् ने विचार किया। उसके यज्ञ में उनका पवित्र आगमन हुआ। बलि की अभिलाषा भगवान् विष्णु सिद्ध करना चाहते थे। मायाबल से तीनों लोकों को अपने पद से नापनेवाले हरि ने राजा बलि को पाताल तल में जिस प्रकार घर में बन्दर बाँधा जाता है उसी प्रकार बाँध दिया।

राजा बलि अपनी समाधि में स्थिर भविष्य इन्द्रस्वरूप पाताल तल में आज भी बैठे हैं। वह आपत्ति और सम्पत्ति को समदृष्टि से देखते हैं। प्रज्ञा सुख और दुःख में न तो उदय होती है और न अस्त। उसे भोगों से

स्कन्द : १ : १ : १८; ८–१२;
५ : १ : ४४
७ : २ : १६
२ : ४ : १०
मत्स्य १८७ : ४०
२५०, २५१;
४८
६ : १०
४७ : ३६
विष्णु : १ : ६
४ : १८
७ : ८
पद्म : पाताल : ५३
पद्मब्र० : ६, १ ;
पद्म सृष्टि : १३
ब्रह्म वैवर्त : ७३
१३; ३१
नारद : ११
पुराण :
ब्रह्माण्ड : ३ : ५ : ४०–४४; ७४; ६६;
३ : ७

वैराग्य हो गया है। दस करोड़ वर्षों तक निरन्तर तीनों लोकों पर शासन करने के पश्चात् राजा बलि का वैराग्य प्राप्त मन शान्त हो गया। बलि को होनेवाले इन्द्रत्व पद से न तो सन्तोष है और न अपने राजपद से च्युत भगवान् के तीनों लोकों को अपने पदों से नाप कर लेने से दुःख है। वह आकाश के समान आज स्वस्थ शान्त-स्वरूप विश्रान्ति कर रहा है।

□

हरिवंश : १ : ३१
भावि प्रतिसर्ग : ३ : ३१
पर्व : ४ : ० : २१
देवी भागवत : ९ : ४५
शिव शतरुद्र संहिता : ५
वाल्मीकि रामायण :
बाल काण्ड—सर्ग : ४४
अयोध्याकाण्ड—सर्ग : १४ तथा २९
अरण्य काण्ड—सर्ग : ३९ तथा ६१

प्रह्लाद

'भगवन् !' क्षीर सागर में भगवान् की शेष-शय्या लगी थी। देवताओं ने भगवान् को दण्डवत् करते हुए निवेदन किया।

'देवगण !' सस्मित भगवान् विष्णु ने पूछा, 'कहिए क्या प्रयोजन है ?'

'जगत्पते !' देवताओं ने प्रांजलिभूत निवेदन किया। 'बिना प्रयोजन आपकी सुख-शय्या में विघ्न डालने का किसे साहस हो सकता है।'

'आपके निमित्त क्या करूँ ?'

कोशलपते !' देवताओंने सिरसा नमन करते हुए कहा, 'एक जिज्ञासा है।'

'जिज्ञासा और देवगण !'

'प्रभु !' देवताओं ने नतमस्तक प्रणाम किया।

'निस्संकोच कहिए।' भगवान् ने गम्भीर स्वर में कहा।

'कमलापते !' देवगण ने कहा, 'अत्यन्त विस्मयजनक घटनाएँ घट रही हैं। आश्चर्य-सागर से पार नहीं होने के कारण, प्रभु की शरण में आए हैं।'

क्या घटनाएँ जटित हो रही है ?'

'नारायण !' देवताओं ने कहा, 'असुरों ने आपकी पूजा, आपका स्मरण करना आरम्भ किया है।'

'इसमें क्या आश्चर्य है ?'

'पृथ्वीपते !' देवताओं ने कहा, 'असुरों ने आपका सर्वदा विरोध किया है। उनके विनाश निमित्त आपको कितना कष्ट उठाना पड़ा है। आपको स्मरण होगा ?'

'किन्तु यह सब किस प्रकार है ?' भगवान् ने सस्मित प्रश्न किया।

'कमल-लोचन !' देवगण ने कहा, 'आपने हिरण्यकशिपु का वध किया। उनके वध के पश्चात् दैत्य समुदाय में क्रान्ति हो गई। आपकी अद्भुत शक्ति देखकर दैत्य स्तम्भित हो गए। उन्होंने मिलकर विचार

किया। हिरण्यकशिपु के वध के पश्चात् प्रह्लाद उनका राजा हो गया। प्रह्लाद ने उनसे कहा।

'बन्धुओं! अपनी सुरक्षा की व्यवस्था हमें करनी चाहिए। भगवान् बली है। पाताल में दैत्य बलि होते हैं। भगवान् आकर उनका नाश करते हैं। यह परम्परा चली आ रही है। सुर और असुरों में संघर्ष होता है। भगवान् सुरगणों का पक्ष लेकर हमारा विनाश करते हैं। मित्रो! हमें इसका कारण ढूँढ़ना चाहिए।'

'असुर-समुदाय गम्भीर हो गया। सब एक दूसरे का मुख देखने लगे। सबकी प्रश्न पूर्ण दृष्टि उत्तर की आशा में एक-दूसरे पर उठने लगी।

'मित्रो!' प्रह्लाद ने कहा, 'हमारा शत्रु शक्तिशाली है। दृढ़ है। उसकी दृढ़ता का कारण आप लोग जानते हैं?'

'क्या है?' जनसमुदाय बोल उठा।

'सुहृद्वर!' प्रह्लाद ने कहा, 'हमारा शत्रु तमोगुण-विहीन है। हम असुरों में तम का आधिक्य हो गया है। तमोगुण की वृद्धि के कारण असुरगण निर्बल हो गए हैं। पूर्वकाल में मेरे माता पिता द्वारा सुरगण पराजित हो गए थे। वे ही हम पर आक्रमण करने का निरन्तर प्रयास करते हैं।'

'हमें क्या करना चाहिये।' जनरव से वायु-मण्डल प्रकम्पित हो गया।

'प्रजागण!' प्रह्लाद ने कहा, 'एक की शरण जाना चाहिए।'

'किसकी!' जनरव पुनः गूँजा।

'भातृवर!' प्रह्लाद ने कहा, 'हमें उसकी शरण जाना चाहिए, जिसकी-भुजा रूपी छाया में सुरगण विश्राम करते हैं। जो अत्यन्त शान्त, शीतल तथा कोथा कोमल हैं। जो सर्वात्मा है। जो सबका प्रशासक है। जो सबका तथा कोमल हैं। जो सर्वात्मा है। जो सबका प्रकाशक है। जो सबका आदि है। जो सबका अन्त है। जो सृष्टिकर्त्ता है। प्रलयकर्त्ता है। उसकी शरण जाना आवश्यक है।'

'निश्चय! किन्तु वह है कौन?' जनरव पुनः उद्वेलित हुआ।

'भगवान् विष्णु!'

एकत्र असुर-समुदाय का मुख नत हो गया। उनके मुखों पर घृणा फैल गई। उनकी कान्ति में तीव्रता आ गई। नेत्रों से प्रतिहिंसाग्नि की लपट निकलने लगी। द्वेष-ज्वाला से हृदय जलने लगा। बाहुएँ फड़कने लगीं। नयने फूलने लगे। सब की क्रूर दृष्टि प्रह्लाद की ओर उठ गई।

'बन्धुओं! विष्णु द्वारा बल प्राप्त कर देवता दुन्दुभी-घोष कर रहे हैं। तुम्हारे मध्य में, तुम्हारे सम्मुख, उन्हीं भगवान् विष्णु ने तुम्हारे राजा हिरण्यकशिपु का बध किया था। तुम लोग कुछ नहीं कर सके। तुम्हारा नगर सुरगणों ने उजाड़ दिया। जिन देवताओं को तुमने पराजित किया था, वे तुम्हारी धन-सम्पत्ति सब उठा ले गये। हमारे गृहों में धूल उड़ रही है। जनपद शून्य हो रहे हैं। हरे वृक्षादि भस्म हो गए हैं। हमारी नारियाँ देवांगनाओं की चामर-धारिणी बन गई हैं। ललनाओं के कमल-मुख कुम्हला गए हैं। हमारे मण्डप टूट गये हैं। इन्द्र खुलकर हम पर आक्रमण करते हैं। बताइए! इस स्थिति का सामना आप किस प्रकार करने में समर्थ हैं?'

जनसमूह शान्त हो गया। सबकी मुद्रा उदासीन हो गई। समूह में से कोई बोल उठा:

'राजन्! हम क्या करें!'
'उस विष्णु, उस नारायण।'
'वह हैं कैसे!' समूह से प्रश्न हुआ।

'मित्रों!' प्रह्लाद ने कहा, 'वे सबकी आत्मा हैं। वे पृथ्वी हैं। वे आकाश हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उनकी चार भुजाएँ हैं। अनन्तात्मा, आकाश स्वरूप, गरुड़ उनका वाहन है। उनके स्मरण, उनकी भक्ति द्वारा हमें कष्टों से छुटकारा मिल सकता है।'

'उसका स्मरण किस प्रकार किया जाय?' जनसमूह से प्रश्न हुआ।

'सुहृद्वर !' प्रह्लाद ने कहा, 'नमो नारायण मन्त्र का जाप कीजिए। उसका स्मरण कीजिए। आत्म-निवेदन करिए। अपना सर्वस्व उसके चरण-कमलों पर न्योछावर कर दीजिए।'

:o: :o: :o:

'भगवन् !' देवतागण बोले, 'प्रह्लाद स्वयं आपकी मानसी पूजा करते हैं। उनका अनुकरण कर समस्त दैत्य-मण्डल आपकी पूजा में रत हो गया है। 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत पातालपुरी में चरितार्थ हो गई है।'

भगवान् के मुख-मण्डल पर क्षीण विमल स्मित रेखा खिंच गई। देवताओं ने पुनः कहा।

'प्रभो ! आपकी माया कुछ समझ में नहीं आ रही है। विरोधी भक्त हो गए हैं। कहाँ उनकी राजसी दुष्प्रवृत्ति और कहाँ उनकी यह भक्ति। कुपात्रों द्वारा भक्ति अशुभ लक्षणों का द्योतक है। कहाँ उनका नीच, भयानक, क्रूर कर्म और कहाँ मुक्तिदायिनी भक्ति।'

'देवगण !' भगवान विष्णु ने कहा, 'आप महानुभावों के शोक का मैं इसमें कोई हेतु नहीं देख पा रहा हूँ। प्रह्लाद मेरा भक्त है। यदि उसने अपनी प्रजा को अपने अनुरूप धर्माचरण योग्य बना लिया, तो उसमें बुरा मानने की क्या बात है? गुणवानों के गुणों को ग्रहण करना सनातन परम्परा है। यदि मूढ़ पापी जिज्ञासु बनकर ज्ञानोपार्जन निमित्त, भक्ति-प्राप्ति निमित्त, कार्य करे तो आपको प्रसन्न होना चाहिए। असुरगण यदि सुर हो जायँ, तो परम आनन्द की बात होगी। आपको हर्षित होना चाहिए। आपका कुटुम्ब, आपका परिवार बढ़ रहा है।

भगवान् मुँसकुराने लगे। देवताओं ने भगवान् को शिरसा नमन भक्तिपूर्वक किया। उन्होंने अपने लोकों के लिए प्रस्थान किया। भगवान पाताल मार्ग द्वारा प्रह्लाद के समीप पहुँचने के लिए अन्तर्धान हो गए।

:o: :o: :o:

'प्रह्लाद !' भगवान् विष्णु अकस्मात् प्रह्लाद के सम्मुख प्रकट होकर बोले।

भगवान् की प्रेम-गद्-गद् वाणी से प्रह्लाद स्तुति करने लगे। भगवान् की द्विगुणित सामग्रियों से पूजा की।

'गुणनिभे !' भगवान् प्रह्लाद की पूजा से प्रसन्न होकर बोले। 'जन्म-दुःख-शान्ति निमित्त तुम अभीष्ट वर माँगों।'

'प्रभो !' प्रांजलीभूत प्रह्लाद ने भगवान् के चरण-कमलों पर दृष्टि स्थिर करते हुए संयतवाणी से कहा। 'आप सर्व संकल्पों के फल देने वाले हैं। आप सब लोकों के अन्तर में स्थित हैं। मेरे लिए जो सर्वोत्तम हो, कृपया वही वर मुझे दीजिए।'

'अनघ !' भगवान् ने कहा। 'जब तक तुम्हें ब्रह्म पद प्राप्त न हो, तब तक सब अनर्थों के उपशम के निमित्त तथा निरतिशय आनन्द लाभ के लिए विचार करते रहो।'

कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गए। प्रह्लाद ने भगवान् को पुष्पांजलि दी। पद्मासन लगाकर आसन पर बैठ गया। स्तोत्र पाठ करने के समय उसे स्मरण आया। 'भगवान् ने आदेश दिया है, मैं विचार करूँ। क्यों न मैं इसी समय से विचार करने लगूँ।

'मैं कौन हूँ। मैं यह देह नहीं हूँ। देह क्षण-क्षण में परिवर्तित होती रहती है। देह कालाधीन है। जड़-स्वरूप है। मैं शब्द नहीं हूँ। शब्द आकाश में उत्पन्न होता है। स्पर्श इन्द्रिय नहीं हूँ। वह नाशशील है। मैं रस नहीं हूँ। रस जड़ है। मैं दृश्य नहीं हूँ। दृश्य जड़ द्वारा उत्पन्न हुआ है। मैं गन्ध नहीं हूँ। वह जड़ पृथ्वी द्वारा उत्पन्न होता है। मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ।

'मैं केवल शान्त स्वरूप, कल्पना रहित, संकल्प-रहित, वासना-रहित, चित्त-रहित चिन्मात्र हूँ। सबका प्रकाशक हूँ। जिस प्रकार दीपक द्वारा प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चेतन के स्फुरण द्वारा इन्द्रियों की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

'ज्वाला से अग्नि-कण स्फुरित होते हैं। उसी प्रकार चेतन द्वारा मन की मनस्वरूप शक्तियाँ स्फुरित हुई हैं। सूर्य की प्रखर किरणों द्वारा मृग-मरीचिका उत्पन्न होती है। उसी प्रकार भावसत्ता द्वारा पदार्थों की भावना उत्पन्न होती है।

'उष्ण-स्वरूप सूर्य, शीतल-स्वरूप शशि, घन-स्वरूप पर्वत, द्रवता-स्वरूप जलादि से अनुभवसत्ता द्वारा पदार्थ रूप धारण करते हैं। जिन पदार्थों का हम अवलोकन करते हैं, वे चिदाकाशीय दर्पण द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं। अनुभवसत्ता पदार्थों की वृद्धि तथा लघुता द्वारा तद्जन्य रूप नहीं धारण करती। अमुभवसत्ता आदि-अन्त से रहित है। मैं चित्त का रूप हूँ।

'वह अनुभव-सत्ता आत्मा स्वयं मैं हूँ। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य-स्वरूप आत्मा मैं हूँ। मैं ही चिदाकाश रूप हूँ। मैं सूर्य-स्वरूप आकाश में गमन करता हूँ। मैं पवन-स्वरूप वायुमण्डल में बहता हूँ।'

'मैं विष्णु हूँ। मैं ब्रह्मा हूँ। मैं शिव हूँ। मैं संहारकर्त्ता हूँ। मैं इन्द्र हूँ। मैंने स्वयं जगत् का विस्तार किया है। मैं उत्पत्ति-कर्त्ता चेतन हूँ। सब कर्मों का मुझमें अर्पण करने से शान्ति प्राप्त होती है। मैं सकल पदार्थों में प्रतिबिम्बित हूँ। पुष्पों का सौरभ मैं हूँ। पल्लवों की सुन्दरता मैं हूँ। मानवों में अनुभव मैं हूँ।

'जिस प्रकार दूध में घृत तथा सूर्य में प्रकाश शक्ति है उसी प्रकार सबमें सबकी शक्ति मैं हूँ। मैं अपने स्वयं प्रकाश द्वारा प्रकाशित हूँ। मैं स्वयं अपने आपको नमस्कार करता हूँ।

'सूर्य की प्रकाश-शक्ति, शशि की अमृत-सृजन शक्ति, ब्रह्मा की महत्ता, इन्द्र त्रैलोक्यता, विष्णु की लक्ष्मी, जल का रस महाताप में मौन बृहस्पति की विद्या, देवताओं के आकाश-गमन की शक्ति, चेतन की शक्ति है।

'पर्वत में स्थिरता, बसन्त में पुष्प, मेघ में शान्ति, आकाश में निर्लेपता, हिम में शीतलता, ज्येष्ठ में तपन, देश, काल, क्रियादि की समस्त शक्तियाँ चेतन की शक्ति हैं।

'हे ! चिदात्म देव ! ! जो तू है, वह मैं हूँ। और जो मैं हूँ, वह तू है। तुझे नमस्कार है।'

प्रह्लाद ने स्वयं अपने को सम्बोधित किया ! ॐ-स्वरूप विकार रहित ब्रह्म मैं हूँ। मैं निर्लिप्त हूँ। मैं त्रिकालों में समरूप हूँ। पदार्थों की

उत्पत्ति एवं नाश में मैं ज्यों-का-त्यों हूँ। दीपक ज्योति रस्सी से बाँधी नहीं जा सकती। उसी प्रकार मैं बन्धनहीन हूँ। हे आत्मा! तुझे नमस्कार है।

'सिंह-स्वरूप इन्द्रियाँ जिस आत्मा से नष्ट हुई हैं, जिस आत्मा से चित्त-स्वरूप बड़वाग्नि नष्ट हुई है, उस आत्मा को नमस्कार है।

'दावाग्नि जिसके कारण शान्त हुई है, अहंकार भय जिसके कारण दूर हुआ है, आत्मानन्द पर्वत का जिसने आश्रय पाया है, उस आत्मा को नमस्कार है।

'आनन्द-स्वरूप कमल जिसमें प्रफुल्लित हुए हैं, चित्त-तरंगें जिसमें नष्ट हुई हैं। उस मानसरोवर-स्वरूप आत्मा को नमस्कार है।

'जिसमें हंस के संवित-स्वरूप पंख है, उस आत्मा को नमस्कार है।

'काल-स्वरूप, कल्पना रहित, उषा-स्वरूप, पूर्ण, शान्त, आत्मा को नमस्कार है।'

प्रह्लाद ने आत्मा को पुकारा, 'ओ महापुरुष! ओ आत्मा!! तू मुझे बहुत दिनों के पश्चात् प्राप्त हुआ है। तुम्हारे संगत में मेरा कल्याण हुआ है। अतएव तुझे नमस्कार है।

'तू बन्धु है। तू सुखदायक है। तू रक्षक है। तू संहारक है। तू दानी है। तू दीन है। तू विश्व है। मैं तुम्हें चारों ओर से आज देखता हूँ। तुममें और मुझमें अनेक जन्मों के कारण भ्रमवश अन्तर पड़ गया था। तुम मेरे साथ थे। मेरी सहायता निमित्त सर्वदा तत्पर रहते थे। मैं भ्रान्त, पथ-भ्रष्ट, मूढ़ पथिक की तरह तुझे देख न सका। तुझे अब जान गया हूँ। अतएव तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

'देव-विद्या का सम्बन्ध तू है। जगत् की धारणा नीति तू है। सिद्ध कर्तव्य तू है। तू निरीह है। तू निरंश है। तू निराकार है। सत्य-असत्य से तू परे है। शास्त्रों का असिपद तू है। जात-अजात रूप तू है। नाश-अविनाश तू है। भाव-अभाव तू है। तुझे नमस्कार है।'

:o: :o: :o:

आत्म-चिन्तन करता प्रह्लाद बहुत दिनों तक निर्विकार समाधि में स्थित रह गया। दैत्य लोग चिन्तित हुए। उसे जागृत करने का प्रयास करने लगे। राजा की समाधि के कारण राज्य-व्यवस्था बिगड़ गयी। मत्स्य न्याय का प्रादुर्भाव हुआ। मर्यादाओं का उल्लंघन होने लगा। शोक तथा दुःख की छाया में प्रजा मलिन होने लगी। देवतागण अवसर पाकर आक्रमण करने लगे। प्रह्लाद की समाधि न खुली।

दैत्यों ने शंखध्वनि किया। उस ध्वनि के साथ-ही-साथ भगवान् विष्णु प्रह्लाद के सम्मुख उपस्थित हुए। प्रह्लाद को भगवान् ने स्वयं समाधि से जागृत किया।

प्रह्लाद ने भगवान् को सम्मुख देखा। उनके चरण-कमलों पर मस्तक रख दिया। भगवान् ने सस्नेह कहा :

'प्रह्लाद ! तुम अपने स्वरूप का स्मरण करो। तुम कौन थे ? अकारण तुमने शरीर त्याग की इच्छा क्यों किया है ? संकल्प-रहित मानव में ग्रहण-त्याग तथा भाव-अभाव की भावना कैसे उत्पन्न हुई है ? उठो ! अपना दैनिक कार्य सम्पादन करो। तुम्हारा यह शरीर कल्प पर्यन्त रहेगा। जीवन-मुक्त तुल्य राज्य करना तुम्हें शोभा देता है। अज्ञानी, प्रमादी, मूढ़ तथा देहाभिमानी को अच्छा नहीं कहा गया है। चिन्तित, दुःखी, तृष्णायुक्त, कल्पनाओं के पीछे दौड़नेवालों के लिए मृत्यु श्रेष्ठ कही गयी है। आधि-व्याधि, काम-क्रोध, मद-लोभ, चापल्यमय देह के मरण को लौकिक मरना कहा गया है। राग-द्वेष आदि रहित जो शान्त हो गया है, उसका जीना श्रेष्ठ कहा गया है। सम्यक् ज्ञानी, चेतनत्व प्राप्त, संकल्प रहित, अनिष्ट एवं इष्ट, सुख-दुःख, राग-द्वेष रहित, जिसके दर्शन तथा वाणी के श्रवण द्वारा आनन्द प्राप्त होता है, जो शान्तचित्त जगत् में लीलावत् कार्य करता है, उसका जीना इस जगत् की शोभा वृद्धि करता है।'

'साधो !' भगवान् ने पुनः कहा, 'जगत् में इस जड़ देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं। प्रत्यक्ष देह के परित्याग किंवा देहान्तर लाभ निमित्त कार्य को मृत्यु कहते हैं। तुम इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं से

मुक्त हो गये हो। तुम्हारे लिये मरना और जीना क्या महत्व रखता है? सर्वज्ञ! तू न मरा है और न जीता है। इस देह के रहते हुए भी तुम विदेह हो। वायु आकाश में गमन करता हुआ, रहता हुआ, निर्लिप्त हैं। तुम इस देह में निवास करते हुए निर्लिप्त हो। क्रियाओं का कर्त्ता होता हुआ तू अकर्त्ता है। वृक्ष की ऊँचाई का कारण आकाश है। तुम्हारी महत्ता का कारण कर्त्तव्य है। तू जागृत हुआ है। देह अज्ञानियों के दृष्टि का केवल दृश्य पदार्थ है। दुःख का घर है। किन्तु तू ज्ञानी है। तू चैतन्य है। तुम्हारी बुद्धि आत्मपरायण है। तुम्हारे लिए देह-अदेह, त्याग-ग्रहण, सब बराबर है। भाव-अभाव रहित व्यक्ति अपने-आप में स्थित रहता है। इस देश के नाश होने पर, अपना नाश नहीं होता। इस देश में जो आत्मा स्थित है, वह स्वयं मैं हूँ। विवेकियों, तत्ववेत्ताओं का संकल्प भ्रम नष्ट हो जाता है। प्रबुद्ध लोग क्रियाशील होते हुए भी अकर्त्ता हैं। कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व भावना नष्ट होने पर, आत्म-भावना प्राप्त होती है। इस निश्चय की दृढ़ता का नाम मुक्ति है।'

'महामते!' भगवान् ने शान्त स्वर में कहा, 'प्रबुद्ध लोग चिन्मात्र हैं। वह किसका ग्रहण तथा परित्याग करेंगे? ग्राह्य एवं ग्राहक भाव के तिरोधान होने पर आती है मुक्ति। इस प्रकार के पुरुषार्थी, पुरुषोत्तम तथा सुषुप्त तुल्य स्थिर हो जाते हैं। निर्वासनिक लोगों की वासना संसार में दृष्टिगोचर होती है। वे अर्ध-सुषुप्त तुल्य चेष्टा करते हैं। देखने में वे जगत् के कार्यों में रत दिखाई देते हैं। चारों ओर आत्मा है। नित्य प्रबुद्ध जन कार्य भाव को ग्रहण करते हैं। उसे भली तथा बुरी वस्तुएँ स्पर्श नहीं करतीं। वह आत्मपद में जागृत तथा संसार में सुप्त सदृश्य प्रतीत होता है।'

प्रह्लाद ने भगवान् की वन्दना किया। पूजा किया। अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट किया।

'दैत्यराज!' भगवान् ने कहा, 'उठ! चल!! राज-सिंहासन पर आसीन हो। मैं तेरा अभिषेक करूँगा।'

भगवान् की वाणी सुनकर दैत्य चकित हो गये। उनके संहारक, उनके विरुद्ध सुरगणों के सहायक, भगवान्, प्रह्लाद का राज्याभिषेक करेंगे!

उनके लिए कौतूहल का विषय हो गया। सब एक-दूसरे की ओर देखने लगे। भगवान् को अपना शत्रु समझकर जो दैत्य भाग गये थे, भगवान् की घोषणा सुनकर लौट आये। उनके राजा का अभिषेक स्वयं भगवान् करेंगे।

दैत्यों ने भगवान् के चरणों पर मस्तक रख दिया। शत्रु भाव की क्रूरता सबकेमुखों पर से लोप हो गयी। सबका मुखमण्डल सरल तथा मित्रभावापन्न हो गया। उनके हृदय में अलौड़ित तम धारा शान्त हो गयी थी। धारा की तरंगे भक्ति-सागर में विलीन होकर एकाकार हो गयी थीं।

दैत्यों ने नव उत्साह, नवीन उमंग के साथ, भगवान् की पूजा किया। राज-सभाभवन सजा दिया। प्रह्लाद को भगवान् ने राज-सिंहासन पर राजा तुल्य बैठाया। सुरगणों द्वारा अनन्तकालीन शत्रुता भगवान् के सिंहासन पर बैठाते जैसे समाप्त हो गयी। भगवान् ने असुरों के राजा को मान्यता दी। इतिहास की उस क्रान्तिकारी घटना ने सुर एवं असुरों के जीवन में एक नवीन अध्याय खोला।

मंगल सामग्रियों द्वारा भगवान् ने प्रह्लाद का राज्याभिषेक किया। भगवान् ने पाँचजन्य शंख बजाया। शंख, भेरी आदि वाद्यों के उल्लासमय घोष में दैत्य-मण्डल पुलकित हो गया। सुरगण, सिद्धगण, ऋषिगण, विद्याधरगण, मुनिगण सभी लोग राज-सभा में उपस्थित हुए। प्रह्लाद की सभा में उपस्थित होकर प्रह्लाद को राजा रूप में स्वीकार किया। शत्रुता का अन्त हो गया। मित्रता का शोभनीय, सुरभित अध्याय, सनातन देवासुर संग्राम की दुःखद गाथा के पश्चात् खुला। सुर-असुर कल्पों पश्चात् मिले। विश्व की अनहोनी घटना लोगों ने सत्य होते देखा।

सुर-असुर दोनों भगवान् का स्तुति करने लगे। सुर गणों ने असुर राजा प्रह्लाद को मंगल-मंत्रों के साथ आशीर्वाद दिया।

'प्रह्लाद !' भगवान् ने कहा, तुमने अपने पुरुषार्थ द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त किया है। अपने पुरुषार्थ द्वारा, अपने अभ्यास द्वारा, अपनी आत्मा का दर्शन किया है। दूसरे की सहायता से, दूसरे के अभ्यास से, दूसरे के कर्म से, अपनी आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। तुमने अपनी आत्मोन्नति

का ध्यान रखकर, प्रजा को तम से दूर रखकर, उनका आसुरी भाव निकालकर, उनमें सुरभाव उत्पन्न करने का महान् प्रयास किया है। उनके सम्मुख तुमने अपने आचरण का आदर्श रखा है। तुम्हारे जैसे राजा, तुम्हारे जैसे गुरु, तुम्हारे जैसे पुरुषार्थी के सम्पर्क से प्रजा का कल्याण होगा। जगत का कल्याण होगा। तुमने दैत्य-मण्डल में जो अद्भुत कार्य अपने आत्मबल, अपने दृढ़ संकल्प द्वारा किया है, वह अभूतपूर्व है।'

'राजन्!' भगवान् ने कहा, 'सुमेरु को धारण करनेवाली पृथ्वी, सूर्य मण्डल, चन्द्र मण्डल आदि जब तक स्थित रहेंगे, तब तक तुम निष्ट-अनिष्ट में समबुद्धि, राग-द्वेष, भय-क्रोधादि रहित प्रजा का पालन धर्मानुसार करते रहोगे। हर्ष, उद्वेग, शोक रहित होकर जीवन यापन करो। संसार की स्थिति तुमने देखा है, जाना है। अतएव तुम माया-बन्धन में नहीं पड़ सकते।'

'राजेन्द्र!' भगवान् ने आशीर्वादात्मक वाणी में कहा, 'सुर-असुरों के रक्त से भूमितल रंजित नहीं होगा। सुर-असुरों के द्वन्द्वों का लय

योग वासिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग ३०–४२
तैतरेय ब्राह्मण १ : ५ : ६
महाभारत :
आदिपर्व : ६५ : १७–१६
सभापर्व : ६ : १२
११ : १६
६८ : ६५–६६
वनपर्व : २८ : ६-३३
उद्योग पर्व : ६५ : ३५–३६
शान्ति पर्व : १२४ : २८-६२
१३९ : ७०–७२
१७९
२२२ : ९–३५
२२७ : ५०
३२७ : ११–१९

होता है। सुर-असुर संघर्ष के दुःखमय, कष्टमय सनातन युद्ध के अध्याय का अन्तिम पटाक्षेप होता है। आज से सुर-असुर एक साथ आत्मस्वरूप अभिन्न होकर रहेंगे। विश्व देखेगा युद्ध नहीं शान्ति।'

सुर-असुरों के सम्मिलित जयघोष से राज-सभा गूँज उठी।

पुराण :

भागवत : १ : ३ : ११
७ : ४
७ : १ : ४१
५ : १८ : १७
६ : १८ : १६
६ : ६
७ : ६ : १०
४ : १८ : १६
७ : ५
७ : १०
६ : ३ : २०
विष्णु : १ : १६
१ : १७
१ : २१
पद्म भूमि-खण्ड : ५
पद्म उत्तर खण्ड : १७४
वामन : ३१
वायु : ७० : ६
मत्स्य : ८ : : ५
: ४७

गाधि

एक समय की बात है। कोलाहल संकुल कीर मण्डल की श्रीमती पुरी के राजपथ में विशाल जनसमूह उमड़ा हुआ था। लोगों के मुखों पर विषादजन्य उत्सुकता थी। राज-प्रतिहारी भीड़ को सम्हाल रहे थे। अगणित नेत्रों ने देखा। मांगलिक राज-हस्ती राजप्रासाद से मणि, कंचनादि से अलंकृत, मन्द गति से चला आ रहा था।

हस्ती का अनुकरण चामरधारिणी युवतियाँ कर रही थीं। छत्रधारी परिचारिकाएँ साथ थीं। उत्तम ललनाओं के करपल्लवों में आरती थी। लोल लोचना, शुभ्रवर्णा अंगनायें, पुष्पमाला धूप-दीप, गन्ध, अंगराग, अलंकार, आभूषण, वसन एवं पूर्ण कलश लिये थीं। ब्राह्मणों के पवित्र कर-कमलों में कुश अभिषेक निमित्त जल था। प्रशस्त राजपथ में आगुल्फ कुसुम भरे थे। नर्तकियाँ नृत्य रत थीं। चन्दन तथा अगर की सुगन्धि से वायुमण्डल भर गया था।

प्रत्येक व्यक्ति सुसज्जित हाथी की तरफ देखता था। साम्राज्य पाने की लालसा लोभी आँखों में बैठी थी। हाथी के आगे बढ़ते ही पीछे रह जानेवालों का मुख उदास हो जाता था। उदासी क्षणिक होती थी। दूसरे क्षण आँखें होनेवाली घटना देखने के लिए उत्सुक हो जाती थी।

आश्चर्य की बात थी। हाथी पर राजा आसीन नहीं था। राज्योचित सभी प्रदर्शन, पुरोहित, मन्त्री, सामन्त, सेना साथ थे। सारा जुलूस नत मस्तक शान्त चला जा रहा था। साथ में विविध वाद्य थे। ब्राह्मणों के हाथों में शंख थे। वाद्य एवं शंख मूक थे।

अकस्मात् जन समूह में एक श्याम वर्ण कुरूप पुरुष आ गया। उसे देखकर अनायास घृणा उत्पन्न होती थी। फटे-पुराने वस्त्रों से दुर्गन्ध निकल रही थी। नागरिकों के एकत्रित जनसमूह का वह कलंक मालूम होता था। उसके पास आना कोई पसन्द नहीं करता था। स्वयं अपने को पाप-तुल्य छिपाता वह एक तरफ खड़ा हो गया।

'भाई !' उस कुरूप व्यक्ति ने पास खड़े एक मनुष्य से कौतूहलवश पूछा, 'यह शोभा यात्रा कैसी है ?'

'देखता नहीं ?' नागरिक ने उसकी कुरूपता पर नाक-भौं सिकोड़ते हुए घृणापूर्वक कहा।

'मैं नवागन्तुक हूँ।' कुरूप व्यक्ति ने विनम्र वचनों से कहा।

'वह तो तेरा रूप ही साक्षी दे रहा है। जरा दूर हट।'

'तुम जिस नगर के नागरिक होगे, वह नगर लज्जित हो गया होगा।' दूसरे नागरिक ने उसे ऊपर से नीचे तक देखते हुए कहा।

'देख !' तेरे जैसा यहाँ कोई है ?' तीसरे नागरिक ने मुँह बिचका कर कहा।

उसने देखा। उस जैसा दीन-हीन, कुरूप, उस वैभवशाली नगर में कोई दूसरा नहीं था। उसने दीन वचनों में पुनः पूछा:

'भाई ! दया कर बताइए ?'

'मूर्ख ! देखता नहीं राजा की सवारी आ रही है।' एक नागरिक ने झिड़कते हुए कहा।

'किन्तु राजा हाथी पर नहीं बैठा है !'

'राजा हममें से कोई होगा।' दूसरे नागरिक ने हँस कर कहा।

'कैसे ?' उसने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

'तुम बाहरी हो। तुम्हें शायद मालूम नहीं है। यहाँ का राजा दिवंगत हो गया है। कोई उत्तराधिकारी नहीं है। सनातन प्रथानुसार हाथी जिसे उठाकर अपने गण्डस्थल पर बैठा लेगा, वही यहाँ का राजा होगा।'

'अच्छा !' उसका मुख आश्चर्य से खुल गया। वह मंगल स्वरूप हाथी की ओर देखने लगा।

'हट पीछे हट। तू है कौन ?' एक नागरिक बोल उठा।

वह कुछ बोल न सका। हाथी समीप आ गया था। कोलाहल बढ़ा। प्रत्येक नागरिक हाथी की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करने में व्याकुल हो गया। पीछे के लोग धक्का देकर हाथी के सम्मुख आना चाहते थे।

आगे के लोग एक दूसरे के भाग्य पर ईर्ष्या करते हाथी की प्रतीक्षा कर रहे थे। लोगों की आशा वर्षाकालीन लता की तरह बढ़ गयी।

कुरूप व्यक्तिको लोगों ने पीछे ढकेल दिया। पीछेवाले आगे आने के लिए धक्का देने लगे। वह बीच में पड़ा पिसना चाहता था। वह दुर्बल था। धक्का-धुक्की में वह गेंद की तरह उछलता राजपथ पर लुढ़क गया। हाथी समीप आ गया था। दूसरे ही क्षण लाखों आँखों ने देखा – वह जीर्ण, हीन, दीन, कुरूप, श्यामवर्ण व्यक्ति हाथी की पीठ पर था।

दुन्दुभी बजी। धौंसा धमके। शंख-ध्वनि गूँजी। स्वस्ति वाचन हुआ। हाथी पर ही उसका अभिषेक किया गया। जनता की हर्षोन्मत्त जय ध्वनि उठी।

'कीर देशाधिपति की जय।'

:o: :o: :o:

आठ वर्ष बीत गये।

एक समय राजप्रासाद का वाह्य-प्रांगण संगीत लहरियों से भर गया। वीणा लय पर वृन्द संगीत लहरियाँ थिरक रही थीं। राज-कर्मचारी गायक समूह को घेरे हुए थे। संगीत का आनन्द उठा रहे थे। रानियाँ गवाक्षों पर आ गयी थीं। मधुर संगीत का आनन्द ले रही थीं। मधुर संगीत ने राजा को आकर्षित किया। राजा स्वयं राजकीय परिधान एवं चिह्न रहित अनायास खिंचा संगीत के मूल श्रोत की ओर आ रहा था।

गायक चाण्डाल थे। वसन्तकी कूजती कोकिल की तरह गायक अपने कण्ठ-स्वर वीणा की झनकार पर आरूढ़ कर चारों ओर भेज रहे थे। सन्देश दे रहे थे। यह संगीत शायद पुनः सुनाई न पड़े। यह दृश्य शायद वह दृश्य हो, जिसे लोग भूल न सकें।

राजा को देख लोग हट गये। गायकवृन्द तथा राजा की आँखें मिलीं। संगीत लहरियाँ अकस्मात बन्द हो गयी। चाण्डाल मण्डली का श्वेतकेशी रक्तलोचन, नायक उठा। राजा के पास प्रसन्नवदन बढ़ते हुए कहा :

'कटंज ! कटंज !! कटंज !!!'

राजा सम्बोधन सुनते ही उदास हो गया। नायक को अपने पास नहीं आने का संकेत किया। किन्तु बन्धु-दर्शन के उत्साह में नायक समीप आ गया।

'मित्र !' स्नेहपूर्वक वृद्ध चाण्डाल बोला, 'बहुत दिन हुए। तुम्हारा दर्शन नहीं मिला। तुम यहाँ चले आये। तुम्हारा वेश सभ्यों जैसा हो गया है। मालूम होता है कि यहाँ के राजा ने संगीत विद्या पारंगत जानकर, तुम्हें सम्मानित किया है।'

राजा की कान्ति राहुग्रस्त चन्द्रमा तुल्य मलिन हो गयी। चाण्डाल मण्डली प्रसन्नता से खड़ी हो गयी थी। उनमें से एक गायक ने आगे बढ़ते हुए कहा :

'तुम्हें देखकर हमें आज कितनी प्रसन्नता हुई है। यहाँ तुम मिले। इस अवस्था में मिले। किसे ऐसी आशा थी !'

राजा को घेरकर वे आनन्द से नाचने लगे। राजा का शरीर पसीने से भर गया। वह भूमि में गड़ जाना चाहता था। उसकी आँखें किसी तरफ नहीं उठती थीं।

उनका आनन्द-गान, प्रसन्न नृत्य, अचानक रुक गया। प्रागण में उपस्थित लोगों के मुखों पर आश्चर्य, विस्मय, घृणा, विषाद एक साथ उत्पन्न होता, चाण्डाल मण्डली से पीछे हटता जा रहा था। वे अदृश्य हो जाना चाहते थे। किन्तु जैसे उनके पैरों को काठ मार गया था। बड़ी शक्ति लगाने पर उठते थे। उनमें खून का दौरा बन्द सा हो गया था।

गवाक्षों में बैठी कमलनयनियों के कुण्डल गिर गये। दुःख एवं परिताप से उनके अञ्चल आँखों से लग गये। वे गवाक्षों से अन्तःपुर की ओर भागीं। प्रांगण, गवाक्ष सब स्थान जनशून्य हो गया।

'कटंज ! कटंज !! यह क्या हुआ ?' वृद्ध चाण्डाल स्तब्ध होकर बोला।

कटंज-स्वरूप कीर देशाधिपति की जिह्वा डोल न सकी। शरीर से पसीना चूने लगा। कान्ति अन्धकार में परिणत हो गयी। शरीर अस्वस्थ

पत्र की तरह कम्पित हो गया। उसका संसार जैसे शून्य हो गया। अपनी मनोभावनाओं को छिपाता, अन्तःपुर की ओर भागा। कटंज के मित्र, बन्धु-बान्धव, चाण्डाल आश्चर्यचकित खड़े रह गये।

:o: :o: :o:

'प्रतिहारी ?' राजा ने पूछा, 'यह धुआँ कैसा उठ रहा है ?'

प्रतिहारी ने राजा को अभिवादन नहीं किया। वह दूर खड़ा रहा। उसके मुखमण्डल पर राजा के लिए घृणा का भाव था। राजा की राज्य-प्रासाद में वही अवस्था थी, जैसे घर में किसी का शव रखा हो और लोग उसे छूने, उसके पास जाने से हिचकते हों।

राजा राज्य-प्रासाद की छत पर चला गया। वह जिधर से निकलता, लोग भाग जाते थे। उसे राज्य-प्रासाद उजाड़ तथा जीवन-शून्य प्रतीत होने लगा। उसे प्रासाद के प्रांगण में शुष्क काष्ठों की भयंकर चिता लगी दिखाई पड़ी। चिता में जीवित राज-मन्त्री, आमात्यादि चुपचाप प्रवेश कर प्राण विसर्जन कर रहे थे। नारियाँ चिता के समीप अपने पति देवों का अनुकरण करने के लिए खड़ी थीं !

भयंकर दृश्य देखते ही राजा घबड़ा गया। हट गया। उसे अपना मुख किसी को दिखाते लज्जा आती थी। वह कहीं चुपचाप छिप जाना चाहता था। किन्तु जैसे इस विश्व में उसे छिपने के लिए कोई स्थान नही रह गया था। वह मूर्छितावस्था में गवाक्ष के सोपानों में जैसे छिपने के लिए गिर पड़ा। कठोर पाषाण खण्ड उसके स्पर्श से जैसे और कठोर होकर उससे घृणा करने लगे। उसने चिता के समीप उठती किसी नागरिक की ऊँची ध्वनि सुना :

'घोर पातक, महान् अन्याय, इनका क्या प्रतिकार हो सकता है ? चाण्डाल ने राजा बनकर हम पर शासन किया है। वह चाण्डाल जिसने हमें धोखा दिया है, राजा बना बैठा है। उसे क्या कहा जाय ? वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण किया है। धर्म विरुद्ध आचरण किया है। राज्यप्रासाद में निवास किया है। अन्तःपुर में विलास किया है।

मर्यादाओं का अतिक्रमण किया है । चाण्डाल की मूर्धा पर अभिषिक्त जल पड़ा है ।

'ओह ! यह है हमारे पापों का फल । उसने हमें भ्रष्ट किया है । हमारे सदाचारों पर कुठाराघात किया है । हमारे धर्म का मूलोच्छेद किया है । नारियों का धर्म नष्ट किया है । इस राजा के राज्य में रहना, उसके सम्पर्क में रहना, कैसे उचित कहा जायेगा !'

'आह !' दूसरा नागरिक चिल्लाने लगा, 'प्रायश्चित्तों से हमारी शुद्धि नहीं हो सकती । चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हो गये हैं । अज्ञान के कारण हमें यह पश्चाताप करना पड़ रहा है । जिनके दोषों के कारण यह राजा हुआ है, हाय ! उनके कारण वे ब्राह्मण, वे मन्त्री, वे अमात्य अग्नि-प्रवेश कर रहे हैं । अन्तःपुरवासिनी सुन्दरियाँ उनका अनुकरण करने जा रही हैं । इस राजा का नाश होना आवश्यक है । इसके कारण हम चाण्डालत्व को प्राप्त हुए हैं । माताएँ, बहनें, हम सब अग्नि-स्नान कर पवित्र हो जायेंगे ।'

ब्राह्मणों तथा अन्य प्राणियों के चिता-प्रवेश, उनके जलते शरीर के मांस की गन्ध से समस्त नगर भर गया था । राजा की आँखों में चिता-धूम आकर लगने लगा । राजा कम्पित हो गया । भयग्रस्त हो गया । किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया । उसने अपने हाथों में अपना मुख तथा कान बन्द कर लिया ।

राजा वहाँ से भागा । वह उस भयंकर दृश्य को अधिक नहीं देख सका । अपने विश्राम-गृह में आया । शय्या पर गिर पड़ा । उसे चारों ओर से चिता की ज्वाला, चिता की व्योममाला उसका उपहास करती, उसे घेरे आ रही थीं । उसका दम घुटने लगा । उसकी आँखें लाल हो गयीं । वह विक्षिप्त की तरह शय्या से उठा ।

उसे कहीं विश्रान्ति, कहीं से शान्ति और समवेदना नहीं मिल रही थी । वह अपने शय्यागृह में घूमने लगा । उसने वहाँ पड़े उन राज-चिह्नों को, उन राज-आभूषणों को, जिनके अभाव में वह पहचान लिया गया था, देखा । उसने मुकुट उठाया । उसे उलट-पलट कर देखा ।

वह उन्हें फेंक देना चाहता था, दीवाल पर, छत पर पटक देना चाहता था। परन्तु उन्हें यथा स्थान धीरे से रख दिया। अलंकारों के पास बैठ गया। एक-एक को उठाता। उन्हें देखता। पुनः गम्भीर निश्वास के साथ उन्हें रख देता। अपनी स्थिति पर उसे दया आने लगी। अपने जीवन से उसे विरक्ति होने लगी।

उसने शयन-कक्ष का गवाक्ष खोल दिया। मानव-मांस, मज्जा, अस्थि को भूनती हुई अग्नि द्वारा उद्भूत व्योम-पुंज से शयनालय भर गया। वह उदास हुआ। अपने चारों ओर देखा। शय्या पर बैठ गया। मस्तक झुक गया। कुछ विचार करने लगा। अपने जानुओं पर दोनों हाथ रखता, जैसे शरीर की भारी गठरी उठाए, गम्भीर परिश्वास के साथ उठ गया।

वह दो बार शयनालय में इधर-से-उधर घूमा। चिता व्योम में किंचित विचलित हुआ। गवाक्ष के पास पुनः आया। प्रज्वलित चिता देखा। नागरिकों का विलाप सुना। अपने प्रति फैली भयंकर घृणा का अनुभव किया। वह चिता की ओर पीठ कर खड़ा हो गया। कुछ घबड़ाया। पुनः स्थिर चट्टान की तरह दीवाल से सटकर खड़ा हो गया। उसकी आँखें खुली थीं। उन बुझी आँखों में जैसे ज्योति शनैः शनैः प्रवेश करने लगी।

उसके मलिन मुखमण्डल पर कान्ति आने लगी। उसका मन स्थिर होने लगा। पदों में शक्ति ने प्रवेश किया। गवाक्ष के पास पुनः आया। चिता की ज्वाला देखा। आकाश में मध्याह्न का प्रचण्ड सूर्य तपता देखा।

वायु का एक झोंका आया। चिता-व्योम जैसे एक तरफ हो गयी। शुद्ध प्राण-वायु ने उसे जगा दिया। उसने सस्मित शयन-गृह में रखे राज-प्रसाधनों, राज-चिह्नों को देखा। एक बार कदली स्तम्भ के समान कम्पित हुआ। दूसरे क्षण वह शयन-कक्ष के बाहर दौड़ पड़ा।

राज-प्रासाद के एक के पश्चात् दूसरे द्वारों को राजा वेगपूर्वक पार करने लगा। किसी द्वारपाल ने उसका अभिवादन नहीं किया। किसी ने जयनाद

नहीं किया। सब उसे देखकर पीछे हटने लगे। उनके नेत्रों में जमती घृणा तथा उपेक्षा को राजा ने देखा। सबके मस्तक झुके थे। लोग अपनी आँखें राजा पर लगाने की अपेक्षा राज-प्रासाद के किसी शिलाखण्ड पर टिकाना अधिक श्रेयस्कर समझते थे।

चारों ओर उदासी, शोक, दुःख, क्षोभ व्याप्त था। राजा की आँखें यदि कभी इधर-उधर उठती थीं, तो वह उजड़े अन्तःपुर को, बिखरी वस्तुओं को देखता, और चारों ओर से उठती भयंकर भायँ-भायँ की ध्वनि का अनुभव करता था। वह घबड़ाया। केवल आगे दौड़ने लगा। अन्तिम द्वार पार कर प्रांगण में आया। वहाँ उसका स्वागत वृक्षों पर बैठे हुए गृद्धों ने, चीलों ने और भुने मांस-लोलुप श्वानों ने किया।

राजा सीधा दौड़ता चिता के पास पहुँचा। चिता धधक रही थी। उसे देखते ही लोग भागने लगे। राजा के पैरों में और शक्ति आ गयी। राजा पूर्ण वेग से दौड़ता चिता की प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ा, किसी समय का कीरदेश का अधिपति चाण्डाल राजा गवल।

:o: :o: :o:

'मैं जला! मैं जला!! मैं जला!!! बचाओ—।'

कहते-कहते नीलोत्पलपूर्ण, शीतल जलपूर्ण सरोवर से गाधि ब्राह्मण का मस्तक बाहर निकल आया। वह स्वप्न से जागृत व्यक्ति की तरह कह रहा था :

'मैं चाण्डाल! मैं राजा!!'

उसने अपने चारों ओर देखा। निर्मल आकाश, सुखप्रद सुरभित पवन प्रवाह, उत्फुल्ल कमलदल, शीतल सरोवर की किंचित लहरियाँ, उसकी मनःस्थिति में स्थिरता आ गयी। उसकी पूजन सामग्री यथापूर्व रखी थी। वह स्वप्न की छाया के साथ सरोवर से बाहर निकला। पूजन किया। उसने विचारशील मुद्रा में अपनी कुटी की तरफ प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

इस वसुधापीठ में कोशल नामक रत्नादिपूर्ण एक मण्डल है। उसमें गाधि ब्राह्मण की एक पर्णकुटी थी। वह अपने कुटुम्ब के साथ वहाँ रहता था। कुटी के समीप कमलदलपूर्ण सरोवर था। कुटी का स्थान फलयुक्त वृक्षों से भरा था। गाधि ने एक अभ्यागत की ध्वनि सुना। वह कुटी के बाहर निकल आया। उसने कुटी के द्वार पर देखा। एक अत्यन्त शिथिल दुर्बल ब्राह्मण ! उसने ब्राह्मण को प्रणाम कर पूछा :

'महात्मन् ! आज्ञा ?'

'मुझे भूख लगी है।' ब्राह्मण का शरीर क्षुधा से पीड़ित था।

'आइए ! यह कुटिया आपकी है।' गाधि ने प्रेमपूर्वक ब्राह्मण को सम्बोधित किया। उसे आदर के साथ कुटी के भीतर ले गया।

कुटी में गाधि ने ब्राह्मण का आसन, शीतल जल तथा स्वादिष्ट भोज्य-पदार्थों से स्वागत किया। ब्राह्मण के स्वस्थ होने पर गाधि ने जिज्ञासा किया :

'ब्राह्मण ! आपका शुभ स्थान जानने का अधिकारी हूँ ?'

'बहुत दूर से आ रहा हूँ।' ब्राह्मण ने कुटी द्वार से असीमित क्षितिज छोर तक देखने का प्रयास करते हुए कहा।

'आपका शुभ परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ? आपका शरीर अत्यन्त कृश है। आपने किसी व्रत द्वारा इस शरीर को कष्ट दिया है।'

'मैं प्रयाग से आ रहा हूँ। वहाँ चान्द्रायण व्रत किया था।'

'व्रत का क्या हेतु था ?'

'सुनो।' ब्राह्मण ने शान्तिपूर्वक कहना आरम्भ किया, 'मैं एक देश में गया था। उस देश का नाम कीर देश है। मैं वहाँ पहुँचा। देश राजाविहीन था। उजड़ गया था। मैं भूखा था। एक नागरिक के यहाँ भोजन किया। उस देश की दुर्दशा देखकर मैंने दुर्दशा का कारण पूछा। उसने कहा देश का राजा मर गया। उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। प्राचीन प्रथानुसार हाथी छोड़ा गया। एक चाण्डाल राजा बना। कालान्तर में राजा के चाण्डाल होने का भेद खुला। विषाद, परिताप और शोक

के कारण मन्त्री तथा उनकी स्त्रियाँ आदि भस्म हो गयीं। वह राजा भी चिता में भस्म हो गया। राजा के अभाव में उस देश की अधोगति हुई है। मैंने विचार किया। स्वयं मैंने बड़ा पाप किया। उस जनपद में भोजन किया। वहाँ का राजा चाण्डाल था। उस पाप के प्रायश्चित्त निमित्त प्रयाग में चान्द्रायण व्रत किया है। त्रिवेणी का स्नान किया है। भ्रमण करता यहाँ तक पहुँचा हूँ।'

'आश्चय !' गाधि चकित होकर बोला, 'मैंने भी इसी प्रकार का अनुभव किया।'

'यह कैसे ?' ब्राह्मण ने विस्मित होकर पूछा।

'ब्राह्मण !' गाधि बोला, 'मैं संसार का रहस्य जानने के लिए तपस्या करने लगा। मेरी तपस्या से प्रसन्न होकर एक दिन भगवान् प्रकट हुए। उन्होंने मुझसे वर माँगने के लिए कहा। मैंने निवेदन किया—आपकी माया देखना चाहता हूँ।' भगवान् ने सस्मित उत्तर दिया, 'तुम मेरा माया-भ्रम देखोगे।'

'ब्राह्मण !' गाधि ने कहा, 'मैं सर्वदा अपने इस सरोवर में स्नान करने जाता हूँ। वहाँ पर भगवान की पूजा नित्य कर्म के साथ करता हूँ। एक दिन सरोवर-जल में गोता लगाकर अघमर्षण मन्त्र मन-ही-मन पढ़ने लगा। मुझे विचित्र भ्रान्ति हुई। मैंने अनुभव किया कि मैं मर गया हूँ। कुटुम्बीगण अत्यन्त दुःखी हैं। मुझे जला दिया गया। किरात देश में एक चाण्डाल के घर जन्म हुआ। चाण्डाल-तुल्य पाला-पोसा गया। बड़ा हुआ। विवाह हुआ। सन्तानें हुईं। मेरा छोटा किन्तु सुखपूर्ण कुटुम्ब बन गया।'

'महात्मन् !' गाधि ने पुनः कहा। 'कालान्तर में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। मेरी स्त्री तथा सन्तानें दुर्भिक्ष के कारण मर गये। मैं अपने प्राण-रक्षा निमित्त कीर देश में पहुँचा। वहाँ हाथी ने मुझे उठाकर अपने गण्डस्थल पर रख लिया। मैं वहाँ का राजा हुआ। शेष वृत्तान्त आप जानते हैं।'

'आश्चर्य है !'

'किन्तु आपने अपनी आँखों कीर देश की यह दशा देखा है।'

'हाँ! मित्र। आप जाकर स्वयं देख सकते हैं।'

:o: :o: :o:

गाधि चाण्डाल जहाँ रहते थे, वहाँ गया। उसने देखा, ग्राम अकाल के कारण उजड़ गया है। जल में देखे गये स ी स्थान यथावत् हैं। जहाँ वह रहता था, जहाँ खाता था, जहाँ काम करता था, सब उसने पहचान लिया। यदि वहाँ कुछ नहीं था, तो वह स्वयं। उसने ग्रामीणों से पूछा :

'इस ग्राम में कोई चाण्डाल 'कटंज' रहता था। उसका वर्ण श्याम था। अपने कुटुम्ब के साथ रहता था। अकाल में कुटुम्बियों के मर जाने पर यहाँ से चला गया।'

'हाँ!' ग्रामवासियों ने कहा, 'हमें स्मरण है। यहाँ कटंज का कुटुम्ब रहता था। उसके कुटुम्ब का नाश हो गया। वह यहाँ से चला गया। कीर देश में राजा बना। जनपदवालों को जब मालूम हुआ कि वह चाण्डाल है, तो लोग चितागिन में जल मरे। आर्यों के संसर्ग में आर्य-भावापन्न होने के कारण उसने भी चिता में कूद कर प्राण विसर्जन कर दिया।'

'धन्यवाद।' गाधि ने चाण्डालों का नमस्कार किया।

चाण्डाल उसकी भावभंगी पर चकित हो गये। गाधि वहाँ से कीर देश पहुँचा। वहाँ उसने अपने अनुभव की सब बातें पायीं।

:o: :o: :o:

गाधि ने पुनः भगवान् की आराधना किया। भगवान् प्रकट हुए।

'गाधि!' भगवान् ने कहा, 'तुमने अपनी इच्छानुसार मेरी माया देखी। तपस्या का अब क्या प्रयोजन है?'

'भगवन्!' गाधि ने भगवान् के चरणों में मस्तक रखते हुए कहा, 'मैं मुहूर्त मात्र में जलीय स्वप्न-भ्रम तथा जाग्रत अवस्था दोनों में एक प्रकार का दृश्य तथा घटनावली कैसे देख रहा हूँ?'

'ब्रह्मन् !' भगवान् ने कहा, 'तुम्हारे चित्त का भ्रम था। तत्व ज्ञान के अभाव में तुम्हारे चित्त में भ्रम उत्पन्न हुआ है। वह सब माया थी। तुम्हारा मरना, चाण्डाल होना, राजा बनना, माया का प्रपंच था। मदिरापान करनेवाले को मदिरा पी लेने पर सब वस्तुएँ घूमती दिखाई पड़ती हैं। नाना प्रकार की भावनाएँ उठतीं और लोप होती हैं। इसी प्रकार स्वप्न में अनेक प्रकार के अनुभव तथा दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यह जगत् माया-स्वरूप है। भ्रम के कारण तुम जैसा देखते हो, दिखाई पड़ता है। उठो, अपना नित्य कर्म करो।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये। गाधि को उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। पुनः कठिन तपस्या करने लगा।

:o: :o: :o:

'गाधि !' भगवान् प्रकट होकर बोले, 'अब तुम क्या चाहते हो ?'

'भगवन् ! आपने कहा सब भ्रम है। मैंने सब स्थानों पर अपनी आँखों देखा कि स्वप्न की बातें पूर्णतया सत्य थीं।'

'गाधि !' भगवान् ने कहा, 'ध्यानपूर्वक सुनो। तुम्हें यह भ्रम किस प्रकार हुआ। कटंज ने वास्तव में एक चाण्डाल के घर में जन्म लिया था। उसकी जीवन-घटनाएँ जैसा तुमने देखा है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष घटी हैं। उसकी जो अवस्था हुई थी, वही सब तुममें प्रतिभा-स्वरूप स्फुरित हुआ। तुमने भ्रान्तिवश समझ लिया कि वह सब घटना तुम पर घट रही है। तुम स्वयं चाण्डाल हो।'

'साधो !' भगवान् ने पुनः कहा, 'कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी का अनुभव किसी दूसरे के चित्त में स्फुरित होता है। स्फुरण का अन्त माया की तरह नहीं है। किन्तु जिस समय मनुष्य आत्मपद में स्थिर होता है। उस समय स्फुरण स्वयं बन्द हो जाता है।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये। गाधि की शंका का तिरोधान नहीं हुआ। वह पुनः उन स्थानों में घूमने लगा। उसे जल-स्वप्न की सब बातें सत्य दिखाई पड़ती थीं। भगवान के साक्षात्कार लिये पुनः तप करने लगा।

:o: :o: :o:

'गाधि !' भगवान् ने प्रकट होकर सम्बोधन किया।

'भगवन् !' गाधि ने भगवानके चरणोंकी पूजा करते हुए कहा, 'मेरी शंका का अभी समाधान नहीं हुआ है।'

'ब्रह्मन् !' भगवान् ने कहा, 'यह जगत् माया मात्र है। यह सब हमारी माया है। चाण्डाल की अवस्था तुम्हारे चित्त में प्रतिभासित हुई थी। उसकी प्रतिभा तुममें उत्पन्न हो गयी थी। जो नहीं भोगा जाता उसका भी अनुभव होता है। त्रिकालज्ञको भविष्य की घटनाएँ वर्तमान में मालूम हो जाती हैं। स्वप्न में अनुभूत कष्ट जाग्रत अवस्था में लोप हो जाता है। जाग्रत अवस्था का कष्ट गहरे स्वप्न-काल में लोप होता है। तुम्हारा अनुभव इसी प्रकार का है। तुम्हारा चित्त स्थिर एवं शान्त नहीं हुआ। अतएव भ्रम तुम्हें सत्य प्रतीत होता है।'

'गाधि !' भगवान् ने पुनः कहा : 'अपनी आत्मा स्थिर होने पर इन शंकाओं का समाधान तुम्हारे पुरुषार्थ द्वारा, आत्मदर्शन द्वारा स्वयं हो जायेगा।'

योग वासिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग ४४–४६

निम्नलिखित स्थानों पर गाधि का उल्लेख मिलता है। परन्तु उसमें गाधि को कुशना का पुत्र तथा विश्वामित्र का पिता कहा गया है। योग-वासिष्ठ का गाधि भिन्न व्यक्ति है।

महाभारत :

आदि पर्व : ७४ : ६९
१७४ : ३
वन पर्व : ११५ : २८
शान्ति पर्व : ४६ : ७
४९ : १३
अनुशासन पर्व : ४ : ६–२०
शल्य पर्व : ४० : १६

पुराण :

भागवत : ९ : १५ : ४
१६ : २८

भगवान् अन्तर्धान हो गये। गाधि आत्म-दर्शन निमित्त समाधि पर बैठ गया।

विष्णु : ४ : ७ : ४-५
हरिवंश : १ : २७
वायु : ९१ : ६३ : ६५
वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड—सर्ग : ३५, ५१, ५२, ५५, ५६
यह कहना कठिन है कि योग-वासिष्ठकार वर्णित गाधि वाल्मीकि रामायण वर्णित गाधि हैं।

उद्दालक

उद्दालक अभी युवा नहीं था। ब्राह्मण था। उसमें शुभेच्छा थी। भस्म में छिपी अग्नि की तरह उसमें तप भावना थी। जीवन के उषा-काल से वह यम-नियम का पालन करता था। अपने शरीर को नियंत्रित कर रहा था।

गन्धमादन पर्वत के अनिल दिशा के भूखण्ड पर एक वनस्थली है। उस भूभाग के किसी एक शिखर पर उद्दालक मुनि निवास करते थे। वह मौनी थे।

वे एक दिन विचार करने लगे—यह संसार नश्वर है। उसे प्राप्त करना चाहिए, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कुछ और पाना शेष नहीं रहता। उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए। मैं इस प्रकार की अवस्था कब प्राप्त करूँगा? मन के मनन-भाव को त्याग कर, कब विश्रान्ति प्राप्त करूँगा? दृश्य-वासना कब मिटेगी? संकल्प-विकल्पों को त्यागती हुई शान्ति कब मुझे दर्शन देगी? तृष्णा नदी को कब सत्संग, ज्ञान तथा शास्त्र रूपी नावों की सहायता से पार करूँगा? मदमत्त हाथी-रूपी अभिमान को, कब विवेक अंकुश द्वारा नियन्त्रित करूँगा? अज्ञानान्धकार में उषा की रश्मियाँ कब प्रवेश करेंगी? अकर्ता कब हूँगा? कमल-पत्र के समान मेरे कर्म कब अलिप्त होंगे? अपनी आत्मा का दर्शन कर, कब मैं अपने मिथ्याभ्रम तथा असत्य भावनापर हसूँगा? सन्तोषकी झाँकी मुझे कब मिलेगी?वह समय कब उपस्थित होगा, जब चित्त मेघदल वासना वायु का साथ त्याग कर, आत्मा सुमेरु में स्थित हो जायगा? मैं अपनी मनक्रिया और वृत्तियों को कब देखकर उनका परिहास करूँगा? उस समय का कब उदय होगा, जब जगत्-कर्मों को बालकवत् चेष्टा समझ कर मिथ्या जानूँगा? वह समय कब आएगा, जब निष्ट तथा अनिष्ट द्वारा चंचल न होकर, विराट स्वरूप प्राप्त करूँगा? मेरा सम-असम रूप कब समाप्त होगा? कब उपशम और चेतना प्राप्त कर इस शरीर को अशरीरवत् देखूँगा? कब सब कल्पनाओं

का अंत होकर एक मात्र चिन्मात्र की सत्ता शेष रह जायगी ? ग्रहण-त्याग से रहित मैं कब अपने प्रकाश द्वारा स्वयं प्रकाशित होता हुआ, जरा-मरण से मुक्ति पाऊँगा ?

उद्दालक चित्त के निरोध निमित्त प्रयास करने लगा। चंचल चित्त कभी एकाग्र नहीं होता था। उसे समाधि सुख नहीं प्राप्त हो सका। अतएव वह व्याकुल चित्त सुमेरु पर्वत पर घूमने लगा। समस्त भूतों से दुष्प्राप्य एक कन्दरा के सम्मुख पहुँचा। स्थान रम्य था। नीरव था। प्रकृति ने स्थान को अपने चतुर हाथों से कलापूर्ण ढंग से सजाया था। वहाँ वायु द्वारा किसी प्रकार का विक्षेप नहीं होता था। पशु-पक्षी नहीं पहुँच सकते थे। देवता तथा गन्धर्वों को उस कन्दरा का दर्शन नहीं मिला था।

कन्दरा परमाकाश तुल्य शोभायमान थी। पुष्प राशि से चारों ओर आच्छन्न थी। मृदु हरित दूर्वा से ढँकी थी। कन्दरा के द्वार पर स्निग्ध शीतल छाया थी। रत्न दीपकों से वह प्रकाशित थी। वनदेवियों के अन्तःपुर की कुटी के समान गुप्त थी। शरद ऋतु के अरुण-सूर्य-रश्मियों के समान वह न तो उष्ण थी और न शीतल। कन्दरा बाल आलोक द्वारा परिम्लान थी। मरुत् का कोमल शब्द उसमें होता था। मंजरियों के भार से नत वृक्षों द्वारा वह युक्त थी। उद्दालक ने उस पवित्र कन्दरा में प्रवेश किया।

उद्दालक ने अम्लान पल्लवों द्वारा कोमल आसन बनाया। उस पर मृग-चर्म बिछाया। तदनन्तर उन्होंने बृद्धवत् सुदृढ़ पद्मासन लगाया। अण्डकोशों को एड़ियों से दबाकर आदि गुरु ब्रह्मा को प्रणामाँजलि दिया। वासनाओं को हटाकर निर्विकल्प समाधि का विचार किया। उन्होंने विचार करना आरम्भ किया :

'हे मूर्ख मन ! तू कहाँ जाना चाहता है ? यह जगत् मनोहर माया-जाल है। उस जाल में भोग-स्वरूप हरित तृण तुझे लुभाकर फँसाने के लिए बिछाये गये हैं। इस भोगों ने जगत् में क्या तुम्हारे अथक परिश्रम तथा मानवीय पुरुषार्थ पर दया कर तुम्हें शान्त किया है ?

'मूर्ख-मन ! तू उपशम को त्याग कर वासना मरीचिका की तरफ दौड़ रहा है। अमृत त्यागकर विषपान कर रहा है। कुसवारी के नीड़ की तरह तू स्वयं अपने संकल्पों का सुन्दर प्रासाद बनाकर उसमें बन्दी बनने की चेष्टा करता है। तेरी जिह्वा से गो-वाणी मुखरित होती है, उसका महत्व दादुर के शब्द-जालों की तरह व्यर्थ है। शुभ-अशुभ शब्दों को सुनकर उनसे आकर्षित होकर, मृग के समान क्यों फँसना चाहता है। त्वचा-स्पर्श सुख का हाथी, रसना स्वाद का मत्स्य, गन्ध इच्छा के भँवर, कामिनी कामना के फतिंगों की तरह तू जल मरेगा।

'मन ! तू पंचइन्द्रियों का सेवक है। जड़ की सेवा कर क्या इस विश्व में किसी ने वाञ्छित फल पाया है ? इन इच्छाओं के त्यागने पर शान्ति तुझे अपने अंकों में लेगी। सन्तोष तुम्हें शीतलता प्रदान करेगा और सत्य तुम्हें प्रकाशित करेगा।

'ओ मूर्ख !' उद्दालक ने अपने मन से कहा, 'तू मैं-मैं करता है। यह तेरा 'मैं' क्या है ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रागद्वेष से तू क्यों जल रहा है ?

'हे मन ! इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। तू क्यों उसमें व्यर्थ अहंकार करता है ? तुम्हें उनमें क्यों वासना तथा अभिमान होता है ? इन्द्रियाँ स्वार्थी हैं। वे केवल अपने गुणों को ग्रहण करती हैं। कान देखता नहीं। आँखें सुनती नहीं। वे न तो अपना धर्म-कर्म किसी को देती हैं और न किसी का लेती हैं। वे अपने धर्म में अनन्तकाल से स्थित हैं। तू अपने धर्म का नाश उनके संयोग से क्यों करता है ? तू उनका धर्म अपना धर्म मान कर, क्यों रागद्वेष की धधकती ज्वाला का आलिंगन करता है ?

'मन ! तू मेरा मित्र नहीं होकर, शत्रुवत् आचरण करने लगा है। इस मित्रता से क्या लाभ ? मैं तुम्हारा त्याग करूँगा। तुमने मेरा नाश किया है। तुमसे मिलकर मैं तुच्छ न हुआ भी तुच्छ हो गया हूँ। इस शरीर में अहं करनेवाला मैं नहीं हूँ। तुम हो, मैंने तुम्हारे रूप का दर्शन किया है। मैं तुम्हें पकड़ सकने में समर्थ हूँगा। तुमने मेरा ज्ञान, मेरी

सात्विक वृत्तियाँ, मेरा सत्य चुराया है। मैं अपने इन धनों की चोरी से दीन हो गया था। मैं उन्मत्त हो गया था। मैं अनजाने भटक रहा था। तुझ चोर को मैं पकड़ूँगा। तुम मुझसे बच नहीं सकते। तूने मुझे दुःख दिया है। तू अपनी दुःखदायिनी, भ्रमदायिनी प्रवृत्ति का स्वयं नाश नहीं करेगा। तेरा नाश श्रेयस्कर है। मैं तेरा नाश करूँगा।

'मूर्ख ! तेरे कारण मेरी कान्ति मलिन हो गयी है। तेरे कारण मैं पतित हुआ हूँ। तेरे कारण आत्मपद से गिरा हूँ। तू मुझे सर्वदा आत्मविमुख करता रहा है। मुझमें वह चंचलता उत्पन्न करता रहा है, जिसके कारण मैं स्वयं चंचल होकर इस चंचल जगत् में अपने स्वरूप को भूल जाता था। तू ने विकारों को एकत्र किया है। तू ने मिथ्या राग-द्वेष का सृजन किया है। अतएव तू इन्द्रियों के साथ नाश हो जा।

'मैं सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्थूल-से-स्थूल, शुद्ध, निर्विकार, शान्त-स्वरूप, चैतन्य, चिन्मात्र हूँ। भ्रामक विचार केवल कल्पना की कृतियाँ है। आत्मा का जन्म नहीं होता। उसकी मृत्यु नहीं होती। रूप और आकार का अभाव मृत्यु है। किन्तु आत्मा रूपरहित है। अतएव, उसका जन्म-मृत्यु कैसा ? पंचतत्व द्वारा उद्भूत देह मरता है। उसका रूप बदल जाता है। माता के कोख में नवीन रूप उत्पन्न होने का नाम जन्म है। मैं देह हूँ। यह अज्ञानजनित अहंभाव हमारी दुर्दशाओं का कारण है। इसका नाश आत्म-दर्शन से, आत्मभाव चिन्तन से, प्रीति एवं वैराग्यरहित होकर एवं हेय तथा उपादेय भाव की क्षीणता से करूँगा। विचार सूर्य के उदय होने पर तुषार-रूपी अहं-भावनायें आप-से-आप नाश हो जायेंगी।'

उद्दालक विचार करता हुआ दृढ़ आसन लगाकर बैठ गया। प्राणायाम का आश्रय लिया।'ॐ'कार की कुछ ध्वनि के साथ रेचक प्राणायाम किया। रेचक प्राणायाम द्वारा अन्तरस्थ प्राणवायु वाह्यमुख हुआ। प्राणवायु के पूर्ण रेचक होने पर हृदय शुद्ध तथा शून्य हो गया। देहाभिमान रहित पुर्यष्टक सुषुम्ना की ओर चला। पक्षी जिस प्रकार अपने नीड़ों को त्याग कर आकाश की ओर उड़ते हैं, उसी प्रकार उद्दालक ने ब्रह्मरन्ध्र में पुर्यष्टक को स्थिर किया। शरीर में शिथिलता आने लगी। पुर्यष्टक ब्रह्मरन्ध्र त्यागकर अपने पूर्व स्थान की ओर नीचे चला।

उद्दालक ने 'उ' कार ध्वनि के साथ कुम्भक प्राणायाम किया। सुखमय मुद्रा में प्राणवायु को रोके रहा। शिथिलता आने पर इस प्राण-वायु का त्याग कर दिया।

उसने 'म' कार ध्वनि के साथ पूरक प्राणायाम किया। सब स्थानों में वायु पूर्ण होकर चित्त उर्ध्व की ओर चला।

इन्द्रियों की वृत्तियों को रोका। स्वयं में स्थित होने का प्रयास करने लगा।

प्रणव की अर्ध-मात्रा-स्वरूप तुरीयावस्था प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। उसके लोचन अर्ध-प्रस्फुटित थे। उसने वाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का त्याग किया। प्राण अपान को मूलाधार चक्र में स्थिर कर शरीर की इन्द्रियों के नवों द्वारों को शान्त किया। चंचल मन-मृग को अपने वैराग्य तथा अभ्यास से स्थिर किया। चित्त स्थिर हो जाने पर उसने अपने अंतःकरण की सात्विक वृत्तियों का भी त्याग किया। उस समय तामस, राजस तथा सात्विक विचारों की तरंगे पुनः उठीं। वे लहरें आत्म विवेक द्वारा तिरोहित हो गयीं। चित्त-वृत्ति का साक्षात्कार मुहूर्त्त मात्र के लिए हुआ होगा कि चित्त-वृत्तियाँ जैसे नदी का वेग बाँध तोड़कर उमड़ पड़ता है, उसी प्रकार यह स्थिति त्यागकर बाहर की तरफ दौड़ पड़ा।

योग-वासिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग ५१–५६
बृहदारण्यक उपनिषद : ३ : ५ : १
३ : ७ : १–६
३ : ७ : ३१
६ : ५ : ३
४ : ३३
६ : २ : १
६ : १ : १
६ : ३ : १५
६ : ४ : ३०

किन्तु उद्दालक घबड़ाया नहीं । अभ्यास का अवलम्बन लेकर निरन्तर बढ़ता गया। फलस्वरूप उसने आत्मदर्शन किया। उस दर्शन में केवल आनन्द ही आनन्द था। वह आनन्द वर्णनातीत है। वह केवल अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

उद्दालक की सिद्धता देखकर गन्धर्वादि ने नाना प्रकार के प्रलोभनों का जाल उसके सम्मुख बिछा दिया। उद्दालक ने उन पर क्रोध नहीं किया। उन्हें नमस्कार किया। संसार की वस्तुएँ उद्दालक के मन को पुनः आकर्षित नहीं कर सकीं। वह परमपद में स्थिर होकर, जगत् का व्यवहारिक व्यवहार करता रहा। सुमेरु पर्वत पर सत्ता सामान्य में स्थिर होकर, विचरण करने लगा।

ऐतरेय ब्राह्मण : ८ : ७

महाभारत :

आदिपर्व : ५३ : ७

सभापर्व : ७ : १२

वनपर्व : १३२ : १-६

शल्यपर्व : ३८ : २२-२५

शान्तिपर्व ५७ : १०

शतपथ ब्राह्मण : ११ : ४ : १ : २

११ : ५ : ३ : २

ऐतरेय ब्राह्मण : ८ : ७

कौशीतकी ब्राह्मण : २६ : ४

षड्विंश ब्राह्मण : १ : ६

तैत्तरीय ब्राह्मण : ३ : २ : ८ : १

काठक संहिता : ७ : १

तैत्तरीय संहिता : ७ : २

२ : १

कौशीतकी उपनिषद : १ : १

उद्दालक सत्ता सामान्य में लय हो गया। चित्त के आत्म सत्ता में लीन होने पर इन्द्रियों का प्रपंच शान्त हो गया। केवल ज्ञानमात्र रह गया। वाह्य एवं आन्तरिक व्यवधानों का, भाव-अभाव का, सुषुप्ति का, जागृति का, समाधि आदि सबका एकाकार हो गया। विदेह हो गया। उसे तुरीयातीत स्थिति प्राप्त हुई। वह जीवनमुक्त-तुल्य जीवन व्यतीत करने लगा।

छान्दोग उपनिषद : ३ : ११ : ४
५ : ३ : १
५ : ११ : २२ : ११
२ : २ : १ : ३४
३ : ३ : ४ : १९
४ : ४ : ८ : ६
५ : ५ : ५ : १४
६ : ८ : १
१७ : १
११ : २ : ६ : १२

बौद्ध ग्रन्थ—

उद्दालक जातक में एक उद्दालक का उल्लेख आता है। उन्हें बोधिसत्व का पुत्र कहा गया है। भरहुत के स्तूप पर कनिंघम के मतानुसार उद्दालक की मूर्ति उत्कीर्ण है।

वीतराग

सुरम्य कानन था। निर्जन था। सरिता थी। सरिता पर एक कुटी थी। कुटी के सम्मुख कुशासन था। कुशासन पर आसीन था एक तपस्वी।

तपस्वी का नाम था वीतराग। कुटी का एकांतवासी था। कुटी उसका आश्रय थी। तरु दल साथी थे। सरिता उसे जल देती थी। वृक्ष फल देते थे। लताएँ पुष्प देती थीं।

नव-पल्लव पात्र बनते थे। लौकी ने कमण्डल का रूप धारण किया था। सूखे पत्र एकत्रित हो गये थे। उसकी शय्या बनाने के लिए।

प्रकृति अपनी सुन्दरता वहाँ बटोरे थी। वन घना था। बीहड़ था। पशु-पक्षी जाते घबड़ाते थे। उसकी झाँकी मृत्यु की झाँकी थी। मध्याह्न में सूर्य अपनी चरम सीमा का अतिक्रमण करता। प्रकाश की हल्की किरणें कठिनता से भूमि चुम्बन कर सकतीं।

तपस्वी आत्मदर्शन में रत था। वहाँ की निर्जनता, वहाँ की गम्भीरता, वहाँ की भयंकरता, रात्रि में भयंकर पशुओं का गर्जन किंचित् मात्र उसे विचलित नहीं कर सके थे।

वह निर्भीक था। मृत्यु-दर्शन में उसे प्रसन्नता होती थी। मृत्यु के पीछे वह हाथ धोकर पड़ा था। मृत्यु उससे भागती फिरती थी।

उसकी आवश्यकता दो कमण्डल जल और कभी-कभी कुछ फलों तक सीमित रह गयी थी। उसे अपने साथी शरीर को चलाना था। शरीर उसका साथ नहीं छोड़ता था। शरीर को वह उपेक्षा-दृष्टि से नहीं देखता था। उसके लिए हर्ष एवं विषाद नहीं थे।

हिंस्र पशु उसके समीप आते थे। वह भी अनायास उनके पास चला जाता था। उसे किंचित् सन्देह, चिंता, भय एवं क्रोध नहीं होता था। वह हिंस्र पशुओं को अत्यन्त क्रोधित देखकर मुसकुराता। वह उनकी ओर एकटक देखता। उनके अन्तस्थल में प्रवेश करता। उनकी आत्मा का साक्षात्कार करता। बातचीत करता। वह अपने अन्तस्थ में पशुकाया में बैठी आत्मा को देखकर कुछ समझने का प्रयत्न करता।

पादपों में, वल्लरियों में, पल्लव में, पाषाणों में एवं अणु-अणु में, वह एकरूप देखकर झूम उठता था। न जाने किस अनिर्वचनीय आनन्द में मग्न रहता। उसे यहाँ तक ज्ञान न रहता कि कब रात आयी और बीती।

कुटी के बाहर वह बैठा रहता। मूसलाधार वर्षा होती। उस पर जैसे कुछ प्रभाव न पड़ता। वह शान्त निर्विकार एकरूप बैठा रहता। इसी प्रकार ज्येष्ठ के भयंकर मध्याह्न के आतप एवं माघ के कठोर शीत काल में बाहर एकरूप बैठा झूमता रहता था।

प्रतीत होता था। उसे इस संसार की, शरीर की, कुटिया की अथवा किसी वस्तु की चिन्ता न थी। चिन्ता उसे स्पर्श तक नहीं कर सकी थी। उसके समीप चिन्ता की, विकार की गन्ध तक नहीं पहुँच सकी थी।

एक दिन—वह अपनी कुटी के सम्मुख समाधिस्थ बैठा था। कमल-लोचन अर्ध-प्रस्फुटित थे। पद्मासन लगा था। अपनी इस मुद्रा में न जाने कितने समय से बैठा था।

वन पशु निकट आकर सहम गया। वह वीतराग की ओर एकटक देखने लगा। वह आगे बढ़ता। पीछे हटता। फिर रुकता। वहाँ से चला जाना चाहता था। किन्तु उसकी अँतड़ियाँ भूख से जैसे टूटी जा रही थीं। भूख ने उसकी बुरी अवस्था कर दी थी। उसने अपने समस्त साहस को एकत्रित किया। वीतराग के समीप आया। वीतराग के शरीर को सूँघा। कुछ समय उनके पास खड़ा झूमता रहा।

अचानक उसने वीतराग का बाहु मुख से पकड़ लिया। उसका दाँत वीतराग के बाहु में धँस गया। उसने झटका दिया। वीतराग का बाहु शरीर से अलग हो गया। काया हिली। किन्तु, झुकते वृक्ष के समान पुनः अपने स्थान पर स्थिर हो गयी। हिंस्र पशु बाहु को लेकर भागा। मानो निधि पा गया था।

वीतराग का आसन रक्त से भींग गया। बाहु-मूल से रक्त गिर रहा था। वीतराग की मुद्रा में किंचित्मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। अर्ध-प्रस्फुटित नेत्र अपनी पूर्व स्थिति में स्थिर थे। मुख पर दुःख की हलकी छाया तक

नहीं झलकी। मन स्थिर था। उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ। वह अपने स्वरूप में पूर्ववत् स्थिर था।

समाधि खुली। वीतराग ने अपनी अवस्था देखी। बाहुमूल से रक्त बहता-बहता सूख गया था। आसन एवं कटिप्रदेश से रक्त भरकर शुष्क हो गया था। वह अनायास मुसकुरा उठा। कमण्डल उठाते हुए कहा :

'काया ! शायद तुम्हें कष्ट हुआ होगा ? चलो तुम्हें सरिता-जल से धो डालूँ। मैं क्या जानता था कि तुम पर यह बीतेगा ? तुम्हारा नाश होना था। अच्छा हुआ उसका आरम्भ हो गया।'

वीतराग श्रोतस्विनी की ओर अविचल, शान्त भाव से नित्य की भाँति चल पड़े।

सुरघु

हिमालय में कैलास पर्वत है। उत्तर दिशा का सार है। भूमि से उद्भूत कर्पूरपिण्ड है। शिव का हास्य है। शशि की शीतल सरवरी है। हिमालय के शृङ्ग-शिखरों की माला का सुमेरु है। भगवान् विष्णु के क्षीर सागर, इन्द्र के स्वर्ग, ब्रह्मा के आश्रम, विष्णु के नाभिकमल-तुल्य शिव का उज्ज्वल निवास स्थान है।

कैलास के मूल प्रदेश में हेमजट जाति के लोग, वट वृक्ष के आश्रय में रहनेवाली चीटियों की तरह रहते थे। उदार चेता सुरघु उन किरातों का राजा था।

राजा सुरघु, वृहस्पति के समान विद्वान् था। शुक्राचार्य के सदृश्य कवि था। कुबेर के समान धनी था। उसका जीवन प्रजा सुख के लिए अर्पित था।

अकस्मात एक दिन राजा सुरघु विचार करने लगा। प्रजा को वह क्यों दण्ड देता है ? ताड़ना द्वारा यदि मुझे दुःख होता है, तो प्रजा को भी ताड़ना द्वारा दुःख होना स्वाभाविक है। राजदण्ड का क्या प्रयोजन है ? उसने सबको स्वच्छन्द करने का निश्चय कर लिया।

राजा अपने विचारों में तल्लीन था। उसी समय वहाँ माण्डव्य ऋषि का शुभागमन हुआ। राजा ने मुनि का पाद्य, अर्घ, आसन द्वारा पूजा किया। सत्कार किया। यथोचित सत्कार प्राप्त कर मुनि ने विश्रान्ति लाभ किया। मुनि के स्वस्थ हो जाने पर राजा ने शिष्यभाव से पूछा :

'मुनिपुंगव ! प्रजा के प्रति अपने निग्रह तथा अनुग्रहजनित चिन्ताओं से व्याकुल हो गया हूँ। मैं सर्वत्र समता का व्यवहार किस प्रकार कर सकूँगा, यह जानने की कामना है।'

'भूपते !' माण्डव्य मुनि ने उतर दिया, 'आपकी वेदना का मैं अनुभव कर रहा हूँ। आपमें जिस समय आत्मानुभूति, निष्काम भाव उत्पन्न होगा, उस समय आपकी मनोवेदना का अवसान होगा।'

'भगवन् !' सुरघु ने करबद्ध निवेदन किया, 'यही जानने की जिज्ञासा है।'

'राजन् !' माण्डव्य बोले, 'विचार, सम, सन्तोष एवं सतसंग से मुक्ति-द्वार अनावृत हो सकता है। मुक्ति पश्चात् तुम्हें परम शान्ति का अनुभव होगा।'

किरातराज सुरघु माण्डव्य मुनि की बातें ध्यानपूर्वक सुनने लगे। माण्डव्य ने कहा :

'नृपवर ! विवेक तथा विचार के प्रकाश में तुम्हें आत्म-प्रकाश का निर्मल प्रकाश मिलेगा। उस प्रकाश में आपको संसार का भौतिक प्रकाश तुच्छ प्रतीत होगा।'

सुरघु गम्भीर हो गये। माण्डव्य ने कहा :

'भूपति ! गोपद-जल में हाथी नहीं डूबता। राग-द्वेष सागर तुम्हें डुबा नहीं सकेंगे। सत्य को स्वीकार तथा असत्य का त्याग करो। जब तक आत्म-विचार का अस्तित्व रहता है, तब तक कर्म रहता है। आत्म-दर्शन के पश्चात् विचार का कार्य समाप्त हो जाता है। स्थूल दृश्य भाव का त्यागकर, सब जगह, सबमें, सब समय और सब प्रकार में आत्मभाव का अनुभव करो।'

'भगवन् !' किरात राजा सुरघु ने पूछा, 'आत्मा क्या है ?'

'राजन् !' माण्डव्य बोले, 'दृश्यभाव के नष्ट हो जाने पर जो शेष रह जाता है, वही आत्मा है।'

'मुनिवर ! उस आत्मा का दर्शन कैसे होगा ?' सुरघु ने मुनि के मुख-मण्डल पर अपनी दृष्टि स्थिर करते हुए पूछा।

'भूपेन्द्र !' माण्डव्य ने उत्तर दिया, 'किसी प्रयोजन किंवा किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु, चारों ओर से ध्यान हटाकर लक्ष्य वस्तु के लाभार्थ समस्त शक्तियाँ लगानी पड़ती हैं। आत्मदर्शन लाभार्थ चारों तरफ से चित्त को खींचकर केन्द्रस्थ करो। उस शक्ति को आत्म प्राप्ति तथा दर्शन के लिये लगा दो। इस प्रकार सबका त्याग कर, जो शेष रह जाता है, वही आत्मा है।'

'महात्मन् ! राजा ने पूछा : 'इसकी प्राप्ति कैसे होगी ?'

'राजेन्द्र !' माण्डव्य ने कहा, 'साधारण बात है। तुम स्वयं प्रश्न करो। तुम कौन हो ? यह जगत क्या है ? इसका रूप क्या है ? इसका प्रयोजन क्या है ? यह कैसे उत्पन्न हुआ है ? इसका कैसे विनाश होगा ? जन्म क्या है ? मृत्यु क्या है ? इस प्रकार स्वयं प्रश्न करते हुए, स्वयं अपने विवेक का आश्रय ग्रहण करो। तुम्हारा विवेक तुम्हें स्वयं उत्तर देगा। प्रश्न करने वाले तुम हो। उत्तर देने वाले तुम हो। प्रश्नोत्तर के निष्कर्ष पर पहुँच कर निर्णय देने वाले तुम हो। इनका जिस समय एकाकार हो जाता है, उस समय तुम देखोगे, अनुभव करोगे, आत्मतत्व क्या है ?'

सुरघु विचार मग्न होने लगा। माण्डव्य ने आसन से उठते हुए कहा :

'राजन् ! प्रस्थान करता हूँ। आश्रम में पहुँचना है।'

:०: :०: :०:

'न मैं हूँ। न मेरा राज्य है।' सुरघु विचार करने लगा, 'मेरा शरीर नहीं है। शरीर मैं नहीं हूँ। यह उन तत्वों से बना है, जो एक दिन मेरा साथ छोड़ देंगे। अपने मूल तत्वों में पुनः मिल जायेंगे।

'न मैं जगत् हूँ। और न जगत् मेरा है। न मैं पृथ्वी हूँ और न पृथ्वी मेरी है। न मैं किरातमण्डल हूँ और न किरातमण्डल मेरा है। न मैं स्थावर हूँ, न मैं जंगम हूँ। और न स्थावर जंगम मेरे हैं। न मैं जनपद हूँ। और न जनपद मेरा है। मैं जिन चीजों का अंश नहीं हूँ, वह मेरे कैसे होंगे ? जिस पर मेरा अधिकार नहीं है, वह मेरा कैसे होगा ? न मैं कर्मेन्द्रिय हूँ और न कर्मेन्द्रियाँ मेरी हैं। कर्मेन्द्रियाँ जड़ हैं। मैं चेतन हूँ। वह मेरी कैसे होंगी ? ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकारादि मैं नहीं हूँ। और न मेरे वे हैं। चेतन इनसे परे हैं। मैं चेतन नहीं हूँ। क्योंकि चेतन दृश्य को देखता है। न मैं दृश्य हूँ। न मैं द्रष्टा हूँ। न मैं दर्शन हूँ। न मैं क्रिया हूँ। न कर्म हूँ। और न कर्त्ता हूँ। इनसे परे चिन्मात्र सत्ता है, वही मैं हूँ। अतएव, मैं किससे राग करूँ ? किससे द्वेष करूँ ? किसके लिए शोक करूँ ? किसके लिए दुःख करूँ ? किसके लिए प्रसन्न होऊँ ? और किसके लिए आनन्द मनाऊँ ? एतदर्थ मैं स्वयं अपने-आपको प्रणाम करता हूँ।'

:०: :०: :०:

राजा सुरघु ने विवेक द्वारा अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया। अभ्यास द्वारा आत्मदर्शी हो गया। राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, इच्छा-अनिच्छा, ताप-परिताप, भाव-अभाव आकांक्षाओं से रहित, राज्य करने लगा। उसकी अवस्था सुषुप्ति की हो गयी। संसार-कल्पना उसके सम तथा सन्तोष में विलीन हो गयी।

वह वायु रहित शुद्ध दीपशिखा-तुल्य स्वयं अपने प्रकाश में प्रकाशित हो गया। उसकी दृष्टि में दया तथा निर्दयता दोनों एकभाव हो गये। वह पूर्णिमा के शशि सदृश्य शीतल हो गया। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, मान, अपमानादि भावनाओं से दूर हो गया। राज-कर्म में उसकी क्रियाएँ निर्लिप्त हो गयीं। जीवन-मुक्त के समान आचरण करने लगा। देहभाव त्याग कर आत्म-स्वरूप हो गया।

:o: :o: :o:

पारसी राजा पर्णाद किंवा परिघ था। वह राजर्षि था। वह अपनी शूरता के लिए, वीरता के लिए विख्यात था। एक समय उसके राज्य में भयंकर अनावृष्टि हुई। क्षुधा पीड़ित जनता का मृत्युमुख में संहार होने लगा।

परिघ का इसमें कोई दोष नहीं था। परिघ ने इसे अपने पापों का फल समझा। उसका मन विषाद से आर्त्त हो गया। प्रजा की रक्षा निमित्त उसने अनेक उपाय किये। सभी विफल होते गये।

पारसी राजा परिघ ने फारस किंवा ईरान का राज्य त्याग दिया। विरक्त राजा ने मृगचर्म धारण किया। विपिन में चला गया। पौरजनों से अति दूर कानन में निवास स्थान बनाया। पर्वत-कन्दरा में रहने लगा। तदनन्तर उसने कुटी का भी त्याग कर दिया था। जीर्ण-शीर्ण शुष्क पत्तों का आश्रय लिया। पर्ण खाकर जीवनयापन करने लगा। अतएव राजा परिघने का तपस्वियों ने 'पर्णाद' नामकरण किया। कालान्तर में राजा परिघ ने आत्मज्ञान प्राप्त किया।

राजा परिघ, राजा सुरघु का मित्र था। दोनों पूर्व परिचित थे। उसने राजा सुरघु के प्रबुद्ध होने का समाचार सुना। सुरघु के दर्शनार्थ गिरिकन्दरा से प्रस्थान किया।

:o: :o: :o:

'महाराज !' प्रतिहारी ने प्रवेश कर अभिवादन किया : 'पारसी देशाधिपति महाराज परिघ दर्शनकांक्षी हैं।'

'परिघ !' राजा सुरघु ने सुनते ही आसन त्याग दिया।

'राजन्।' प्रतिहारी का मस्तक झुक गया।

राजा सुरघु स्वयं अपने मित्र के अभ्यार्थनार्थ बाहर चल पड़े। सुरघु ने देखा, एक तपस्वी। पहचान लिया।

'राजन ! यह वेश !' सुरघु ने राजा परिघ का विरक्त तपस्वियों का वेश देखा। साश्चर्य जिज्ञासा किया।

परिघ के मुख मण्डल पर हलकी मुसकान छिटक गयी। कुछ उत्तर नहीं दिया। शान्त खड़े रह गये।

'मित्र ! स्वागत है। पधारिए।'

राजा सुरघु ने परिघ का सस्नेह हाथ पकड़ लिया। उन्हें लेकर राज्य-प्रासाद में पहुँचे। स्वस्थ होने पर दोनों मित्र आत्मानुभूति की बातें करने लगे।

'मित्र !' राजा परिघ ने पूछा, 'क्या आपको समाधि प्राप्त हुई है ?

'सुहृदेश्वर !' राजा सुरघु ने कहा, 'यदि आप समाधि का रूप वर्णन करते तो उत्तम था।'

'प्रियवर !' परिघ ने श्रद्धापूर्वक कहा : 'आप प्रबुद्ध हैं। आप ही उसके वर्णन के अधिकारी हैं। मेरी जिज्ञासा आपकी बातें जानने की है।'

'मित्र !' सुरघु ने कहा, यह आपकी महानता है। आपके स्नेह का द्योतक है। राजन् ! ज्ञानी, चाहे वे कृपाशील हों अथवा शान्त, कभी असमाहित चित्त नहीं होते। प्रबुद्ध व्यक्ति नित्य व्यवहार करता हुआ, आत्मतत्व में स्थिर रहता है। लोग पद्मासन लगाकर बैठते हैं। करतल में ब्रह्मांजलि रखते हैं। किन्तु चित्त आत्मतत्व में स्थित न हो, तो उन्हें न तो विश्रान्ति मिलती है और न समाधि। तत्वज्ञान आशा तृष्णा को दग्ध करने वाली अग्नि है।

'आशा, तृष्णा, वासना, कल्पना, संकल्पादि रहित समाधि वास्तव में समाधि है। अन्यथा समाधि पाखण्ड, अभ्यास तथा कौतूहल का प्रदर्शन

मात्र हैं। जिसके चित्त में सम, शान्ति, तृप्ति, सत्यज्ञान का स्फुरण नहीं होता, उसकी समाधि कैसी ? जिसमें अहंकार तथा लोभ का क्षय हो चुका है, वही समाधि प्राप्त कर सकता है। चित्त मुहूर्त मात्र के लिए समाधिस्थ होने पर, वही मुहूर्त मात्र बढ़ता लम्बा काल हो जाता है। उस समय ज्ञानी को आत्मा के अतिरिक्त और किसी का बोध नहीं होता। उस ज्ञानी की दृष्टि जिस तरफ जाती है, दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान उसे अपना रूप दिखता है।'

'पारसी राज !' सुरघु ने शान्त स्वर से कहा, 'प्रज्ञा की स्थिरता समाधि है। वह ज्ञान प्रदर्शक है। द्वन्द्व भावना, चंचलता, अहंकार रहित अचल स्थिर समाधि है। समाधि में हेय, उपादेय तथा चिन्ता की छाया तक नहीं आती।

'राजर्षि ! ज्ञान द्वारा पूर्णतया मन स्थिर हो जाने पर समाधि काल आरम्भ होता है। तृष्णा के क्षय होने पर समाधि लगने लगती है। विषयों से विरक्ति ध्यान है। ज्ञान द्वारा मन को विषयों से विरक्ति होती है। ध्यान जिसमें सत्य, ज्ञान एवं शान्ति रहती है। वासना का अभाव होता है; आनन्दप्रदीप तुल्य है।'

'महात्मन् !' सुरघु ने कहा, 'मैं प्रबुद्ध हूँ। शान्त स्व ाव हूँ। समाहित हूँ। कोई भी मुझे समाधि से विमुख नहीं कर सकता। सत्य-स्वरूप में स्थिर रहता हूँ। तथापि आत्मा सर्वगामी है। सर्वस्वरूप है। इसका समाधि और असमाधि से क्या सम्बन्ध ? इसको समाहित-असमाहित से क्या प्रयोजन है ?'

'राजन् !' परिघ ने श्रद्धापूर्वक कहा, 'आप जागृत हुए हैं। आपका अन्तःकरण शशि-तुल्य शीतल हुआ है। ब्रह्मानन्द से आप सुशोभित हैं। निर्मलता आपकी व्यापक गम्भीरता प्रकट करती है। अहंकार मेघ का नाश होकर आपने सत्य एवं असत्य को पहचाना है। राग-द्वेष एवं इच्छा रहित आप आकाशवत् सुशोभित हैं।'

'महात्मन् !' सुरघु ने निर्विकार भाव से कहा, 'जगत् के तुच्छ पदार्थ क्षणभंगुर हैं। और अतुच्छ चिरकाल तक स्थिर रहता है। किन्तु इन दोनों का आधार काल है। मैंने जिस समय अकाल का दर्शन किया, उस समय तुच्छ एवं अतुच्छ दोनों बराबर प्रतीत हुए। अतएव मैं इस जगत् में किन पदार्थों के पाने की इच्छा करूँ? इस जगत् में जो रमणीय पदार्थ कहे जाते हैं, उन्हें बताइए प्रियवर ! वह रमणीय पदार्थ क्या है ?'

'राजन् !' परिघ श्रद्धापूर्वक बोला ! 'आप धन्य हैं।'

सुरघु ने परिघ को सिरशा नमामि किया।

योग वासिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग : ५८–६४

विलास-भास

एक पुरातन इतिहास है। सह्याद्रि पर्वत पर महर्षि अत्रि का आश्रम था। आश्रम शिखर के उत्तर तट पर था। किसी समय की बात है, वहाँ पर दो मुनि निवास करते थे। उन मुनियों के दो पुत्र विलास और भास थे। पिता के आश्रम में लता और पल्लवों के समान बढ़ने लगे। दोनों कुमारों में प्रेम था। मैत्री थी। तिलों में स्थित तेल, पुष्पों में स्थित सुगन्ध की तरह वे मिल-जुल कर रहते थे। कभी विलग नहीं होते थे। उनका मन इतना मिला था कि जैसे एक मन को दो भागों में बाँटकर, उन्हें आकार दे दिया गया हो। उन लोगों ने बाल्यकाल समाप्त किया। सूर्य तथा चन्द्र की तरह युवा हुए।

खेत में चुगते पक्षी उड़कर जिस प्रकार उडते-उड़ते आकाश में लोप हो जाते हैं, उसी प्रकार उनके पूज्य पिताओं की आत्मा काया त्यागकर, परलोक चली गयी। पिता-मरण का उन्हें धक्का लगा। वे जल से निकाले उत्फुल्ल कमल-तुल्य उत्साहहीन हो गये। सन्तप्त हो गये। और्ध्वदैहिक क्रिया के पश्चात् वे विलाप करने लगे। उनकी चेष्टाएँ रुक गयीं। वे मूर्छित-तुल्य हो गये।

खिन्न मन वे अलग हो गये। देशान्तर भ्रमण निमित्त निकले। दिन, मास, वर्ष बीतते चले गये। वृक्षों की तरह वृद्धावस्था प्राप्त किया। प्रारब्ध-वश वे हठात् एक बार पुनः मिल गये। उन्हें विमल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई थी। अकस्मात् भास को देखकर विलास प्रसन्न हो गया।

'परम बन्धु !' विलास ने स्नेह से कहा, 'आप मेरे जीवन-वृक्ष के फल हैं। मेरे हृदय में वास करनेवाले अमृताम्बुधे हैं। इस जगत् के महाबान्धव ! तुम्हारा स्वागत है।'

भास तीव्र स्नेहाभूत होकर विलास से लिपट गया। दोनों की आँखें भर आईं। अनेक वर्षों का विछोह, बाल्यकाल की सुरभित स्मृति मूर्तमान

खड़ी हो गयी। वे परस्पर एक दूसरे में लीन हो जाना चाहते थे। आँसुओं को पोंछता हुआ विलास बोला :

'हमसे बिछुड़कर तुम कहाँ चले गये थे मित्र ?'

'पर्यटन करता रहा। भटकता रहा।'

'साधो !' विलास बोला, 'तुम कुशल से तो हो ? संसारानाल जनित संताप से तुम्हारी बुद्धि निर्मल हुई है या नहीं ? तुम्हारा तप सफल हुआ है या नहीं ?'

'मानद !' भास बोला, 'भाग्य से तुम्हारा प्रियदर्शन मिला है। अतएव कुशलपूर्वक हो गया हूँ। किन्तु इस संसार में निवास कर कैसे हमारा कुशल हो सकता है ? जब तक ज्ञातव्य विषय का ज्ञान नहीं होता, जब तक काम-संकल्प का क्षय नहीं होता, और जब तक इस संसार सागर से पार नहीं होता, तब तक कैसे कहूँ कि कुशल से हूँ। जब तक आशालता का उच्छेद हँसिया से काट कर नहीं करता, जब तक ज्ञान लाभ नहीं करता, जब तक समता उदित नहीं होती, और जब तक तत्व-बोध समुदित नहीं होता, तब तक कुशल कहाँ ?'

'साधो !' भास ने विलास के गम्भीर मुखमण्डल की ओर देखते हुए कहा, 'आत्म-लाभ न होने पर, ज्ञान महौषध न प्राप्त करने पर, वह संसार-स्वरूप विसूचिका निरन्तर आविर्भूत होती रहती है। प्रिय मित्र ! यह संसार कुपादप अंकुरित होने पर शैशव, पल्लवित होने पर यौवन, पुष्पित होने पर जरा, मंजरी लगने पर मृत्यु-रूप धारण करता है। मृत्यु-मंजरी पर भ्रमर-रूपी बन्धु-बान्धव का क्रन्दन गूँजने लगता है। सम्वत्सरों को नीरस-प्राय परम्पराएँ पुनः पुनः आती रहती हैं। जीर्ण-शीर्ण पल्लव-तुल्य, रस शून्य, शुष्क दिवसों से परिच्छिन्न शरीर-लता नष्ट होती रहती है। मत्त मातंग विवेक आलान स्तम्भ को उन्मीलित कर तृष्णा विषय पर कामासक्त होकर अपनी निद्रा नष्ट कर देता है। वह अकर्मण्य मदोन्मत्त तुल्य चारों ओर दौड़ने लगता है। परम पुरुषार्थ का हेतुभूत आयु तथा विवेक चिन्ता-मणि अनायास गिरता जाता है। इस काया-स्वरूप वृक्षरूपी हृदय घोसले में बैठा, लोभ-स्वरूप चपल जिह्वा गृद्ध बढ़ता जाता है।'

'बन्धुवर !' भास ने कहा, 'नीरस सुख रहित दिवसावली जीर्ण पर्ण की तरह विगलित हो जाता है। हिमपात के कारण जिस प्रकार कमल

धूसर हो जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था में पुत्र, सेवकादि द्वारा होते अपमान के कारण शारीरिक सुन्दर शोभा वर्जित होकर धूसर हो जाती है। सूखते सरोवर से राजहंस तत्काल भाग जाते हैं। पुनः नहीं लौटते। उसी प्रकार यौवन-स्वरूप जल के सूख जाने पर, शरीर सरोवर से आयु भाग जाती है। वह पुनः लौट कर नहीं आती। कालपवन द्वारा जर्जर जीवन-वृक्ष से भोग फल, दिवस पत्ते नीचे गिर जाते हैं। भोग भुजंग, दुःख दादुरों का अन्धकारमय मोहकूप आश्रय स्थान में मन डूब जाता है।

'जीवन क्षुद्र नदी के तीव्र प्रवाह की तरह बहता चला जा रहा है। यौवन इस क्षुद्र नदी की उत्कट तरंगमाला है। काम-क्रोध, द्वेष-भय जलस्तर पर घूमते फेन हैं। लोभ-तृष्णा नदी की भँवरें हैं। संसारी मनुष्यों की काल परम्परा सरिता धारा-तुल्य प्रबल वेग से बहती चली जा रही। शिल्प, तर्क, नीति, प्रभृति कौशलों द्वारा व्याप्त, जगत व्यवहार तरंगों द्वारा पूर्ण, क्षुब्ध कोटरों द्वारा युक्त, यह प्रवृत्ति नदी निरर्थक बहती चली जा रही है। अनन्त बहुजनों-तुल्य असंख्य नदियाँ, गम्भीर कोटरवाले विशाल काल सागर में अजस्र गिरती जा रहीं हैं। मालूम नहीं होता कि परम पुरुषार्थ साधनाभूत देह रत्नशाल पंकिल सागर में कहाँ समा जाता है! चिन्ता चक्र में चिरकाल से बद्ध कुक्रियाचार में लगा चित्त, समुद्र के गतविगर्त में तृण-तुल्य घूमता रहता है। अगणित काया-स्वरूप तरंगों में चित्त बह रहा है। यह चिन्ता ताण्डवशील चित्त क्षणमात्र विश्रान्ती नहीं करता। तरंग पूरित चिन्ता नदी के महावर्त में चंचल मीन मन, क्षण भर में ही वार्धक्य प्राप्त कर जाता है।'

भास भहते-कहते शान्त हो गया। विलास निर्निमेष दृष्टि से एकटक भास के कान्तिपूर्ण मुख-मण्डल की ओर देखता रहा। उसने कहा :

'साधो! तुमने निर्मल ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मैं तुम्हारा मित्र हूँ। क्या मैं तुम्हारा स्नेहभाजन बना रह सकूँगा?'

'अवश्य! विलास।'

'आत्म दर्शन मुझे होगा?'

'निश्चय विलास! चलो अपनी विजय-यात्रा पर चलें।'

दोनों चिर सखा निर्वाण निमित्त प्रसन्नता पूर्वक चल पड़े।

योग-वासिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग : ६५–६७

बीतहव्य

किसी समय की बात है। महातेजस्वी वीतहव्य मुनि विन्ध्याचल पर्वत के वन में भ्रमण कर रहे थे। समाधि हेतु दीर्घ गुफा की खोज में थे। सांसारिक भोगों से उद्विग्न हो गये थे। कदली-पत्रों द्वारा विनिर्मित पर्ण-कुटी में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने सम तथा शुद्ध मृगचर्म आसन लगाया वह पद्मासन लगाकर दोनों करपल्लवों को एक के ऊपर दूसरा; तलवों के उत्तान भाग पर ध्यान मुद्रा में रखा। वे स्वस्थ, शान्त बैठ गये। उनकी ग्रीवा सीधी थी। स्कन्ध प्रदेश सीधा था। पर्वत के शृङ्ग-शिखर की तरह निश्चल थे।

:o: :o: :o:

मुनि ने निर्विकल्प समाधि लगाया। इन्द्रियों की वृत्तियों का विरोध किया। मन की वृत्तियों का निरोध किया। मन से वासना तथा चिन्ताओं ने विदा लिया। उनके मन की विचित्र अवस्था हो गयी। मन को एक ओर से हटाना चाहते थे। प्रयास करते थे। चंचल मन भागकर दूसरी ओर लग जाता था। जिस ओर से उसे हटाया जाता था, उसी ओर वह पुनः जाने की चेष्टा करता था। रसों से गन्ध की ओर, गन्ध से स्पर्श की ओर, स्पर्श से तेज की ओर और तेज से वायु की ओर जाने के लिए व्याकुल हो जाता था। मुनि ने मन की यह विचित्र अवस्था देखकर मन को सम्बोधित किया :

'मूर्ख मन ! विषयों में तेरी क्यों रति है ? उनमें तुझे क्या प्राप्त होगा ? विषय जड़ है। जड़ों से जड़ता प्राप्त होगी। तू विषय-स्वरूप भोज्य-पदार्थों के मध्य बैठा है। तेरी बुभुक्षा कभी तृप्त न होगी। श्वान के समान, चारों ओर जूठे पदार्थों के प्राप्ति हेतु, व्याकुल घूमता रहता है। तुम अपनी मिथ्या एवं अहंभावनाओं द्वारा वासनाओं का सृजन करते हो। उन्हीं वासनाओं में मकड़ी की तरह अपने जाल में फँस जाते हो। तुम्हारी कुछ देनों को मैं जानता हूँ। तूने जरा, मरण एवं विकारादि भावनाओं को मुझे देकर, मुझ में जीवत्व भाव उत्पन्न किया है। जिन विषयों को अमृत तुल्य

जानकर तू रीझता है, वे विष साबित होते हैं। वे अपनी आसक्ति से हृदय को दग्ध करने लगते हैं। तूने स्वयं अपने को कर्त्ता तथा भोक्ता मान लिया है। किन्तु स्मरण रखो ! तुम और तुम्हारी इन्द्रियाँ न तो कर्ता हैं और न भोक्ता हैं। तुम जड़ हो। जड़ कैसे कर्त्ता एवं भोक्ता हो सकता है ?

'मन ! यदि मैं सत्य हूँ, तो तू मिथ्या है। क्योंकि एक ही शरीर में दो चेतन, दो आत्मा, कैसे रहेंगे ? पाषाणशिला उठकर नाच नहीं सकती। उसी प्रकार तुममें कर्त्तृत्व की शक्ति नहीं है। खंग की तेज धार होती है। हँसियाँ की तेज धार होती है। परन्तु वे खड्ग स्वतः अपनी धार द्वारा हनन नहीं कर सकते। स्वतः हसियाँ घास नहीं काट सकती। मनुष्य-शक्ति आघात-रूप होकर खड्ग हनन कार्य करती है। हसियाँ तृण को मनुष्य के हाथों की शक्ति से काटती है। मन ! तुम्हारी शक्ति मेरी शक्ति है। तू खड्ग तथा हँसिया की तरह जड़ पदार्थ है। तुम स्वतः शक्तिहीन हो।

'मन ! पात्र में रखा जल स्वयं पात्र पान नहीं करता। पात्र के जल का पान मनुष्य करता है। तुम्हारे भोक्तृत्व की शक्ति मेरी है। सूर्य के प्रकाश के पश्चात् जगत् निशा से जागृत होकर चेष्टाशील होता है। तुम मुझसे शक्ति प्राप्त कर चेष्टाशील होते हो। तुम जड़, अज्ञानी, दावाग्नि में स्वयं जल मरते हो।

'ओह ! मन ! ! यदि तू कहता है कि भगवान् के प्रसाद के कारण बुम्हारी वासना पूरी होती है, भगवान् दया कर तेरा भोक्तृत्व, कर्त्तृत्व पूरा करते हैं, तो यह मिथ्या है। परमात्मा निर्लिप्त है। उसे करने और न करने से क्या सम्बन्ध ? वह आकाशवत् सबको वृद्धता प्रदान करता है। किन्तु कोई उसे आकाश की तरह स्पर्श नहीं कर सकता।

'मूर्ख मन ! तू जड़ है। जड़ होकर जड़ का भोग किस प्रकार करेगा ? अतएव कल्पना, संकल्पादि का त्याग कर आत्मपद में स्थिर हो जा। वहाँ तुझे चिर शान्ति तथा आनन्द की उपलब्धि होगी।

'मन ! यदि तू कहता है कि परमात्मा के साथ तेरे भोक्तृत्व किंवा कर्त्तृत्व का सम्बन्ध है, तो यह तेरी मूढ़ता है। परमात्मा और तेरा सम्बन्ध पुष्प एवं पाषाण जैसा परस्पर विरोधी है। समान पदार्थों, समान तत्वों

समान द्रव्यों का सम्बन्ध होता है। जल से जल मिलता है। अग्नि अग्नि से मिलती है। पवन में लीन होता है। पवन तुम्हारा यह सम्बन्ध असमानों की मित्रता-तुल्य काल्पनिक एवं मिथ्या है। सूर्य-उष्णता, चन्द्रमा-औषधि, बीज-अंकुर, पिता-पुत्रादि का सम्बन्ध होता है। उनमें समानता है। निराकार-साकार, जड़-चेतन, गुण-अवगुण, सत्-असत्, कलंक-अकलंक, परस्पर विरोधियों का कैसे सम्बन्ध हो सकेगा ?

'मूर्ख ! सम, अर्द्धसम, विलक्षण, तीनों प्रकारों के सम्बन्धों में किस कोटि में तुम्हारा और परमात्मा का सम्बन्ध आता है ? तेज की एकता तेज से होती है। यह सम सम्बन्ध है। मैं आत्मा हूँ। तू जड़ है। हममें और तुममें असमानता है। पुनः हमारा तुम्हारा सम्बन्ध कैसे होगा ?

'स्त्री और पुरुष के अंगों में अर्द्ध-समानता होती है। मुझमें और तुम में असमानता है। पुनः हमारा तुम्हारा कैसे साथ होगा ?

'अश्व-पुरुष, हस्ती-पुरुष की तरह विलक्षण समानता भी हममें-तुममें नहीं है। पुनः हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध कैसे होगा ?

'मन ! सब बातों को छोड़कर बोलो, आधार तथा आधेय अर्थात् बीज-अंकुर, पिता-पुत्र-तुल्य हमारा और तुम्हारा सम्बन्ध कैसे होगा। हममें-तुममें किसी प्रकार की समानता नहीं है। किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। हमारा और तुम्हारा स्वरूप परस्पर विरोधी है। अतएव हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध कैसा ?'

विवेक का आश्रय लेकर वीतहव्य मुनि अपनी पर्णकुटी में मन तथा चित्त का उपशम करने लगे। उन्होंने पुनः अपने-आपको सम्बोधित किया :

'मन ! सूर्योदय से अन्धकार दूर होता है। आत्मोदय द्वारा तम-स्वरूप तुम्हारा नाश होगा। वासना आवरण द्वारा मानव आवृत है। उस आवरण के हटने पर मानव के वास्तविक रूप का दर्शन होता है। वासना का मूल है, अज्ञान। अज्ञानान्धकार तिरोहित होने पर, ज्ञान प्रकाश का उदय होता है। दर्शन होता है आत्मा का।

'मूर्ख मन ! वासनाक्षय का अर्थ है मोक्ष। वासना के ही बन्धन में हम सब बँधे हैं। आत्म-विचार-प्रकाश द्वारा मन, इन्द्रियाँ, देहादिक

मोहान्धकारों का स्वतः नाश हो जायगा। जब तक मैं इन्द्रियों में, जब तक तुममें मैं भूला हूँ, तब तक अपनी यात्रा कैसे आरम्भ कर सकूंगा? मैंने तुममें सुख की आकांक्षा किया। शान्ति की अभिलाषा किया। तुमने सुख तथा शान्ति देने का प्रयास किया। तुम्हारी शान्ति जड़ थी। तुम्हारा सुख विनाशक था। तुम्हारे साथ रहकर उन्हें भ्रान्तिवश सत्य माना था। तुम्हारे कारण जगत् का दर्शन कर लिया। समझता था मैं जगत् का वास्तविक दर्शन कर रहा हूँ। किन्तु विवेक ने अपने ज्ञान-प्रदीप से मुझे मार्ग दिखाया है। मैं अन्धकार से निकल कर सुगम, सरल, दिव्य, वास्तविक मार्ग पर आ गया हूँ।

'मन! विषयों से शान्ति नहीं मिलती। तृष्णा शान्ति नहीं देती। सुख: दुःख में उन्मत्त होने से शान्ति नहीं मिलेगी। यात्रा की शिथिलता, वासना द्वारा दूर नहीं होगी। यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो, तो एक ही उपाय है। वह है, आत्मदर्शन। तुम्हारा सृजन अज्ञान द्वारा हुआ है। तुम्हारा फल अज्ञान होगा। तुम्हारा सौरभ अज्ञान होगा। तुम्हारी मित्रता द्वारा जीव काल-कवलित होगा। तुम अपने अज्ञान द्वारा अपने अतिथियों का स्वागत कर, उन्हें अज्ञान के गर्त में ले लेते हो।

'हे मन! तू चिन्ता-स्वरूप बन्दर है। बन्दर कोमल पादप को हिलाकर नष्ट कर देता है। चिन्ता इस शरीर को भकझोरकर नष्ट कर देती है। लोभ और लज्जा चिन्ता पक्षी के दो पंख हैं। राग-द्वेष उसके चंचु हैं। शरीर वृक्ष पर वह बैठता है। शरीर फल के शुभ मधुर गुणों को काट-काट कर खाता है। लोलुप-चित्त-कुत्ता भोगभावना-स्वरूप अपवित्र स्थानों पर घूमता अपवित्र वस्तुओं को एकत्रित करते नहीं अघाता। चित्तउलूक अज्ञान रात्रि में भ्रमण करता प्रसन्न रहता है। प्राणियों को कष्ट देकर उनके कष्टों में अपनी प्रसन्नता का अनुभव करता है।

'भोगी चित्त! दो मार्ग हैं। सांसारिक मार्ग की ओर जाना चाहता है, तो भोगों की गठरी सिर पर रख ले। वासना छड़ी का सहारा लेकर अपनी कष्टप्रद यात्रा आरम्भ कर। अपनी गठरी के भार से तू स्वयं दब जायगा। एक दिन गिर जायेगा। छड़ी तेरा साथ त्याग देगी।

'दूसरा मार्ग है आत्मदर्शन का। इस मार्ग के यात्री को न तो गठरी की आवश्यकता है और न छड़ी की। इस पथ के पथिक बनकर बढ़ते चले जाओ। आत्म-प्रकाश की ज्योति शनैः शनैः विकसित मिलती चली जायगी। मंजिल पर पहुँचोगे। वहाँ तुम्हें मिलेगी चिर विश्रान्ति। तुम्हारी सांसारिक यात्रा का मार्ग दुःखकर है, कष्टकर है, मृत्युकर है, आत्मपथ पर तुम्हें मिलेगा जीवन। इस मार्ग में विवेक तुम्हारा साथी होगा। वह तुम्हारा मार्ग प्रदर्शन करता, सुखपूर्वक तुम्हें उस स्थान पर सुगमतापूर्वक पहुँचा देगा, जिसकी यात्रा के लिए तुमने कभी प्रस्थान किया था। विवेक जैसे सच्चे साथी को मेरा शत-शत प्रणाम है चित्त!'

:o: :o: :o:

समस्त वासनाओं का परित्याग कर वीतहव्य विन्ध्याद्रि के गह्वर कोट में समाधि लगा कर बैठ गये। उनका चित्त आकाशवत् निर्मल था। ग्रीवा पाषाण मूर्ति की तरह निश्चल थी। प्राण तथा मन के स्पन्दनों का क्षय हो चुका था। आतप में, तुषार में, वर्षा में, शीत में, वायु में, वन के भयंकर शब्दों में, दावाग्नि में उसे कुछ बोध नहीं होता था। बहुत समय तक वह इस प्रकार आसन पर बैठा रहा। उसके शरीर पर मिट्टी जम गयी! उन पर तृण उग आए। समाधि के तीन सौ वर्षों का समय अर्द्ध-मुहूर्तवत् बीत गया। तत्पश्चात् उनकी समाधि खुली।

समाधि के पश्चात् हृदय-कल्पना द्वारा अनुभव किया। कैलाश कानन के कान्त कदम्ब तरु के तले एक शताब्दी तक मुनित्व का अनुभव किया। एक शताब्दी तक विद्याधरत्व का अनुभव किया। पाँच युगों तक देव तथा चारणों द्वारा वन्दित देवराजत्व का अनुभव किया। एक कल्प तक चन्द्रमौलि भगवान् शंकर का गणत्व किया। अनेक लोकों का अनुभव, सब भूतों में आत्मभाव होने के कारण किया।

वह 'दीन' नामक देश में राजा होकर मृगया में रत हो गया। कैलाश वनकुंज में क्रीडा निमित्त आत्मबोध शून्य हंस हुआ। निषादों का राजा हुआ। इस काल में सौराष्ट्र देश का आत्मज्ञान रहित राजा हुआ। आन्ध्र देश के एक ग्राम में वृक्ष हुआ।

:o: :o: :o:

वीतहव्य ने अपने को ब्रह्म-स्वरूप समझ लिया। उसकी इच्छा हुई वह अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त जाने। उसने अपने कुछ नष्ट देहों को देखा। उसने देखा, उसका शरीर जैसे पंक में रेंगता कीड़ा है। वर्षा प्रवाह में दूर बह गया था। पृष्ठ भाग पर कीचड़ जम गया था। धारा विवर में पीड़ित अपनी देह को देखकर उसने विचार किया। प्राण संचार से निर्मुक्त देह में किंचित् मात्र गति नहीं रह गयी थी। अपने शरीर के उद्धार हेतु उसने परकीय शरीर में प्रवेश के लिये शास्त्र उपदिष्ट मार्ग द्वारा सूर्य शरीर में प्रवेश किया। उसने विचार किया। सूर्य का गण पिंगल उसके शरीर का उद्धार कर देगा। किन्तु पुनः वह विचार करने लगा। इस देह को त्याग कर निर्विघ्नतापूर्वक विदेह, मुक्त हो जाना उचित है। देहलीला कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करेगी ?

क्षण मात्र पश्चात् वीतहव्य ने पुनः विचार किया, देह त्याग तथा आश्रम दोनों उपादेय नहीं है। जब तक शरीर है। जब तक वह अणु परमाणु नहीं बन जाता, तब तक इसका आश्रय उचित होगा। सूक्ष्म स्वरूप धारी, वीतहव्य ने अपने पुर्यष्टक द्वारा सूर्य में लोहार की भाथी में प्रवेश करते वायु की तरह प्रवेश किया।

भगवान् सूर्य ने वीतहव्य को देखा। विन्ध्यपर्वत में मृतप्राय पड़े वीतहव्य की देह को देखा। वीतहव्य का अभिप्राय समझ कर उसके पृथ्वी स्थित शरीर के उद्धार निमित्त सूर्य ने अपने गण पिंगल को आदेश दिया। वीतहव्य ने विन्ध्य देश में अपने शरीर के उद्धार निमित्त जाते हुए पिंगल के शरीर में प्रवेश किया। पिंगल विन्ध्याद्रि में पहुँचा। वीतहव्य ने शरीर का उद्धार किया। पिंगल के शरीर से निकल कर वीतहव्य ने पुनः अपने पूर्व शरीर में प्रवेश किया। पिंगल को प्रणाम किया। पिंगल ने अपना कार्य समाप्त कर आकाश-मार्ग द्वारा प्रस्थान किया।

वीतहव्य कुमुददलपूर्ण स्वच्छ जलमय सरोवर की ओर स्नान हेतु अग्रसर हुआ। स्नान, पूजादि समाप्त कर वीतहव्य ने पूर्व शोभा प्राप्त किया। दिन समाप्त हुआ। पुनः वीतहव्य ने अपनी पूर्व गुफा में समाधि हेतु प्रवेश किया।

:o: :o: :o:

'चित्त ! ओ इन्द्रियो !!' वीतहव्य अपनी गुफा में बैठा विचार करने लगा' 'तुम लोग हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। मेरी कल्पनाओं का नाश हो चुका है। अस्ति-नास्ति की अवस्था में जो शेष रह जाता है, वही मैं हूँ। मैं ज्ञान-स्वरूप हो गया हूँ। तुम्हारा विषय नहीं हूँ। मैं सबका साक्षीभूत अपने प्रकाश द्वारा स्वयं प्रकाशित हूँ। इन्द्रिय विषयों का उपलब्ध करता, प्रबुद्ध, द्वन्द्वातीत, सुषुप्त समाधि में स्वयं जागृत होकर तुरीयापद में स्थित हूँ।'

वीतहव्य छः दिनों तक समाधिस्थ रहा। समाधि का उत्थान हुआ। उसे प्रतीत हुआ। मुहुर्त मात्र समाप्त हुआ है। वह जीवन-मुक्त होकर विचरण करने लगा। उससे हर्ष एवं शोक दूर थे। इन्द्रियों का व्यवहार करता हुआ, इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में वीतहव्य समरूप स्थित था। चलता हुआ स्थिर था। उठते-बैठते हुए इन्द्रियों से कहता था :

'सत् आत्मा को पाकर इन्द्रिय ! तू अपने समरूप को देख। तुझे कितना आनन्द मिल रहा है। इस आनन्द में मैं देखता हूँ, तुम्हारी चंचलता विनष्ट हो चुकी है।

'इन्द्रियों ! तुम्हारा स्वरूप किंचित् मात्र आत्मपद में दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। कितने आश्चर्य की बात है। मैं अपने स्वरूप से विरत था। भ्रान्त था। अतएव तुमसे निरन्तर कष्ट पाता रहा हूँ। मुझे तुम्हारे लिए अत्यन्त खेद है। तुम्हारी दशा पर मुझे दया आती है। काष्ठ, बाँस, चर्म, लोहा, पीतल आदि से रथ बनता है। बैल उसमें जोते जाते हैं। मनुष्य उसे चलाता है। इन संग्रहीत वस्तुओं के संयोग से रथ गतिमान दिखाई पड़ता है। इनमें रथ का सारथी अथवा कोई एक नहीं कह सकता कि वह रथ है। उनमें सबकी स्थिति भिन्न-भिन्न है। देह में इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जीवादि कोई एक नहीं कह सकता कि वह शरीर है। अतएव मैं आत्मा में लीन रहूँगा। उसी में रमूँगा। वह मेरा ध्येय विषय होगा। वह मेरा विश्राम-स्थान होगा।'

विचार करता वीतहव्य आत्मपद में स्थिर हो गया।

:o: :o: :o:

वीतहव्य सह्य पर्वत पर आया। पर्वत की हेम कन्दरा में प्रवेश किया। बद्ध पद्मासन लगाकर बैठ गया। अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा से बात करने लगा।

'हे राग ! हे द्वेष ! ! तुम लोगों ने बहुत दिनों तक मेरे साथ क्रीडा किया है। मैं विवेक-शून्य था। विवेक ने मेरा साथ पकड़ा है। मैं उसके साथ विचरण करता हूँ। तुमने मुझे वासनिक बनाया। तुमने मुझे पतित किया। भूत सखे ! तुम्हें नमस्कार है।

'हे भोग ! तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरा इस जगत् में सौ करोड़ वर्षों तक लालन-पालन आपने किया है। बहुत भोग भोग चुका। इस भोग का कहीं अन्त नहीं है !

'विषय ! तुमने मोक्ष पद का मुझे विस्मरण कराया था। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

'दुःख ! मैं चाहता था सुख। किन्तु सुख तुम्हें अपने साथ लेकर मेरे पास आता था। मैं नहीं जानता था। तुम्हारी उत्पत्ति का कारण सुख है। तुम्हें देखकर, तुम्हारे प्रसाद से मैंने अपने रूप, मौलिक सत्य, वास्तविक आनन्द को ढूढ़ निकाला है। तुम्हारे आशीर्वाद से आत्मपद की इच्छा हुई है ! तुमने मेरे लिए अपना सर्वनाश किया है। मुझ पर अनुग्रह किया है। उसी अनुग्रह का फल आत्म-प्राप्ति है। तू आया था विवेक तेरे साथ आया। उसी साथी विवेक को अपना साधन बनाया। तुम्हारा नाश किया है। अपने नाश से तुम दुःखी नहीं हुए। अतएव मित्र ! तुम्हारे आत्मोसर्ग के लिए तुम्हें नमस्कार है।

'हे तृष्णा ! माता की तरह तुम मेरा लालन-पालन करती थीं। तुम मेरा नमस्कार स्वीकार करो। मुझमें शक्ति उत्पन्न हो गयी है। मैं अपना लालन-पालन स्वयं कर लूँगा।

'हे पुण्यदेव ! आपने नरक से मेरा उद्धार किया है। स्वर्ग का सम्बन्ध कराया है। परन्तु में तुम्हें भी नमस्कार करता हूँ।

'हे पाप ! नरक-स्वरूप शाखाओं को धारण करनेवाले, यातनारूपी पुष्प समूह से युक्त तरुवर तुमको नमस्कार है।

'हे ! मोहात्मने ! ! मैंने तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक प्राकृतिक योनियों का उपभोग किया है। तुम्हारा रूप आज तक नहीं देख पाया हूँ। अतएव, हे काम ! तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

'हे सुकृति ! तुमने मेरा उपकार किया है। मुझे कुमार्ग से हटाकर सत्पथ पर लगाया है। पाप से निकाल कर पुण्य-स्थान में रखा है। किन्तु परोपकारी बन्धु से भी वियोग होता है। हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध चिरस्थायी नहीं रह सका। इसका दुःख है। अतएव मेरा नमस्कार स्वीकार करो।

'हे दुष्कृति ! विकर्म तुम्हारा क्षेत्र था। युवावस्था उसमें बीज था। उस बीज का फल दुःख था। तुम्हारे साथ जितने दिनों का सम्बन्ध था, उन सम्बन्धों को भूलकर मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

'हे मोह ! मैं तुम्हारे मोहपाश में बँध गया था। तुमने नाना प्रकार के भोगों को भुगाया है। अपना स्नेह दिखाया है। किन्तु मुझे अब किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अतएव, तुम्हें नमस्कार है।

'हे विवेक ! हे सखे ! ! तुम्हारा त्याग करते हुए कष्ट होता है। तुम सखा थे। तुमने मित्रधर्म का पालन किया है। मुझे मुक्त किया है। मेरा मार्ग-प्रदर्शन किया है, प्रशस्त किया है। तुमने मेरे लिए सब कुछ किया है। किन्तु मित्रवर ! साथ सर्वदा नहीं रहता, कभी छोड़ना पड़ता है। अतएव हमारा, अपने इस मित्र का, एकान्त नमस्कार ग्रहण कर अनुग्रहीत करो।

'हे गिरि गुहा ! तुमने मुझे आश्रय दिया था। तुम्हारे आश्रय में मैंने आत्म निवेदन किया है। तुमने मेरी रक्षा किया है। किन्तु अब मैं प्रस्थान कर रहा हूँ। तुम्हें नमस्कार है।

'ओ छड़ी ! वृद्धावस्था के एकमात्र मित्र-स्वरूप काष्ठदण्ड ! तुमने विषम प्रदेशों में, गर्तों में, कुंजों में, हिंस्र जन्तुओं से रक्षा में, मेरा साथ दिया है। किन्तु अब तुम्हें भी नमस्कार करता हूँ।

'हे कमण्डल ! तुम्हें मुझे छोड़ना ही पड़ा। क्या करूँ ? बाध्य हूँ। इस वियोग के पूर्व मेरा नमस्कार स्वीकार करो।

'हे देह ! तुम छाया की तरह मेरे साथ निरन्तर लगे रहे। तुमने मेरा उपकार किया है। तुम्हारा आश्रय लेकर मैंने विवेक से मित्रता की थी। तुम्हारे मण्डल में निवास कर आत्मपद प्राप्त किया है। तू भी मेरा नमस्कार ले।

'हे व्यवहार ! मैंने आपके आश्रय में बहुत कर्मों का संचय किया है। सभी देशों का भ्रमण किया है। सभी स्थानों में गया हूँ। सभी कर्मों को किया हूँ। किन्तु मुझे दीन जानकर, मेरा परित्याग कर, मेरा नमस्कार स्वीकार करो।

'हे इन्द्रियों ! हे प्राण !! हे मन !!! आपके चिरकाल के सम्बन्ध का स्मरण कर संयोग-दुःख होता है। मैं क्या करूँ ? मैं विवश हूँ। एक दिन साथ छूटना था। जाते हुए हर्षपूर्वक मेरा नमस्कार स्वीकार कर लो।'

:o: :o: :o:

वीतहव्य केवल प्रणव का ध्यान करता हुआ स्थित हो गया। उसने पंचम भूमिका पार कर, छठवीं तथा सातवीं भूमिका प्राप्त कर, हृदय में ब्रह्मभाव का लाभ किया। क्षोभ शून्य चिन्तामणि-तुल्य वीतहव्य अपने स्वरूप में स्थित हो गये। पूर्ण शशि-तुल्य पूर्ण हो गये। कुम्हार का चाक जिस प्रकार रख देने पर क्षोभ रहित हो जाता है, उसी प्रकार वीतहव्य अक्षुब्ध, प्रशान्त एवं निर्मल हो गये।

उन्हें चारों ओर शान्ति का अनुभव होने लगा। उन्होंने ओंकार का भी त्याग कर दिया। ओंकार का त्याग करने पर तेजाकाश उदय हुआ। उस प्रकाश का भी निमेष मात्र में त्याग कर दिया। उसे तेजादि रहित अवस्था प्राप्त हुई। उसका भी उन्होंने त्याग किया। तत्पश्चात् वह ज्ञान रहित अवस्था में पहुँच गया। अनन्तर वह सत्ता मात्र आत्मतत्व में स्थित हुआ। इस अवस्था को भी पारकर वह चिन्मात्र में लीन हो गया। वह उस अवस्था में पहुँच गया था, जिसे शून्यवादी शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञान, साख्यवादी पुरुष, योगवादी ईश्वर, शैववादी शिव,

विष्णुवादी विष्णु, शक्तिवादी शक्ति, कालवादी काल, आत्मवादी आत्मा कहते हैं।

वीतहव्य ने उस परम शान्ति को, उस उपशम को, उस आनन्द को, उस पद को प्राप्त किया जिसे प्राप्त कर जीवन, मरण, मुक्ति, सबका लय हो जाता है। समुद्र में गिरते जल-बिन्दु की तरह, वह ब्रह्म में लीन हो गया। शरीर पतझड़ के पत्ते के समान सूखकर गिर गया। शरीर-वृक्ष के हृदय-आलय से निकल कर प्राण चिदाकाश में मिल गया।

योग-बशिष्ठ रामायण : उपशम प्रकरण : सर्ग ८२–९०

पुराण :

ब्रह्म : ३ : ४ : ७

विष्णु : ४ : ५ : १२

भागवत : ९ : १३ : २६

ऋग्वेद : ६ : १५; ६ : १५ : २ : ३; (वीतहव्य अंगिरस)

अथर्ववेद : ५ : १७ : ६–७; १८ : १०–१२; ५ : १९ : १(वीतहव्य अंगिरस)
६ : १३७ १

वीतहव्य श्रापस :

तैत्तरीय संहिता : ५ : ६ : ५ : ३

कौशीतकी संहिता : २२ : ३

पंचविंश ब्राह्मण : २५ : १६ ३

वीतहव्य का उल्लेख शर्यातिवंशी वत्स के पुत्र के रूप में आता है। काशी नरेश हर्यश्व का वध इनके पुत्रों ने किया था : काशिराज दिवोदास इनके पुत्रों द्वारा पराजित हुआ था। काशी नरेश प्रतदर्शन ने इनके पुत्रों का वध किया था। भृगु की शरण में जा कर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। योग-वासिष्ठकार का वीतहव्य या तो अन्य व्यक्ति है अथवा उसके ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के पश्चात् प्रसंग है।

महाभारत:

अनुशासन पर्व : ३० : ५-५८; २२

निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध

□ काक भुशुण्डि.........
□ ईश्वर ....
□ विल्व...... ... .
□ जीवट (शतरुद्रोपाख्यान आत्रेय)...
□ वेताल...... ....
□ भगीरथ.............
□ पुडाला ....
□ किराट........... ...
□ कुम्भज...........
□ कांच-मणि..........
□ हस्ती...............
□ कच................
□ मिथ्या पुरुष.........
□ भृंगीश...... ....
□ इक्ष्वाकु ....
□ काष्ट मौन...........

□

काक भुशुण्डि

स्वर्ग में इन्द्र की सभा थी। वहाँ चिरंजीवियों का प्रसंग छिड़ा था। नारदादि महर्षिगण चिरंजीवियों की कथा सुना रहे थे। कथा-प्रसंग में मितभाषी, मानी महामति शातातप महामुनि बोले, 'चिरंजीवियों में श्रेष्ठ काक भुशुण्ड जी हैं।'

देवताओं की उत्सुक दृष्टि शातातप की ओर उठ गयीं। शातातप मुनि की मुद्रा गम्भीर हो गई।

'वे कौन हैं?'

'महात्मन्!' शातातप ने अर्ध-प्रस्फुटित लोचनों से जैसे काकभुशुंड का दर्शन करते हुए कहा, 'वे ब्रह्मज्ञानी हैं। महाप्रलय के पश्चात् भी उनका अस्तित्व रहता है। सृष्टि की रचना होने पर वे पुनः प्रकट हो जाते हैं।'

'आश्चर्य!' देवताओं ने महर्षि की ओर देखते हुए पुनः पूछा, 'उनका निवास-स्थान कहाँ है?'

'देवगण!' शातातप ने कहा, 'मेरु पर्वत के ईशान कोण में पद्मराग मणि-तुल्य दीप्तिमान गगनचुम्बी एक शिखर है। उस तुंग शिखर पर चूत नामक एक कल्पतरु है। उस कल्पतरु के मूर्धा के दक्षिण स्कन्ध कोटर में विहगालय है। वह कल्पतरु सुवर्ण एवं रजत कल्पलताओं से आच्छादित है। विशाल कोश में जिस प्रकार पितामह ब्रह्मा निवास करते हैं, उसी प्रकार उस घोंसले में काक भुशुण्ड रहते हैं।'

महर्षि वशिष्ठ उस सभा में काक भुशुण्ड की कथा सुन रहे थे। उन्हें कौतूहल हुआ। उन्होंने पूछा:

'महर्षिवर! उनका रूप कैसा है?'

'वशिष्ठ!' शातातप बोले, 'वे दीर्घायु हैं। वीतराग हैं। श्रीमान् हैं। महामति हैं। विश्रान्तमति हैं। शान्त हैं। कान्त हैं। काल-कोविद हैं।'

शातातप कहकर शान्त हो गए। वशिष्ठ ने पुनः शातातप से काक भुशुण्ड के विषय में पूछा। मुनि ने उनके गुणों का पुनः वर्णन किया। वशिष्ठ की प्रबल जिज्ञासा काक भुशुण्ड को देखने की हुई।

:o: :o: :o:

अकस्मात् सुमेरु पर्वत प्रकाशित हो गया। पक्षीगण चंचल हो गए। पक्षियों ने देखा। महर्षि वशिष्ठ पक्षिराज काक भुशुण्ड के सम्मुख खड़े हैं। वशिष्ठ को देखते ही काक भुशुण्ड आसन त्याग कर खड़े हो गये। महर्षि का अभिनन्दन किया।

'महर्षि !' काक ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया : 'आपको मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं हुआ ? आप सकुशल और स्वस्थ हैं ?'

महर्षि ने करबद्ध पुनः नत-मस्तक नमन किया, काक ने कल्पना कर पल्लव द्वारा अपने हाथों से पल्लव का आसन बना कर रखा। अर्घ, पाद्य, मालादि द्वारा पूजन किया। वशिष्ठ के स्वस्थ होने पर काक ने निवेदन किया :

'महात्मन् ! आपके दर्शन से हम कृतार्थ हुए। यह हमारे पुण्य का प्रसाद है।'

वशिष्ठ का मन काक की विनम्रता से पुलकित हो गया। काक ने वहाँ उपस्थित हंसों, शुकों, मयूरों, व्योम-पक्षियों, वितुण्ड, भारद्वाज पक्षी, हेमचूड़ विहंगम, गौरैया, कौआ, गृद्ध, कोकिल, क्रौंच, कुक्कुट, शकुन्त, नील-कण्ठ, बालकादि अनेक पक्षियों को जिन्होंने वविष्ठ के आगमन के कारण उनके समीप आकर उन्हें घेर लिया था, देखते हुए कहा :

'मित्रो ! देवपूज्य, ब्रह्मा-पुत्र महर्षि वशिष्ठ द्वारा यह स्थान पवित्र हुआ है।'

पक्षीवृन्द प्रसन्नतापूर्वक कलरव करने लगे। अनेक प्रकार की प्रसन्न-ध्वनियाँ उनके चंचुओं से ऊर्ज्जस्वित होने लगी। वायसों के मध्य उन्नत शरीर वायसराज काक भुशुण्ड अनेक युगों के अवसान एवं उदयों के दर्शनों से प्रौढ़मन; प्रत्येक कल्प के ईशान, इन्द्र, अग्नि आदि लोकपालों की जन्म-परम्परा गिनता, सुदूरभूतकालीन सुर, असुर तथा राजाओं के स्मृतियों

से पूर्ण, सौम्य प्रसन्न, मधुर, ब्रह्मरस से युक्त मनोहर, शान्ति मन, दहराकाशरूप, व्यवहार-कुशल, अन्तःकरण की शोभा महत्ता को प्रकट करते बैठे। विहंगम समाज से बोले :

'सुहृद्वर ! महर्षि पशिष्ठ की पूजा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।'

प्रसन्न-वदन पक्षियों ने यथाविधि महर्षि वशिष्ठ की पूजा की। पूजादि समाप्त होने पर वायसराज ने महर्षि से पूछा :

'मुनीश्वर ! आपके शुभागमन का हेतु जान कर हम कृतज्ञ हो सकेंगे। दया तथा अनुग्रह का पात्र जान कर, आपने मुझ पर अनायास कृपा की है भगवन् !'

'त्रिकालज्ञ !' वशिष्ठ ने विनयपूर्वक कहा, 'आप चिरंजीवी के दर्शन निमित्त मैं आया हूं।'

'मुनि पुंगव !' वायसराज ने कहा : 'यह आपकी महत्ता है।'

'भगवन् !' वशिष्ठ ने कहा, 'आपका किस कुल में जन्म हुआ है ? आपने तत्व-ज्ञान कैसे प्राप्त किया है ? यही मेरे जानने का विषय है।'

वायसराज काक भुशुण्ड का मस्तक नत हो गया। वह विचार करने लगे। उनकी मुद्रा गम्भीर देखकर वशिष्ठ ने पूछा :

'भुशुण्ड ! आप शान्त हैं। कुशल मूर्ति हैं। इन्द्र की सभा में मैंने जो सुना था, उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा है।'

विहंगमगण ने वायसराज की प्रशंसा सुनकर पंख फड़फड़ा कर प्रसन्नता प्रकट की। उनके मूक चंचु किंचित् डोल उठे। वशिष्ठ ने उस प्रसन्न विहंगम-मण्डली की ओर लक्ष्य करते हुए भुशुण्ड से प्रश्न किया :

'साधो ! आपकी आयु कितनी है ? आपको अपना वृत्त स्मरण है। किस दीर्घदर्शी ने आपके निमित्त इस स्थान पर निवास-स्थान निर्दिष्ट किया था ?'

विहंगमकुल की जिज्ञासु दृष्टि वशिष्ठ की ओर से हटकर काक भुशुण्ड पर स्थिर हो गई। काक भुशुण्ड ने स्थिर स्वर से कहा :

'मुने ! मुझसे आपने जो कुछ पूछा है, उसका वर्णन मैं करता हूँ। महात्मन् ! अनुद्वेगपूर्वक सुनिए।'

:o: :o: :o:

काक भुशुण्ड वक्ष्यमाण रीति से अपनी कथा कहने के लिए प्रस्तुत हो गये। वह न तो प्रहृष्ट थे और न क्रूरमति थे। वह सर्वाङ्ग सुन्दर वर्षा-कालीन मेघ-तुल्य श्याम वर्ण थे। उनके वचन स्निग्ध तथा गम्भीर थे। भाषण के पूर्व उसके अधरों पर स्मित-रेखा खिच गई। हाथों पर लिए विल्वफल-तुल्य उन्हें तीनों जगत् की इयत्ता ज्ञात थी। उनका महाकार धीर तथा स्थिर था। मन परिपूर्ण और शुद्ध था। परिविश्रान्त उनकी बुद्धि थी। वे शान्त थे। परमानन्द से परिपूरित थे। संसार में उत्पन्न होनेवाले जीवों के आविर्भाव एवं तिरोभाव का उन्हें ज्ञान था। वीणा-लय-तुल्य उनके प्रिय और मधुर वाक्य थे। वशिष्ठ के प्रश्नों का उत्तर देने की अलौकिक उत्सुकता ने उन्हें और सुन्दर बना दिया था। उन्होंने विनय, शिष्टाचार, उत्साहादि शिष्ट पद्धतियों का निर्वाह करते हुए निर्मल वाणी का आश्रय लिया। वशिष्ठ उनके व्यवहार से अत्यन्त प्रभावित होकर बोले :

'काक ! मैं आपकी विनम्रता, आपकी आनन्ददायिनी शान्ति, आपकी आत्मानुभूति दर्शन तथा यहाँ के शुद्ध, पवित्र, निर्विकार वातावरण में बैठा स्वयं अनुभव करने लगा हूँ, जैसे मैं जीवन-मुक्त हूँ। मैं वह गाथा सुनना चाहता हूँ, जिसके कारण आप ने अद्भुत शान्ति, महती उदारता, तथा अतुलनीय विनय प्राप्त किया है।'

'महर्षे !' काक भुशुण्ड ने वशिष्ठ को उनकी प्रशंसा का आभार प्रणाम करते हुए प्रकट किया। उनके बद्धकर मस्तक से लग गये।

:o: :o: :o:

'मुनिपुंगव !' काक भुशुण्ड ने कहना आरम्भ किया, 'दिशाएँ जिनका वसन है, श्मशान जिनका निवास-स्थान है, श्मशान-भस्म जिनके शरीर का अंगराग है, मुण्डमाला जिनका कंठहार है, प्रलयकारी अग्नि जिनके नेत्रों में है, जो महासुन्दर हैं, जो नीलकण्ठ हैं, जिनकी जटा में गंगा रमती हैं, उस सदाशिव भगवान् भूतेश शिव की सेना में यदि भूत-पिशाचादि भयंकर जीव हैं, तो उसमें जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अल-म्बुषा, उत्पला मातृकाएँ भी हैं। उनमें अलम्बुषा सप्तम माता विख्यात हैं।

उनका वाहन काक है। काक वर्ण इन्द्रनील पर्वत-सदृश नीला है। उसका मुख वज्र-तुल्य हड्डी से बना है। उसका नाम चण्ड है।

'मानद !' काक ने कहा, 'एक समय रौद्र-चेष्टिता, अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न, वे आठों मातृकाएँ व्योम में विहार निमित्त एकत्र हुईं। उन्होंने पानोत्सव मनाया। वे जगत्-पूज्यदेव तुम्बरु तथा भैरव का पूजन कर मदिरामद में वार्तालाप करने लगीं। उनमें विचार उत्पन्न हुआ। पार्वती-पति महादेव उनकी अवहेलना क्यों करते हैं। यदि उनकी महाशक्तियों का प्रभाव शंकर देख लें, तो शायद पुनः अवहेलना नहीं करते। उन्होंने रुद्र-शक्ति उमा को अपनी एक शक्ति तथा अंग मिलाकर मूर्त्त रूप में खड़ी किया। उनका वध कर पकवान बनाया। उन्होंने महान् महोत्सव मनाया। चण्डादि उत्सव में सम्मिलित होकर उन्मत्त हो गए। ब्रह्मा की रथ-वाहक हंसिनियाँ उस उत्सव में सम्मिलित हुईं। वे मदपान तथा नृत्य में उन्मत्त हो गईं। उनमें रति-भावना का उदय हुआ। सातों कुल-हंसियों ने वायस चण्ड के साथ रमण किया। वे गर्भवती हो गईं। देवियों का समूह महादेव के पास पहुँचा। भोजन में उमा का उपयोग किया गया है, जानकर महादेव रुष्ट हुए। मातृकाओं ने अपने शरीर में पार्वती का एक-एक अंग-उपांग पुनः निकालकर पार्वती को खड़ी कर दिया। उनका महादेव से पाणिग्रहण करा दिया। अनन्तर वे सन्तुष्ट होकर यथास्थान चली गईं।'

'मुनीश्वर !' काक ने कहा : 'हंसिनियाँ ब्राह्मी शक्ति के समीप पहुँची। अपने गर्भवती होने का वृत्तान्त कहा। ब्राह्मी शक्ति ने उन्हें अपने रथ के उपयुक्त जानकर स्वेच्छापूर्वक बिचरण करने की आज्ञा दे दी और स्वयं निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो गईं। वे राज-हंसिनियाँ गर्भ से अलसाई हुई, भगवान विष्णु के नाभि-कमल के मूल, ब्रह्मा के कमल के उत्पत्ति-स्थान में विचरण करने लगीं। उन्होंने नाभि-कमल पल्लव स्थान में, वल्लियों के अंकुर-तुल्य इक्कीस अन्डों को जनन किया। पिता चण्ड तथा माता राजहंसियों द्वारा इक्कीस वायस जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। हंस बड़े हुए। उड़ने की शक्ति हुई। अपनी माताओं के साथ ब्राह्मी देवी की सेवा करते

रहे। प्रसाद-स्वरूप देवी द्वारा हमें तत्व-ज्ञान प्राप्त हुआ। हम जीवन-मुक्त हो गए। तत्पश्चात् अपने पिता के पास विन्ध्य प्रदेश में आए।'

'महर्षे !' काक ने कहा, 'पिता ने हम लोगों का आलिंगन किया। देवी अलम्बुषा की पूजा की। वहीं निवास करने लगे। पिता ने हमसे पूछा, क्या तुम लोग जगत् वासना-जाल से मुक्त हो गए हो ? यदि नहीं, तो भृत्य-वत्सला देवी अलम्बुषा का प्रसाद प्राप्त करो।' हमने उत्तर दिया, 'पितः! देवी ब्राह्मी की कृपा से हमें तत्वज्ञान प्राप्त हो गया है। उत्तम एकान्त स्थान में निवास करने की कामना है।'

पिता ने कहा, 'रत्नों का आधार समस्त सुरगणों का आश्रय-स्थान उत्तुंग मेरु नाम एक महीधर है। ब्रह्माण्ड-मण्डप का वह कनक-निर्मित स्तम्भ है। वह ऊपर उठा पृथ्वी की भुजा-तुल्य है। उस भुजा में त्रिपुरुष, देशादि चन्द्राकृत सुवर्ण कैयूर हैं; रक्त मुद्रिकाओं से सुशोभित शिखर उसकी उँगलियाँ हैं, ध्वनिशील द्वीप तथा समुद्र कंकण हैं।

'मेरु पर्वत पर्वतों का राजा है। उसके चारों ओर हिमालयादि सप्त कुल पर्वत हैं। जम्बूद्वीप के सिंहासन पर जैसे वह बैठा है। तारा-राशि उसकी मालती-माला है। दिशा पल्लवों से शोभित आकाश उसका वस्त्र है। वह नागों की दोनों ज्योतियों का आश्रय स्थान है। इन्द्रादि उसके आभूषण हैं। कमनीय चामर-धारिणी दिशा कामिनियाँ मेघ-चामर उसे ढुराती रहती हैं। देवता, गन्धर्व तथा किन्नर उसकी पूजा करते हैं। उसका आश्रय ग्रहण कर ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देव, पितृ, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, विद्याधर, यक्ष, राक्षस, प्रमथ, गुह्यक तथा नाग चौदह प्रकार के प्राणी जीवन-निर्वाह करते हैं। उसके ईशान कोण में पद्मराग मणि का बृहद शिखर है। इस शृंग को देखकर प्रतीत होता है जैसे उदित दिवाकर हो। इसके पृष्ठ भाग में भूतों द्वारा परिवृत महान् कल्पतरु है। उसके शिखर-दर्पण में वह जगत् के प्रतिबिम्ब-तुल्य प्रतीत होता है। उसके दक्षिण स्कन्ध पर कनक-पल्लव-पूर्ण शाखा है।'

'मुनीश्वर !' काक ने कहा, 'पिता चण्ड ने स्नेह से हम लोगों से कहा, 'भगवती देवी अलंबुषा जिस समय ध्यान में थीं, उस समय मैंने

शाखा के ऊपर अपना नीड़ बनाया था। उसमें निवास किया था। पुत्रो ! तुम लोग उसी नीड़ में जाकर विश्राम करो।'

'पिता की आज्ञा पाकर, हम लोगों ने देवी अलम्बुषा की पूजा की। पिता का आलिंगन तथा आशीर्वाद प्राप्त कर विन्ध्य प्रदेश से उड़े। क्रमशः आकाश का उल्लंघन किया। मेघों के कोटरों से निकले। पवन लोक में पहुँचे। व्योमचारी देवताओं की वन्दना की। सूर्य-लोक का अतिक्रमण कर स्वर्ग पहुँचे। स्वर्ण-लोक के पश्चात् ब्रह्म-लोक में आए। वहाँ अपनी माता तथा ब्राह्मी देवी को प्रणाम किया। उन्हें सब वृत्तान्त बताया। उन्होंने हमारा सस्नेह आलिंगन कर जाने की अनुमति दे दी। ब्रह्मलोक से हम लोगों ने प्रस्थान किया। वायु-लोक में गमन करते हुए इस कल्पतरु पर पहुँचे। यही हमारी उत्पत्ति की कथा है। इस स्थान पर निवास की कथा है।'

:o: :o: :o:

'महानुभाव !' काक ने कहा, 'आपके जिज्ञासानुसार, अपनी उत्पत्ति तथा यहाँ निवास की बातें आपको बता दी हैं। यदि और प्रश्न के उत्तर का आप अवसर देंगे, तो उन्हें यथाशक्ति कहूँगा।'

वशिष्ठ गम्भीर हो गए।

'मुनीन्द्र !' काक ने पुनः कहा, चिरकाल के संचित पुण्य का फल आज मिला है। अतएव आपका दर्शन निर्विघ्नता पूर्वक कर रहा हूँ।'

वशिष्ठ का मस्तक नत हो गया।

'ब्रह्मन् !' काक ने श्रद्धापूर्वक कहा : 'यह नीड़, यह शाखा, यह द्रुम आपके शुभ दर्शन से पावन हो गए हैं। विहंगमों का अर्घ, पाद्य ग्रहण कीजिए। हम लोगों को पावन कीजिए। हमें अपनी सेवा का अवसर दीजिए।'

विहंगमों ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। किलकिल शब्द करते हुए उठे। महर्षि वशिष्ठ को पाद्य-अर्घादि श्रद्धापूर्वक दिया। उनकी पूजा की। पूजा स्वीकार कर, वशिष्ठ ने पूछा :

'विहंगेश ! आपके भाइयों को मैं यहाँ नहीं देख रहा हूँ।'

'मुने !' काक ने कहा, 'दिवसों के समान अनेक युगों की पंक्तियाँ यहाँ निवास करते-करते बीत गई हैं। इस लम्बे काल में हमारे भ्राता गणों ने तृणवत् शरीर त्याग कर दिया है। शिव पद में परिणत हो गए हैं।'

वशिष्ठ की दृष्टि भुशुण्ड के मुखमण्डल पर स्थिर हो गई। भुशुण्ड की मुख-मुद्रा में भाइयों की स्मृति उनके दिवंगत होने की कथा कहते हुए किंचित् मात्र उद्वेग, शोक, एवं दुःख दिखाई नहीं दिया। वह शान्तात्मातुल्य स्थिरतापूर्वक पुनः बोले !

'ब्रह्मन् !' काक ने गम्भीर स्वर से कहा, 'चाहे कोई दीर्घायु हो, महान् हो, सन्त हो, बली हो, सबको अलक्षित-स्वरूप काल आत्मसात् कर लेता है।'

'साधु !' वशिष्ठ ने पूछा, 'प्रलय काल की भीषणता में जब सूर्यादि अपनी मर्यादा त्याग कर उग्र रूप धारण करते हैं। प्रबल वायु की भयंकर वर्षा होती है। शिला सदृश्य घनीभूत कुहासा होता है। क्या उस समय आपको खेद नहीं होता ?'

'महात्मन् !' काक ने कहा, 'घोर युग क्षेप के समय कल्प वृक्ष स्थिर रहता है। प्राणियों के लिए यह अगम्य स्थान है। हम यहाँ सुखपूर्वक रहते हैं।'

'महाबुद्धे !' वशिष्ठ ने कहा, 'कल्पान्त के महान् उत्पातों में आप चिन्ता निर्मुक्त किस प्रकार रहते हैं ?'

'मुनि शार्दूल !' काक ने उत्तर दिया, कल्पान्त में जगत् के व्यवहारों का लोप हो जाता है। उस समय सन्मित्र का त्याग करने वाले कृतघ्नतुल्य, मैं इस नीड़ का त्याग करता हूँ।'

'खगेश !' वशिष्ठ ने पूछा, 'उस समय आप कहाँ निवास करते हैं ?'

'महर्षे !' काक ने शान्त स्वर से कहा, 'सब कल्पनाओं का परित्याग कर, इस कल्प वृक्ष का त्याग कर, वासनाशून्य मन के समान आकाश में स्थिर हो जाता हूँ। प्रलय काल में द्वादश आदित्यों के तपने के कारण पर्वत मालाएँ खण्डित होने लगती हैं। उस समय मैं वरुण की धारणा कर,

स्थिर बुद्धि होकर, स्थित हो जाता हूँ। प्रलय काल में पर्वतों को मर्दित करनेवाली प्रलय वायु चलती है। मैं पर्वतीय धारणा कर, आकाश में अचल स्थित हो जाता हूँ। प्रलय काल में मेरु आदि पर्वत गलकर, महार्णव हो जाते हैं। उस समय मैं वायु धारणा कर स्थिर बुद्धि महार्णव के ऊपर तैरता रहता हूँ। मैं विमल पद में स्थिर हो जाता हूँ। सुषुप्तावस्था-तुल्य निर्विकल्प समाधि में उस समय तक अचलावस्था में रहता हूँ, जब तक कमलोद्भव पितामह ब्रह्मा, पुनः सृष्टि का सृजन नहीं करने लगते। उस समय मैं ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर, अपने विहंगालय में आ जाता हूँ।

'पक्षीन्द्र !' वशिष्ठ ने प्रश्न किया, 'महाप्रलय काल में जिस प्रकार तत् तत् धारणायों द्वारा खण्डित होकर आप रहते हैं, उसी प्रकार अन्य योगी क्यों नहीं स्थित हो जाते ?'

'मुनीन्द्र !' काक ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'अन्य योगी मुक्ति प्राप्त करते हैं। मेरा संकल्प है कि प्रत्येक कल्प के पश्चात् इसी गिरि-शिखर पर, इसी कल्पतरु पर, इसी रूप में उत्पन्न हूँगा। अतएव उसी दृढ़संकल्प के कारण कल्पों के पश्चात् मैं रूप धारण करता रहता हूँ।'

'भद्र !' वशिष्ठ ने प्रश्न किया, 'आपकी आयु लम्बी है। आपने अनेक सृष्टियों का उदय एवं अस्त देखा है। इस अगणित सृष्टि-परम्परा में आपने क्या आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखी हैं, जिनका आपको स्मरण है।'

'महात्मन् !' काक ने उत्तर दिया। मुझे स्मरण है। इस पृथ्वी पर शिला तथा वृक्ष कुछ नहीं था। तृण-लतादि का भी अस्तित्व नहीं था। पर्वत-अरण्यादि, विविध वृक्षादि, कुछ नहीं थे। यह पृथ्वी मेरु पर्वत के मूल में दस सहस्त्र दस वर्ष तक भस्म से भरी थी। सूर्य तथा चन्द्रमा का कहीं चिह्न नहीं था। केवल सुमेरु के प्रकाश द्वारा दिनादि के विभाजन का ज्ञान होता था। मुझे यह बात अच्छी तरह स्मरण है। सुमेरु पर्वत के प्रकाश द्वारा पृथ्वी का आधा कोटर प्रकाशित होता था। पृथ्वी पर कहीं कहीं प्रकाशमान पर्वत थे। पृथ्वी लोकालोक पर्वत-तुल्य लगती थी। इसका मुझे स्मरण है।

'इस पृथ्वी पर एक समय असुरों का संग्राम हुआ था। पृथ्वी का अन्तर भाग क्षीण हो गया था। वह पलायमान जनों से व्याप्त हो गई

थी। मुझे इसका भी स्मरण है। चार युगों तक मतदत्त ऐश्वर्यशाली असुरों द्वारा आक्रान्त पृथ्वी ने असुरों के अन्तः पुर की रूपता प्राप्त कर ली थी। इसका मुझे स्मरण है। एक समय इस जगत्-स्वरूप कुटी में मेरु के अतिरिक्त समस्त देश महार्णव में लोप हो गये थे। मेरु पर केवल ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवत्रीय शेष रह गये थे। मुझे भलीभाँति स्मरण है।'

'दो युगों तक यह पृथ्वी वन-पादपों से घनीभूत (निविड़) थी। उस समय पृथ्वी पर वन-पादपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। यह मुझे स्मरण है। एक समय पृथ्वी चार युगों तक निविड़ पर्वतों से व्याप्त थी। उसमें जनता का संचरण नहीं था। यह बात मुझे याद है। दस सहस्र वर्षों तक पृथ्वी मृत दैत्यों के अस्थि-पंजरों से आकीर्ण तथा पूर्ण थी। इसका मुझे स्मरण है। एक समय अंतरिक्षादि लोकों में भयग्रस्त समस्त विमान-गामी देवताओं से तिरोहित हो गई थी। वह निर्वृक्ष होकर अन्धकारमय हो गई थी। यह मुझे स्मरण है। एक समय विन्ध्य महाशैल मेरु की ऊँचाई की स्पर्धा से ऊँचा हो गया था। अगस्त्य मुनि दक्षिण की ओर चले गये थे। वह जगत् कुटी मलय, दर्दुर, सह्याद्रि आदि विभाजक पर्वतों के अभाव में एकाकार हो गई थी। मुझे इसका स्मरण है।

'ब्रह्मन् !' काक ने स्मरण करते हुए कहा, सैकड़ों असंख्य मनु चले गये। बहुत-से सैकड़ों चतुर्युग बीत गये। यह मुझे स्मरण है। एक समय पुरुष एवं असुरों से वर्जित स्वतः शुद्ध, प्रकाश-स्वभाने तेजस् पदार्थों का समष्टि रूप एक ब्रह्माण्ड था। इसका मुझे स्मरण है। एक समय सृष्टि इतनी उन्मत्त हो गई थी कि ब्राह्मण लोग सुरापान करते थे। देवनिन्दक शूद्र निवास करते थे। नारियों के अनेक पति होते थे। इसका मुझे स्मरण है।

'एक ऐसे समय का मुझे स्मरण है जब भूमिपीठ वृक्षों से घनीभूत था। महार्णव की कल्पना नहीं की गयी थी। स्त्री तथा पुरुषों के रति बिना भृगु आदि मानस-पुत्रों का जन्म हो गया था। मुझे उस सृष्टि का स्मरण है। जब पृथ्वी एवं पर्वत का अस्तित्व नहीं था। देवता तथा सिद्ध पुरुष व्योम में निवास करते थे। सूर्य एवं चन्द्र के बिना प्रकाश-पुंज फैला था। महात्मन् !

एक सृष्टि ऐसी भी हुई थी, जिसमें इन्द्र नहीं था। राजा नहीं था। उत्तम, मध्यम एवं अधम का भेद नहीं था। सब कुछ एकाकार था। सव दिक्चक्र अन्धकार से व्याप्त था।'

'विहगेश !' वशिष्ठ बोले, 'इस सृष्टि का क्रम क्या था ?'

'मुनीश्वर !' काक बोले : 'सर्ग निमित्त सर्वप्रथम सृष्टि का संकल्प किया गया। तत्पश्चात् तीनों लोक तथा अवान्तर प्रदेशों का विभाग किया गया। कुल पर्वतों के लिए स्थान निश्चित किया गया। जम्बूद्वीप की स्थिति पृथक् हुई। उसमें धर्म तथा वर्ण के अनुसार सृष्टि का विभाग किया गया। अनन्तर मण्डलों, नक्षत्र, चक्र-संस्थान तथा ध्रुव का निर्माण किया गया। तत्पश्चात् चन्द्रमा तथा सूर्य का निर्माण हुआ। इन्द्र एवं उपेन्द्र की व्यवस्था की गई। हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का अपहरण कर लिया। वाराह भगवान् ने पृथ्वी का उद्धार किया।'

'पक्षिराज !' वशिष्ठ ने पूछा, 'देव-दानव, राजादि कब बनाए गए ?'

'महर्षे !' काक ने कहा : 'वाराह भगवान् के द्वारा पृथ्वी का उद्धार होने के पश्चात् देव, दानव, मनुष्य तथा राजा की कल्पना की गई। भगवान् मत्स्य अवतार ग्रहणकर वेद लाये। मन्दराचल का उन्मूलन हुआ। अमृत हेतु क्षीरमन्थन किया गया। अनन्तर अजात-पक्ष गरुड़ तथा सागरों की उत्पत्ति हुई। इस कल्प में गरुड़-वाहन विष्णु, हंस-वाहन चतुर्मुख ब्रह्मा बन कर, देव-दैत्यादि की सृष्टि करते थे। हंसवाहन ब्रह्मा, वृषभ वाहन रुद्र का रूप धारण कर संहार करते थे और वृषभ-वाहन रुद्र भगवान् विष्णु का रूप धारण कर सृष्टि का पालन करते थे। यह चक्र चलता रहता है मुनिवर !'

'इसके पश्चात् क्या हुआ पक्षिराज ?' वशिष्ठ ने पूछा।

'भगवन् !' काक ने वशिष्ठ की ओर देखते हुए कहा, 'आप, भारद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, नारद, मरीचि, पुलह, उद्दालक, प्रभृति एवं क्रतु, भृगु, अंगिरादि सिद्ध ऋषि, सनत्कुमारादि ब्रह्मर्षि, भृगीश, स्कन्द, गजवदन, शिव के पार्षद, गौरी, सरस्वती, गायत्री, अनेक शक्तियाँ; सुमेरु, मन्दर,

कैलास, हिमालय, दर्दुर आदि पर्वत; हयग्रीवादि दानव; हिरण्याक्ष, कालनेमि, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि, प्रह्लादादि दैत्य; शिवि, न्यङ्कु, पृथु, उलारव्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुषादि राजा; आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायनादि, उपमन्यु, भगीरथ, शुक्रादि ने जन्म ग्रहण किया। 'बातें मुझे स्मरण हैं।'

'वायस।' वशिष्ठ ने पूछा : 'आप मेरे जन्म के विषय में कृपया प्रकाश डालिएगा ?'

'मुनिवर !' काक ने कहा : 'यह आपका आठवाँ जन्म है। इस आठवें जन्म में आपसे और मुझसे साक्षात्कार हो रहा है।'

'महात्मन् !' वशिष्ठ ने पूछा : 'क्या मैं आठों बार ब्रह्मा का पुत्र हुआ था ?'

'ब्रह्मन् !' काक ने उत्तर दिया : 'कदाचित् आप आकाश से, कदाचित् जल से, कदाचित् वायु से, कदाचित् शैल से और कदाचित् अग्नि से उत्पन्न होते हैं।'

'आश्चर्य !'

'भगवन् !' काक ने सस्मित कहा : 'इस प्रकार के तीन सर्ग पूर्वकाल में हो चुके हैं। मुझे इस तरह के दस सर्गों का स्मरण है।'

'उन दसों सर्गों में आचरण कैसा था ?'

'मुनिवर !' काक ने कहा, 'उनमें देवताओं के रूप तथा आचार एक थे। उनकी आयु एक थी। असुरों का उस समय उन पर प्रभाव नहीं था। जल में डूबी पृथ्वी का पाँच बार भगवान् ने कूर्मावतार धारण कर पाँच सर्गों में उद्धार किया था। अब तक बारह बार समुन्द्र-मन्थन हो चुका है। हिरण्याक्ष तीन बार पृथ्वी को पाताल में ले गया था। भगवान् ने रेणुका के गर्भ से परशुराम अवतार ग्रहण कर छः बार क्षत्रियों का विनाश किया है। एक सौ बार कलियुग आ चुका है। हरि ने एक सौ बार बुद्धदशा प्राप्त की है। चन्द्रमौलि शंकर ने तीन कल्पों में तीस बार त्रिपुरों, स्वायंभू तथा चाक्षुष मन्वन्तरों में दक्ष के यज्ञों तथा दस इन्द्रों का नाश किया है। हरि तथा हर के आठ बार संग्राम हो चुके हैं।'

'मुने !' काक ने कहा, 'युगों में अध्येताओं की बुद्धियों के न्यूनाधिक भाव के कारण कृपाओं, अंगों एवं पाठों की न्यूनाधिक विचित्रता-प्रयुक्त युक्त वेदों का उदय होता है। प्रत्येक द्वापर के अन्त में अनेक पाठवाले, एकार्थक, विस्तार-युक्त पुराण बनते हैं। महाभारत की सातवीं बार रचना की गई है। भगवान् राम का ग्यारह बार त्रेता में अवतार हुआ है। नृसिंह अवतार तीन बार भगवान् ग्रहण कर चुके हैं। द्वापर के अन्त में भगवान् का सोलह बार वसुदेव के गृह में अवतार हुआ है।

'यह तीनों जगत् किसी कल्प में समान, किसी में अत्यन्त विषम तथा किसी में अर्धसमान थे। किसी एक कल्प के प्राणियों का जो व्यवहार तथा आचरण था, उसी प्रकार के प्राणी तत्परवर्ती कल्प में भी आचारण तथा व्यवहार करते दिखाई दिए। एक कल्प के प्राणी दूसरे कल्प में दूसरे आचार तथा व्यवहार में रत देखे गए। प्रत्येक मन्वन्तर में जगत्-क्रम का विपर्यास, प्रख्यात जनों का प्रलय हो जाने पर, नवीन मित्र, नवीन बान्धव, नवीन सेवक, नवीन निवास-स्थान हो जाते हैं। किसी समय विन्ध्य में, किसी समय सह्याद्रि में, किसी समय दर्दुर पर्वत पर, किसी समय हिमालय, किसी समय मलय और किसी समय इस पर्वत पर कल्पवृक्ष में अपना नीड़ बनाता हूँ।'

'साधो !' काक ने कहा, 'मेरे पिता के जीवन-काल में इस तरह की जो शोभा थी, वही आज है। पूर्व काल में न तो यह उत्तर दिशा थी और न यह मेरु पर्वत था। उस समय दूसरी उत्तर दिशा तथा पर्वत था। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहों, नक्षत्रों के उदय-अस्त एवं संचरण, उत्तर दिशा स्थित मेरु आदि के कारण पूर्वादि दिशाएँ व्यवहृत हुई हैं। दूसरे सर्ग में व्यत्यस्त स्थिति प्राप्त करती है।

'पिता किसी कल्प में पुत्र-भाव प्राप्त करता है। किसी में मित्र हो जाता है। किसी कल्प में शत्रु हो जाता है। कितने ही पुरुष स्त्री-भाव प्राप्त करते हैं। किसी कल्प में सत्ययुग के आचार कलियुग में, और कलियुग के आचार सत्ययुग में होने लगते हैं। इसी प्रकार त्रेता और द्वापर में परस्पर विरोधी युगों के आचार होने लगते हैं। किसी कल्प के सत्ययुग में लोगों को वेदों तथा उनके अर्थों का ज्ञान था। संकेत मात्र से विहार करते थे।

सहस्त्र चतुर्युगों के पश्चात् ब्रह्मा जब विश्राम करते हैं, तब यह जगत् देवता, दानव, मनुष्य से शून्य असत्-स्वरूप हो जाता है।'

'महात्मन् !' वशिष्ठ ने पूछा : 'आप किस प्रकार स्थित रहते हैं ?'

'महामुने !' काक ने कहा : 'सृष्टि के नाश के पश्चात् भी मेरा यह शरीर रहता है। मैं अपना पुर्यष्टक ब्रह्मसत्ता में स्थिर करता हूँ। मेरा संकल्प स्फुरित होता है। उस स्फुरण के अनुसार मैं अपना यह शरीर पुनः प्राप्त करता हूँ।'

'खगेश !' वशिष्ठ ने प्रश्न किया, 'आपको मृत्यु क्यों नहीं स्पर्श करती ?'

'ब्रह्मन् !' काक ने उत्तर दिया, जिसके कण्ठ में वासना-सूत्र में पिरोई दोष-स्वरूप मुक्ता-माल नहीं है, उसे मृत्यु स्पर्श नहीं करती। जिस शरीर-वृक्ष को निःस्वास-स्वरूप आरा तथा लता-स्वरूप घुन नहीं लगते तथा व्यथाएँ जिसे नहीं भेदतीं, मृत्यु उसका स्पर्श नहीं करती। चिन्ता-वह्नि जिस वृक्ष शरीर को नहीं जलाती, उसे मृत्यु स्पर्श नहीं करती। मन-विवर निवसित राग-द्वेष-स्वरूप लोभी सर्प जिसे नहीं डसता, उसके पास मृत्यु नहीं आती। शरीर समुद्र सलिल को बड़वाग्नि-रूप क्रोध जहाँ नहीं पान कर सकता, उसके समीप मृत्यु आने की इच्छा नहीं करती। तिलों को जिस प्रकार कोल्हू व्यग्र कर देता है, उसी प्रकार जिसे काम पतित नहीं करता, मृत्यु उसके पास नहीं आती। जिसका चित्त परमपावन निर्मल पद में विश्रांत हो गया है, उसका स्पर्श मृत्यु नहीं करती। शाखामृग-तुल्य जिसका मन चंचल नहीं है, उसके दर्शन से मृत्यु दूर भागती है। जिस महापुरुष का चित्त समाहित है, उससे मृत्यु भयभीत रहती है।'

'यह सब किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?'

'मुने !' काक ने कहा, 'विभ्रमों से शून्य आत्मदृष्टि, सब दृष्टियों में, सब ज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ तथा समुन्नत है। आत्म-चिन्ता समस्त दुःखों के नाश का कारण होती है। महर्षे ! इस आत्म-चिन्ता की सखी प्राण-चिन्ता है। प्राण-चिन्ता का मैंने आश्रय ग्रहण किया है। यह प्राण-चिन्ता मेरे जीवन का रहस्य है।'

'साधो !' वशिष्ठ ने कहा : 'प्राण-चिन्ता का क्या अर्थ है ?'

'मुने !' काक ने कहा, 'इस मनोहर देह-गेह को देखिए। इस गृह में वात, पित्त, कफ तीन महास्थूण हैं। यह नवद्वारों से समावृत है। यह पुर्यष्टक कलत्र, तन्मात्रा, स्वजनों एवं अहंकार-गृहस्थ द्वारा परिपालित है। इस गृह का विवरस्वरूप दो चन्द्रशालाएँ उसके दो कान हैं। केश उसका छाजन है। चक्षु-द्वय उसके गवाक्ष हैं। मुख द्वार है। दोनों हाथ तथा पार्श्व भाग उपमन्दिर है। मुख द्वार पर दन्त-पंक्तियाँ बकुल-मालातुल्य सुशोभित हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ द्वारपाल हैं। रक्त, जल, मांस, मृत्तिका तथा वसा गोबर से उसमें गोबरी की गई है। वह शिरा स्नायुओं द्वारा वेष्टित है। स्थूल अस्थियाँ धरनें हैं। उसकी दीवारें मजबूत हैं।

'इडा तथा पिंगला नाड़ियाँ नासापुट में दक्षिण तथा वाम भाग में संचार करती हैं। उसके यन्त्र-तुल्य तीन कमल-युग्म हैं। वह अस्थि-मांसमय मृदु है। ऊर्ध्व तथा अधोभाग में नीलदण्ड लगे हैं। वे परस्पर मिले हुए, कोमल दलों से सुशोभित हैं। नासिकाग्र से पदाग्र तक शरीराकाश में चन्द्र अपान वायु द्वारा अमृत सृजन करता है। प्राण वायु द्वारा हृदय-कमल यन्त्र के उच्छ्वास-निःस्वास में संकुचित तथा विकसित होते रहते हैं। नाड़ियों में वायुप्रवेश कर वायु बढ़ता है। वार्धक्य प्राप्त वायु हृदय, वायु, नाभि, कण्ठ तथा समस्त अंगों में आश्रय प्राप्त कर पंच वायु रूप से, बहत्तर सहस्र नाड़ियों की प्रतिशाखा, एक सौ नाड़ियों में प्रवेश कर शरीर में संचरण करता है। हृदय-वायु को प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त, धनंजय नामों की संज्ञा दी जाती है। उक्त तीन हृदय-कमल यन्त्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊर्ध्वाधः में प्रसरित रहती हैं। प्राणशक्तियाँ गति, अगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन तथा नियतन करती हैं। हृदय-कमल में स्थित वायु प्राण कहा गया है। इसकी एक शक्ति लोचनों को स्पन्दित करती है। ऊर्ध्व गमन वायु को प्राण तथा अधोगमन वायु को अपान कहा जाता है। वे शीतल तथा उष्ण रहती हैं। वे सर्वदा आकाशगामी रहती हैं। प्राण एवं अपान वायु शरीर-यन्त्र के दो अश्व हैं। हृदयाकाश के सूर्य तथा चन्द्रमा हैं। उनका स्वरूप अग्नि तथा सोम के समान है।'

'खगेश !' वशिष्ठ ने कहा : 'प्राण तथा अपान वायु का स्वरूप क्या है ?'

'ऋषिवर !' काक ने कहा : 'प्राणवायु हृदयाकाश में उष्णता उत्पन्न करती है। अन्न का पाचन करती है। ऊर्ध्वगामी होती है। उसमें निरन्तर स्पन्दन-शक्ति रहती है। निरन्तर गति रहती है। अपान-वायु हृदय को शीतल करती है। वह अधोभाग-गामी होता है। उसमें निरन्तर स्पन्दन-शक्ति तथा सतत गति रहती है। प्राणों की बहिर्मुखता अर्थात् वायु जब बाहर हृदय से निकलती है, तो उसे रेचक कहते हैं। बारह अंगुल बाहर स्थित प्राण हृदय में प्रवेश कर उसे पूरा कर देता है, तो उसे पूरक करते हैं, वायु भर जाने पर, जब प्राण वायु का हृदय में अभ्युदय नहीं होता, अर्थात् बाहर से खींचकर कुम्भ में जैसे वायु रख ली जाती है, उसे कुम्भक कहते हैं। हृदय में वायु को रोक रखने का नाम कुम्भक है। शास्त्रों में आठ प्रकार का प्राणायाम कहा गया है। यह कुम्भक, सूर्यभेदन, उज्जायी, शीत्करी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा तथा प्लावनी है। प्राण चिन्तन-स्वरूप व्यापार में संलग्न होकर, बाह्य अर्थों का परित्याग करने पर, मन कुछ समय पश्चात् अद्वितीय परमपद प्राप्त करता।'

'प्राण की उपासना से लाभ मुने ?'

'महात्मन् !' काक ने कहा, 'प्राणोपासना द्वारा निर्मल आत्मा में मैंने चित्त-विश्रान्ति प्राप्त की है। अपान जब प्राण में लीन होता है, तो मन शोक-रहित हो जाता है। इसी प्रकार प्राण जब प्राण में लीन होता है, तो मन शान्ति प्राप्त करता है। प्राण अपना तत्प्रभाव जब तक त्याग कर अपान के शीतल रूप में नहीं परिणत होता, तब तक मन शान्त नहीं होता। अपने हृदयाकाश में प्राण-स्वरूप सूर्य एवं चन्द्रमा के प्रकाश में जो देखता है, वही वास्तव में देखता है। हृदयान्धकार के तिरोहित होने पर सिद्धता प्राप्त होती है। प्राण के अस्त होने पर अपान और अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है। जब हृदय-कोट में प्राण उदय होता है, तो वह प्राण का रेचक और अपान का पूरक होता है। जिस समय प्राण अपान में स्थित होता है, उस समय अपान का कुम्भक होता है। कुम्भक की स्थिति

में त्रिताप मिट जाते हैं। जब अपान का रेचक होता है, तो प्राण का कुम्भक होता है। इस स्थिति में भी त्रय-ताप नष्ट हो जाते हैं। प्राण अपान में जो शान्त-स्वरूप आत्मतत्व है, उसमें लीन होने पर मन शान्त होता है।'

'आत्म-तत्व कैसे पहचानेंगे पक्षिराज !'

'महर्षे !' काक ने कहा, 'अपान के स्थित हो जाने पर प्राण का उदय नहीं होता। उस अवस्था में जो साक्षीभूत सत्ता शेष रह जाती है, वही आत्मतत्व है।'

'और मन ?'

'मुनिपुंगव !' काक ने कहा : 'जिस समय अपान के स्थान पर प्राण स्थित हो जाता है और अपान का उदय नहीं होता, उस समय मन का मनोभाव स्वयं नष्ट हो जाता है।'

'इस आत्मा का रूप क्या है ?'

'महात्मन् !' काक ने कहा, 'प्राण जब अपान में स्थित होकर पुनः उत्पन्न नहीं होता, तो कुम्भक की वह अवस्था शान्त तत्व आत्मा का स्वरूप है। उसे प्राप्त करने पर मानव शोक-ग्रस्त नहीं होता।

'पुष्प का तत्व उसकी सुगन्ध है। उसी प्रकार प्राण तथा अपान के भीतर अनुभव तत्व है। वह न तो प्राण है और न अपान है। उस अनुभव आत्मतत्त्व की मैं उपासना करता हूँ।

'प्राण का क्षय अपान-कोट में होता है और अपान का प्राण-कोट में क्षय होता है। उन प्राण और अपान के मध्य जो चिदात्मा है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।

'जो प्राण का प्राण, अपान का अपान, जीव का जीव और शरीर का आधारभूत है, उस चिदात्मा की मैं उपासना करता हूँ।

'जिसमें सब हैं। जिसके द्वारा सब हैं। जो स्वयं सब है। उस चिदात्मा की मैं उपासना करता हूँ।

'प्रकाश का प्रकाशक, पावन का पावन, भाव-अभाव का जो स्वयं ही भाव-अभाव है, उस चिदात्मा की मैं उपासना करता हूँ।

'हृदय-स्थित संपुट-स्वरूप वायु और उसके साक्षी-रूप बाहर-भीतर सब स्थानों पर स्थित, उस चिदात्मा की मैं उपासना करता हूँ।

'जिस स्थिति में अपान का अन्त होता है और प्राण नहीं उत्पन्न होता, उस कलंकरहित चेतनत्व की मैं उपासना करता हूँ।

'जब प्राण का अस्त होता है। अपान का उदय नहीं होता, नासिकाग्र के शुद्ध आकाश में जो सत्यता है, उस चित्त-रूपता की मैं उपासना करता हूँ।

'प्राण अपान की उत्पत्ति का स्थान, योग कलाओं का आधार, चारों ओर जो व्याप्त है, उस चित्त तत्व की मैं उपासना करता हूँ।

'जो प्राण अपान के रथ पर आरूढ़ है। जो शक्ति का शक्ति-रूप है, उस चित्तत्व की मैं उपासना करता हूँ।

'सम्पूर्ण कला-कलंकों से रहित, सर्व कलाओं का आश्रय तथा जो अनुभव तत्त्व है, उस आत्मतत्त्व की मैं उपासना करता हूँ।'

वशिष्ठ साश्चर्य नीरव काक भुशुण्ड की ओर एकटक देखते रह गए। काक ने पुनः कहा :

'महात्मन् ! मैंने इस प्रकार प्राण-समाधि में आत्मपद को प्राप्त किया है। इस निर्मल-दृष्टि के आश्रय में आश्रय पा रहा हूँ। मैं अन्तर्मुख स्थित हूँ। प्राण-अपान के प्रवाह में मेरी समाधि है। अतएव सर्वदा दुःखादिरहित आनन्दित हूँ। मैं न तो परिच्छिन्न हूँ। न मैं अहं हूँ। न मैं किसी का हूँ। न मेरा कोई है। ये भावनाएँ मेरे चित्त में दृढ़ीभूत हो गई हैं।

'मैं जगत् हूँ। मैं आकाश हूँ। मैं ही देश हूँ। मैं ही काल हूँ। मैं ही कृपा हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ। यह भावना मुझमें दृढ़ हो गई है।'

'भगवन् !' वशिष्ठ बोले, 'वे धन्य हैं जो दूसरे ब्रह्म-तुल्य आपका दर्शन करते हैं। आप महात्मा हैं। आप पुरुष हैं। आप ज्ञानी हैं। आप मुक्तात्मा का दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ हूँ। मेरा शरीर, मेरा मन और मेरा सब कुछ पवित्र हो गया है।'

काक भुशुण्ड का मस्तक झुक गया। वशिष्ठ ने पुनः कहा—'आपका कल्याण हो। आप अपनी शुभ गुहा में प्रवेश कीजिए। मध्याह्न काल आ गया है। मैं अपने सुरमन्दिर जाता हूँ।'

काक भुशुण्ड अपने वृक्ष से उठे। संकल्पजनित कर द्वारा सुवर्ण-पल्लव-पात्र ग्रहण किया। उन्होंने कल्पवृक्ष की द्रुम, केसर-पुष्प युक्त हिम-सदृश्य कान्तिमय अर्घ्योपयोगी मुक्ता-स्वरूप जलबिन्दुओं से पात्र पूर्ण किया। अर्घ्य, पाद्य, पुष्प द्वारा आपादमस्तक भक्तिपूर्वक वशिष्ठ की पूजा की।

पूजा प्राप्त कर वशिष्ठ आसन त्याग कर उठे। काक भुशुण्ड उन्हें पहुँचाने के लिए चले। वशिष्ठ ने उन्हें रोका। वे रुके नहीं। मुनि आकाश मार्ग से उड़े। खगेन्द्र पीछे-पीछे एक योजन तक चलते रहे। वशिष्ठ ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें लौट जाने के लिए बाध्य किया। सागर की तरंगों-तुल्य दोनों महात्मा एक दूसरे से अलग हो गए। भगवान् वशिष्ठ ने अरुन्धती द्वारा पूजा प्राप्त कर, सप्तर्षि मण्डल में मुनियों के दर्शन किए।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग : १४–२८
निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : ५–१६

ईश्वर

कैलाश पर एक कुटी थी। उस कुटी में वशिष्ठ निवास करते थे; तपस्या-रत थे। श्रावण कृष्ण अष्टमी का दिन था। ऋषि ने देखा, दशों दिशाएँ काष्टवत् मौन थीं। मन्द-मन्द तुषार-मिश्रित वायु बह रही थी। आकाश में विचित्र ध्वनियाँ उठ रही थीं। अन्धकार घनीभूत होकर पृथ्वी को सुलाने का अथक परिश्रम कर रहा था। कुंजों का गहन अन्धकार खड्गों से काटना सम्भव नहीं था। रात्राग्र के प्रथम यामार्ध में ओषधियों की पूजा स्वीकार कर, शशि उन्हें रस प्रदान करने के लिए उदय होने लगा था। कुमुदिनी खिल गई। सप्तर्षि सिर पर आ गए थे।

अकस्मात् दिशाएँ ज्योतिर्मयी हो गईं। शुभ्रातिशुभ्र शतशशि-बिम्बों तुल्य धवल प्रकाश फैल गया। मालूम होता था कि हिमालय पर्वत मूर्तिमान् स्थित हो गया है। मक्खन का पिण्ड, किंवा पर्वताकार उज्ज्वल शंख, भूखण्ड से ऊपर निकल आया है। मुक्ता-तुल्य तुषार-कण उड़ने लगे। वशिष्ठ ने अन्तर तथा बाह्य दृष्टियों से तेज-पुञ्ज का रहस्य जानने का प्रयास किया।

वशिष्ठ की दृष्टि सम्मुख शिखर-प्रदेश पर पड़ी। चन्द्र-कलाधर भगवान् शंकर माता पार्वती के हाथ में हाथरखे आ रहे थे। उनके आगे नन्दीगण मार्ग-प्रदर्शन करते बढ़ रहे थे। वशिष्ठ ने भगवान् भूतनाथ को आते देखा। उनकी मानसिक वन्दना, पूजा की। अपने शिष्यों के साथ उनकी पूजा निमित्त अग्रसर हुए।

वशिष्ठ ने भगवान् शंकर की पाद्य, अर्घ्य, पुष्पादि से पूजा की। सखी-युक्त, गणमण्डल द्वारा परिवेष्ठित भगवती गौरी की पूजा की। पुष्पासन पर शंकर तथा गौरी आसीन हुए। पुनः पाद्य, अर्घ्य एवं पुष्प द्वारा गौरी-शंकर की पूजा और वन्दना की गई। पूजा समाप्त हुई। गौरीपति ने प्रसन्न-वदन पूछा।

'ब्रह्मन् ! तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ शान्ति प्राप्त कर परम पद में विश्रान्ति लेकर कल्याणकारी हुई हैं कि नहीं ? कल्याणानुवर्ती तप निर्विघ्न चल

रहा है कि नहीं ? प्राप्य को प्राप्त कर लिया है या नहीं ? तुम्हारे भय शान्त हो गए हैं या नहीं ?'

'महेश्वर !' वशिष्ठ ने निवेदन किया, 'आप के मंगल-स्वरूप का जो स्मरण करता है, उसे कुछ अप्राप्य नहीं है। उसके समीप भय आने का साहस नहीं कर सकता। जिस देश के लोग आप का ध्यान करते हैं, वही वास्तव में देश है, वही जनपद है, वे ही दिशाएँ हैं और वही प्रशस्त पर्वत है। आपका अनुस्मरण भूतकाल के पुण्य का फल, वर्तमान पुण्य की वृद्धि तथा भावी सुकृतियों का मूल है। आपका स्मरण, ज्ञान-अमृत-कलश का आधार है। घृति-ज्योत्स्ना का शशि है। स्वर्ग का द्वार है।'

वशिष्ठ ने शिरसा नमन किया। नम्रतापूर्वक पुनः प्रार्थना की :

'भगवन् ! यदि आपकी आज्ञा हो तो कुछ प्रार्थना करूँ ?'

शंकर पार्वती की ओर देखकर मुसकरा उठे। नन्दीगण प्रसन्न हो गए। वशिष्ठ ने निवेदन किया :

'प्रभो ! उद्वेग-नाशक पापों का क्षय तथा कल्याण-कारक देवार्चन-विधान का प्रकार क्या है ? प्रसन्न चित्त से कृपया कहिए।'

'ब्रह्मवादी !' ईश्वर ने कहा, 'सुनो, मैं सर्वश्रेष्ठ देवार्चन-विधान का प्रकार क्या है ? प्रसन्न चित्त से कृपया कहिए।'

'ब्रह्मावादी !' ईश्वर ने कहा। 'सुनो, मैं सर्वश्रेष्ठ देवार्चन-विधान कहता हूँ। जिसके अनुसरण द्वारा मानव मुक्त होगा।

'महाबाहो ! तुम्हें ज्ञात है या नहीं कि देवता का क्या अर्थ है ? पुण्डरीकाक्ष त्रिलोचन देवता नहीं हैं। कमलोद्भव ब्रह्मा देवता नहीं हैं। देवेश्वर इन्द्र देवता नहीं हैं। पवन, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, देवता नहीं हैं। ब्राह्मण देवता-रूप नहीं हैं। शरीर देवता-रूप नहीं हैं। मैं देवता रूप नहीं हूँ। तुम देवता-रूप नहीं हो। शरीर देवता-रूप नहीं है। चित्तधारी व्यक्ति विशेष देवता रूप नहीं है। देह की शोभा देवता-रूप नहीं है। बुद्धि देवता-रूप नहीं है। जो अकृत्रिम है, जो आदि-अन्त शून्य है, जो निरतिशय है, जो आनन्द-स्वरूप है, जो चित्त-प्रकाश है, उसे विद्वान् देवता कहते हैं। देव के इस सत्य-स्वरूप को जो नहीं जानते, वे अज्ञानी कल्पित आकारादि की पूजा करते हैं। जो शिव तत्व के ज्ञान से रहित हैं, उनके लिए मूर्तियों का पूजन विहित

है। एक योजन पर्यन्त जो चल नहीं सकते, उनके लिए एक कोस चल लेना पर्याप्त है।'

'द्विजोत्तम !' ईश्वर ने कहा, 'अपनी भावना के अनुसार मनुष्य फल प्राप्त करता है। परिच्छिन्न उपासक को परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न उपासक को अपरिच्छिन्न फल प्राप्त होता है। अकृत्रिम फल त्याग कर, कृत्रिम फल की आकांक्षा करने वाला, मन्दारवन त्याग कर, करंज-कानन में प्रवेश करने का प्रयास करता है।

'वह देव चित्त-स्वरूप निर्मल शिव है। उनकी पूजा बोध, साम्य और शम के पुष्पों से करो। महर्षे ! शम बोधादि द्वारा आत्मदेव की जो अर्चना की जाती है वही देवार्चना है। आकृति की, किंवा मूर्तियों की अर्चना देवार्चना नहीं है। आत्म-चैतन्य की उपासना त्याग कर जो व्यक्ति कृत्रि देवार्चना में रत हो जाते हैं, वे चिरकाल तक क्लेश के भागी होते रहते हैं।'

'प्रभो !' वशिष्ठ ने पूछा, 'यह जगत् किस उपपत्ति द्वारा, चेतनाकाश मात्र आत्मा होता है तथा किस उपपत्ति द्वारा चेतन में जीवादि रूप होते हैं ? उन्हें जानने की अभिलाषा है।'

'ब्रह्मन् !' ईश्वर ने कहा : 'यह ओर-छोर-हीन चिदाकाश कल्पान्त में नष्ट नहीं होता। यह जगत् चिदाकाश मात्र है। चिन्मात्र पर्वत है। चिन्मात्र जगत् है। चिन्मात्र आकाश है। चिन्मात्र आत्मा है। चिन्मात्र जीव है। भूतों की परम्परा चिन्मात्र है। आकाश, परमाकाश, ब्रह्माकाश, जगत् तथा चित्त एक रूप के पर्याप्त शब्द उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार पादप, वृक्ष तथा तरु शब्द हैं।'

'महर्षे !' ईश्वर ने कहा : 'तुम पूछोगे इस जगत् का प्रतिभास कैसे होता है ? सुनो ! सूर्य तथा चन्द्रमा स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। उनका प्रकाश बाहर स्पन्दित होता है। वह प्रकाश नील, पीत आदि रंगों के नाम से प्रसिद्ध होता है। वह प्रकार चिदाकाश में स्पन्दन होता है। वह स्पन्दन जगत् रूप में प्रतिभासित होता है। मिथ्या द्वैत अनुभूत होने पर, चिदाकाश जगद्रूप मालूम होता है। जिस प्रकार स्वप्न में चिदाकाश स्वयं जगद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार जागृत स्वप्न में

चिदाकाश जगत्रूप प्रतीत होता है। स्वप्न-नगर चिदाकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार जाग्रतकाल महाचित् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परमाकाश ब्रह्म का संकल्प ही तीनों जगत् है।

'ब्रह्मन् !' ईश्वर ने कहा, 'ब्रह्म ही परमाकाश है। यह विश्व परमात्मा का स्वरूप है। यही परम देव है। इस परमदेव का पूजन कल्याणप्रद है। अकृत्रिम, आदि-अन्तहीन, अद्वितीय, अखण्ड, बाह्य साधनों द्वारा सिद्ध न होने वाला, नित्य सुख, उसी देव के अर्चन से अर्जित होता है। इस आत्म-देव कीं पूजा के निमित्त महान् पुष्पों तथा धूपों की आवश्यकता नही है। विवेक-बुद्धिहीन बालक-सदृश्य कोमल वृत्तिवालों के लिए कृत्रिम प्रतिमा तथा सांगोपांग देवार्चन का विधान किया गया है। बालक-स्वरूप आकार-पूजकों को इसी में सन्तोष मिलता है। ब्रह्मन् ! पुष्प, धूप की अर्चना बाल-बुद्धि पुरुषों के लिए विहित है, न कि आप जैसे लोगों के लिए। लता-स्थित रस-तुल्य चेतन सत्ता सामान्य रूप से सर्वत्र स्थित है।'

'अनघ !' ईश्वर ने कहा, 'तुम्हारी पत्नी अरुन्धती का चेतन तुम्हारा चेतन, पार्वती का चेतन नन्दीगणों का चेतन, हमारा चेतन और त्रैलोक्य का चेतन एक है। यही देव है। यह देव सबके शरीर में स्थित है। आकाश में स्थित है। सर्वत्र स्थित है। यह दूर नहीं है। वह किसी के लिए दुष्प्राप्य नहीं है। मन सहित इन्द्रियों का वह आश्रय है। केवल उसकी संज्ञा के लिए, उसे सम्बोधन करने के लिए, लोगों ने उसका नाम देव रख दिया है। वसन्त ऋतु का एक ही रस, समस्त प्रकृति में प्रवेश कर नाना रूप धारण कर, नाना नामों से पुकारा जाता है। इसी प्रकार चेतन सब में स्थित रह कर, नाना नामो से सम्बोधित किया जाता है।'

'ब्रह्मन् !' भगवान् ने कहा, 'वह चेतन कहीं आकाश है, कहीं जीव है, कहीं चित्त है, कहीं अहंकार है, कहीं दिशा है, कहीं दृश्य है, कहीं विकार है, कहीं तम है, कहीं प्रकाश है, कहीं अग्नि है, कहीं जल है, कहीं वायु है, कहीं स्थावर है और कहीं जंगम है। अतएव राक्षस, मनुष्य, देवतादि, एक वृक्ष के अगणित पत्तों के तुल्य, एक चेतन के भिन्न-भिन्न रूप हैं। गर्भवती माता-तुल्य चेतन अपने गर्भ में जगत्-प्रतिबिम्ब को धारण करता है। सूर्य की किरणों से रक्त तथा नील कमल समान रूप से प्रफुल्लित

होते हैं। दिन तथा रात्रि को इसी प्रकार चेतन प्रकाशित करता है। शरीर वृक्ष बिना चेतन मंजरी के शोभित नहीं होता। इच्छा शून्य स्वभाववाले वसन्त ऋतु के कारण, स्वभावतः अंकुर अंकुरित होता है। इसी प्रकार इच्छा शून्य स्वभाववाले चिदात्मा द्वारा जगत्-शोभा व्यापक होती है। प्रकाश से अन्धकार सिद्ध होता है और प्रकाश के द्वारा अन्धकार का नाश होता है। इसी तरह चेतन जड़ को सिद्ध करता है और इसी चेतन द्वारा जड़ का अभाव हो जाता है।

'देव !' वशिष्ठ ने प्रश्न किया, 'यदि यह सब कुछ चेतन है, तो मृत्यु के पश्चात् शरीर चेतन-शून्य क्यों हो जाता है ? ईश्वर! आपके कथनानुसार शरीर चिन्मय है। पुनः वह क्यों अचिन्मय हो जाता है ? चित्त अविनाशी है, तो शरीर होकर जड़ कैसे हो जाता है ?'

'ब्रह्मन् !' ईश्वर ने सस्मित कहा, 'आपने एक प्रश्न किया। ब्रह्मविद् ! वशिष्ठ !! सुनो, मैं इसका उत्तर देता हूँ। इस शरीर में दो प्रकार की सर्व-भूतमयात्मक है। पहला व्यष्टि, समष्टि, बुद्धि उन्मुख अर्थात् विज्ञानमय शब्दवाच्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आसक्त स्वभाववाली है। दूसरा कूटस्थ चैतन्य है। सुशील स्त्री स्वप्न में संकल्पित अन्य पुरुष से संयुक्त होने पर, दुःस्वभाव होते हुए भी अन्य स्त्रीवत् प्रतीत होती है। इसी प्रकार चित्त संकल्पों द्वारा अपनी आत्मा को जीवात्मा समझता है। स्वयं अन्य समझकर उसमें अवस्थित रहता है। जिस प्रकार सुशील पुरुष क्षण मात्र में क्रोधित होकर दूसरा रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार यह चित्त विकल्प लांक्षित होकर दूसरा स्वरूप धारण कर लेता है। विकल्प कलुषित चित्त अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर चेतन होता हुआ, अपने को जड़ समझता है। अपनी बुद्धि का स्वयं विषय बन जाता है।

'चित्त स्वयं आकाश युक्त, परमाणुमय, शब्द, स्पर्शादि भोगों का बीजात्मक, चैतन्य-भाव प्राप्त करता है। तत्पश्चात् शमष्टि भाव से प्राण-भाव धारण करता है। पंचीकरण द्वारा सूक्ष्म भूतों से संवलित होकर क्रमशः सप्तद्वीपादि देशरूप तथा निमेषादि कालरूप में विभक्त हो जाता

है। पुनः वही चित्त प्राण धारणपूर्वक जीव होकर क्रम से बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त-स्वरूप हो जाता है। मन-रूपता प्राप्त कर चित्त संसार का अवलम्बन कर लेता है। जैसे एक ब्राह्मण चाण्डालरूपता का अवलम्बन कर समझ लेता है कि वह चाण्डाल हो गया है। यही ब्रह्म चित्त अज्ञान-संवलित रूप धारण करता है। देह जीवाकार संकल्प करता है। असर्वज्ञ जड़ होकर बारम्बार भोग संकल्पों के कारण संसारी हो जाता है। तरल जल कठोर होकर पाषाणवत् हो जाता है। संकल्पों द्वारा स्थूल होकर चित्त जड़ता प्राप्त करता है।

'चित्त मन, मोह, माया, नाम धारण कर जड़ता का आश्रय लेता है। तत्पश्चात् मोह-मन्दता प्राप्त करता है। तृष्णा की बेड़ियाँ पहन कर पीड़ित होता है। काम, क्रोध तथा भय से ग्रस्त होता है। वैभव एवं दरिद्रता के गर्त्त में गिर जाता है। वह अपने मूल-स्वरूप का त्यागकर स्त्री, पुत्र, बान्धवों के वियोग में शोकादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। दुःख दावानल से सन्तप्त हो जाता है। शोक तथा अशुभ भावनाओं से कृपण हो जाता है। देह में आस्था रखकर दीन हो जाता है। मोहपंक में हाथी के समान फँस जाता है। वैभव तथा दरिद्रता-लता के हिंडोलों में झूलता चंचल हो जाता है। निःसार तथा संसार के असीम विकारों में व्यवहार करने लगता है। अनेक तपों से सन्तप्त हो जाता है। राग तथा क्रोध से व्याप्त हो जाता है। पथ-भ्रष्ट हरिणी की तरह परवश हो जाता है। वेतालों के मध्य से जिस प्रकार कोमल सरल हृदय बालिका भयवश भाग जाती है, उसी प्रकार चित्त अपने संकल्पों द्वारा प्राप्त विभ्रम दृष्टियों से भयभीत होकर भागता है।

'मुनिवर!' ईश्वर ने कहा: 'ऊँटनी तिक्त नीम तथा काँटेदार वृक्षों के पत्तों को खाते समय मधुर रस की आकांक्षा करती है। दुःखमय विषयों में विचरण करता चित्त उसमें ऊँटनी की तरह सुख की अभिलाषा करता है। ऊँटनी ऊँचे वृक्ष सुन्दर पल्लव के मधु बिन्दु के ग्रहणार्थ, अपने दोनों पैरों को ऊपर उठाकर, वृक्ष पर चढ़ने का असफल प्रयास करती है। गिर जाती है। उसी प्रकार चित्त उन्नत विषय-वृक्ष पर, सुख-मधु-बिन्दु-प्राप्ति निमित्त चढ़ने का प्रयास करता गिर जाता है।

एक संकट से दूसरे संकट, एक दुःख से दूसरे दुःख तथा एक विपत्ति से दूसरी विपत्ति में पड़ता चित्त विषम दुःख प्राप्त करता है। तापों से निरन्तर सन्तप्त होता रहता है।

'मनुष्य शरीर प्राप्त करने पर, बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक, मोक्षोपयोगी विवेक पद की ओर चित्त नहीं उन्मुख होता। अन्तिम काल आता है। वह भयविह्वल हो जाता है। सूखते सरोवर के क्षीण जल में प्राण लोभ से छटपटाती मछली की तरह, अपने जीवन रक्षा निमित्त छटपटाने लगता है। बालकाल में चित्त के समस्त विषत पराधीन रहते हैं, यौवनावस्था में धनादि चिन्ता से उसका विवेक आवृत्त हो जाता है, और वृद्धावस्था में दुःख-पीड़ित होकर क्रोध से बँध कर मर जाता है।

'अपने कर्मों के अनुसार कभी स्वर्ग नगर में उत्पन्न होता है। कभी पाताल-कुहर में नागी हो जाता है, कभी दैत्य विवर में असुर हो जाता है, और कभी इस भूखण्ड पर पुरुष-स्त्री रूप ग्रहण कर लेता है। राक्षस स्थान में राक्षसी, वनकोटर में वानरी, गिरीन्द्र शिखर में सिंही और कुलपर्वत में किन्नरी हो जाता है। इसी प्रकार कर्म-गति के अनुसार देव-गिरियों पर विद्याधरी, वनगर्त में व्याली, वृक्ष पर लता, नीड़ में खगी तथा शिखर पर गुल्मिनी तथा वन में हरिणी बन जाता है।

'महर्षिवर!' ईश्वर ने कहा : 'यह चित्त नारायण होकर क्षीर सागर में शयन करता है। ब्रह्मपुरी में ध्याननिरत कमलासीन ब्रह्मा होता है। कैलाश में मेरा स्वरूप शंकर होकर विचरण करता है। स्वर्ग में देवेन्द्र इन्द्र होता है। सूर्य होकर दिन की रचना करता है। वायु होकर सबको स्पन्दित करता है। चित्त हंसादि पक्षियों तथा पाषाणादि जड़ों का रूप धारण करता है। अपने रूप के प्रमाद से, अपने संकल्प से, अपनी कल्पना से, अपनी कर्म गति को प्राप्त होता है।'

'ब्रह्मन्!' ईश्वर ने कहा, 'यह चित्त कहीं रसवती नदी हो जाता है। कहीं कुमुद-रूप प्रफुल्लित हो जाता है। वृक्षादि में बीज रूप, अंकुरों में रस रूप, और कहीं पाषाण में मीन रूप धारण करता है। चित्त कहीं

फलपत्तियों के पाकों में, कहीं काष्ठ में कहीं अनल में, कहीं आकाश में, कहीं वायु में, कहीं शीतल हिम जल में, उपलक्षित होता है। कहीं उज्ज्वल, कहीं नील, कहीं हरित, कहीं अग्नि तथा कहीं मही रूप बन जाता है। जलावर्त्त में घूमते तृण के समान यह चित्त विभिन्न योनियों में घूमता रहता है।

'अनघ !' ईश्वर ने कहा, 'मैं दुःखी हूँ, यह भावना अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। स्वप्न में व्यक्ति पर्वत से पतित होकर अपने को मरा समझता है। वह रोता है, दुःखी होता है। वैसे ही अनात्म में आत्मा का अनुभव करने के कारण दुःख प्रतीत होता है। अनर्थों से निवृत्ति, जगत् को असत्य तथा आत्मा को सत्य जानकर होती है। आत्म-भावना द्वारा सत्य प्राप्त होता है। अनात्म-भावना से मानव निरन्तर सत्य से दूर होता जाता है। जिन कार्यों का सम्पादन यन्त्र द्वारा होता है, उन्हें बिना यन्त्र के प्राप्त नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-गम्य न होने के कारण उसकी प्राप्ति निमित्त अभ्यास करना आवश्यक हो जाता है। चित क्रिया-रहित है। परन्तु कार्य-सिद्धि उसी के कारण होती है। नित्य शुद्ध, निर्मल एवं परमानन्द रूप के प्रभाव के कारण, चेतन चित्त भाव प्राप्त करता है।'

'महर्षे !' ईश्वर ने कहा, 'कुसंगति के कारण सज्जन दुर्बल हो जाते हैं। अनात्म के सम्बन्ध से यह जीव पतित हो जाता है। मलिनता से सुवर्ण ताम्र रूप हो जाता है। तपने पर शुद्ध पूर्वरूप सोना प्राप्त करता है। इसी प्रकार अभ्यास द्वारा तपकर जीव अनात्म संसर्ग से दुःखी होता है। अनात्म का त्याग करने पर शुद्ध होने लगता है। दर्पण मुख के समीप लाने पर मुख से निकलता वाष्प दर्पण पर फैल जाता है। अपने हाथ के दर्पण में अपना मुख स्वयं स्पष्ट नहीं दिखाई देता। इसी तरह संवेदन के प्रमाद द्वारा जगत्-भ्रम फैलकर निर्मल चित्त में आत्मदर्शन नहीं होने देता। पर्वत से भ्रष्ट होकर मनुष्य नीचे फिसलता जाता है। अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर जीव नीचे गिरता चला जाता है।

'अनात्म के अभिमान तथा अहंभावनादि के चक्कर में पड़कर, चित्त भयंकर कष्ट पाता है। आत्मसत्ता शरीर तथा इन्द्रियादि व्यवहार करती हुई अपने स्वरूप को ग्रहण करती है।

'चिति-सन्निधि द्वारा प्रेरित व्यान वायु द्वारा नेत्र-कनीनिकाओं में स्पन्दन होता है। उसके द्वारा जिस आकृति का बोध होता है वह परा चित् है। त्वचा का स्पर्श से सम्बन्ध होकर, जिस स्पर्श ज्ञान का अनुभव होता है, वह साक्षीभूत परम चेतनसत्ता है। नासिका का गंध से जब सम्बन्ध होता है और इस संयोग से जो अनुभव होता है, वह परम चेतन सत्ता है। श्रवणेन्द्रिय में व्यान वायु के संसर्ग द्वारा जिस शब्द तन्मात्रा का अनुभव होता है, वह परम चेतन है। अनुभव सेवित परम चेतन है। बहिर्मुख स्फुरित होकर जो संयोग करता है, वह मलिन चेतन है। मलिन रूप अपनी मलिनता दूर कर, शुद्ध रूप में स्थित होता है, तो वह शुद्ध होता है। जिस प्रकार स्फटिक शिला, नदी, अरण्यादि का प्रतिबिम्ब धारण करता है, उसी प्रकार प्रकाश-स्वरूप नित्य चिति अपने में जगत् धारण करती है।

'चिति का रथ जीव है। जीव का रथ अहंकार है। अहंकार का रथ बुद्धि है। और बुद्धि का रथ मन है। मन का रथ प्राण है। प्राण का रथ इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों का रथ देह है। देह का रथ कर्मेन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार रथ का यह चक्र चलता रहता है।

'मुनीश्वर!' ईश्वर ने कहा, 'मानस कल्पना का निमित्त होने के कारण मन का रथ प्राण कहा गया है। जहाँ प्राण वायु रहती है, वहीं मननात्मक संकल्प की स्थिति होती है। जहाँ पर प्रकाश-लक्ष्मी रहती है, वहीं रूप प्रकाशित होता है। प्राण वायु जहाँ रहता है, वहीं स्पन्दन होता है। जैसे आँधी आने पर वन कम्पित होता है, मन के हृदयाकाश में विलीन हो जाने पर, प्राण वायु उसी प्रकार कम्पित नहीं होती, जैसे तेज प्रकाश का लोप हो जाने पर, कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। आँधी शान्त हो जाने पर, धूल का उड़ना शान्त हो जाता है, उसी प्रकार प्राण वायु के शान्त होने पर मन प्रकम्पित नहीं होता। जहाँ प्राण वायु का प्रवेश होता है, वहीं मन का प्रवेश होता है। रथ के साथ सारथी जाता है। उसी प्रकार प्राण द्वारा प्रेरित चित्त देशान्तर में जाता है। प्राण का निरोध होने पर, मन क्षीण होता है।

'पुष्प के साथ गन्ध रहता है। अग्नि के साथ उष्णता रहती है। उसी प्रकार प्राण के साथ मन रहता है। वायु-स्पन्दन द्वारा संवित्ति होती है।

वायु का समस्त अंगों में अन्नरस को प्रवेश कराने के लिये नाड़ियों के साथ सम्पर्क होता है। चित्त एवं मन से युक्त लिंग शरीर अर्थात् पंचभूत, अन्तः कारण, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय से युक्त एवं कर्मों से पूर्ण, वायु द्वारा विस्पष्ट रूप प्राप्त करता है।

'आकाश-तुल्य स्वच्छ संविद् जड़ तथा अजड़ दोनों रहता है। किन्तु लिंग शरीर में प्राणों के स्पन्दन द्वार एक प्रकार से संचलन करता अनुभूत होता है। प्राण वायु के शरीर त्याग देने पर, शरीर जड़वत् कम्पन-शून्य हो जाता है। स्वच्छ दर्पण के प्रतिबिम्ब तुल्य यह परम चैतन्य अपने पुर्यष्टक अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच सूक्ष्म तन्मात्रएँ किंवा आठों समूह में प्रतिबिम्बित होता है। समस्त कार्यों का एक मात्र कारण पुर्यष्टक मन है। अतएव मुने ! यह समस्त विश्व परम ब्रह्म-स्वरूप है।'

'मुनीश्वर !' ईश्वर ने कहा, 'चित्त, मन, बुद्धि एवं अहंकार के अभाव में शरीर जड़वत् दीवाल की तरह मूक रहता है। उनके शरीर में प्रवेश के कारण, आकाश में फेंके गये पत्थर की तरह स्फुरित हो जाता है। चुम्बक के संसर्ग से जड़ लोहा स्फुरित होता है। परब्रह्म के सान्निध्य से जीवात्मा प्रस्फुरित होता है। शुद्र की संगति द्वारा ब्राह्मण अपने को शूद्रवत् समझने लगता है। उसी प्रकार प्रमाद के कारण जीव अपने-आपको चित्त का दृश्य मानने लगता है। अज्ञानान्धकार में वह महादीनता को प्राप्त होता है। जड़ देह के अभ्यास के कारण कष्ट पाता है। काम, क्रोध, पित्तादि से जलता है। अपने भावनानुसार कर्म करता है।'

'ब्रह्मन् !' ईश्वर ने कहा, 'तरंग-मालाओं द्वारा जल संचालित होता है। उसी प्रकार प्राण जड़स्वरूप देह को संचालित करता है। भारवाहक नाव में पाल लगा रहता है। पाल में वायु भरती है। नाव गतिशील होती है। नाव पर रखे पत्थर को यथास्थान पहुँचा देती है। उसी प्रकार देह-यन्त्र को क्रिया-स्वभाव-प्राप्त मनन शक्ति-युक्त, जीव चला देता है।'

'ब्रह्मन् !' ईश्वरने कहा, 'शरीर-शकट को चलाने के लिए, परमात्मा ने मन और प्राण दो बैलों को बनाया है। प्रथम जड़-रूप स्वीकार करता है। अनन्तर चित्त जीवभाव प्राप्त कर मनोरथ में प्राण-वाहन जोतता है।

उस रथ पर आरूढ़ होता है। चित्त कहीं जात और कहीं नष्ट पदार्थ हो जाता है। कहीं बहुपदार्थ हो जाता है। कहीं एक पदार्थ होता है। कहीं स्वतन्त्र एक पदार्थ होकर रह जाता है।

'सरोवर का अस्तित्व जल से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार यह चित्त जगत् से भिन्न नहीं है। आत्मा चैतन्य का आश्रय लेकर जीव जगत् में स्फुरित होता है। अपने स्वरूप का विस्मरण कर आधि-व्याधि के चक्कर में पड़ जाता है। दुःखी होता है।

'कमल खिलने पर काले भ्रमर उसे घेर लेते हैं। इसी प्रकार जीव दृश्य की ओर जब अग्रसर होता है, तो दुःख उसे घेरने लगते हैं। अविचार के कारण बालक अपनी छाया से स्वयं भयभीत हो जाता है, दुःख पाता है। उसी प्रकार जीव अपने स्वरूप के प्रमाद द्वारा स्वयं कष्ट तथा दुःख पाता है। मदिरापान द्वारा मदग्रस्त होने पर, लोग मोह में पड़ जाते हैं। नशा उतरने पर उन्हें अपने पूर्वकाल का स्मरण हो जाता है। उसी प्रकार अपने स्वरूप का स्मरण कर चित्तशक्ति का मोह नष्ट होता है।'

'भगवन्! जीव इस शरीर का त्याग करता है, तो उसकी क्या गति होती है?' वशिष्ठ ने विनम्रतापूर्वक पूछा।

'महर्षे।' ईश्वर ने उत्तर दिया, 'शरीर जीव के प्रयाण करने पर काष्ठवत् गिर जाता है। जिस जीव की वासना शुद्ध नहीं होती, उसका पुर्यष्टक मृत्यु पश्चात्, आकाश में स्थिर हो जाता है। वह अपनी पूर्व वासनानुसार पुनः स्फुरित होता है, गतिशील होता है और शरीर, मन और प्राण से शून्य होकर, शून्यवत् हो जाता है। शरीर का त्याग जीव पंचतन्मात्राओं के साथ करता है। वासनानुसार गमन करता है। उसका अन्तवाहक शरीर होता है। तत्पश्चात् दृश्य के दृढ़ अभ्यास से स्थूलत्व प्राप्त करता है। अन्तवाहक रूप को उस समय विस्मरण कर जाता है।

'मोहग्रस्त अवस्था में जीव शरीर का त्याग करता है, तो स्थूल आकार की भावना का लय नहीं होता। स्थूल में अहं भावना उत्पन्न होती है। वह क्रियाशील होता है। उस समय वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझने लगता है। भ्रम प्राप्त करता है। वृक्ष में लगते और गिरते

पत्तों-तुल्य जीव शरीर धारण करता और त्यागता रहता है। मुनिवर! इस चेतन-सागर शरीर में असंख्य बुलबुले उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं। फिर इस शरीर के नाश का शोक क्यों किया जाय ?'

'चन्द्रार्ध-शेखरधर भगवन्!' वशिष्ठ ने निवेदन किया, 'व्यापक, अनन्त, अद्वितीय, चैतन्य तत्व में द्वैत भावना कैसे होती है? द्वैत भेद का निवारण किस प्रकार हो सकता है ?'

'मुने!' ईश्वर ने कहा, 'यह चित्त शुद्ध निर्मल तथा अद्वैत है। अद्वैत के कारण द्वैत तथा द्वैत के कारण अद्वैत का बोध होता है। किन्तु द्वैत तथा अद्वैत दोनों कल्पना मात्र हैं। चित्त स्फुरण के कारण हैं। मूल, तना, शाखा, पल्लव, वृक्ष एक ही बीज के विस्तार हैं। उनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है पर वे केवल एक बीज के रूप हैं। विकारी जगत् कार्य, कारण तथा असम्यक् दृष्टि द्वारा प्रतिभासित होता है। विश्व चेतन का ही रूप है। पुनः द्वैत एवं अद्वैत की कथा कैसी? चेतन अपनी कल्पना द्वारा जीव भाव ग्रहण करता है। उस समय उसमें द्वैत भावना उत्पन्न होती है। चेतन से अपने को भिन्न समझने लगता है।

'साधन का आश्रय लेकर जीव अपने वास्तविक रूप के दर्शन का प्रयास करता है। भ्रम मिटने लगता है। अन्त में भ्रमों का लय होकर सब एकाकार हो जाता है। इस जीव का आदि वपु अन्तवाहक है। संकल्प इस अन्तवाहकता का रूप होता है। अहंभाव उत्पन्न होने पर, वह आधि-भौतिक प्रतिभासित होता है।

'सत्य का स्फुरण होने पर रागद्वेष अपने स्थानों से हटने लगते हैं। काकतालीवत् विवेक के उदय होने पर, संकल्पों का आवरण हट जाता है। वास्तविक रूप का दर्शन मिलता है। द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन का एकाकार जो जाता है। दृश्य के संकल्प के निवृति के साथ, आत्मभावना की तरफ उन्मुख हुआ जाता है। जगत्-भ्रम मिटने लगता है।

'संकल्प-सृष्टि संकल्पों के अभाव में स्वतः नष्ट हो जाती है। संकल्प तथा विकल्पों से दीन व्यक्ति दीनता त्यागकर, उत्थान तथा उच्चपद की ओर अग्रसर होता है। विवेक-पवन द्वारा संकल्प-मेघ उड़ जाता है। और परम निर्मल आकाश का दर्शन होता है। संकल्पों के त्याग के पश्चात्

जो शेष रह जाता है, वशिष्ठ ! वही तुम्हारा रूप है। इस सत्ता को, मुने ! बीज की तरह 'इति' नाम से पुकारा जाता है। मुने ! बीज से जिस प्रकार अंकुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार इस प्रकार के चित्त में पुनः स्फुरण नहीं होता। यह अवस्था योगियों द्वारा कथित 'पश्यन्ती' संज्ञा से सम्बोधित होती है। चैतन्य स्वभाव में स्थित होकर, उपाधियों से विनिर्मुक्त हो जाया करती है। ब्रह्मपद में विश्राम करती है। इसे कुछ लोग महासुप्त पद भी कहते हैं।'

'प्रभो !' वशिष्ठ ने कहा, 'आपने चित्त की एक अवस्था का वर्णन किया है। इसकी अन्य क्या अवस्थाएँ होती हैं ?'

'विपेन्द्र !' ईश्वर ने कहा। 'मन से मुक्त यह चित्त शक्ति शान्ति-शालिनी है। सब ज्योतियों से विनिर्मुक्त है। आकाश सदृश्य सुन्दर है। सुषुप्ति की झलक, पाषाण-शिला के गठन, सैंधव लवण के रस, वायु के स्पन्दन सदृश चित्त शक्ति, अभ्यास द्वारा ब्रह्माकाश भाव प्राप्त कर, विषयोन्मुखता को जल की चंचलता, वायु की गति, पुष्पों के सौरभ के समान त्याग करती है। देश-काल-रहित यह सत्ता तुर्यावस्था प्राप्त करती है। यह मन की शीक्षण का द्वितीय पाद है। चित्त शक्ति मन के मनन से मुक्त होकर, शीतलता प्राप्त करती है। यह अवस्था घन सुषुप्ति किंवा तुरीयावस्था कही जाती है। इस अवस्था में आकाश में जैसे शब्द लीन हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में चित्त लीन हो जाता है। पुष्प के गन्ध तुल्य चित्त शक्ति आत्मा में लीन हो जाती है।'

'भगवन् !' वशिष्ठ ने पूछा, 'क्या तीसरा पद भी कोई है ?'

'महर्षे ! ईश्वर ने कहा, हाँ, द्वितीय पद तुर्यावस्था के पश्चात् तृतीय पद प्राप्त होता है। यह तुर्यातीत पद है। यह कालों में स्थिर रहता है। स्वस्थ है। निष्कलंक है। पावनी स्थिति है। मंगल-रूप है। यह ओंकार की नाद-विन्दु-शक्ति तथा शान्त नामक मात्राओं में चतुर्थ शान्त मात्रा परम गति है। आत्मा में वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं, तो ब्रह्म आत्मादि नाम-बोधक संज्ञा का अभाव हो जाता है। भाव किंवा अभाव की कल्पना स्फुरित नहीं होती। तुरीयातीत-पद प्राप्त होता है। वह

तृतीय पद अन्तिम पद है। इसे वाणी प्रकट नहीं कर सकती। यह कल्पनातीत है।'

भगवान् क्षणमात्र निश्चल होकर बैठ गये। परमपद में विश्रान्ति के कारण इन्द्रियों के व्यवहार बन्द हो गये।

किंचित् काल पर्यन्त भगवान् के नेत्र पुनः उन्मीलित हुए। वशिष्ठ ने उन्हें शिरसा नमामि किया।

'मुनिनायक!' ईश्वर ने कहा, 'अभिव्यक्त चित्त सम्पूर्ण पदार्थों में सत्तास्वरूप स्फूर्ति प्रदान करता है। वह देवता स्वरूप है। वही हरि है। वही शिव है। वही हिरण्यगर्भ है। वही ब्रह्मा है। वही सुरेश्वर है। वही अनिल है। वही वह्नि है। वही चन्द्र है। वही अर्क है। वही परमेश्वर है। वही सर्वत्र व्यापक आत्मा है। वही सर्व चैतन्याकार चेतन है। वही देवेश है। वही देवभृत है। वही धाता है। वही देवदेव है। वही दिवपति है।'

'महर्षे! सुनो।' ईश्वर ने कहा, 'परम चित्त से ब्रह्मा, विष्णु, हरादि उसी प्रकार चिनगारी की तरह निकले हुए हैं, जिस प्रकार लाल लोहे से अग्निकण स्वरूप लोहांश, अथवा समुद्र से उछलता जलबिन्दु निकलता है। पल्लवों का मूल वृक्ष है। उसी प्रकार चैतन्यात्मा महादेव उनका बीज है। चैतन्यात्मा महादेव तत्त्व का जिसने परिचय प्राप्त कर लिया है, उसके लिए, वही वन्दनीय है। वही पूजनीय है। आह्वान, मन्त्रादि उसके लिए योग्य नहीं हैं। वह सब स्थानों पर स्थित तथा सर्वदा आहूत रहता है। चैतन्य-स्वरूप सर्वत्र उपलब्ध रहता है। पूजा योग्य, नमस्कार योग्य, स्तुति योग्य, अर्घ्य योग्य, केवल चित्त तत्व है। जरा, शोक, भय नाशक आत्मतत्व का साक्षात्कार कर पुनः मनुष्य संसार में भुने बीज की तरह अंकुरित नहीं होता। विप्रेन्द्र! सकल जन्तुओं को जो अभय देता है, जो सबकी अपेक्षा आद्य है, जो अनायास उपासना योग्य है, वह अज, परम हस्तगत परमगत-स्वरूप तुम स्वयं हो।'

'मुने!' ईश्वर ने कहा, 'संकल्प शुष्क लकड़ी है। तृष्णा घृत है। जन्म अग्नि है। जीव इन्हें बढाता है। वेगवती असंकल्प वायु तथा जल का उदय

होता है। अग्नि बुझ जाती है। तृष्णा कुंज बेलि को संकल्प जल सींचता है। असंकल्प उष्णता तथा विवेक खड्ग का उदय होता है। बेलि सूखकर कट जाती है। जगत् असम्यक् ज्ञान से प्रतीत तथा सम्यक् ज्ञान से नष्ट होता है। मैं हूँ। इस संकल्प के नाश होने पर सुख तथा दुःख दोनों का अभाव हो जाता है। शुद्ध निरंजन सत्ता आकाशवत् शुद्ध तथा निर्मल हो जाती है। इसी को मुक्ति कहते हैं।'

'भगवन् !' वशिष्ठ ने पूछा, 'जिस समय मन में मन क्षीण हो जाता है, इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, और जिस आत्मसत्ता में सब कुल लीन हो जाता है, उसका स्वरूप क्या है ?'

'मुनीश्वर !' ईश्वर ने कहा, 'मन को मन में विवेक द्वारा शुद्ध किया जाता है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस समय द्वैत किंवा भिन्नता की कल्पना, जगत्-जाल की कल्पना नष्ट हो जाती है। अनन्तर जो शेष रहता है, वही आत्म-तत्व है। मन के उपशम होने पर, जगत सत्ता का अभाव हो जाता है। चेतन सत्ता चित्त सत्ता का ग्रास कर लेती है। इस अवस्था में सुषुप्त के समान शान्ति प्राप्त होती है।'

'भगवन् !' वशिष्ठ ने पूछा, 'शिव-शक्ति क्या है ?'

महर्षे !' ईश्वर ने कहा। 'आत्मतत्व स्वभावतः अचल और शान्त स्वरूप है। शिव निर्मल चिन्मात्र-स्वरूप है। निराकार है। आसक्ति, इच्छा काल, नीति, मोह, ज्ञान, क्रियादि उसकी शक्तियाँ हैं। वे शक्तियाँ शिव-स्वरूप हैं। पदार्थों में काल शक्ति तथा आत्मा में साक्षी शक्ति है। काल-शक्ति ब्रह्माण्ड में नृत्य करती है। यह सम्पूर्ण जगत् नृत्यशील है। इस संसार-नटिनी की प्रेरक वही शक्ति है।

'परमात्मन् !' वशिष्ठ ने पूछा, 'उसका पूजन किस प्रकार किया जा सकता है ?'

'ऋषिवर !' ईश्वर ने कहा, 'उसका पूजन दो प्रकार से होता है। उसे आन्तरिक तथा बाह्य ध्यान कहते हैं। ध्यान उसका पूजन है। अपनी आत्मा का ध्यान करना उसका पूजन है। भ्रमणशील मन के साथ-ही-साथ उसका ध्यान करना चाहिए।

'आत्मा का रूप असीम है। परमाकाश उसकी ग्रीवा है। पाताल उसके चरण हैं। दिशाएँ भुजाएँ हैं। प्रकाश नेत्र हैं। हृदय-कोश कोटर में वह स्थित है। ब्रह्माण्डों की परम्पराओं से प्रकाशित रहता है। सुर, असुर, मानवादि उसकी रोमावलियाँ हैं। सत्ता मात्र उसका स्वरूप है। काल उसका द्वारपाल है। इच्छादि उसकी शक्तियाँ हैं। पर्वतादि उसके शरीर के किसी एक कोने में स्थित है। चारों ओर उसकी शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि की इन्द्रियाँ उपस्थित हैं। शिव-स्वरूप सबका कर्ता, संकल्पों का फलदाता, सब भूतों में अविचल रूप से सर्वदा सब जगह, सब समय स्थित रहता है। उसका ध्यान करो। उसके आकार में स्थित रहना, उसका इस प्रकार ध्यान करना, बाह्य ध्यान अथवा पूजा है।'

'महर्षिवर !' ईश्वर ने कहा, 'उसकी आन्तरिक पूजा, धूप, दीप, नैवेद्य, केसर, पुष्पादि से नहीं होती। अर्घ्य, पाद्य, मालादि सामग्रियों से नहीं होती। उसकी पूजा अमृत-स्वरूप ज्ञान द्वारा होती है। उस आत्मा का, उस देव का, ध्यान करना, उसका पूजन है। अपनी सब वृत्तियों का, सब कर्मों का, आत्मसमर्पण कर, उस आत्मा में लीन होना, परम पूजन है। इस परम पूजा द्वारा परमपद प्राप्त होता है।'

'वशिष्ठ !' ईश्वर ने कहा, 'यह पूजा प्रत्येक समय, स्थान, प्रत्येक और प्रत्येक रूपों में होती है। आत्मा अपरिवर्तनशील है। सत्य है। अतएव उसकी पूजा करो।

'जो सबका कर्त्ता है, जो अनुभव से प्रकाशित होता है, उस आत्मा की आत्मा से पूजा करो।

'उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते, चलते, दौड़ते सब समयों में उस आत्म-देव की पूजा करो।

'शुद्ध एवं रागद्वेष-रहित रहना, उस देव की पूजा है।

'बोध-स्वरूप अपनी वृत्तियों का अर्पण करना उसकी पूजा है।

'जो प्राण-अपान रथ पर आरूढ़ है, उससे जानना, उसका पूजन है।

'वह कर्त्ता है, वह भोक्ता है; उसे सर्वत्र जानना, उसकी पूजा है।'

'परमेश्वर ! इस विराट् जगत् का रूप क्या है ?' वशिष्ठ ने ईश्वर को नमन करते हुए विनयपूर्वक पूछा।

'मुनीश्वर !' ईश्वर ने उत्तर दिया, 'यह साकार जगत् विराट् आत्मा है। स्वयं आत्मा इस विराट् रूप में ओतप्रोत है। हाथ, पाँव, नख, केश और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसका शरीर है।

'मैं जनक हूँ। मैं प्रकाशक हूँ। सबकी शक्तियाँ मेरी हैं। सब मेरी उपासना करते हैं मन त्रैलोक्य का द्वारपाल है। मेरा प्रतिहारी है। ज्ञान मेरा भूषण है। कर्मेन्द्रियाँ मेरे द्वार हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ गण हैं। मैं इस प्रकार अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में स्थित हूँ। यह विचार करना, उस परमात्म देव का पूजन है।'

'महाबुद्धे !' ईश्वर ने कहा, 'उस देव के राग-द्वेष, सुख-दुःख, भय-खेद, इच्छा-अनिच्छा, भाव-अभाव, विवेकादि उपासक हैं। यह समझना, उसका पूजन है।'

'संयतात्मा !' ईश्वर ने कहा, 'प्राप्ति में सुख, अप्राप्ति में दुःख, दोनों में यन्त्र रहित, भक्ष्य, लेह्य, चोष्य, भोजनादि में ग्रहण-त्याग रहित होना, उस देव की अर्चना है।'

'महात्मन् !' ईश्वर ने कहा। 'मृत्यु के वियोग में, जन्म के स्वागत में, दरिद्रता की मित्रता में, राग की प्राप्ति में, विविध चेष्टाओं में, देवभावना करना, उस देव का पुष्पों द्वारा पूजन है।

'सम्पूर्ण विश्व के मित्र होकर, भोग-रागादि में जो कुछ प्राप्त हो, उसमें निर्लिप्त रहना, उस देव की पूजा है।

'अनिच्छा-इच्छा त्यागकर, किंवा प्रारब्ध से जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें निर्विकार रहना, उस देव की पूजा है।

'इष्ट-अनिष्ट की चिन्ता न करना, राग-द्वेष से रहित होकर, भोग करना, उस देव का पूजन है।

'शुभ-अशुभ की भ्रान्ति में विकार शून्य होना, उस देव की पूजा है।

'द्रष्टा को दृश्य में न मिलाकर, देखना तथ स्वयं साक्षीरूप स्थित रहना उस देव की पूजा है।

'चित्त का संकल्प तथा विकल्प रहित होना, उस देव की पूजा है।

'आकाशवत् असंग रहकर, वाह्याचार में निष्काम, समभाव, ज्ञान पूर्ण रहना, उस देव की पूजा है।

'शुद्ध चिन्मात्र में प्रमाद न होना, उस देव की पूजा है ।
'द्रष्टा, दृश्य, दर्शन का एकाकार होना, उस देव की पूजा है ।
'पूज्य, पूजा, पूजक भावों को ब्रह्मरूप समझना, उस देव की पूजा है ।
'वह सर्वात्मा है । इस भाव को धारण करना, उस देव की पूजा है ।'

'प्रभो !' वशिष्ठ ने पूछा, 'शिव किसे कहा जाता है ? परं ब्रह्म किसे कहा जाता है ? आत्मा किसे कहा जाता है ? परमात्मा किसे कहा जाता है ? निष्किचन किसे कहते हैं ? विज्ञान किसे कहते हैं ? शून्य किसे कहते हैं ? कृपया इनका भेद बताकर अनुगृहीत कीजिएगा ?'

'ब्रह्मन् !' ईश्वर ने कहा, 'सबके अभाव होने पर जो सत्तामात्र शेष रह जाती है, वह इन्द्रियों का विषय नहीं होता । उसे निष्किचन कहते हैं ।'

'भगवन् !' वशिष्ठ ने निवेदन किया, 'जो इन्द्रिय-विषय नहीं है उसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ?'

'द्विजोत्तम !' ईश्वर ने कहा, 'मुमुक्ष तथा जिन्हें वेद द्वारा सात्त्विक वृत्ति प्राप्त हुई है, तथा उस वृत्ति से गुरु तथा शास्त्रों से जो विद्या प्राप्त होती है, उस अर्जित विद्या से अविद्या का नाश हो जाता है । आत्म-तत्त्व का ज्ञान होता है । वस्त्र की मलिनता को रेह काटकर साफ कर देती है, उसी प्रकार गुरु तथा शास्त्र अविद्या मलिनता को धो देते हैं । शुद्धता प्राप्त होने पर भौतिक रूप का दर्शन होता है । विवेक द्वारा आत्मा का निश्चय हो जाता है । गुरु, शास्त्र तथा शिष्य की शुद्ध बुद्धियाँ एकत्र होती हैं । उस समय आत्म-यात्रा निमित्त व्यक्ति प्रस्थान करता है । पुरुषार्थ यात्रा का वाहन है । अपने पुरुषार्थ बिना विश्व की लौकिक तथा पारलौकिक ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो आत्मा का दर्शन करा दे । आत्मा स्वयं आत्मा को देखती है । आत्मरूप विचार करती है ।'

'परमात्मन् !' वशिष्ठ ने सानुनय निवेदन किया, 'आपने कहा है, यह जगत् अस्थिर है, क्षणभंगुर है, अविद्यमान है, तथापि विद्यमान को किस प्रकार प्रकट करता है ।'

'अनघ !' ईश्वर ने कहा, 'ब्रह्म शुद्ध सेविद्मात्र है । वह आकाश से भी सूक्ष्म है । अणु तन्मात्रा भावनावश स्थूलता प्राप्त करती है । देश-

कालादि की जिस प्रकार भावना होती गई, उसी प्रकार गन्धर्व नगर, तथा स्वप्न नगर भावना के कारण प्रतीत होने लगे।'

'भगवन् !' वशिष्ठ ने विनयपूर्वक पूछा, 'गन्धर्व नगर तथा स्वप्ननगर की आपने उपमा दी है, परन्तु दु:ख का कारण क्या होता है ? उस दु:ख के परिक्षय-निमित्त किस युक्ति का अवलम्बन करना चाहिए ?'

'महर्षे !' ईश्वर ने कहा, 'वासना के कारण दु:ख होता है। वासना विद्यमान वस्तु में हुआ करती है। जगत् मृगतृष्णा के जल-तुल्य अविद्यमान है। इसका अनुभव स्वप्न-सदृश होता है। जगत् के पदार्थों को जो सत्य मानकर जो वासना स्फुरित होती है, वह वासना दु:खका कारण होती है। वासना, वासक तथा वासनेय तीनों असत् हैं। इन तीनों के अभाव होने पर दु:ख, भ्रान्ति आदि नष्ट हो जाते हैं। शेष रह जाती है केवल आत्मा।'

'प्रभो !' वशिष्ठ ने सविनय प्रश्न किया, 'कल्प के प्रथम अध्याय-क्रम में जीव, देह विभ्रम को देखता हुआ, आकाश में किस प्रकार स्थिर रहता है ?'

'मुने !' ईश्वर ने कहा, 'स्वप्न में मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियों में विस्तृतब्रह्माण्ड देखता है। उसी प्रकार परम सूक्ष्म चिदाकाश में अपना शरीर देखता है। चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने के कारण शरीर-धारी जीव ब्रह्माण्ड-रूप कार्य करता है। तत्पश्चात् मैं सनातन अव्यक्त पुरुष हूँ. यह अपने को निर्देश करता है। पुरुष नाम से प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार यह जीव किसी सर्ग में सदाशिव, किसी में विष्णु और किसी सर्ग में विष्णु की कमल नाभि से उत्पन्न ब्रह्मा कहा जाता है। किसी सर्ग में पितामह कहा जाता है। किसी सर्ग में दुर्गा कहा जाता है। किन्तु सदाशिव आदि पुरुष संकल्पस्वरूप हैं। संकल्प द्वारा ही आकार धारण करते हैं। उस प्रथम संकल्प में मनोमय मूर्ति धारण कर, जिस प्रकार की कल्पना करता है, उसी प्रकार व्यवहार-योग्य अनुभव करता है। संकल्प सब पदार्थ शून्यस्वरूप, वेताल की तरह असत् और मिथ्या हैं। इस प्रकार जगत् का विज्ञान केवल अहन्ता है। संकल्प के कारण सृष्टि तथा जगत् होता है। जिस समय यह संकल्प अपने उद्गम-स्थान चिन्मात्र में लीन हो जाता है, उस समय जो मूल-रूप वस्तु शेष रह जाती है, वही आत्मा है। प्रत्येक जीव

की अपनी-अपनी भिन्न सृष्टियाँ हैं। उन सृष्टियों के देश काल में कोई व्यवधान नहीं उत्पन्न कर सकता, क्योंकि उनका अस्तित्व संकल्प में रहता है।'

'ऋषिवर !' ईश्वर ने पुनः कहा, 'जगत् का सब चमत्कार अपनी कल्पना है। वह भावना के अनुसार प्रकट होता है। न तो कुछ उत्पन्न होता है और न नाश होता है। केवल आत्मा सर्वत्र व्याप्त है जिस प्रकार स्वप्न-नगर स्वप्न में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, संकल्प-पर्वत उपज कर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् उपज कर नष्ट हो जाता है। जगत् मायामात्र है। भावना द्वारा प्रतिभासित है। आत्म-अभ्यास द्वारा, भेद-दृष्टि के नष्ट हो जाने पर, उपशम-स्वरूप आत्मा शेष रह जाता है।'

'मुनिवर !' ईश्वर ने आशीर्वाद देते हुए कहा। 'तुम्हारा कल्याण हो। मैं अपनी अभिमत दिशा की ओर चलता हूँ। देवि ! पार्वति ! उठिए।'

भगवान शंकर पार्वती सहित आसन त्याग कर उठे। पुनः शंकर के गणों द्वारा महान् कोलाहल हुआ। मुनि वसिष्ठ ने भगवान् तथा पार्वती को पुष्पांजलि दी। सपरिवार शंकर ने आकाश कोटर की ओर प्रस्थान किया। कोलाहल दूर होता शान्त हो गया। और आसन पर शान्त बैठे रह गये महर्षि वशिष्ठ।

योग वसिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग २९–४२

प्राचीन काल में ईश्वर नाम के कई पुरुषों का उल्लेख हुआ है। एकादश रुद्रों में एक ईश्वर नामक रुद्र थे; वे ब्रह्मा जी के पौत्र तथा स्थाणु के पुत्र थे।—महाभारत : आदि पर्व : ३६ : ३

क्रोधवश राक्षस से उत्पन्न हुआ एक राजा 'ईश्वर' का उल्लेख महाभारत : आदि पर्व : ६७ : ६५ में आया है। इसने महाभारत के युद्ध में दुर्योधन के पक्ष से युद्ध किया था।

राजा पुरु के द्वारा पौष्टी के गर्भ से उत्पन्न द्वितीय पुत्र का नाम 'ईश्वर' था। वह महारथी था। महाभारत : आदि पर्व : ९४ : ५।

महाभारत : अनुशासन पर्व ९१ : ३७ के अनुसार ईश्वर विश्वदेव हैं। योग-वासिष्ठकार ने ईश्वर-कथानक में ईश्वर के प्रचलित संज्ञावादी नाम लेकर उल्लेख किया है। उक्त उल्लिखित ईश्वरों में भिन्नता है।

बिल्व

विमल, स्पष्ट एक अत्यन्त विशाल बिल्व फल है। वह सहस्रों योजन बड़ा है। महान बिल्व फल इतने दिनों तक ठहरता है कि युगों की सहस्रों श्रेणियां बीत जाती हैं।

अविनाशत्व उसका आधार है। उसका स्वाद सुधावत् मधुर है। युगों का थपेड़ा खाकर, पुराना होने पर भी वह शशिकला-तुल्य सर्वदा सुन्दर रहता है। उसकी कोमलता उज्वल कमल को भी मात करती है।

भुवनों के मध्य महामेरु के समान वह स्थित है। मन्दराचल की तरह अविचल है। महाकल्पान्त वायु भी उसे चला नहीं सकती। सैकड़ों कोटि लक्ष गुने, दस-सहस्र करोड़ योजनों के असंख्यात योजनों द्वारा भी वह नापा नहीं जा सकता।

उस बिल्व फल की तुलना में ब्रह्माण्ड राई के दानों से भी छोटा लगता है। उसके रस का स्वाद षड्रसों और इन्द्रिय-भोग के स्वाद से स्वादिष्ट है। वह सुन्दर फल रसपूर्ण होने पर, पक जाने पर भी नहीं गिरता।

उस फल की उत्पत्ति की कथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादि कोई चिरंजीवी नहीं जानते। यहाँ तक कि उसकी शाखा तथा मूल के रहस्य का उन्हें ज्ञान नहीं है। उसका अंकुर है। अदृश्य है। उसके कुसुमों का आकार नहीं देखा गया है। स्तम्भ मूल शाखा रहित महान् आकारवाले इस फल की उत्पत्ति, विकार, परिणामादि कुछ दृष्टिगत नहीं होता। यह महाफल सब फलों का सार है। उसका रस सब रसों का रस है। उसकी सुन्दरता सब सौन्दर्यों की सुन्दरता है। वह फल निरंजन है। निर्विकार है। उसमें गुद्दा नहीं है। उसमें बीज नहीं है।

शिला के अन्तर की तरह वह फल नीरन्ध्र है। सुधासार चन्द्रमण्डल-सदृश उसका संविदमृत निरतिशय आनन्द रस-स्रावी है। सकल सौख्यों का कोश है। शीतल आलोककारक है। वह अमृत पिण्ड शैल-तुल्य है। उसमें मज्जा आत्म फल स्थित है। हिरण्यगर्भ के आनन्द से बढ़कर आत्मचमत्कृत, इस परम अव्यक्त फल की मज्जा है।

यह फल द्वैत रहित है। आत्म-आत्म-चमत्कृति के मिथ्या ज्ञान द्वारा भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार की चमत्कृत-शक्ति-शक्ति, मैं स्त्री हूँ, मैं नपुंसक हूँ, इत्यादि के भेद का कारण है। यह भिन्न है। यह दूसरा है। इन सबका कारण अविद्या किंवा मल है। वह आत्म-चमत्कृत इस बिल्व फल का स्वरूप है। उस आत्म-चमत्कृत-शक्ति से अहंकार उत्पन्न हुआ है। उस अहंकार से आकाश अपने शब्द गुण के साथ उत्पन्न हुआ है।

बिल्व फल की मज्जा चमत्कृत-शक्ति है। वह अपना स्वरूप परिवर्तन तथा त्याग न कर, क्रमशः संवित-स्वरूपिणी होती है। मज्जा-स्वरूप वह संविद्-शक्ति तरल होकर, अपने निर्विकार रूप में, जगदागार दृष्टि विस्तृत करती है।

यह शक्ति महान् एवं आकाश-रूप है। यह काल की कला है। यह नियमित नाम से सम्बोधित की गई है। यह स्पन्दन-रूपिणी क्रिया है। यह संकल्प का विस्तार है। यह एक दिशा में दूसरी दिशा का भ्रम उत्पन्न करती है। यह राग-द्वेष की अवस्था है। यह हेय तथा उपादेय बुद्धि है। यह मत्ता अर्थात् अहंकार तथा तन्ता, ब्रह्मरूप होकर स्थित है। यह स्थिति शक्ति-स्वरूप आत्मा ब्रह्माण्ड समूह के ऊपर तथा नीचे स्वयं स्थित है। यह उत्तर दिशा में स्थित मेरु पर्वत है। जगत् पंकज की कर्णिका है। रजोगुण तथा नरकों से जिसके मूल की रचना हुई है, उस जगद्-रूप पुरातन वृक्ष के उत्कट सुगंध से युक्त, स्वर्ग शोभा-स्वरूप पुष्प मंजरी, चित्त-शक्ति है। यह सब बिल्व फल के स्वकीय रस की चमत्कृति है। इस बिस्व फल की मज्जा ब्रह्मादि की स्थिति है।

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग ४५

जीवटाख्यान

कहीं एक महाभिक्षु था। वह मननशील था। समाधि अभ्यास में तत्पर था। क्षणमात्र में जैसा चिन्तन करता था, हो जाता था। किसी समय वह समाधि विरत होकर बैठा था। किसी क्रिया एवं कर्म का विचार करने लगा। लीलावश उसे सामान्य जनों की वृत्तियों-तुल्य पुरुषवत् संसार में विहार करने की इच्छा हुई।

सहसा उसने कल्पना किया 'वह जीवट' है। काकतालीय न्याय द्वारा वह अपने कल्पित रूप में स्थिर हो गया। उस अवस्था में वह सांसारिक भोगों में अत्यन्त रत हो गया। मद्य-माँस भक्षण करता था। वह स्वप्न पुरुष जीवट किसी स्वप्न-निर्मित नगर की वीथियों में विचरण करने लगा। उसने एक दिन मद्यपान किया। नशे में सो गया। वह ब्राह्मण की सेवा करता था। उसके मन में ब्राह्मण-संस्कार उदय हुआ। उसने कल्पना की। ब्राह्मण जीवन अच्छा है।

जीवट ने स्वप्न में कल्पनाजनित वेदाध्ययन तथा सत्य कर्मानुष्ठान से सन्तुष्ट अपने को ब्राह्मण रूप में देखा। कालान्तर में उसे ब्राह्मण जीवन शुष्क और नीरस लगा। ब्राह्मण जीवन से अच्छा उसे राजा का जीवन लगा। वह एक दिन सो गया। उसने स्वप्न में अपने को माण्डलिक राजा के रूप में देखा। सेनादि राज-सुख के साथ आनन्द करने लगा। उसे कुछ समय पश्चात् अधिक सुख की आकांक्षा हुई।

सम्राट् होने पर अधिक सुख मिलेगा विचार किया। एक दिन वह सो गया। उसने अपने को सम्राट् के रूप में पाया। उसके चक्रवर्ती राज्य में सूर्य नहीं डूबता था। ललनाओं में रत हो गया। उसे रति-सुख सबसे अधिक अच्छा लगने लगा। उसकी आँखों के सम्मुख सुन्दर रमणियों का रूप नाचा करता था। तत्पश्चात् स्वप्न में उसने अपने को रतिश्रान्त सुस्त्री-रूप में देखा। रति-सुख में लीन रहने लगा। अपने देवांगना रूप में उसे नेत्र प्रिय लगता था। मृगी-नेत्र अच्छा लगा। निद्रा लगने पर उसने अपने को मृगी-रूप में देखा।

हरिण को हरी-हरी दूब तथा लताएँ प्रिय लगती थीं। वह लता में आसक्त रहने लगा। एक दिन स्वप्न में उस मृगी ने अपने को वल्लीरूप में देखा। लता-जीवन में उसे अपने पुष्पों पर भ्रमरों का गूँजना अच्छा लगता था। गूँजना चाहता था। उसने एक दिन स्वप्न में अपने को भ्रमर रूप में देखा। पुष्पों का मकरन्द लेता गूँजता था। कमलिनी पर गूँजना प्रिय लगने लगा। वह भ्रमर कमलिनी-नाल में संलग्न हो गया।

एक दिन वह कमलिनी पर गुनगुनाता घूम रहा था। हाथी आया। उसने कमलिनी को मर्दित कर दिया। कमलिनी के साथ भ्रमर हाथी के मुख में आकर चूर हो गया। हाथी का मत्त शक्तिशाली रूप उसके अन्तिम अवस्था में उदय हुआ। हाथी-जनित हस्त्याकार-भावना के कारण मत्त हाथी रूप में हुआ। महापराक्रमशील हाथी होकर वह अरण्यों में भ्रमण करने लगा। असीम सुख भोगता था। शत्रु-हन्ता नाम से उसकी प्रसिद्धि बल के कारण हुई। एक दिन हाथियों के फँसाने वाले शुष्क सागर-तुल्य गडढे में हाथी गिर गया। हाथियों के गण्डस्थल पर भ्रमित भँवरों को देख कर उसमें भ्रमर-भावना पुनः उत्पन्न हुई। वह भ्रमर हो गया।

वह पुनः कमलिनी पर सरोवर में गूँजता पहुँचा। वहाँ एक हाथी आया। हाथी ने कमल को चूर्ण कर दिया। उसी के साथ वह भी चूर हो गया। समीप ही जल में तैरते हंस को देखकर हंस बनने की भावना उसमें उदित हुई। अतएव वह हंस हो गया। वह अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ पुनः हंस होकर हंस-समूह में विहार करने लगा।

हंस सभा में पितामह ब्रह्मा के हंस गुण सुने। तत्त्व-ज्ञान की वार्ताएँ सुनीं। उसमें ब्रह्म हंस की भावना का उदय हुआ। मृत्यु पश्चात् वह ब्रह्मा का वाहन हंस हो गया। ब्रह्मा के सान्निध्य में उसे ब्रह्मवार्ता द्वारा पुनः ज्ञान हुआ। ब्रह्मा के हंस-वाहन के रूप में वह एक दिन रुद्रपुर में पहुँचा। रुद्र का दर्शन किया। रुद्र के ज्ञान-योग तथा उनके रूपादि पर मुग्ध हो गया। रुद्र होने का संकल्प किया। रुद्र-भावना का उसमें उदय हुआ। हंस शरीर त्याग कर रुद्र हो गया। उसे ब्रह्म ज्ञान हो गया। शिवपुर के रुद्र-भवन में विहार करने लगा। वहाँ उसे अपने पूर्व जन्म तथा तत्सम्बन्धी बातों का ज्ञान हो गया। उसे अपने आदि रूप भिक्षु का ज्ञान हुआ।

रुद्रस्वरूप उस सर्ग से चलकर उस विहार में आया, जहाँ उसका शव भिक्षु-शरीर-तुल्य सुप्तावस्था में पड़ा, काल्पनिक जगत् का अनुभव कर रहा था। उसे आश्चर्य हुआ। उसने भिक्षु को जगाकर उठाया। वह रुद्र तथा भिक्षु दोनों चिदाकाश के किसी कोने में स्थित ब्रह्माण्डान्तर में चले गए। उन्होंने जीवट को मदिरा पात्र के साथ लुढ़का देखा। जीवट शवसदृश पड़ा था। उसे उन्होंने जगाकर उठाया। उसे साथ लेकर तीनों विप्र के संसार में चले गये। वे विप्र के घर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने शववत् ब्राह्मण को देखा। वह निद्रित पड़ा था। तीनों ने उसे जगाया।

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग ६२—

महाभारत : अनुशासन पर्व : १५० : १४

रुद्र का उल्लेख मुख्यतया निम्न स्थानों पर आया है

ऋग्-वेद : २ : २१ : २–४, १०,
१ : ११४ : ५, ७ ८, १०
२ : ७३ : २–४, १०
५ : ४२ : ११
१० : १२६ : ६
७ : ५६ : १२

शतपथ ब्राह्मण : ६ : १ : ३ : ३०
१ : ७ : ३ : ८
३ : ४ : ४ : ४; २४,

तैत्तिरीय संहिता : ५ : ४ : ३ : १
३ : २ : ४
६ : २ : ३

वाजिसनेय संहिता : ३ : ६१

ऐतरेय ब्राह्मण : ३२ : ८ : ३

ऐतरेय ब्राह्मण : ३ : ३३

विष्णुधर्मोत्तर : १ : २३३ ; २३४; ३ : ४४; ४८; ५५; ११५;

रुद्र-भिक्षु, जीवट तथा विप्र चारों चिदाकाश में सुशोभित राजा के प्रासाद में पहुँचे। राजा कमल-शय्या पर सोया था। चामरधारिणी युवतियाँ चामर डुला रही थीं। उसे चारों ने मिलकर जगाया। उसके साथ चक्रवत राजा के संसार में पहुँचे। इस प्रकार अपने योनियों के हाथी पर्यन्त शरीरों को जगाया। सबका शरीर भिन्न था। किन्तु चेष्टा तथा निश्चय एक था। ब्रह्म-हंस के संसार में पहुँचकर शतरुद्र-रूपता प्राप्त की। रुद्र के साथ वे सब प्रबुद्ध हो गईं। वे अपने पूर्वोक्त देखे संसार को देखते हुए रुद्रांश-रूप में सुखपूर्वक स्थित हो गए।

शिवपुराण : रुद्र सहिता : १६
शत रुद्र-संहिता : ५

महाभारत :
अनुशासन पर्व : १५० : १४
उद्योग पर्व : ११७ : १०

पुराण :

ब्रह्म पुराण :	१०२
	३ : ४७-४८
विष्णु :	२ : २
	१ : ७ : ०१-११
	१ : ८ : २
	१ : १५ : २३
पद्म शृष्टि खंड :	३ ; १४ ; १७
	४०
	५६
स्वर्ग खंड :	३ ; ३४
उत्तर खंड :	२३५
मत्स्य :	३-३३०-३१
	२६०
	४ : २७
ब्रह्माण्ड :	२ : ६ : २३, ४७
	२ : ७ : ७९

'मेरे अंशभूतो।' आदि रुद्र ने उनसे कहा। आप लोग अपने-अपने स्थान पर इन शरीरों के साथ चले जायँ। वहाँ अपने कलत्रों के साथ भोग करें। तत्पश्चात् आप लोग मेरे गण होंगे। इस महाकल्प के पश्चात् विदेह हो जाएँगे।

वायु :	१ : २७
	१ : ४७ : ४९
भविष्य ब्राह्म पर्व :	५७
	६३
भागवत :	३ : १२ : १०
	६ : ६ : १७
स्कन्द :	२ : ४ : १२
	५ : १ : २
	६ : १५३, २७७,
	७ : १८७, ५९,
हरिवंश :	१ : ३
मार्कण्डेय :	४९

वेताल

विन्ध्य महाटवी में एक विपुलकाय वेताल निवास करता था। किसी मण्डल में अज्ञानियों के वध निमित्त गया। पूर्व काल में वह सज्जन नामक किसी किरात राजा के देश में रहता था। वहाँ उसे वध-दण्ड के अपराधी मिल जाते थे। उनका वह भक्षण करता। तृप्त रहता था। वह कभी अन्याय-पूर्वक किसी निरपराध की हत्या नहीं करता। अत्यन्त भूखा होने पर भी, चाहे उसके सम्मुख कोई स्वयं क्यों न आ जाय, वह वध नहीं करता था।

एक समय भयंकर क्षुधा से पीड़ित हो गया। उसे कोई वध-दण्ड प्राप्त क्षुधा-निवारण-निमित्त व्यक्ति नहीं मिला। अटवी से नगर की तरफ क्षुधा-तृप्ति निमित्त चला। उसने निश्चय किया। क्षुधा-तृप्ति निमित्त वह किसी न्यायदर्शी मनुष्य की हत्या नहीं करेगा।

नगर में उसने देखा। राजा रात्रि में प्रजारक्षणार्थ विचरण कर रहा था। निशाचर ने घनघोर शब्द किया। राजा के सम्मुख खड़ा हो गया।

'राजन् !' वेताल ने कहा, 'मैं भीम-स्वभाव भीषण वेताल हूँ। आप कहाँ जा रहे हैं ? आप आज नष्ट होंगे। हमारा भोजन बनेंगे।'

'निशाचर !' राजा ने हँसते हुए निःशंक उत्तर दिया, 'यदि अन्याय-मार्ग का ग्रहण कर बलपूर्वक मुझे भक्षण करोगे, तो तुम्हारी मूर्धा सहस्रों खण्डों में खण्डित हो जायेगी।'

'भू-पति !' वेताल ने कहा, 'मैं अन्यायपूर्वक आपका भक्षण नहीं करूँगा। किन्तु अपनी क्षुधा अवश्य तृप्त करूँगा।'

'वेताल !' राजा ने स्थिरता पूर्वक कहा, 'यह कैसे सम्भव होगा ? मैंने कोई अन्याय नहीं किया है।'

'नरेन्द्र !' वेताल ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'आप राजा हैं। याचक के मनोरथ को पूर्ण करना आपका धर्म है।'

'निशाचर !' राजा ने कहा, 'तुम्हारी याचना जान सकता हूँ ?'

'राजन् !' वेताल ने प्रश्न किया, 'मैं प्रश्न करता हूँ। उन प्रश्नों से मुझे संतुष्ट कीजिए, यही मेरी याचना है।'

'वेताल !' राजा ने विचार करते हुए कहा, 'पूछो।'

'भद्र !' वेताल ने पूछा। 'किस सूर्य-रश्मियों का ब्रह्माण्ड सूक्ष्म अणु है।'

'वेताल !' राजा ने सस्मित कहा। 'और कोई प्रश्न है ?'

'भूपते !' वेताल ने राजा की ओर देखते हुए कहा, 'हाँ है। किस वायु में महागगन-स्वरूप त्रसरेणु स्फुरित होते हैं।'

'दो प्रश्न हुए और—?'

'तीसरा प्रश्न है—मनुष्य स्वप्न देखता है। उन स्वप्नों की परम्परा में कैसे मनुष्य एक स्वप्न के पश्चात् दूसरे स्वप्न की सत्यता त्यागता हुआ, भी अपने प्रभास्वर स्वच्छ-स्वरूप का परित्याग नहीं करता।'

'और—?'

'मेरा चौथा प्रश्न है—कदली का खम्भ आपने देखा है। उसमें एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा और तीसरे के पश्चात् चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ आदि भीतर अनेक पर्तों के परत का क्रम चलता जाता है। उसी प्रकार अन्तर के अन्तर, ऐसा कौन अणु है, जो स्वच्छ आत्म-स्वरूप है।'

'और कोई प्रश्न है ?'

'राजन् !' वेताल ने कहा, 'मेरा पाचवाँ प्रश्न है—ब्रह्माण्ड, आकाश, भुवन, सूर्यमण्डल, मेरु किस अणु के परमाणु हैं ?'

'और कितने प्रश्न शेष रह गये हैं वेताल ?'

'राजन् !' वेताल ने कहा, 'मेरा छठवाँ प्रश्न है—किस निरवयव परमाणु महागिरि के शिला के अन्दर मज्जास्वरूप यह जगतत्रय स्थित है ?'

'वेताल !' राजा ने शान्त स्वर में कहा, 'आपके प्रश्नों की शृंखला शेष हो गयी ?'

'हाँ—राजन् !'

'यदि मैं प्रश्नों का उत्तर न दूँ।' राजा ने मुसकराते हुए कहा।

'दुरात्मन् ! आत्मघाती ! ! प्रश्नों का उत्तर न मिलने पर, मैं तुम्हारा फल-तुल्य भक्षण कर जाऊँगा। तत्पश्चात् तुम्हारे राज्य के

नागरिकों को खा जाऊँगा।' वेताल ने राजा को तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए कहा।

'वेताल !' राजा ने सस्मित कहा, 'अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर सुनो। यह ब्रह्माण्ड एक फल के समान है। इस प्रकार के सहस्रों फल एक शाखा में लगे हैं। ऐसे सहस्त्रों शाखायुक्त एक वृक्ष है। ऐसे सहस्त्रों वृक्षों से घना एक महावन है। ऐसे सहस्त्रों महावनों से पूर्ण एक श्रृंग शिखर है। ऐसे सहस्त्रों शिखरों से युक्त एक पर्वत है। ऐसे सहस्त्रों पर्वतों से युक्त एक महादेश है। ऐसे सहस्त्रों महादेशों से युक्त एक द्वीप है। ऐसे सहस्त्रों द्वीपों से युक्त एक महापीठ है। ऐसे सहस्त्रों महापीठ से युक्त एक महाभुवन-प्रपंच है। ऐसे सहस्त्रों भुवनों से युक्त आकाश पीठवत् एक प्रचण्ड अण्डा है। ऐसे सहस्त्रों अण्डों से युक्त एक करण्डक का आधार स्पन्दनहीन असीम सागर है। इस प्रकार के लाखों तरंगित सागरों से युक्त अपने स्वरूप में विलास करनेवाला महार्णव है। ऐसे सहस्त्रों महार्णवों का जल जिसके पेट में है, ऐसा सर्व-परिपूर्ण आकृति एक पुरुष है। ऐसे लाखों पुरुषों की माला जिसके वक्षस्थल पर सुशोभित है, वह सर्वसत्ताओं का प्रधान परम पुरुष रुद्र है। ऐसे सहस्त्रों महात्मा पुरुष जिसके मण्डल की रोमावली से स्फुरित हो रहे हैं एक आदित्य है।'

'वेताल !' राजा ने कहा, 'इस महाआदित्य के दीप्तियों के ब्रह्माण्ड ही त्रसरेणु है।'

'यह कैसा सूर्य है ?' वेताल ने चकित होकर पूछा।

'निशाचर !' राजा ने कहा, 'यह चित्सूर्य है। इसी के कारण सब कुछ प्रकाशित होता है। तुम्हारे प्रथम प्रश्न का यह उत्तर है।'

'द्वितीय प्रश्न का उत्तर राजन् !'

'वेताल !' राजा ने कहा। 'इस जगत् नामक महास्वप्न में, एक स्वप्न के पश्चात् दूसरे स्वप्न में गमन करते हुए भी स्वप्नगत दोषों से शून्य, ब्रह्म बोधमात्र शान्ति की वृद्धि करनेवाला, अपने रूप का त्याग नहीं करता।'

'और अणु—।'

'कहता हूँ। सुनो! वेताल!! यह तुम्हारा तीसरा प्रश्न है। काल सत्ता, नभ सत्ता, स्पन्दसत्ता, चिन्मयी सत्ता, शुद्ध चेतन सत्ता, निर्दोष रज है। परमात्मा-स्वरूप महावायु में विकारों द्वारा चंचल होकर स्फुरित होता है। जिस प्रकार पुष्प अपने अंगों में सौरभ भेद का आधेय रूप अवस्थित रहता है, उसी प्रकार परमात्म-सत्ता अपने में कालादि सत्ता के भेद की कल्पना कर, अवस्थित रहती है।'

'राजन्!' वेताल ने पूछा, 'मेरा चौथा प्रश्न आपको स्मरण होगा।'

'वेताल!' राजा ने उत्तर दिया, 'रम्भा-स्तम्भ अपने अन्तर में केवल पर्त मात्र रहता है। जिस प्रकार एक छिलके के परत के पश्चात् दूसरा पर्त निकलता हुआ अन्त में भी पर्त मात्र रह जाता है, उसी प्रकार यह विश्व जितना ही अन्दर-से-अन्दर देखा जाता है, उतना ही ब्रह्ममात्र प्रतीत होता जाता है। अतएव वह अणु है।'

'वेताल! तुम्हारे पंचम प्रश्न का उत्तर भी इसी के साथ दे देता हूँ। सूक्ष्म तथा अलभ्य होने के कारण परमात्मा परमाणु-तुल्य है। इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य परमात्मा नहीं है। अतएव वह परमाणु है। पूरकत्व के कारण वह महागिरि है। अध्यारोप दृष्टि द्वारा मूर्त्त, अमूर्त्त पदार्थों का अवयव स्वरूप होता हुआ भी अवयवों से शून्य है।'

'और मेरा अन्तिम प्रश्न।'

'साधो!' राजा ने कहा, 'यह त्रिजगत् विज्ञान-स्वरूप मज्जा है।'

'राजन्!' वेताल ने राजा को प्रणाम करते हुए कहा, 'आपने मेरे प्रश्नों के उत्तर दे दिए। आप जा सकते हैं।'

'क्यों?'

'मैं ज्ञानियों का भक्षण नहीं करता।'

'कारण? वेताल!'

'ज्ञानी का कभी वध नहीं हो सकता। उसकी हत्या नहीं हो सकती। वे कभी मरते नहीं। उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।'

'इस ज्ञान का तुममें कहाँ से उदय हुआ।'

'मनुष्य भक्षण मेरा स्वभाव है। एक दिन मैं अपनने भोजन निमित्त निकला था। अकस्मात् मुझे एक साधु मिल गया। मैं उसे खाने चला।'

साधु ने कहा, 'वेताल! तुम मुझे खा सकते हो किन्तु निरपराध को खाना अनुचित है। उसने मुझे ज्ञान तथा अज्ञान दोनों बातें बतलाईं। उस समय मुझे ज्ञान हुआ कि ज्ञानियों को कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता।'

'साधु! साधु!! तुमने निर्मल ज्ञान प्राप्त किया है।'

'राजन्!' वेताल ने कहा: 'अज्ञानी का दु:ख उनका स्वयं पैदा किया हुआ होता है। वे यदि मरते हैं तो अपने अज्ञान के कारण। इस नीरव अर्ध रात्रि में मैंने आपको देखा। मुझे पुरानी बातें स्मरण हो आईं। मैंने आप से प्रश्न पूछा। महात्मन्! आप ज्ञानी हैं। आपको नमस्कार।'

योग वासिष्ठ रामायण: निर्वाण प्रकरण: सर्ग ७० शिवशत रुद्रसंहिता १४ तथा भागवत पुराण १०-६३-१० में वेताल का उल्लेख आया है। कालिका पुराण ५३में भी वेताल का वर्णन है। किन्तु योग वासिष्ठ का वेताल सर्वथा भिन्न है।

भगीरथ

अयोध्या-मण्डल में तिलकोपम परम धार्मिक समुद्रों-सहित पृथ्वी का राजा भगीरथ था। साधुओं को धन दान करता था। अपस्थानों से धर्म-पूर्वक दिया तृण भी स्वीकार कर लेता था। अनेक दुर्जन राजाओं को अधीन कर लिया था। धूम्रविहीन अग्नि-तुल्य श्रीमान् राजा प्रजारक्षा-निमित्त रात-दिन प्रजा में, नगर में, राज्य मण्डल में गुप्त रूप से भ्रमण करता था। मृदु तथा शीतल स्पर्श, राजा सुज्ञानियों के साथ आह्लादित होता था। उसने स्वर्ग तथा पातालवाहिनी यज्ञोपवीत के तृतीय सूत्र-तुल्य पृथ्वी को गंगावतरण से पूर्ण किया था। उसने अगस्त्य मुनि के शोषण करने के कारण शुष्क सागर को गंगा जल से भर दिया था। बान्धव तथा लोक बन्धुओं को गंगा-सोपान द्वारा ब्रह्मलोक पहुचाया था। उसने अपनी तपस्या तथा आराधना द्वारा ब्रह्मा, शंकर तथा जह्नु को प्रसन्न किया था।

गंगावतरण के पूर्व की बात है। राजा भगीरथ युवा था। ब्रह्मज्ञान की इच्छा हुई। लोक-यात्रा का विचार किया। अकस्मात् उसमें वैराग्य उत्पन्न हो गया। महीपति भगीरथ एकान्त में बैठने लगा। जगत्-यात्रा का विचार करता चिंतनशील हो गया। नित्यप्रति पुनः-पुनः दानादि में उसे नीरसता का अनुभव होने लगा। उसे अपने दैनिक कार्यों में कोई नवीनता नहीं दिखाई देती थी। उसके दैनिक कार्य रूढ़ हो गए। जीवन में आनन्द का अभाव हो गया।

शान्ति के अभाव में उसका मन व्याकुल हो गया। वह गुरु त्रितल मुनि के आश्रम में पहुचा। गुरु की श्रद्धापूर्वक पूजा की। गुरु-प्रदत्त आसन पर बैठ गया। राजा के स्वस्थ होने पर गुरु ने पूछा :

'राजन् ! तुम्हारा मुख-मण्डल पूर्ववत् प्रसन्न नहीं दिखाई देता।'

'भगवन् !' भगीरथ ने कहा, 'मेरा मन आकुल हो गया है। अशान्ति हृदय में व्याप्त हैं। किसी काम में मन नहीं लगता।'

'महीपते !' त्रितल ने कहा, 'तुम्हारे पास सुख के सभी साधन हैं।'

'गुरुदेव !' भगीरथ ने कहा, 'मैं उस सुख की प्राप्ति चाहता हूँ जिसका क्षय नहीं होता।'

'नरेन्द्र !' त्रितल ने सस्मित कहा, 'तुम्हारी जिज्ञासा उत्तम है।'

'महर्षे !' भगीरथ ने शान्त स्वर से कहा, संसार के सभी दृश्य पदार्थ, जब तक उन्हें देखिए, तभी तक वे सुख देते हैं। उनके सुख देने की एक सीमा होती है। उसके पश्चात् पुनः दुःख का उदय होता है। मैं उस अक्षय सुख की कामना करता हूँ जिसमें दुःख का स्थान न हो।'

'कोशलपति !' त्रितल ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'जगत् में केवल एक सुख है। उसकी प्राप्ति के पश्चात् दुःखों की शृंखलाएँ लोप हो जाती हैं।'

'मुनिवर !' भगीरथ ने उत्सुकतापूर्वक कहा, 'मुझे उसी सुख की कामना है।'

'अनघ !' त्रितल ने कहा, 'वह सुख है—आत्मज्ञान।'

'ब्रह्मन् ! भगीरथ ने कहा, 'यह आत्मज्ञान क्या है ?'

'राजन् !' त्रितल ने कहा, 'तत्वज्ञानियों ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को ज्ञेय कहा है। वह आत्मा सर्वव्यापी है। नित्य है। उसका उदय-अस्त नहीं होता।'

'गुरुवर !' राजा भगीरथ ने पूछा, 'इस आत्मज्ञान का क्या स्वरूप है ?'

'अनघ !' त्रितल ने उत्तर दिया, 'ज्ञानान्धकार तिरोहित होने पर सूर्य-स्वरूप आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है। उस प्रकाश में अपना, जगत् तथा सब का वास्तविक रूप दिखाई देता है। भ्रमों का लोप हो जाता है। अहंकार नष्ट होता है। उदय होती है चिर शान्ति। चित्त की जड़ता दूर हो जाती है। इन्द्रियादि का आत्माभिमान समाप्त हो जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन प्राप्त करने पर,

आत्मानन्द मिलता है। यह आनन्द अक्षय है। यह सुख अक्षय है। यह आनन्द सत्य है।

'भगवन् !' राजा ने पूछा, 'आपने अहंकार की बात कही है। इसका रूप क्या है?'

'जिज्ञासु !' त्रितल ने उत्तर दिया, 'मैं हूँ। यह नाश तथा बन्धनकारी संकल्प 'अहं' है। इस भावना का उदय आत्मा के स्वरूप का ज्ञान भूल कर इन्द्रिय, शरीरादि को आत्मा अर्थात् मैं समझ लेना है। यह भावना मिथ्या अभिमान के कारण होती है। यह अभिमान मनुष्य के पैर में पड़ी बेड़ी है। बन्धन है। इसी का नाम अहंकार है।'

'गुरुवर!' भगीरथ ने कहा, 'शास्त्रों में मैंने यह सब पढ़ा है। तत्सम्बन्धी अनेक कथाएँ सुनी हैं। आत्मा चिन्मात्र सत्ता है। स्थूल देहादि से भिन्न है। शान्त एवं अच्युत रूप है। तथापि मुझे शान्ति नहीं है। आत्मा मुझ में प्रतिभासित नहीं होती है।'

'राजन् !' त्रितल ने सस्मित राजा के विवेक मुद्रा की ओर लक्ष्य करते हुए कहा, 'केवल कथा सुनने, शास्त्रों के अध्ययन करने से कुछ नहीं होगा। तोता राम-राम रट लेता है। उसे दुहराता रहता है। उसकी मधुर वाणी दूसरे की श्रवणेन्द्रियों को सुख पहुँचाती है। परन्तु इन उच्चारणों से, सुनी बात दुहराने से, तोता भक्त नहीं हो जाता। तोता का रटना, बात दुहराना, स्वभाव हो जाता है। उस ज्ञान, उस विद्या, उस अनुभव से क्या लाभ, जिसका उपयोग न किया जा सके। किसी बात को जानना एक बात है, और करना दूसरी। आसक्ति का त्याग एवं सम की प्राप्ति आत्म प्राप्ति के मूल मन्त्र हैं।'

'भगवन् !' भगीरथ ने पूछा, 'आसक्ति किसे कहते हैं?'

'पवित्रात्मन् !' त्रितल ने उत्तर दिया। 'स्थूल देहादि, सांसारिक प्रपंचों, स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव, आदि में किसी प्रकार का अभिमान न कर उनके सुख एवं दुःख में निर्लिप्त रहना आसक्ति का त्याग है।'

'और सम !' राजा ने जिज्ञासा किया।

'राजन् ! त्रितल ने कहा, 'इष्ट तथा अनिष्ट में एक रस, समभाव, सम चित्त रखने की संज्ञा सम से दी गयी है ।'

'गुरुदेव !' राजा ने निवेदन किया, 'आत्म-ज्ञान-प्राप्ति का साधन क्या है ?'

'वत्स ! त्रितल ने स्नेह से कहा, 'अज्ञानियों से दूर रहकर ब्रह्म विद्या का विचार, सतसंग, स्वयं सद्विचार में रत, एकान्त में स्थिर, शान्त, एवं अहंकारादि का परित्याग; आत्म-दर्शन में सहायक होता है । अहंकार से ममता उत्पन्न होती है । अहंकार एवं ममता-त्याग के पश्चात्, जो शेष रह जाता है, वही आत्मा है ।'

'भगवन् !' राजा भगीरथ ने निवेदन किया, 'अहंकार का त्याग किस प्रकार करने में समर्थ हो सकूँगा ।'

'शिष्य !' त्रितल ने कहा, 'अहंकार की निवृति प्रयत्न तथा अभ्यास से होगी । भोगों में द्वेष-दृष्टि, भोगवासना का त्याग, बारंबार अपने शुद्ध-स्वरूप आत्मा की भावना, विवेक का आश्रय, स्वयं विचार करना कि मैं विश्व हूँ, देय-उपादेय, त्याज्य-प्राप्य भावों से दूर हूँ, भावना उत्पन्न होने पर, अहंकार का नाश होता है ।'

'महात्मन् !' राजा भगीरथ ने प्रश्न किया, 'अहंकार विनष्ट होने पर क्या होता है ?

'राजन् !' त्रितल ने कहा, 'अहंकार विनष्ट होने पर आत्मज्योति का प्रकाश तुम्हें मिलेगा । अहंकार फाँसी है । मनुष्य को मारती है । अहंकार दूर होने पर आत्म-प्रद प्राप्त होगा । अहं, मम, तृष्णा, शोक, दुःख, राग, द्वेष, अभिमान, शुभ-अशुभ की भावनादि मोह स्थान है ।'

'भगवन् !' भगीरथ कुछ कहना चाहते थे । त्रितल ने बीच में ही कहा ।

'राजन् ! आत्मा का सौन्दर्य तुम देखना चाहते हो, तो अपने स्वार्थों की आहुति आत्मयज्ञ में दो ।'

'भगवन्!' राजा ने चिंतित स्वर में पूछा, 'यदि शत्रुगण मेरा यह राज्य लेना चाहें?'

'उन्हें दे दो।'

'बन्धु-बान्धव!'

'उनका मोह त्याग दो।'

'और आप।'

'मेरा भी मोह त्याग दो।'

:०: :०: :०:

कोशल मण्डल में धूम थी। अग्निष्टोम यज्ञ आयोजित किया गया था। राजा भगीरथ ने अपना सर्वस्व दीन सुपात्रों को दान कर दिया था। राज-कोष खाली था। राजा प्रसन्न था। मन्त्री चिन्तित थे। राजा ने अनुभव किया। त्याग द्वारा उसके हृदय में एक नवीन भावना, नवीन चेतना का उदय हो रहा था। राजा आनन्दित हो गया।

राजा यज्ञ से निवृत्त होकर बैठा था। आत्म-चिन्तन में रत था। दौवारिक ने प्रवेश किया। कर-बद्ध शिरसा नमन करते हुए निवेदन किया:

'महाराज! जय हो।' प्रतिहारी अत्यन्त चिन्तित तथा अस्थिर था:

'प्रयोजन, प्रतिहारी?' राजा ने शान्त स्वर में नील गगन की ओर दृष्टि उठाते कहा।

'देश पर आक्रमण हो गया है राजन्!'

राजा विचलित नहीं हुआ। उसकी शान्त मुद्रा में किंचित् अस्थिरता नहीं आई। चिन्ता ने शिराओं में प्रवेश नहीं किया। शत्रु-भय से ग्रसित नहीं हुआ।

प्रतिहारी चकित हो गया। उसके महान् आश्चर्य की सीमा न रही। वह आँखें फाड़-फाड़कर राजा की तरफ कठोर दृष्टि से देखने लगा। उसे ज्ञात था। शत्रु-मृग-समूह का आखेट करने के लिए राजा सोत्साह

केसरी-तुल्य गरज उठता था। जिस बाहुबल का उसने परिचय दिया था, वह कोशल राजवंश के लिए गौरव की बात थी।

'भगवन् !' विस्मयापन्न प्रतिहारी ने पुनः निवेदन किया : 'शत्रुसेना प्रतिरोध के अभाव में वर्षाकालीन नदी-तुल्य उमड़ती चली आ रही है।'

'उनका स्वागत करो प्रतिहारी !' राजा ने दूसरी तरफ देखते हुए कहा।

प्रतिहारी ने राजा को पागल समझा। वह सामन्तों, मन्त्रियों तथा सेनापतियों के पास दौड़ पड़ा।

:o: :o: :o:

'देव !' राजा के सम्मुख करबद्ध दण्डायमान मन्त्री ने निवेदन किया।

'मन्त्री !' राजा ने शान्त स्वर में पूछा, 'क्या बात है मित्रवर !'

'अनघ !' मन्त्री ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'देश की रक्षा करनी चाहिए।'

'किसका देश !' सस्मित राजा ने मन्त्री के मुख की ओर देखते हुए कहा।

'अपना देश भगवन् !' मन्त्री ने साश्चर्य कहा।

'मेरा देश समस्त ब्रह्माण्ड है।' राजा ने आकाश-पथ में गमनशील शुक्लवर्ण वक-पंक्ति को देखते हुए कहा।

'नर-पुंगव !' मन्त्री ने वाणी में तीव्रता लाकर कहा, 'आप क्या कह रहे हैं ?'

'अपना यहाँ क्या है मन्त्री !' राजा ने अपने चारों ओर वैराग्यपूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा।

'वीरवर !' मन्त्री ने अपने दोनों अधरों पर जोर देते हुए व्यग्रतापूर्वक कहा, 'देश की रक्षा कौन करेगा ?'

मन्त्री किंकर्त्तव्य विमूढ़ राजा को देखने लगा। आकुल सेनापति ने वेगपूर्वक प्रवेश किया। उसकी समझ में नहीं आया। युद्धकाल में राजा

क्यों शान्त बैठा है। मन्त्री उनके सम्मुख चुपचाप खड़ा है। उसने मेघ-गर्जन किया :

'राजन् ! सेना समीप आ गई है।'

'आने दो सेनापति।'

'भगवन् !' सेनापति ने कठोर वाणी में कहा : 'क्या आप देश दूसरों को दे देना चाहते हैं ?'

'सेनापति !' राजा की मुद्रा में किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। उसने संयत स्वर में कहा, 'विश्व के अन्तर्गत यह देश है। देश के अन्तर्गत यह जनपद है। जनपद के अन्तर्गत यह राजप्रासाद है। उस राजप्रासाद के अन्दर मेरा यह शरीर रखा है। उस शरीर के अन्दर आत्मा—'

'भगवन् !' मन्त्री के धैर्य की सीमा समाप्त हो चुकी थी, उसने अपने दोनों हाथों को अपनी कमर पर रखते हुए कहा।

'महाराज !' सेनापति ने क्रोध-मिश्रित विनम्र स्वर में कहा, 'समय बिल्कुल नहीं है।'

'ठीक है सेनापति ! हम लोगों ने अपना अमूल्य समय बहुत दिनों तक नष्ट किया है।'

'राजन् !' उठिए, चलिए।' मन्त्री के आँखों में आँसू थे।

'कहाँ चलूँ ?'

'रणप्रांगण में !' सेनापति ने तुरन्त चलने का प्रयास करते हुए कहा।

'रण में क्यों ?' राजा ने जिज्ञासु वाणी में पूछा।

'युद्ध करने !' सेनापति खीझ गया।

'सेनापति !' युद्ध नहीं होगा।'

'महाराज ! आप क्या कहते हैं ?'

'भगवन् !' घबराए प्रतिहारी ने प्रवेश किया। बिना शिष्टाचार प्रकट करते हुए व्यग्रता से कहा, शत्रुसेना नगर में प्रवेश कर रही है।

'करने दो।' राजा ने शान्त स्वर में कहा।

'महाराज ! अभी समय है।' सेनापति स्वयं बाहर जाने का उपक्रम करने लगा।

'होने दो।' राजा ने निश्चिंत होते हुए कहा।

:o: :o: :o:

'राजन् ! आप बन्दी हैं।' शत्रु राजा ने राजा, मन्त्री आदि को अपने सैनिकों से घेर कर कहा।

राजा भगीरथ ने निर्विकार भाव से कहा :

'मैं !'

'निस्सन्देह ! आपका राज्य हमने जीत लिया है।' शत्रुराजा ने अहंकारपूर्वक कहा।

'मेरा कभी राज्य रहा ही नहीं।' राजा भगीरथ ने गवाक्ष से बाहर सेना का कोलाहल प्रांगण में देख कर कहा।

'ओह ! ठीक है। गुप्तचरों ने सत्य सूचना दी थी। कोशल राज की पुरानी गौरव-कहानी स्वाहा हो चुकी है।'

'आप भूल करते हैं। मेरा कुछ स्वाहा नहीं हुआ है।'

'क्यों ?'

'मेरा कुछ था ही नहीं।' राजा ने प्रासाद के प्रसाधनों तथा विजयी राजा के स्वर्ण कवच की ओर देखकर मुस्कराते हुए कहा।

'मन्त्री ! यह क्या बात है ?' शत्रु राजा ने नतमस्तक खिन्न वदन पसीने में डूबे मन्त्री की ओर देखकर पूछा। मन्त्री कुछ उत्तर नहीं दे सका।

'मित्रवर !' शत्रु राजा को भगीरथ ने सम्बोधित करते हुए कहा, 'मणि-कांचन से इस शरीर का क्या लाभ होगा ? उससे यह शरीर नहीं बना है। वे शरीर की किंचित् मात्र भी वृद्धि करने में असमर्थ हैं।'

'उन्माद-ग्रस्त है।' विजेता सैनिकों में से कोई पीछे से कह उठा।

'तभी राज्य खो दिया।' दूसरा बोला।

मन्त्री का मुख लाल हो गया। उसने छिपी निगाहों से बैठे राजा को देखा। राजा पूर्ववत् शान्त था।

'उन्माद में ही भटकता, सब कुछ अपना समझता रहा हूँ मित्र !'

'कायरों को ज्ञान खूब आता है।' एक शत्रु सैनिक ने परिहास किया।

'मित्रवर ?' राजा ने तुरन्त कहा, 'कायर हूँ। यदि कायर न होता, तो अब तक आत्म-विजय कर लेता।'

'राजन् !' विजेता राजा ने कहा, 'आपकी क्या इच्छा है ?'

'बन्धुवर ?' राजा ने कहा, 'राज्य, परिचारक, परिचारिका, पार्षद, सब कुछ लेकर, निर्विघ्न मिथ्यासुख का प्रसन्नतापूर्वक उपभोग कीजिए।'

राजा भगीरथ गम्भीरता पूर्वक आसन त्याग कर उठा। उसने अपने राजकीय वस्त्रों को उतार दिया। शत्रु, मित्र सब चकित हो गए। शान्त, स्वस्थ चित्त राजा भगीरथ को कौतूहलपूर्वक देखने लगे। राजा के कार्य में किसी को हस्तक्षेप करने का साहस न हुआ।

राजा भगीरथ ने कौपिन धारण कर लिया। नग्न शरीर खड़े हो गये। विजेता राजा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। दो कदम पीछे हट गया। शत्रु सैनिकों ने बढ़ते राजा के लिए मार्ग दे दिया। कोशल-राज के मन्त्री ने अपने राजा को भिक्षु रूप में देखा। वह रो उठा, राजा के चरणों पर गिर पड़ा।

'दु:ख !' राजा ने मन्त्री की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए संयत स्वर में कहा, 'तुम ज्ञानी हो। तुम्हें अज्ञान शोभा नहीं देता।'

'राजन् !' आश्चर्य-विमूढ़ विजेता ने राजा को सम्बोधित किया। 'आप चाहते क्या हैं ?'

'कुछ नहीं। आपने जो किया वही मैं करने जा रहा हूँ।'

विजेता ने अपने सैनिक साथियों की ओर देखा। सब काष्ठवत् खड़े थे। किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

'मैं उसे विजय करने जा रहा हूँ जिसके कारण सत्य ज्ञान, अविनाशी आत्म-राज्य मिलता है।'

कौपीनधारी राजा भगीरथ राज-प्रासाद का एक के पश्चात् दूसरा प्रांगण अतिक्रमण करने लगे। उनके पीछे नतमस्तक विजेता राजा तथा उसके सैनिक चल रहे थे।

:०: :०: :०:

व्याकुल, स्तब्ध, कौतूहल, विजयोल्लास आदि मिश्रित भावनाओंपूर्ण विशाल जनसमूह प्रासाद के विशाल वास्प प्रांगण में एकत्र था। लोगों के लोचनों ने देखा। राज्यप्रासाद के सिंहद्वार से निकलता, कौपोनवेष्टित चक्रवर्ती सम्राट भगीरथ। उनके पीछे नतमस्तक विजेता। उनके पीछे विजयोल्लासविहीन विजयी सैनिकों की पंक्ति। और उनके पीछे अश्रु-लोचना राजप्रासाद की रानियाँ, परिचारिकाएँ, परिचारक, पारिषद तथा मन्त्रीगण।

विचित्र दृश्य देखते ही जनता स्तब्ध हो गई। कोलाहल रुक गया। विजयी सेना ने देखा नतमस्तक उदास विजेता और विजेता की सेना। नागरिकों ने देखा कौपीन-वेष्टित उनका प्रिय सम्राट राजा भगीरथ। सब हो गए विचलित। छा गई पूर्ण नीरवता। लगे लोग पीछे हट कर प्रशस्त मार्ग देने, कौपीनधारी सम्राट को।

राजा भगीरथ सबको प्रणाम करते बढ़ रहे थे। विजेता और पराजित सबकी आँखें नीची होने लगीं। सबके करबद्ध हाथ श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक मस्तक से लगने लगे। अकस्मात् मध्यमार्ग में राजा रुके। विजेता को प्रणाम करते हुए कहा :

'विजयी वीर! आपने व्यर्थ कष्ट किया। विशाल वाहिनी लाने की क्या आवश्यकता थी! लोगों को व्यर्थ कष्ट किया।'

'राजन्!' विजेता की आँखें भरने लगीं।

'मित्रवर! आपको राज्य की इच्छा थी, सन्देश भेज देते। मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वयं राज्य त्यागकर चला जाता।'

विजेता का मस्तक और झुक गया। उसके सैनिक लज्जित हो गए। उनके मस्तक स्वतः झुक गए।

'पुरवासियों !' राजा ने अपनी प्रजा की ओर देखते हुए कहा, 'मैं पाप की गठरी से दबा जा रहा हूँ। अगणित कष्ट आप लोगों को दिए होंगे। साधु की तरह, महात्मा की तरह, उदारता का आश्रय लेकर मुझे क्षमा कर दीजिए।'

राजा ने अपने सहयोगी मन्त्रियों, सेनापतियों को नमस्कार किया। उसके सेनापति ने अस्त्र-शस्त्र को फेंक दिया। उसे ग्लानि होने लगी। उसने कहा, 'भगवन् ! मैं साथ चलूँगा।'

'कौन किसके साथ जाता है सेनापति ? मैं ही अभी अपने साथ नहीं हूँ।'

राजा चले। आँसुओं के बीच, सिसकियों के बीच, मार्ग में केश बिखरे स्त्रियों के बीच, कर-स्पर्श करते नागरिकों के बीच, घुटनों के बल श्रद्धापूर्वक बैठे लोगों के बीच, विजेयताओं के अपने शस्त्रों के प्रति घृणापूर्ण दृष्टियों के बीच और चले एकाकी, शान्त, अपने आत्मपथ के बीच।

:o: :o: :o:

प्रशस्त अयोध्या के राज-पथ पर प्रजा ने, राजन्य-वर्ग ने प्रकृति जन ने सबने हाथ में भिक्षा-पात्र लिए देखा एक भिक्षुक।

भिखारी संयतात्मा था। शान्त था। उद्वेगहीन था। आकांक्षाहीन था। अपनी आत्मा में लीन प्रतिविम्बसदृश जगत् को देखता चला आ रहा था।

जनरव उठा, 'राजा भगीरथ ! भिखारी ! ! भिक्षा-पात्र ! ! !'

राजा के विशाल हृदय-जैसे प्रशस्त्र राजपथ पर, उसके मन की शान्ति फैल चुकी थी। उसकी गम्भीरता अयोध्यावासियों की आँखों में आँसू बनकर निकल चली थी।

राजा की लज्जा उसकी आत्म-ज्वाला में भस्म हो चुकी थी। उसका भय उसके अहंकार के साथ उड़ चुका था। वह शान्त धीरे-धीरे अकेला अपनी एकमात्र कमर से सटी कौपीन और भिक्षा पात्र लिए अग्रसर हो रहा था।

सबकी जिह्वा शान्त थी। सबके कान शान्त थे। सबके नेत्र शान्त थे। सबके मन शान्त थे। सब शान्त चित्त से देख रहे थे, प्रशान्त राजा की शान्त मुद्रा।

ज्ञानियों ने मुग्ध होकर उसे प्रणाम किया। ब्राह्मणों ने उस महात्मा का करबद्ध अभिवादन किया। योगियों ने उसे श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया। कामिनियों ने भक्ति से आँखों में आँचल लगाकर प्रणाम किया। राजा के कर्मचारियों ने भूमि पर मस्तक लगाकर दण्डवत् किया। पशुओं ने ग्रीवा उठाकर शान्त मूर्ति का दर्शन किया। शाखाओं पर बैठे पक्षियों ने नतमस्तक उसका स्वागत किया।

उसके चरणों पर पुष्प बिखरने लगे। राजपथ भर उठा। अनायास शंख बजे। धौंसा गूँजे। घड़ियाल बजे। घण्टियाँ बजीं। थालों में आरतियाँ सज गईं।

किन्तु उस शान्तात्मा की देह जैसे वायु की मृदु गति से अनायास बढ़ती चली जा रही थी। उसे हर्ष नहीं था। उसे अपनी राजधानी में अपने भिखारी रूप में, विषाद नहीं था।

लक्ष-लक्ष चकित नेत्रोंने देखा, राज्य विजेता को, उसके मन्त्रियों को, उसके वाहिनी को, उसके सेनापतियों को, और उसके प्रतिहारियों की लम्बी पंक्ति को।

नागरिक स्तब्ध हो गए। एक ओर से भिक्षुक भगीरथ बढ़ रहा था। दूसरी तरफ से आ रहा था, उसके राज्य का विजेता, कोशल का वर्तमान राजा।

नागरिक देखने लगे एक-दूसरे का मुख। एक-दूसरे की आँखें मिलने लगीं। मूक प्रश्न होने लगे। घटना की ओर उत्सुकता बढ़ने लगी।

यह क्या—? आश्चर्य-चकित आँखों ने देखा। विजेता राजा का मस्तक था, भिखारी भगीरथ के धूल-धूसरित पदों पर। जयध्वनि हुई। जय-जयकार से अयोध्या नगरी गूँज उठी। सबके करबद्ध हाथ मूर्धा से लग गए। विजेता ने वाष्पपूर्ण लोचनों से व्याकुलतापूर्वक कहा :

'महात्मन्! लीजिए अपना राज्य। मुझ पर दया कीजिए।'

'राजन् !' भगीरथ की मधुर वाणी मुखरित हुई, 'मुझे राज्य से क्या मतलब ?'

लोगों की आँखों ने देखा प्रेमपूर्वक सम्भाषण करते वर्तमान सम्राट् और किसी दिनके सम्राट् और आजके भिखारी भगीरथ को। वे बढ़ने लगे राजप्रासाद की ओर।

:o: :o: :o:

'गुरुदेव !'

कुटी में ध्यानस्थ महर्षि त्रितल के कमल-लोचन उन्मीलित हुए। आसन परित्याग कर सहर्ष मुनिवर उठे। राजा भगीरथ गुरु के चरणस्पर्श निमित्त हुए। भगीरथ चरण स्पर्श न कर सके, मुनि ने उसके स्कन्धों को पकड़कर हृदय से लगा लिया।

'मित्र !' गुरु त्रितल बोले, 'मेरा अहोभाग्य। आपका शुभदर्शन मिला।'

भगीरथ शान्त थे। त्रितल ने उनका प्रगाढ़ आलिंगन करते हुए पुनः कहा :

'मित्र !' मैं तुम्हारा अब गुरु नहीं हूँ। तुम हमारे शिष्य अब नहीं हो। हम केवल आत्मा हैं। इस आत्मा की मैत्री में कितना आनन्द है। इस काया की, इस जगत् की मैत्री का नाश होता है। यह बात समझ में आ गई होगी ?'

'समझा गुरुवर !' भगीरथ ने आभार प्रकट करते हुए कहा।

ऋषि त्रितल ने पाद्य, अर्घ्यादि द्वारा भगीरथ का आदर किया। भगीरथ का स्वागत किया। किन्तु भगीरथ की मुद्रा में उनके भावभंगी में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं हुआ। उन्हें किसी वस्तु में, किसी कार्य प्रवाह में रस नहीं मिल रहा था। वे विदेह-तुल्य आसन पर बैठे रहे। अनन्तर मुनि को नमस्कार करते हुए बोले—'चलूँ।'

:o: :o: :o:

'भिक्षुक !' जनपद के मन्त्री ने भिक्षुक को सिर से पैर तक देखते हुए सम्बोधित किया।

भिक्षुक मन्त्री के सम्मुख नम्रतापूर्वक झुक कर खड़ा था। प्रणाम किया।

'भिक्षुक !' मन्त्री ने राजा को भलिभाँति लक्ष्य करते हुए पुन प्रश्न किया, 'आपको मैं राजलक्षण युक्त देखता हूँ।'

'मन्त्रीं !' भगीरथ ने निर्मल भाव से कहा, 'मुझमें कोई शुभ लक्षण नहीं है।'

'भिक्षुक !' मन्त्री ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'मैं आपको कई दिनों से देख रहा हूँ। आपके परिचय की जिज्ञासा अनायास उद्भूत हुई है।

'मानद !' राजा भगीरथ ने कहा, 'इस स्थूल काया को देखने से क्या लाभ ?'

'महात्मन् !' मन्त्री ने भिक्षुक के नेत्रों में देखते हुए कहा, 'यहाँ का राजा कालकवलित हो गया है। आपको यह बात मालूम होगी ?'

'सुहृद्वर !' भगीरथ ने कहा, 'जानने की आवश्यकता ?'

'यह आप क्या कहते हैं ?' चकित मन्त्री ने कहा।

'जन्म-मृत्यु प्रतिदिन का कार्यक्रम है। कौन इसे रोज देखता रहे ?'

'किन्तु वह यहाँ का राजा था। यहाँ आप रहते हैं। जीवन-निर्वाह करते हैं ?'

'मित्रवर !' भगीरथ ने कहा, 'मैं विश्व में हूँ। उसमें भी नहीं हूँ। मैं स्वयं नहीं जानता कहाँ हूँ।'

'भिक्षुक —?'

'प्रियवर !' भगीरथ ने गम्भीर मुद्रा से कहा, 'जब मैं देखता हूँ तो सब स्थानों पर अपना ही निवास देखता हूँ। और जब विचार कर देखता हूँ, तो मालूम होता है, मेरा कहीं निवास स्थान नहीं है।,

'विचित्र पहेली है। मन्त्री ने भगीरथ पर अपनी दृष्टि पुनः स्थिर करते हुए कहा।

'मन्त्रिवर !' भगीरथ ने कहा, 'यह जगत् एक पहेली है। हम एक पहेली हैं। सब कुछ पहेली है, अच्छा—चलूँ।'

'नहीं।' मन्त्री ने कहा, 'आज आप नहीं जा सकते।'

'मैं कहीं नहीं जाता हूँ।'

'किन्तु आपके पद उठ रहे हैं। आप चल रहे हैं।'

'मेरा रथ चल रहा है। मैं अपनी आत्मा में स्थिर हूँ।'

भिखारी के अर्ध-प्रस्फुटित लोचन मुहूर्त मात्र के लिए निमीलित हो गए। मन्त्री प्रांजलीभूत हो गया। भिखारी को श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक नमन करता हुआ बोला :

'महाबाहो! क्या मैं आपका पवित्र परिचय पाने का अधिकारी हो सकता हूँ।'

'मैं क्या हूँ? मैं स्वयं अपने को पूरा जान नहीं पाया हूँ। आपको अपना क्या परिचय दूँ?'

'यदि आप—।'

'अच्छा मन्त्रिवर!' भिखारी ने कहा, 'आप क्या हैं? क्या आप बता सकेंगे?'

'मैं—?'

'हाँ मित्रवर! अपने को जान जाने पर हमारा परिचय आपको स्वतः मिल जायेगा। मिथ्या परिचय से क्या लाभ?'

'महात्मन्!' मन्त्री ने अत्यन्त विनीत स्वर में कहा, 'आपसे मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।'

'मानद!' भिखारी बोला, मैं किस योग्य हूँ।'

'भगवन्!' मन्त्री ने भिखारी के चरणों की तरफ झुकते हुए कहा, 'आपही योग्य हैं।'

'मन्त्रिवर!' भिखारी ने झुकते हुए मन्त्री को थाम लिया, 'यह क्या?'

'भगवन्!' मन्त्री ने चतुरतापूर्वक कहा, 'आप मेरी एक भिक्षा स्वीकार करेंगे?'

भिखारी ने भिक्षापात्र आगे बढ़ा दिया।

'महात्मन् !' मन्त्री राजनीतिक वाणी में बोला, 'मेरे पास अपना कुछ नहीं है। किन्तु जिसने आपको देने के लिए कहा है, उसे आपकी मधुकरी में छोड़ता हूँ।'

भिखारी ने भिक्षा-पात्र में देखा। मन्त्री की बँधी मुट्ठी थी। वह धीरे-धीरे खुल गयी। भिखारी मुसकराने लगा। नत मस्तक मन्त्री ने कहा :

'देव ! अनिच्छित प्राप्त वस्तु का त्यागना नीति नहीं है। मैंने आपके भिक्षा-पत्र में इस जनपद का राज्य छोड़ा है।'

'राज्य ?'

'हाँ, राजन् !' कहता मन्त्री राजा भगीरथ को शिरसा प्रणाम करता मुसकराने लगा।

'पृथ्वीपति !' प्रतिहारी ने सादर राजा को अभिवादन करते हुए सभा-मण्डप में करबद्ध प्रवेश किया।

× × ×

मन्त्री की प्रश्नपूर्ण दृष्टि प्रतिहारी की ओर उठी।

'कोशल-मण्डल के मन्त्री तथा प्रजागण दर्शनाभिलाषी हैं।'

राजा भगीरथ अनासक्त राजसिंहासन पर आसीन थे। मन्त्री ने राजा को करबद्ध नमन करते हुए निवेदन किया।

'प्रभो ! आज्ञा।'

'उन्हें सादर लाओ।'

भगीरथ आदेश देकर पुनः आत्म-चिन्तन में लीन हो गए। सभा-मण्डप से मन्त्री, अमात्य, महाप्रतिहारी, महादण्डधर, सेनापति, कुलगुरु, पुरोहित—सबने एक साथ कोशलराज के मन्त्री के स्वागतार्थ प्रस्थान किया।

कोशल-मन्त्री तथा प्रजाजनों ने सभा-मण्डप में प्रवेश कर राजा का अभिनन्दन किया। जय-जयकार किया। कोशल के प्रजाजनों की आँखों ने अपने राजा का दर्शन किया। उनकी आँखें बाष्पपूर्ण हो गईं। किन्तु राजा यथावत् बैठे रहे। उनकी मुद्रा निर्लिप्त-तुल्य थी।

मन्त्री ने कहा,

कोशल के माननीय मन्त्री तथा सुहृद्वर प्रजाजन! आपका इस राज्य में स्वागत है। दोनों राज्यों की परम्परागत मैत्री का स्मरण करते हुए, हम आपका अभिनन्दन करते हैं। हमारी आकांक्षा है कि दोनों राज्यों की मैत्री चिरस्थायी रहे। क्या यह सभा आप महानुभावों के आने का प्रयोजन जान सकती है?'

'राजन्! मन्त्री, अमात्य, सामन्त, सभा-स्थित मानद वृन्द!' कोशल के मन्त्री ने करबद्ध निवेदन किया, 'सर्व विदित है कि महाराज भगीरथ के पश्चात् कोशल पर दूसरे राजा का अधिकार हुआ था। उस राजा का अवसान हो गया है। भगवान् उनकी आत्मा को शान्ति दे।'

सभास्थित सबका मस्तक दिवंगत आत्मा के शान्ति-लाभ की भावना से नत होकर पुन: उठकर मन्त्री की ओर लग गया।

'राजन्!' मन्त्री ने राजा भगीरथ के चरणों की ओर तन्मय देखते हुए कहा, 'कोशल-मण्डल की यह याचना है कि महाराज यहाँ का राज्य ग्रहण करने की कृपा करें।'

'मन्त्री! यहाँ का राज्य त्याग कर महाराज कोशल का राज्य किस प्रकार करेंगे?'

'सुविद् मन्त्री!' कोशल के मन्त्री ने सस्मित कहा, 'आपने अभी कहा है। हमारी आपकी मैत्री चिरस्थायी रहेगी। क्या ही अच्छा होता दोनों राज्य राजा भगीरथ के आश्रय में एकाकार हो जाते।'

मन्त्री ने राजा भगीरथ की तरफ देखा। वह निर्विकार बैठे रहे। सभा मण्डप में बैठे लोगों को एक तरफ से दूसरे तरफ घूमती आँखों से देखा। किसी के मुख पर असम्मति का लक्षण नहीं था।

'मन्त्रीवर! हमें कोई आपत्ति न होगी।'

सभा में गम्भीर जयध्वनि हुई—'महाराज की जय!'

× × ×

कोशल राज्य मण्डल का सभामण्डप था। राजा भगीरथ सिंहासन पर बैठे थे। बन्दी चारण रघुवंश की विरदावली गा रहे थे।

'कोशल राज की यह वह परम्परा है, जिसे मनु पुत्र महाराज इक्ष्वाकु ने स्थापित किया है। जिसे महाराज रघु ने अपने पुण्य से सींचा है। जिसे राजा हरिश्चन्द्रने अपने सत्य से ज्योतिर्मय किया है। जिसे राजा सगर ने अश्वमेध के पुण्य व्योम समूह द्वारा सुरभित किया है। जिसे राजा सगर के पुत्रों ने समुद्र खोदकर जल से भरा है।'

वन्दी की वाणी अकस्मात् रुक गई। महाराज भगीरथ ने कहा। 'हाँ— वन्दी ! सगर के पुत्र।'

'ओह, क्या कहूँ ? आज उन्हीं महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों का पवित्र भस्म कपिल मुनि के आश्रम में जल-प्रवाह निमित्त बिखरा पड़ा है। उस भस्म-राशि का जो प्रवाह करेगा, उसी की पुण्य स्मृति रघुवंशी अपने वंश परम्परा में गुँथ कर रखेंगे। उसकी विरदावली अयोध्या की वीथियों में गाई जाती रहेगी।

'यह महान कार्य केवल सगर-पुत्रों को स्वर्ग नहीं पहुँचाएगा अपितु देवगण, असुरगणों को पावन करेगा। कोशल वंश के कितने ही यशस्वी राजा स्वर्गधाम चले गये। उनका गंगा लाने का महान् परिश्रम फलप्रद न हो सका। पुण्यतोया गंगा न आ सकी।

'ब्रह्म कमण्डलु से पुण्य सलिल गंगा को जो लायेगा वह पृथ्वी के पापों का प्रक्षालन करेगा। पापियों को तारेगा। नरक का द्वार बन्द करेगा।

'वह धारा जब तक प्रवाहित रहेगी, तब तक उस तपस्वी की, उस महात्मा की, पुण्य गाथा गायी जाती रहेगी। गंगा के उस सलिल से तरल खेत उस महात्मा के पुण्य प्रसाद-तुल्य अनन्त काल तक लहलहाते शस्य द्वारा उसका गौरव गान करते रहेंगे।

'गंगा के जल-विन्दु पापियों के मलों को धोकर, उन्हें शुद्ध कर, उन्हें सुखी बनाकर इस जगत् में पुण्य का पवित्र विस्तार करेंगे। उन जल-विन्दुओं के कल-कल ध्वनि से उर्जसित होती रहेगी गंगावतरण करनेवाले की अमर कहानी।

'ऋषियों ने, मुनियों ने, चारणों ने, ब्राह्मणों ने इस विरदावली को बार-बार दुहराया है। इस महती सभा में मैं आज इसे पुनः दुहरा रहा हूँ। सभा को, राजा को, देश को, जनता को एक संकल्प का स्मरण दिला रहा हूँ।

सभा नीरव हो गई। लोगों की आँखों ने देखा, राजा भगीरथ सिंहासन त्यागकर शान्तिपूर्वक उठे। मन्त्री ने उनका अभिवादन कर निवेदन किया।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्ध : सर्ग ७४-७७

गंगावतरण के पूर्व का आध्यात्मिक प्रसंग इस कथा में चित्रित किया गया है।

महाभारत :

अनुशासन पर्व : १६० : ७६ : २५ : १०३ : ४२ : १३७ : २६-२७

वन पर्व : २५ : १२; १०७ : ६६; १०८

सभापर्व ८ : १२

द्रोण पर्व : ६०

शान्तिपर्व : २८-२९ : ६७-७०

पुराण :

नारद : १ : १५

१ : ४७; २ : २६; १६८

ब्रह्म उत्तर खण्ड : २१

ब्रह्म वैवर्त : १ : १०

भागवत : ९ : ९; २-१३

विष्णु : ४ : ४

हरिवंश : १ : १५

वायु : ४७ : २३-४०

५८ : १६७-१७०

ब्रह्म खण्ड : २ : १८ : २३-४२

नीलमत : श्लोक १३५४ आदि

वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड—सर्ग : ३३-३४, ७०

अयोध्या काण्ड—सर्ग : ११०

किष्किन्धा काण्ड—सर्ग : ४९

'भगवन् ! इच्छा ।'

'सभा को नमस्कार है। मैं गंगा लाने चला।'

राजा भगीरथ के चरण-कमल गम्भीरतापूर्वक, शान्तिपूर्वक, दृढ़ संकल्पपूर्वक, संयमपूर्वक एक के बाद एक शनैः शनैः उठने लगे। सभा विस्मित खड़ी रह गई।

जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण—४ : ६ : १ : २

बौद्ध ग्रन्थ

भागीरथो : शब्द का केर गाथा आदि में उल्लेख किया गया है। यहाँ यह शब्द साक्या-वंशजों के लिए प्रयुक्त किया गया है। इक्ष्वाकु-वंशजों के लिए बौद्ध ग्रन्थों में 'शाक्यवंशी' शब्द आया है। भगीरथ को इक्ष्वाकु-वंशी माना गया है।

भागीरथी : इस शब्द का प्रयोग गंगा नदी के लिए किया गया है। अनेक बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि काशी नगरी भागीरथ के तट पर बसी है।

चुड़ाला

'देवी !' मालवाधिपति राजा शिखिध्वज ने अपनी धर्मपत्नी सौराष्ट्र-कन्या रानी चुड़ाला की तरफ अनुरागपूर्ण नेत्रों से देखते हुए पूछा. 'तुममें परिवर्तन देखता हूँ ।'

जम्बूद्वीपान्तर्गत, विन्ध्य अटवी से बहुत दूर नहीं, मालवा की राजधानी उज्जैन नगरी का पादप लता-संकुल राजोद्यान था। राजा और रानी उद्यान में विहार कर रहे थे। शीतल समीर गतिमान् था। उद्यान हरित दूर्वादल द्वारा आच्छादित था। जैसे हरी कालीन बिछायी गयी थी। विहंगम विलास कर रहे थे। पुष्पित लताओं से, पादपों से सुरभि विकीर्ण हो रही थी। हरित पल्लव दल में छिपी, कोयल माधुरी उड़ेल रही थी। चंचल पल्लव कोयल की स्वर लहरियों में झूमकर ताल दे दिया करते थे। दूर पर नाचता मोर पिहक उठता था। रानी पुष्पों की क्यारियों का सौन्दर्य संचय करती, माधवी लता के नीचे आकर खड़ी हो गई। प्रफुल्लित कुसुमों को देखते हुए बोलीं :

'आर्यपुत्र ! परिवर्तन कैसे होगा ?'

'देवी !' राजा ने क्यारियों की भूमि पर बिखरे गुलाब की पंखड़ियों को देखते हुए कहा, 'आज की कुसुमावली कल मुरझा जायेगी। आज के हरित दूर्वादल कल शुष्क हो जायेंगे। आज के प्रसन्न पल्लव कल निर्जीव होकर गिर पड़ेंगे। आज की भावना में कल जीवन नहीं रहेगा।'

'राजन् !' रानी चुड़ाला ने गम्भीर गगन की ओर देखते हुए कहा।

राजा—'तो—?'

रानी—'अपनी दृष्टि बदलती है।'

राजा—'मैं समझता नहीं देवी !'

रानी—'मिथ्या वस्तुएँ अपना रूप बदल देती हैं। सत्य किस प्रकार अपना रूप बदलेगा ?'

राजा—'किन्तु तुम्हारे मुख की कान्ति—!'

रानी की दृष्टि नभो-पथगामी श्वेत वक-पंक्ति पर चलने लगी। वे कलरव करते चले जा रहे थे। वाणाकार पंक्ति में उनके पंख अनायास खुलते-बन्द हो रहे थे। उनकी दृष्टि अन्तरिक्ष पार करती अपनी मंजिल देख रही थी। राजा ने दूर पर खड़ी परिचारिकाओं को संकेत किया। विनयमूर्ति परिचारिकाएँ समीप आईं।

'देवी !' राजा ने कहा : 'तुम अपना रूप दर्पण में देखो।'

'अपना रूप देखने लगी हूँ।' रानी ने सरोवर में नालदण्ड पर झूमते कमल की ओर देखते हुए कहा।

'देवी !' राजा ने सरोवर में हलकी बिछलती लहरों की ओर देखते हुए कहा, 'यहाँ हमलोगों ने विलास किया है। यौवन उमंग के साथ बिताया है। सरोवर की एक-एक बूँद, एक-एक लहरी, हमारी लीला की कहानियाँ कहती है। पादपों की छाया में अपने हृदय उछ्वासों के साथ विश्राम किया है। दिन यौवन के थे। अच्छे थे। मालूम होता है वे दिन कल ही बीते हैं। समय स्वप्न की तरह बीत गया। उनकी सुहावनी स्मृति मात्र शेष रह गई है।'

'हूँ।' रानी ने सरोवर में खेलते सारस पर क्रीड़ावश पुष्प फेंका। सारस पंख फड़फड़ाता सरोवर केन्द्र-बिन्दु की ओर भाग चला। सरोवर के शान्त जलस्तर पर कोलाहल हुआ। फेंका पुष्प मुरझाया। तटीय जल और भूमि के मध्य माया सदृश पड़ा रह गया। राजा ने तट से दूर होते सारव की ओर देखते कहा।'

'और अब ! शरीर शिथिल हो रहा है। सुख भोगते-भोगते मन सन्तुष्ट नहीं हुआ है। यह जगत् विचित्र है, शोभने !'

'हाँ ! हम विचित्र हैं।' रानी ने लहरियों के विस्तृत होते वृत्त पर दृष्टिपात करते हुए हूँकारी भर दी। राजा ने रानी की ओर देखते हुए कहा।

'हम—?'

'हाँ ! नाटक के पात्र हैं। अभिनय प्रतिदिन होता है। अभिनय की घटनावली देखते-देखते सुख-दुख का अनुभव होता है। विचित्र है ! अद्भुत खेल है।'

'हम खेल नहीं हैं।' राजा ने कहा।

'ब्रह्मा के खेल हैं। स्वयं ब्रह्म हैं। अतएव खेल हैं।'

'रानी। तुम कैसी बातें करती हो। राजा ने रानी की ओर देखते हुए कहा : 'मैं अनुभव कर रहा हूँ। अपना यह उपवन कोई उजाड़ रहा है। अपना सुख कोई छीन रहा है। इस दुनियाँ से कोई खींचकर दूर ले जा रहा है। तुम्हारा अलंकार शान्ति नहीं है, गम्भीरता नहीं है, स्थिरता नहीं है।'

'आर्यपुत्र !' रानी ने मुसकुराते हुए, नीलाम्बर की ओर देखते हुए, कहा, 'सत्य अपना आभूषण है।'

'ऊँह !' राजा ने अन्यमनस्क होकर कहा, 'तुम न जाने क्या कहने लगीं। चलो चलें।'

रानी का करतल अपने हाथों में स्नेह से लेकर राजा आगे चला। परिचारिकाएँ नृत्य-प्रसाधनों से युक्त संगीत-गान-नृत्य-निपुण ललनाओं के साथ, राजा के मनोविनोद निमित्त बैठी प्रतीक्षा कर रही थीं। राजा उस प्रसन्न मण्डली में रानी के साथ बैठ गया। उल्लासपूर्वक आदेश दिया,

'संगीत'

वाद्य बजे। स्वर लहरियाँ उठीं। पायल झनकीं। राजा ने रानी को उत्साहित करते हुए कहा।

'प्रिये !' तुम्हारा नृत्य !

'सर्वदा नृत्य-रत रहती हूँ।'

'सर्वदा की बात छोड़ो। पायल पहनो।' रानी की ओर देखकर राजा मुसकुराया।

'पायल की ध्वनि आप नहीं सुन रहे हैं ?'

रानी ने नृत्यशील नर्तकियों के पद से घुंघरुओं की ओर देखते हुए कहा। उसकी मुखमुद्रा में परिवर्तन नहीं हुआ। राजा ने उसके शान्त मुख-मण्डल की तरफ देखते हुए कहा :

'प्रिये !'

'महाराज! हम लोग जगत रंगमंच पर अनवरत नाच रहे हैं। आवागमन की पायल-ध्वनि सुनते-सुनते थक गए हैं। कितने दिनों तक और नाचते रहेंगे आर्यपुत्र !'

'शुभे !' राजा गम्भीर होने लगा, 'मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चहता हूँ।'

'पृथ्वीपते !' रानी ने बरवद्ध राजा के चरणों की ओर देखते हुए प्रणाम किया।

'शुभांगने !' राजा ने संयत वाणी द्वारा पूछा, 'हमारा जीवन विरक्तों का नहीं है।'

'प्रभो !' रानी ने निवेदन किया, 'हम इस जगत से परे हैं। यह जगत् हममें स्थित है। हम जगत् में नहीं हैं। हम वहीं रहेंगे जहाँ हमें रहना चाहिए। यह स्वप्नों का जगत् है, अपनी कल्पना का विस्तार है। अपने संकल्पों का वितान है। अपनी कस्पना, अपना संकल्प, अपना सुन्दर स्वप्न, सुन्दर प्रतीत होता है। विरक्ति का प्रश्न कहाँ उठता है! यह संसार हमारा नहीं है। हमारा जो नहीं है, उसका हम त्याग कैसे करेंगे ?'

'देवि !' राजा ने विचारपूर्वक कहा, विरक्त जीवन में कैसे सुख मिलेगा ? कैसे तुम भोगों के बीच रहकर उनका त्याग करोगी ?'

'अनघ !' रानी ने सन्तोष के साथ कहा, 'मुझे जो कुछ सुख मिलना चाहिए मिल चुका है।'

'प्रिये !' राजा ने स्नेह से कहा, 'उस सुख का भागी मुझे क्यों नहीं बनाया ?'

'प्रभो !' रानी ने राजा के मुख-मण्डल पर अपनी निर्विकार दृष्टि स्थिर करते हुए कहा, 'उस मुख के आप कैसे भागी हो सकते हैं! वह मुख स्वतः अपने-आप में उत्पन्न होता है। आपके आनन्द का मैं और मेरे आनन्द का आप कैसे पता पा सकेंगे ?'

'देवि !' राजा ने पूछा, 'वह मुख क्या है ?'

'परमानन्द !' रानी की दृष्ठि आकाश की ओर उठ गई।

'परमानन्द—क्या ?'

'आत्मानन्द ।'

'मैंने समझा नहीं ।'

'आत्म-दर्शन'

'ओह —।'

राजा के अधरों पर व्यंग भरी मुसकान थी। रानी की मुद्रा में किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। वह बोली ;

'भगवन् ! मैंने इस मिथ्या संसार का रहस्य कुछ जाना है। उसका रूप मेरी समझ में कुछ आया है।'

'अच्छा !'

'प्रभो !' रानी ने संयत वाणी में कहा, 'मैं दुनिया को देखती थी। सबको देखती थी। किन्तु अपने-आपको देखने की चेष्टा नहीं की। जब मैं स्वतः स्वयं को देखने लगी, तो मेरा दृश्य-भ्रम तिरोहित हो गया। चित्रित चित्र-तुल्य, मन के संकल्प-तुल्य, यह संसार भ्रम-जाल दिखाई पड़ा।'

'अब तुम कहाँ रहोगी ?'

'मैं उस स्थान में रहूँगी, जिसकी सुन्दरता के आगे दुनियाँ की सुन्दरता मलिन है। जहाँ की शीतलता की तुलना में हिमालय की शीतलता में भयंकर उष्णता है। जहाँ की अभिरम्यता वास्तव में अभिरम्यता का सत्य-स्वरूप है। वह स्थान है—अपनी आत्मा। उसी का आश्रय लिया है।'

'तो मेरा आश्रय त्याग दिया ?' राजा ने हँसते हुए कहा, 'चलो आगे बढ़ो।'

राजा उसे खींचता नृत्यशील नर्तकियों में मिल गया। वाद्य उमंग-पूर्वक, उत्साहपूर्वक, पूर्ण लय-स्वर में बज उठे।

:o: :o: :o:

रानी चुड़ाला योग का अभ्यास करने लगीं। योग की भूमिकाएँ पार करती प्राण पर नियन्त्रण कर लिया। सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। योग में पारङ्गत हो गईं। उसने निश्चय किया। राजा से भोग-लिप्सा दूर की जाय। जगत्-लिप्सा को समाप्त कराया जाय। मन्त्रियों को आदेश

दिया। राजाके कानों में यदा-कदा तत्त्व-ज्ञान कीं बातें अनजाने डाली जाया करें।

कालान्तर में रानी के शुभ प्रयास के कारण राजा का वातावरण बदल गया। वह आत्म चर्चा में रस लेने लगा। दार्शनिक ज्ञान उसके मष्तिस्क में प्रवेश करने लगा। उसके अन्तरात्मा से ध्वनि उठने लगी। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? जिन तत्त्व-ज्ञान की बातों को न समझने के कारण अरुचि हो जाती थी, उन्हे ध्यान से सुनने लगा।

राजा तत्वज्ञान श्रवण करता था। गम्भीर हो जाता था। विचार करता था। वह स्वयं प्रश्नोत्तर करता था। स्वयं तर्क-वितर्क करता। प्रश्नों के उत्तर देने, समस्याओं के हल करने का प्रयास करने लगा। सन्तोष नहीं होने पर, विज्ञ जनों से संतोष प्राप्त करने में संकोच नहीं करता था। दार्शनिक प्रश्नों में, तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्तों में, वह जितना ही उलझता जाता था, उतना ही उसे शान्ति-बोध होता था। उसे प्रतीत होने लगा, वह आन्तरिक क्रान्ति का शिकार हो गया हैं। वह स्वयं उस क्रान्ति से क्षुब्ध है। वह अपनी क्षुब्धावस्था शान्त करना चाहता था। परन्तु कहीं शीतल सलिल प्राप्त नहीं होता था।

राजा ज्ञानार्जन निमित्त तीर्थयात्रा के लिए निकला। अनेक तीर्थ-स्थानों, काननों, गिरि-कन्दराओं में ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों का दर्शन कर लौटा। ऋषि-आश्रमों के सुन्दर दृश्य, तीर्थ-स्थानों का कोलाहल-पूर्ण वातावरण, उसकी हृदय-ज्वाला को शीतल नहीं कर सका। उसे अपनी यात्रा विफल प्रतीत होने लगी।

× × ×

राजा कुसुम सुसज्जित शय्या पर रानी के साथ सोता था। अचानक जाग उठता था। बैठ जाता था। शयन-कक्ष में घूमने लगता था। शयन-गृह में लगे काम किंवा मिथुन चित्रों को देखने लगता था। देखता ही रह जाता था। गवाक्ष के बाहर नक्षत्रावलीपूर्ण नभ में कुछ खोजने लगता तो उषा की मुसकान के साथ रात्रि बीतने का ज्ञान होता।

राजा की प्रत्येक दशा, उसके क्रिया-कलाप को रानी लक्ष्य करती। वह राजा से कभी कुछ पूछती नहीं। वाद-विवाद नहीं करती। उसे राजा की दशा परिवर्तन पर हर्ष होता।

राजा की मनोदशा आकुलता में परिणत होती जाती थी। वह व्याकुल हो जाता था। एक रात्रि में राजा अकमास्त् उठकर बैठ गया। पार्श्व में निद्रामग्न रानी चुड़ाका सोई थी। रानी को चुपचाप निरखता वह शय्या त्यागकर उठा। राजा की सतर्कता देखी। रानी ने करवट बदली। राजा ने रानी को जागृत होते देखा। खड़ा हो गया। रानी उठकर बैठ गई।

'देव!' रानी ने राजा की ओर गम्भीरतापूर्वक देखते हुए कहा, 'कोई कष्ट है?'

राजा गवाक्ष से बाहर नक्षत्रपूर्ण गमन-मण्डल में विचरने लगा। चुड़ाला ने शय्या पर से ही बुलाया :

'सुनिए!'

राजा चुपचाप शय्या की ओर बढ़ा। रानी ने राजा का का हाथ पकड़ लिया। उसे शय्या पर बिठाया।

'बैठिए!'

राजा शय्या पर बैठ गया। बाहर गगन की ओर पुनः देखने लगा। चुड़ाला की दृष्टि बाहर चली गई। गगन में तारिकावली के क्षीण प्रकाश के कारण घने अन्धकार में कुछ दिखाई पड़ जाता था। निस्तब्ध निशा की सुप्त शोभा में राजा स्वयं निस्तब्ध हो गया। रानी ने स्नेहपूर्वक पूछा :

'कुछ कष्ट है?'

'नहीं।'

'आपका मन उद्विग्न है।' चुड़ाला मे मुसकरा कर पूछा।

'हाँ। शान्ति नहीं मिल रही है।' राजा ने अन्यमनस्क स्वर में कहा। उसने बैठे-ही बैठे हाथ उठाकर शरीर तोड़ा।

'क्या सेवा करूँ?'

'देवी ! तुमने एक दिन शान्ति के सम्बन्ध में कुछ कहा था। आज उन्हीं बातों को सुनाओ।'

'ऊँह ! रानी ने हँसकर राजा को तौलते हुए कहा।

'नहीं कहो।'

'वे बातें स्वप्न की थीं। मन में आ गई थीं। आइए ! सो जाइए। चित्त स्वस्थ हो जाएगा।'

'नींद नहीं लगेगी' राजा ने बेचैनी से कहा। वह शयन-मन्दिर में लगे चित्रों को देखने लगा। दीपक के क्षीण प्रकाश में चित्र धुँधले लग रहे थे।

'कारण—?'

'मैं स्वयं नहीं जानता प्रिये !' राज छत की तरफ देखने लगा। वायु प्रकम्पित दीप-शिखा सहसा हिल उठी।

'आइए, मैं सुला दूँ।' रानी ओढ़ना उठाती हुई बोली। दीप-शिखा स्थिर थी। उसका प्रकाश स्थिर था।

'आश्रम-जीवन सुन्दर होता है।' राजा ने अनायास बोलने का प्रयास करते हुए कहा।

'मुनियों के लिए है। राजा-रानी के लिए वह स्थान नहीं है।' रानी के अधरों पर मुसकान थी।

'नहीं प्रिये !' राजा ने अपनी उँगलियों की तरफ देखते हुए कहा, 'यदि वन में चलकर रहें ?'

'हम तपस्वी नही हैं।' दीप-शिखा वायु के झोंके में निर्वाण होते-होते बच गई।

'यदि हो जायँ।' राजा ने दीपशिखा की तरफ देखते हुए कहा।

'यदि वन में हो सकते हैं तो यहीं क्यों न हो जायँ।' रानी ने दीप-शिखा पर चक्कर लगाते फतिगों को देखते हुए कहा।

'यह कैसे होगा ?'

'मैं आप की सेवा करूँगी। सब लोग आपकी सेवा करेंगे। सभी प्राप्य वस्तुएँ प्राप्त रहेंगी।' रानी ने शयन-कक्ष में चारों ओर दीपक के मन्द प्रकाश में देखते हुए कहा।

'मैं किसी की सेवा नहीं चाहता।' राजा की दृष्टि गवाक्ष के बाहर चन्द्रमा के क्षीण होते प्रकाश की तरफ लग गई।

'आपकी सेपा कौन करेगा ?'

'स्वयं करूँगा !' राजा ने ज्योतिशिखा के चारों ओर चक्कर काटते फतिंगों को देखते हुए कहा।

'कभी की है ?' रानी मुसकराई।

'नहीं की है। अभ्यास करूँगा।' अकस्मात् किंचित प्रकाश होकर शयन-कक्ष में लोप हो गया। राजा ने देखा आकाश में उत्कापात।

'हम क्या करेंगे ?'

'देवी ! दूसरों की सेवा लेते-लेते थक गया हूँ। उनकी सेवा से वर्षों बीत जाने पर तृप्ति नहीं हुई। भगवान् इस सेवासे पिण्ड छुड़ाएँ।' राजा ने ज्योति-पुंज पर परस्पर खेलते दो-चार फतिंगों की ओर देखते हुए कहा, 'अब मुझे विश्राम चाहिए।'

'इन प्रसाधनों से विश्राम नहीं मिलता ?' चुड़ाला ने शयन-कक्ष में संग्रहीत मानवीय सुख हेतु संग्रहीत वस्तुओं की ओर देखते हुए कहा।

राजा का मस्तक झुक गया। रानी चुड़ाला राजा की भावभंगी पर मुसकुराने लगी। उसके नेत्र किंचित् प्रफ़ुल्लित हो गए। रानी ने गगन में लोप होती चाँदनी की तरफ देखते हुए कहा :

'कैसी विश्रान्ति आप चाहते हैं ?'

'जिसकी एक झलक एक दिन मैंने तुम्हारे मुख-मण्डल पर देखी थी। राज्य त्यागकर उसकी प्राप्ति निमित्त वन में चलना चाहिए।' राजा ने देखा गगन में शशि अपनी स्निग्ध किरणों को प्राय: बटोर चुका था।

'मैं साथ चलूँ।

'क्यों ?'

'आपकी विश्रान्ति की मैं भागी बन जाऊँगी।' रानी ने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा। गगन में शशि किरणें बटोर कर लुप्त हो गया था। रानी ने राजा को लिटाते हुए कहा :

'आइए, सो जाइए।'

राजा लेट गया। शीतल मरुत्-प्रवाह ने चुपचाप शयन-कक्ष में प्रवेश किया। वेग से मिला शिखा से। शिखा मरुत् में मिल गई। रानी ने राजा के शरीर पर चादर डाल दी।

× × ×

शान्त सुन्दर कानन था। मन्दराचल महास्थाविर की तरह स्थिर था। वनश्री, पादप, पल्लव, विविध पुष्व-राशि में मुसकरा रही थी। विहंगम-संकुल कलरव-पूर्ण पादप-कुंज में एक छोटी पर्ण कुटी थी। कुटी की ओर एक तपस्वी अपने-आव में तल्लीन चला आ रहा था। विशाल वक्षस्थल पर रुद्राक्ष माला थी। बगल में मृग-छाला थी। हाथ में जलपूर्ण कमण्लु था। प्रशस्त ललाट पर उज्ज्वल विभूति थी। कण्ठ में उज्ज्वल यज्ञोपवीत था।

पर्णकुटी के प्रांगण में बैडा था एक तपस्वी। उसने आगन्तुक ब्रह्मचारी का अभ्युत्थान द्वारा स्वागत किया। पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, माल्य देकर सत्कार किया। आसन की ओर संकेत किया। आगन्तुक कुशासन पर बैठ गया।

'अतिथि, ब्रह्मचारी! आपके आगन का हेतु जानने का अधिकार मैं प्राप्त कर सकता हूँ?'

ब्रह्मचारी प्यासी आँखों से आश्रम की प्रत्येक वस्तु का अवलोकन कर रहा था। वहाँ की पवित्रता, वहाँ की शान्ति देखकर, मन-ही-मन प्रफुल्लित हो गया था। उसने पादप पर बैठे नीलकण्ठ की ओर देखा। वह एक शाखा से उड़कर दूसरी वकुल की शाखा पर बैठ गया। वह वकुल की भीनी सुरभि में नीलकण्ठ के सुन्दर रूप में, तपस्वी का प्रश्न वकुल की भीनी सुरभि में, नीलकण्ठ के सुन्दर रूप में, तपस्वी का प्रश्न उसे अच्छा लगा।

'कहूँगा श्रेष्ठवर! आपका आश्रम कितना सुन्दर है! आपका परिचय पाकर मैं अपने प्राक्तन पुण्य का उदय समझता हूँ।'

'आगन्तुक!' तपस्वी ने कहा। 'मैं एक अत्यन्त दीन व्यक्ति हूँ।' मुझे अशान्ति ने, तृष्णा ने, चिन्ता ने, अहंकार ने, ममता ने बहुत सताया है। मैं अनाथ हूँ। इस देह के कारण मनुष्य हूँ। इससे अधिक मेरा और क्या परिचय हो सकता है?'

'मानद।' ब्रह्मचारी ने अधरों पर आ गई सुस्मित रेखा के साथ कहा, 'आपने अपना वास्तविक परिचय दिया है। किन्तु व्यावहारिक जीवन के लिए, इस जगत् की संज्ञा के लिए, आपका सम्बोधन क्या होगा ?'

'ब्रह्मचारी !' तपस्वी ने भूमि की ओर देखते हुए कहा। मुझे लोग शिखिध्वज कहते हैं।'

'मालव-नरेश ! ब्रह्मचारी आश्चर्य-चकित तपस्वी को ऊपर से नीचे तक कई बार देखा।

शिखिध्वज नीरब थे।

'राजन् !' ब्रह्मचारी ने निवेदन किया, 'आप इस आश्रम में कितने दिनों से हैं।'

'आठ वर्ष से।'

'काल किसी की अपेक्षा नहीं करता।' राजा ने आकाशगामी विहंगमों की ओर दृष्टि उठाते हुए कहा।

'राजन् !' ब्रह्मचारी ने पूछा, 'मैंने सुना है। आपकी रानी विदुषी हैं। प्रजा आपकी अनुगामिनी है। आपने यह मोह कैसे त्याग दिया ?'

'महात्मन्।' राजा ने शान्तिपूर्वक कहा, 'मैं एक दिन अर्धरात्रि में अपनी रानी तथा राज्य का त्याग कर चल दिया।'

राजा की दृष्टि ब्रह्मचारी के मुख-मण्डल पर स्थित हो गई। राजा चकित हुआ। उसके लोचन खुले रह गए। ब्रह्मचारी ने मुस्करा कर कहा :

'राजन् !' आप मेरी तरफ इस प्रकार स्नेहमय दृष्टि से क्यों देख रहे हैं ?

राजा लज्जित हो गया। दूसरी ओर देखने लगा। दूर पर हरिणी और हरिण हरित दूर्वा चरते एक-दूसरे को स्नेह-दृष्टि से देख लेते थे। राजा उन्हें देखने लगा।

'राजन् !' ब्रह्मचारी ने हरिण की ओर देखते हुए कहा, 'आप दूसरी तरफ देखने लगे। मैं यहाँ बैठा हूँ। आप से बातें कर रहा हूँ।

आपने लम्बे काल तक आठ वर्षों तपस्या की हैं। संसार-बन्धनों से छूट चुके होंगे। विकारों से अरुचि हो गई होगी।'

देवपुत्र ब्रह्मचारी तुष्णीभूत हो गया। राजा सकुच गए। खेद के साथ बोले :

'देव-पुत्र !' राजा कुछ आगे कह न सके। उनकी आँखें भर आईं।

'राजन् !' देवपुत्र ने समवेदना प्रदर्शित करते हुए कहा, 'इसमें संकोच की कोई बात नहीं है। इन्द्रियों के धर्म हैं। किन्तु वह कौन-सी सुहावनी स्मृति है, जिसके कारण आपके कमल-लोचन अकस्मात् वाष्प-पूर्ण हो गए ?'

'देवपुत्र !' राजा पल्लवों में शान्त बैठी सुन्दर सारिका की ओर देखने लगा।

'राजन् !' देवपुत्र ने कहा, 'लज्जा विकार का एक रूप है। आप्त पुरुष हैं। विकारों से दूर हैं। मन की बात मन में रखने से किस प्रयोजन की सिद्धि होगी ?'

'देबपुत्र !' राजा ने कहा। 'क्षमा करना। मनुष्य भावनामय होता है। उसे अतीत का स्मरण हो जाता है।'

'वह कौन-सी स्मृति थी राजन् !' देशपुत्र राजा के नेत्रों द्वारा उसके हृदय में प्रवेश करना चाहा।

'ब्रह्मचारी !' राजा की दृष्टि नत हो गई। उसने एक तृण उठा लिया। उसे देखता बोला, 'आपको देखकर मुझे अपनी रानी चुड़ाला का स्मरण हो आया। आपके प्रत्येक अंग उससे मिलते हैं। आप और चुड़ाला के अंग-विन्यास में साम्य देखकर मैं चकित हो गया हूँ।'

ब्रह्मचारी राजा के नत-मस्तक, उसके रूप को देखकर, मुसकराने लगा। आम्र-पल्लवों में वासंती वायु से उमंगित कोयल कूजने लगी। राजा का ध्यान बट गया। आँखे ब्रह्मचारी की ओर लजाती उठीं।

'देवपुत्र !' राजा ने संकुचित वाणी से कहा, 'मन पर कुसंस्कार और मकिनता जमी है। इन्द्रियों ने मुझे धोखा दिया है।'

'बड़ी दुष्ट हैं।' ब्रह्मचारी राजा के लज्जालु मुख की ओर देख कर हँसा।

'देव-पुत्र !' राजा ने कहा, 'मैंने मानसिक अपराध किया है। क्षमा कीजिए। मेरी पूजा ग्रहण कर अनुग्रहीत कीजिए।'

राजा आसन त्याग कर उठा। ब्रह्मचारी ने राजा की पूजा स्वीकार की। राजा ने निर्विकार भाव से देवपुत्र को माला पहनाई। अनन्तर आसन पर बैठ गया।

'देवपुत्र !' राजा ने संयत वाणी में कहा, 'आपके विमल, धवल रूप को देखकर आपके परिचय जानने की अनायास इच्छा होती है।'

'राजन् !' ब्रह्मचारी ने कहा, मैं नारद का पुत्र हूँ। मेरा नाम कुम्भज है।'

'आपके पवित्र दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हुआ।' राजा ने कुम्भज को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया।

'राजन् !' कुम्भज ने पूछा, आपका पवित्र आचरण देखकर आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। आपको अधिक जानने की जिज्ञासा होती है। किसी के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासा करना अवांछनीय है, जानता हूँ। पवित्र व्यक्तियों के आचरण और कर्म स्वतः तीर्थ है।'

'देवपुत्र !' राजा ने शान्त स्वर में कहा, अपने दोषों को कहने में मुझे प्रसन्नता होगी।'

'आप धन्य हैं।' कुम्भज ने प्रमुदित मुद्रा से कहा।

'देवपुत्र !' राजा ने कहा, 'मैंने बहुत दान, तपस्या, तीर्थादि किया है। यहाँ त्रैकालिक सन्ध्या करता हूँ। कर्म-काण्ड-विहित कार्यों का सम्पादन करता हूँ। जप करता हूँ। किन्तु मुझे शान्ति नहीं मिल रही है।'

'राजन् !' कुम्भज ने किंचित् मुसकराकर कहा, 'आप एक गर्त से निकल कर दूसरे गर्त में गिर गए हैं। जिस हेतु आपने पूर्व गर्त का त्याग किया उस हेतु को समझ न सके। दूसरे गर्त में गिर गए। इस गर्त में मृगछाला, माला, कमण्डलु आदि के आडम्बर में फँस गए। पूर्व गर्त में अहंकार आअका आडम्बर था। इस गर्त में तप प्रसाधन आपके आडम्बर हैं। आपका त्याग आडम्बर मात्र है। आपने एक आडम्बर का त्याग कर दूसरे आडम्बर को ग्रहण किया है।'

'देवपुत्र !' राजा कुछ कहना चाहता था। कुम्भज ने उन्हें रोक कर कहा :

'राजन् !' पूर्व काल में आप राज्य में रहते थे। इस समय महावन में निवास करते हैं। पहले राज-प्रासाद में रहते थे। अब पर्णकुटी में वास करते हैं। पहले आपका परिभ्रमण राज-उपवन में होता था। अब पादप-संकुल अरण्य में होता है। आपने केवल स्थान परिवर्तन किया है। आपकी वासना का नाश नहीं हुआ है। वासना का आपने एक तरफ से त्याग किया, वही वासना दूसरी तरफ से आप में आ गई। आपने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। वासना पर्णकुटी, माला, मृगछाला, कमण्डलु बनकर आपके गले लग गई।'

राजा को ग्लानि होने लगी।

राजन् !' कुम्भज ने कहा। 'आपकी स्थिति पर मुझे दया आती है। कर्म से शान्ति नहीं मिलती। एक कर्म का त्याग कर आपने दूसरे कर्म का ग्रहण किया है। आपको अपने कर्त्ता रूप का, अपने कर्म का, जब तक ज्ञान रहेगा, तब तक शान्ति मिलनी सम्भव नहीं है। दुःख कष्ट देता रहेगा। वासना-रहित आपको अपने स्वरूप में जागृत होना चाहिए। वासना बन्धन है। निर्वासना मुक्ति है। वासनाहीन होना परम पौरुष है। वासना-रहित होने पर ज्ञेय की प्राप्ति होगी। ज्ञेय का दर्शन होगा। उसके स्वरूप की यथार्थ झाँकी मिलेगी। महीपते ! आपको अपने स्वरूप को जानना था। आप जंजालों में फँस गये।'

'देवपुत्र !' राजा ने विवेकपूर्ण मुद्रा से कहा, 'ज्ञान बिना मेरी अवस्था उस पल्लव, शाखा, पुष्प, फलादि विहीन शुष्क बृक्ष की तरह है, जो अनायास, निष्प्रयोजन शताब्दियों से खड़ा घुनता रहता। मैं ज्ञान-पथ का पथिक बनना चाहता हूँ।'

'राजन् !' कुम्भज बोले। 'वास्तविक त्याग से आप दूर हैं। त्याग आवश्यक है। त्याग के पश्चात् संतों का, शास्त्रों का आश्रय ग्रहण कर प्रश्न करना चाहिए। आप क्या हैं ? आपका क्या प्रयोजन है ? बन्धन क्या है ? मुक्ति क्या है ? यह संसार क्या है ? संसार का उदय-अस्त

कैसा होता है ? महात्मन् ! आप संतहीन, शास्त्र चर्चाहीन, जनशून्य इस महावन में एक वृक्ष-स्वरूप स्वयं स्थित हो गए हैं।'

'देवपुत्र !' राजा ने श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक कुम्भज को शिरसा नमन करते हुए कहा, 'आप मेरे गुरु हैं। आप सत्संग हैं। पथ-प्रदर्शक हैं। आप ही गुरुवत् मुझे उस ज्ञान का उपदेश दीजिए।'

'राजन् !' कुम्भज ने शाखा पर बैठी सारिका की तरफ देखते हुए कहा, 'शाखा पर बैठी सारिका के समान आपने उपदेश सुन लिया तो उससे क्या लाभ ?'

'देवपुत्र !' राजा ने कहा, 'मैं जिज्ञासु हूँ। मैं अभ्यासी हूँ। पथ-प्रदर्शक के अभाव में भटक रहा हूँ, आप विश्वास रखिए। आपके उपदेशों के पालन की चेष्टा करूँगा।'

'राजन् !' कुम्भज ने कहा। 'आपने त्याग किया। उस त्याग में आपको सुख मिला। आत्म-पथ के पथिक बने। किन्तु आपने त्याग की मित्रता त्याग दी। पथ के एकाकी पथिक बन गए। आपने त्याग का त्याग कर तप का ग्रहण किया। त्याग चिन्तामणि है। तप कांचन मणि है। कांचन मणि प्राप्त कर कोई धनी नहीं होता। आप दरिद्र-के-दरिद्र रह गए। विस्तृत मेघ-माला को वायु एकत्र करती है। वही वायु मेघ को फैलाकर सूर्य को ढक देती है। प्रकाश मन्द हो जाता है। कुटुम्बादि का त्याग आपने किया। किन्तु वह त्याग अहंकार-मेघ से ढक गया है। आपने वैराग्य-वायु से राज्यादि अहंकार-मेघ को हटाया है। किन्तु देहादि का अहंकार-अंकुर आप में रह गया है। उसी अहंकार-मेघ ने सूर्य-स्वरूप आत्मा को पुनः ढक लिया है। ज्ञान-चिन्तामणि के स्थान पर चमकती अज्ञान कांचन मणि आपकी गाँठ में आ गई है।'

'राजन् !' कुम्भज ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'आपने अपनी रानी के उपदेशों पर ध्यान नहीं दिया। आपने उसका निरादर किया। इस महारण्य में तपस्या के आडम्बरों में फँस गए। त्याग की महत्ता भूल गए। जिस विवेक बुद्धि का आप में उदय हुआ था, उसकी आपने उपेक्षा की। शांति कैसे मिलेगी ?'

'देवपुत्र !' राजा ने कहा, 'मैंने राज्य, स्त्री, सुख, धन, धान्य, बन्धु-वान्धव सबका त्याग किया है। क्या आप इसे त्याग नहीं मानते ?'

'राजन् !' कुम्भज बोले, 'राज्य में आपका क्या था ? किसका आपने त्याग किया ? राज्य अपना आप कैसे कहते हैं ? राज्य आपसे पहले था। इस समय है। भविष्य में रहेगा। स्त्री जैसे पहले थी वैसे अब भी है। वैसें ही भविष्य में होती रहेगी। उसमें आपका क्या था ? उस पर आपका क्या अधिकार था ? ऐश्वर्य कैसे आपके हैं ? उनका अस्तित्व आपसे भिन्न है। उन्हें भोगनेवाले आपके शरीर का नाश हो जाएगा। किन्तु ऐश्वर्यों का नाश नहीं हो सकेगा। वे स्थिर रहेंगे। वह आपका था ही नहीं। अपने त्याग किस वस्तु का किया। आपका जो है, उसका त्याग कीजिए।'

राजा ने अपनी कुटिया को उदासीन दृष्टि से देखा। देखते हुए कहा, 'यहाँ वन में मेरे पास जो कुछ है सबका त्याग करता हूँ। यहाँ के फल-फूलों का त्याग करता हूँ।'

'राजन् !' कुम्भज ने मुसकुराकर कहा, 'आपकी जो वस्तु है उसका त्याग कीजिए।'

'पृथ्वीपति !' कुम्भज ने कहा, 'आप अपनी वस्तु का त्याग कीजिए।'

'मैं अपनी मृगछाला का त्याग करता हूँ।'

'मृगछाला आपकी नहीं है।'

'मैं इस पर्णकुटी का त्याग करता हूँ।'

'यह त्याग नहीं है।'

'मैं अपने कमण्डलु का त्याग करता हूँ।'

'राजन् !' देवपुत्र ने मुसकुराकर कहा, 'मृगछाला मृग की है, पर्णकुटी पत्थर और मिट्टी की है। कमण्डलु वन की तुम्बी है। ये सब आपके कैसे हो गए ?'

'मैं अपनी लाठी का त्याग करता हूँ।'

'वन का बाँस लाठी है। उसे आपने बनाया नहीं है। उसमें आपका क्या अंश है ?'

'मैं इस आसन का त्याग करता हूँ ।' राजा ने अपने आसन से उठते हुए कहा ।

'राजन् !' कुम्भज ने सस्मित कहा, 'आसन भेड़ की ऊन का बना है । भेड़ ने ऊन उत्पन्न किया है ।'

'मैं पात्र का त्याग करता हूँ ।

'राजन् !' कुम्भज ने मृत्तिका-पात्रों की ओर देखते हुए कहा, वे मिट्टी के हैं । मिट्टी के बने हैं : मिट्टी में पुनः मिल जायेंगे । आपके वे कैसे हो गए ?'

राजा परेशान हो गया । उठकर टहलने लगा । अकस्मात् उसका मुख खिल गया । प्रसन्नतापूर्वक बोला ।

'देवपुत्र ! मैं त्याग करूँगा ।'

राजा सूखी लकड़ियाँ एकत्र करने लगा ।

:o: :o: :o:

राजा ने सूखी लकड़ियों की सुन्दर चिता रचकर बनाई । उसमें आग लगा दी । चिता जलने लगी ।

'देवपुत्र !' राजा ने हँसते हुए कहा । 'मैं सर्वस्व त्याग करूँगा ।'

'यही देखना चाहता हूँ राजन् ।'

'देखिए महात्मन् !'

कुम्भज प्रसन्न-वदन हो गया ।

'लाठी !' राजा चिता के पास खड़ा हो गया । उसने लाठी उठा कर कहा, 'तुमने चिरसखा के सदृश मेरा साथ दिया है । मेरे सुख में, दुःख में निर्विकार रूप से साथ दिया है । तुम्हारी उत्कृष्ट मित्रता भुलाई नहीं जा सकती । किन्तु तुम मेरी नहीं हो । मेरा साथ त्याग दो । तुम्हें नमस्कार !'

'मृगछाला !' राजा ने लाटी अग्नि में डालकर मृगछाला उठाते हुए कहा, 'तुम्हारे ऊपर बैठकर मैंने बहुत तप किया है । तुम मेरे सहायक थे । किन्तु तुमसे मेरा कुछ मौलिक उपकार नहीं हो सका । अतएव जाओ । तुम्हें नमस्कार है !'

'कमण्डलु !' राजा ने अग्नि में मृगचर्म डालकर कमण्डलु उठाया। 'तुमने निस्स्वार्थ भाव से मेरा उपकार किया है। तुमने जल धारण कर अपनी नहीं दूसरों की प्यास बुझाने के लिए जल का त्याग किया है। त्याग तुम्हारा गुण है। उसी त्याग से प्रेरित होकर तुम्हारा त्याग करता हूँ। नमस्कार !'

'माले !' कमण्डलु अग्नि में डालकर राजा ने कण्ठ से माला उतार कर कहा, 'अगणित जन्य परम्पराओं-तुल्य तुम्हारे दानों को फेरता रहा हूँ। शोभा बढ़ाती तुम मेरे तपस्वी जीवन का विज्ञापन करती रही हो। मुझे अपने विज्ञापन, अपने अगणित योनियों की श्रृंखला की तरह तुम्हें जपने की आवश्यकता नहीं है-तुम्हें नमस्कार !'

माला जलने लगी, कुम्भज की ओर देखते हुए राजा ने कहा : 'महात्मन् !' अब।'

'राजन् !' कुम्भज ने उदासिन मुद्रा से कहा, 'अभी कुछ नहीं हुआ।'

'देवपुत्र ! यह लो।' राजा ने आवेग में चिता की जलती एक लुकारी उठा ली। कुटी में आग लगाते हुए कहा : 'कुटी तुम्हें नमस्कार है।'

प्रज्वलित ज्वाला सूखे पत्तों को जलाने लगी। राजा ने जो कुछ उपयोग की सामाग्री थी सब भस्म होती कुटी में छोड़ दी। उसने अपने कौपीन को भी अग्नि में डालते हुए कहा; 'एकमात्र शरीर की दूसरी वस्तु तुझे भी नमस्कार !'

राजा का कौपीन जलकर भस्म हो गया। वह अपने त्याग पर प्रसन्न हो गया।

'देवपुत्र ! आज से आकाश मेरा अम्बर है। पृथ्वी मेरी शय्या है। मेरे पास त्याग के लिए कुछ नहीं रहा। क्या अभी मेरा त्याग पूर्ण नहीं हुआ ?'

'नहीं।' कुम्भज ने चिता की लपटों, कुटी को हा-हा-हा, हू-हू-हू करती जलती देख कर कहा, उसे सब खिलवाड़ जैसा लग रहा था।

'देवपुत्र !' राजाने आकुलतापूर्वक खड़े होकर कहा। 'अब मेरे पास क्या है ?'

'बहुत कुछ है।'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं है। मैं नंगा हूँ। मैं-मैं-मैं।'

मनोव्यथा में राजा प्रलाप करने लगा। वह विक्षिप्त की तरह घूमने लगा। उसने धधकती चिता देखी। भस्म होती कुटिया देखी। भय-विह्वल विहंगमों को देखा। दूर पर खड़े तमाशा देखने मृग-समूहों को देखा। लपटों में झुलसते समीपस्थ पादपों के पल्लवों को देखा। यज्ञ-धूम के स्थान पर सर्वनाशक अग्नि के धुएँ से भरते आश्रम के वातावरण को देखा। चटकती चिता की लकड़ियों की चटचटाती ध्वनि सुनी। गिरते पर्ण कुटी के स्तम्भों का मर्मर शब्द सुना। वह अट्टाहस कर उठा। पागल की तरह इधर-उधर विस्फारित नयनों से देखने लगा। चिल्ला उठा :

'ओह! यह देह है। आह तू बची है। मैं तेरा नाश करूँगा। मैं तेरा त्याग करूँगा।'

राजा उत्तुंग पर्वत-शिखर की ओर दौड़ा। कुम्भज ने उसे पकड़ लिया। कुम्भज के बाहुपाश से बलपूर्वक निकलने का प्रयास करता राजा चिल्लाने लगा, मैं देह का त्याग करूँगा।'

वन में राजा की चीत्कार सुन विहंगम उड़ने लगे। पशुदल भाग गए। वन में उसकी भयंकर आवाज गूँज कर रह गई। प्रकृति निस्तब्ध हो उठी।

राजन्!' कुम्भज ने बहुपाश में राजा का शरीर जकड़ते हुए कहा, 'उन्माद मनुष्य का गुण नहीं है।'

'छोड़ो, छोड़ो, छोड़ो। मैं इस देह का नाश करूँगा। पर्वत-शिखर से कूदकर उसे चूर्ण-चूर्ण कर दूँगा। मैं त्यागी बनूँगा। बोलो देवपुत्र! फिर भी मुझे त्यागी नहीं कहोगे?'

'नहीं।'

राजा का मस्तक कुम्भज के बहुपाश में झुक गया। उसका शरीर पसीने से भर गया। उसे गहरी निराशा हुई। घोर दुःख हुआ। उसकी आँखें भर आईं करुण दृष्टि कुम्भज के उत्फुल्ल लोचनों की ओर उठी। उसकी वाणी डोली—

'भगवन् ! मैं · ' राजा हताश होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुम्भज ने स्नेह से कहा :

'राजन् ! इस शोभनीय शरीर का नाश करने से कोई लाभ न होगा। इसके त्याग के पश्चात् भी सर्वस्व त्याग नहीं कहा जायेगा। यह देह आपकी नहीं है। यह मिट्टी है। यह आपको स्वयं त्याग देगी। इस जड़ काया को त्यागने से क्या लाभ ? इस शरीर-यन्त्र को जो चलाता है, इस रथ का जो रथी है इसमें व्याप्त जो शक्ति है, इसे जो शक्ति कुवृत्ति-सद्वृत्ति में लगाती है, उस प्रेरक शक्ति का त्याग करो।'

'देवपुत्र !' राजा ने मस्तक का पसीना पोंछते हुए कहा, 'वह कौन-सा त्याग है ?'

'जिस त्याग से जन्म-मृत्यु का अवसान हो जाय, जिस त्याग से सुख-दुःख की भावना मिट जाय, उसका त्याग करो।'

'वह त्याग क्या है ?'

'चित्त।'

कुम्भज ने राजा के विस्फारित नेत्रों में गम्भीरतापूर्वक देखते हुए कहा। राजा का मन स्थिर होने लगा। उसकी वाणी से शब्द अनायास निकल गया।

'चित्त-!'

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य तीनों चित्त की कल्पना है। चित्त पुण्य कर्म की ओर प्रवृत्त होने पर पुण्य तथा पाप की ओर प्रवृत्त होने पर पाप कर्म करता है। पुण्य का फल सुख मिलता है। पाप का फल दुःख प्राप्त होता है। किसी चीज का त्याग किया जाता है, तो वह जैसे पास चली आती है। और जब इच्छा की जाती है, तो दूर भागने लगती है।'

'राजन् !' कुम्भज ने पुनः कहा, 'इस चित्त का नाम है चित्त, मन, अहंकार, जीव और माया। चित्त-स्फुरण बढ़ता है, तो त्याग नहीं होता। इस स्फुरण का नाश होने पर, चित्त का त्याग कहा जाता है। शरीर के नाश होने पर, शरीर तथा चित्त दोनों का नाश होता है।'

'भगवन् !' राजा बोला, 'मैं उसका त्याग कैसे करूँगा ?'

'राजन् !' कुम्भज ने सरलतापूर्वक कहा, 'चित्त का त्याग सरल है। मुहूर्त मात्र में उसका त्याग हो सकता है। अज्ञानी के लिए वह जितना कठिन है, दुरूह है, ज्ञानी के लिए उतना की सहज है।'

'किन्तु मुझे कठिन मालूम होता है, अनघ !'

'मानद !' कुम्भज ने कहा, 'चित्त का रूप है वासना। वासना का नाश होने पर रूप का नाश होता है। रूप के नाश होने पर वस्तु का नाश होता है। चित्त बीज है। उससे भ्रम, असत्यादि उत्पन्न होते हैं। उस बीज-स्वरूप चित्त का नाश होने पर बीज में अदृश्य रूप से स्थित विशाल वृक्ष, शाखा, पल्लव, पुष्प, फलादि का स्वतः नाश हो जाता है। यदि बीज बचा रहा और केवल शाखा, पल्लव, फूल-फल का नाश किया जाय, तो वे कालान्तर में पुनः निकल आयेंगे।'

'सौम्य !' कुम्भज ने राजा की गम्भीर मुद्रा लक्ष्य करते हुए कहा, 'चित्त-पुष्प का सौरभ है संसार। चित्त-कमल का मृणाल-दण्ड है संसार। शरीर को गतिशील करने वाला चित्त वायु है। जन्म, जरा, मृत्यु, आधि-भौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ताप, सुख-दुःख इस चित्त में उसी प्रकार स्थित हैं, जिस प्रकार तिल में तेल छिपा रहता है।'

'देवपुत्र !' राजा ने पूछा, 'बीज, शाखा,पल्लवादि क्या हैं ?'

'नृपति !' कुम्भज ने कहा, 'अहंकार बीज है। चित्त शाखा है। सुख-दुःख फल हैं। एक आश्रम का त्याग कर, दूसरे आश्रम में एकान्त में जाकर बैठना, विचार करना कि मैं त्यागी हूँ, मैंने त्याग किया है, यह है इन शाखाओं को काटना। इस प्रकार शाखा काटने से विशाल वृक्ष का नाश नहीं होता। शाखाएँ और वेग से बलशाली निकलने लगती हैं। अहंकार का संवेदन देह तथा इन्द्रियाँ हैं। उस अहंकार का निश्चय बुद्धि है। उस बुद्धि का यह निश्चय करना 'मैं हूँ', 'संसार है' जीव का अहंकार है।'

'अहंकार कैसे उत्पन्न होता है ?'

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'शुद्ध चेतन में चेतन्योमुखत्व का स्फुरण कि 'मैं हूँ' यह दृश्य स्वरूप अहंकार है। मिथ्या संवेदन है। शान्त समुद्र में वायु के स्पर्श से लहरें उठती हैं, विलीन होती हैं। उसी प्रकार

शान्त शुद्ध आत्मा में अहं स्फुरित होता है। बर्फ की प्रतिमा सूर्य ताप से गल जाती है। गलकर अपने मूल-स्वरूप जल में परिणत हो जाती है। इसी तरह ज्ञान सूर्य के उदय होने पर अज्ञान अन्धकार का नाश होता है। अज्ञान के नष्ट होने पर, मूल-स्वरूप आत्मा का दर्शन होगा। आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि उस आत्मा से परे ब्रह्मादि कुछ नहीं है।'

'भगवन् ! ब्रह्म क्या कारणहीन है ?'

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'आत्मा अनन्त है। अनन्त का परिच्छेद देश, काल एवं वस्तु नहीं कर सकते। देश, काल, वस्तु से जो पूर्ण है, जो व्यापक है, वह किसका कारण तथा कार्य होगा। कारण से कार्य होता है और कार्य से पुनः कारण होता है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनता जाता है। यह क्रम चलता रहता है। किन्तु आत्मा आदि-अन्त-विहीन है। कारण उस समय होता है, जब परिणाम होता है। परन्तु आत्मा अच्युत है। आत्मा कर्महीन है। अतएव वह न तो भोक्ता है और न भोग है। वह कार्य नहीं है। कार्य इन्द्रियाँ होती हैं। आत्मा इन्द्रिय-गम्य नहीं है। अपने स्वरूप का परिवर्तन नहीं करता। वह स्वयं अपने-आप में समान रूप से अवस्थित रहता है। इसलिए वह अद्वैत है। स्वच्छ आकाशवत् निर्मल हैं। आपका स्वरूप सर्वात्मा है राजन्।'

:o: :o: :o:

'राजन् ! राजन् ! राजन् !'

कुम्भज ने समाधिस्थ राजा शिखिध्वज को जगाते हुए कहा। राजा की आँखें शनैः-शनैः उषाकालीन कमल-पंखड़ियों की तरह खुलने लगीं।

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'आपको समाधि तथा उसके उत्थान से क्या प्रयोजन ? आप आत्मा मात्र हैं। क्षोभ, उपाधि, राग-द्वेष से रहित आपको विचरण करना चाहिए।'

'देवपुत्र ! मेरी शंका का समाधान कृपया कीजिएगा ?'

'राजन् ! पूछिए।'

'देवपुत्र !' राजा ने गम्भीरतापूर्वक पूछा, 'आत्मा एक है। शुद्ध आकाश-स्वरूप चेतन मात्र है। उस आत्मा में द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य इन भावों की त्रिपुटी कैसे उत्पन्न हो जाती है ?'

'मानद !' कुम्भज बोले। 'आप अपनी आँखों से जो कुछ देख रहे हैं अथवा जो दृश्य दिखाई देता है, उसकी एक सीमा है। इनका जीवन महाप्रलय काल तक सीमित है। महाप्रलय के पश्चात् शुद्ध, निर्मल आत्मा शेष रह जाती है। वह आनन्द-स्वरूप है। सत्य एवं असत्य दोनों से रहित है। उपाधि रहित है। यह संसार उसका चमत्कार है। आकार स्वरूप जो कुछ दिखाई देता है, वह भ्रम है। आकार मिथ्या है। अतएव संवेदन मिथ्या है। आत्मा में 'अहं, त्वं' के विचार नहीं उत्पन्न होते। वह केवल ज्ञान मात्र है। सत्-स्वरूप है। आनन्दमय है। अविद्या-अन्धकार से रहित, प्रकाश स्वरूप है। वह प्रमाणों से समझाया तथा जाना नहीं जा सकता। कारण स्पष्ट है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह मन और चिन्तन से रहित है। वह सबका द्रष्टा स्वयं अनुभव-स्वरूप है। उसमें ओर-छोर-रहित यह आकाश अणु-सदृश प्रतिभासित है। उसमें ब्रह्माण्ड तृण-तुल्य लगता है। केवल स्फुरण के कारण यह जगत् प्रतीत होता है। स्फुरण के विलीन हो जाने पर, यह जगत् भी विलीन हो जाता है।'

'देवपुत्र !' राजा ने प्रश्न किया, 'यदि आत्मा शुद्ध, शान्त, निर्विकल्प है, तो उसमें संवेदन एवं स्फुरण कैसे होगा ?'

'अनघ !' कुम्भज ने उत्तर दिया, 'संवेदन तथा स्फुरण आत्मा के चमत्कार हैं। वायु में स्पन्दन तथा निस्पन्दन दोनों शक्तियाँ रहती हैं। वायु के स्पन्दित होने पर वायु में गति मालूम होती है। वायु का अनुभव होता है। गतिविहीन होने पर वायु स्थिर हो जाती है। स्पर्श ज्ञान नहीं होता। अतएव स्फुरण होने पर, संवेदन होने पर, यह संसार, यह जगत्, एवं नाना प्रकार के दृश्य-प्रपंच दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु उनके लय किंवा स्थिर होने पर संसार-भ्रम, जगत्-भ्रम आदि का लोप हो जाता है। उस समय शुद्ध आत्मा प्रतिभासित होती है।'

'नृपवर !' कुम्भज ने पुनः कहा, 'आत्मा केवल सत्ता मात्र है। सब कुछ संसार आत्म-सत्ता है। सम्यक् दृष्टि द्वारा आप देखिए। संसार आत्मवत् दिखाई देगा। असम्यक् दृष्टि का आश्रय लेने पर, संसार दुःखमय दिखाई देगा। जिनमें संसार भावना है, उन्हें इसमें सुख तथा

दुःख दिखाई देगा। जिनमें आत्म-भावना है, उन्हें आत्म-स्वरूप प्रतीत होगा। जिसने इस संसार को अपना स्वरूप मान लिया है, जिसने अपनी आत्मा से भिन्न इस संसार को नहीं समझा है, उसे भला दुःख कैसे प्राप्त होगा।'

'संसार है क्या देवपुत्र ?'

'महाभाग !' कुम्भज बोले, 'संसार केवल भावना मात्र है। अपनी भावना, अपनी मनोबृत्ति के अनुरूप दिखाई पड़ता है। अनुभासित होता है। अपनी भावना के कारण विष अमृत और अमृत विष हो जाता है। अहंता, संवेदन, चित्त तथा चैत्य संज्ञाएँ आत्मा की हैं। अहं, त्वं आत्मा के आश्रय में पलते हैं। सुवर्ण से नाना प्रकार के अलंकार बनते हैं। अलंकार अपना आभूषण-रूप उस समय ग्रहण करता है, जब अपने शुद्ध मूल सुवर्ण रूप का त्याग करता है। जो कुछ देखा जाता है, वह चित्त की रचना है। अग्नि नाना प्रकार के रूप चिनगारी, अंगार, ज्वाला, तापादि धारण करती है। परन्तु मूलतः सब अग्नि है। उसके विभिन्न आकार मिथ्या हैं। इसी प्रकार आदि, मध्य, अन्त सब स्थानों पर आत्मा है। यह आत्मा देश तथा काल से रहित है।'

'देवपुत्र !' शिखध्वज ने पूछा, 'देश एवं काल क्या है ?'

'पवित्रात्मा !' कुम्भज ने कहा, 'सागर में तरंगें उठती हैं। तट पर आकर विलीन हो जाती हैं। तरंग का यह स्थान देश है। सागर का जल जितने समय तक तरंग का रूप धारण किये रहता है, वही तरंग का काल है। देश एवं काल इन्द्रियों के विषय हैं। आत्मा इन्द्रिय-विषय नहीं है। अतएव वह देश काल से परे है।'

'महात्मन् !' राजा ने पुछा, 'देश तथा काल का ज्ञान किसको होता है ?'

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'मन तथा इन्द्रियाँ देश तथा काल की भावना का सर्जन करती हैं। मन तथा इन्द्रियों से रहित हो जाने पर, देश तथा काल का ज्ञान नहीं होता। देश तथा काल का ज्ञान विलीन होने पर, सत्ता शेष रह जाती है। वह आत्मा है। संसार का ज्ञान मन तथा इन्द्रियों के संयोग का परिणाम है। आत्मा द्वारा आत्मा के अवलोकन

से पूर्णत्व प्राप्त होगा। पूर्ण होने पर चारों ओर आपको अपना रूप दिखाई देगा। आकाश अपनी शून्यता से पूर्ण होकर शून्य मात्र रह जाता है। आप अपनी चेतनता से पूर्ण होकर चिन्मात्र रह जाएंगे। आकाश-स्वरूप आत्म-सत्ता प्रतिभासित होगी। एक वाक्य में यह सब ब्रह्म है। वेद का सार है।'

'किन्तु आत्मा, देवपुत्र–?'

'राजन्!' कुम्भज ने कहा, 'मुहूर्त्त मात्र आत्मा का साक्षात्कार होने पर सृष्टि नहीं रह जायेगी। इसका भ्रामक रूप विलीन हो जायेगा। ज्ञान का नाम महाप्रलय है। ज्ञान प्राप्त होने पर दृश्य भ्रम लोप हो जाते हैं। सब कुछ एकाकार हो जाता है। दृश्य पदार्थ मिथ्या है। क्रिया मिथ्या है। क्रिया का अनुभव मिथ्या है। स्वप्न की क्रिया, स्वप्न का आकार, स्वप्न का अनुभव, जिस प्रकार मिथ्या है, उसी प्रकार यह जाग्रत जगत् मिथ्या है।'

'देवपुत्र!' राजा ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'मैं अब जान सका हूँ कि मैं अच्युत हूँ। मैं चिन्मात्र हूँ। मैं शून्य हूँ।'

'मानद!' कुम्भज ने कहा, 'आत्मा आकाश से निर्मल है। अहं मोह के कारण अहं मल उत्पन्न होता है। मोह अविचार है। विचार के उदय होने पर अविचार का लय होता है। विचारों द्वारा मोह का नाश होता है। संवेदन मुक्ति है। बन्धन है। अन्तर्मुख संवेदन द्वारा मुक्ति मिलती है। बहिर्मुख संवेदन द्वारा बन्धन होता है। जिस प्रकार सुवर्ण में अलंकार, आकाश में नीलिमा तथा वायु में स्पन्दन है, उसी प्रकार आत्मा में सृष्टि है। अलंकार वास्तव में सुवर्ण है। आकाश की नीलिमा मिथ्या है। वायु का संवेदन मिथ्या है। स्वयं वायु का रूप है। उसी प्रकार आत्मा की सृष्टि मिथ्या है। आकाश की नीलिमादि का भ्रम मिटने पर, मिथ्या भावना तिरोहित होती है।'

'भगवन्–!'

'सुनो राजन्!' कुम्भज ने कहा, 'शब्द एवं स्पर्श की भावना से जो चेष्टा होती है, जो अभिलाषा होती है, उनके विलीन हो जाने का नाम निर्वाण है। अहं का उत्थान बन्धन है। अहं का नाश निर्वाण है।

अहं के उत्थान काल तक संसार रहता है। जब संसार-सत्ता का लोप होगा, तब अहं का स्फुरण लोप हो जायगा । अहं स्वतः नष्ट हो जाएगा । अहं नष्ट होने पर, जो बच जाता है, वह शुद्ध आत्मा है।'

'राजन्!' कुम्भज ने स्वर पर जोर देते हुए कहा, 'उस समय अहं ब्रह्म का उत्थान शान्त हो जायगा। शेष रह जायगा केवल चेतना मात्र। जिसको सर्व ब्रह्म की दृष्टि प्राप्त हो गई है, उसे संसार की बुद्धि नहीं रहती। उसे ब्रह्म की बुद्धि नहीं रहती। भावना दृढ़ता के अनुसार वस्तु का रूप प्रकट होता है। जिसमें ब्रह्म-भावना दृढ़ होती है, उसमें ब्रह्म-स्वरूप; जिसमें जगत् भावना दृढ़ होती है, उसे जगत-स्वरूप दिखाई पड़ता है। सर्व शब्द तथा सर्व शब्द की अभावना ही ब्रह्मार्थ है। कल्पना का तिरोधान होने पर भावना नष्ट हो जाती है। उस समय जो शेष रह जाता है, वह है केवल ज्ञेय मात्र।'

'देवपुत्र!' राजा ने पूछा, 'यदि संसार आत्मा का कारण है, तो संसार आत्मा स्वयं है?'

'राजन्!' कुम्भज ने उत्तर दिया, 'विश्व चेतनमात्र है। जिस प्रकार आकाश में आकाश स्थित है, उसी प्रकार आत्मा में आत्म-स्वरूप विश्व स्थित है। इस प्रकार विश्व चेतनमात्र है। असम्यकदर्शी अज्ञान के कारण मन नाना प्रकार की कल्पना करता है। वासना द्वारा विश्व की कल्पना होती है। किन्तु ज्ञान चक्षु द्वारा इस जगत् का रूप कुछ और प्रकट होता है।'

'देवपुत्र!' राजा ने प्रश्न किया, 'अज्ञान का स्वरूप क्या है? उसका नाश किस प्रकार होगा?'

'राजन्!' कुम्भज बोले, 'पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना ज्ञान कहा गया है। पदार्थों के वास्तविक रूप को न जानना अज्ञान है। एक तीसरा रूप उनके मध्य का है। उसे ज्ञान एवं अज्ञान मिश्रित अवस्था कहते हैं। मृग-मरीचिका देखकर जल, रस्सी में सर्प तथा सीप में रजन को सत्य जानना ज्ञान और अज्ञान दोनों है। अज्ञान का कारण चित्त है। उसका उदय चित्त के कारण होता है। जिसका उदय चित्त के कारण होता है उसका नाश चित्त के द्वारा होगा। चित्त द्वारा चित्त का नाश

करने से ज्ञान होगा। अग्नि वायु से बढ़ती है। वायु से बुझ भी जाती है। अतएव चित्त को चित्त द्वारा नष्ट करने का प्रयास करो।'

राजा अन्तर्मुख हो गया। उसकी पलकें मिल गईं। कुम्भज शान्त हो गए। अनन्तर राजा के लोचन उन्मीलित हुए। कुम्भज ने राजा को जाग्रत जानकर पुनः कहा।

'भूपति! यदि और कोई शंका हो, तो मैं उसके समाधान का प्रयास करूँगा।'

'देवपुत्र!' राजा ने कहा, 'आपने जो बातें आज बतलाई हैं, उन्हें पूर्व काल में अनेक बार सुन चुका हूँ। किन्तु क्या कारण है कि, उनका आज जितना प्रभाव पड़ रहा है, उतना कभी नहीं पड़ा था?'

'महात्मन्!' कुम्भज ने कहा, 'इस समय आपका अन्तःकरण शुद्ध है। अज्ञान नष्ट हुआ है। अतः हमारी बातें आपके अन्तःकरण में प्रवेश कर रही हैं। मलिन वस्त्र पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। निर्मल वस्त्र पर कोई रंग चढ़कर मिल सकता है। बाण कोमल मृणाल को अनायास छेद देता है। शुद्ध कोमल अन्तःकरण पर सत्संग का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। आपको स्वयं अपने स्वरूप को जानने की इच्छा हुई है। आप जाग्रत हुए हैं। दर्पण में प्रतिबिम्ब अपने शुद्ध रूप में उस समय दिखाई पड़ता है, जब दर्पण पर मलिनता नहीं होती। मैंने देखा, आपका अन्तःकरण शुद्ध है। मैंने कुछ तत्व की चर्चा छेड़ दी। किसी और समय कहता तो उसका प्रभाव नहीं पड़ता।'

'देवपुत्र!' राजा ने प्रश्न किया, 'आत्म-दर्शन में निरत क्रिया किस प्रकार करता रहेगा।'

'सौम्य!' कुम्भज ने कहा, 'ज्ञानी का सम्बन्ध चित्त से नहीं होता। चित्त वासनामय है। वासना जन्म-मृत्यु कारण है। वासना-रहित व्यक्ति जीवन-मुक्त होता है। ज्ञानी का चित्त सत्य में स्थित रहता है। अज्ञानी का चित्त बन्धन-युक्त रहता है। बन्धन के कारण उसे निरन्तर जन्म-मृत्यु के पीछे दौड़ते रहना पड़ता है। ज्ञानी अपने चित्त की शान्ति के कारण बन्धन में नहीं पड़ता है। इन्द्रियों द्वारा चेष्टा करता है। किन्तु सर्वत्र ब्रह्म देखता है। वह कर्त्ता-भोक्ता के अभिमान से दूर रहता है।

अज्ञानी अपने कर्म का स्वयं कर्त्ता मानता है। अपने भोग का स्वयं भोक्ता मानता है। संकल्प-विकल्प में पड़ जाता है। संकल्प-विकल्प जिससे उत्पन्न होते हैं और जिसमें लीन होते हैं, उसमें स्थित होना चाहिए न कि उसमें फँसकर, अपने नाश के समीप पहुँचना। बूँदों से स्थित होने की अपेक्षा, बूँदों की सर्जिका मेघ-माला में और मेघमाला के सर्जक समुद्र में स्थित होना चाहिए। आत्मा अपना है। उससे सब कुछ सिद्ध होता है। उसे आप क्यों नहीं सिद्ध करते नृपतिवर ?'

'साधो !' कुम्भज ने कहा, 'अपने स्वरूप का आपको दर्शन होगा। तपादिक क्रियाएँ स्वतः नष्ट हो जायँगी। जिनका त्याग किसी-न-किसी दिन करना है। उसका त्याग अभी क्यों न किया जाय ? जिसने सब वासनाओं का त्याग किया है। वह सबका स्वामी है। जिसने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, वह समाधि तथा तप दोनों में समान रूप से स्थित है। पवन निस्पन्दन और स्पन्दन दोनों अवस्थाओं में रहता है। उसी प्रकार ज्ञानी सभी अवस्थाओं में समान रूप से स्थित रहता है। उसे खेदादि नहीं होते।'

'ब्रह्मन् !' राजा ने पूछा, 'ज्ञानी सर्वदा समभाव में क्यों स्थित रहता है ?'

'अनघ !' कुम्भज ने कहा, 'चेतन आकाश से भी निर्मल है। उसका साक्षात्कार होने पर वही सर्वत्र प्रतिभासित होता है। समुद्र का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, तरंग, बुद-बुद, फेन, धारा, भँवर, सबका स्वतः ज्ञान हो जाता है। आत्मा के ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा का चमत्कार सर्वत्र प्रकट होगा। सम्यकदर्शी के लिए जगत् आत्व-स्वरूप तथा सम्यक्दर्शी के लिए जगत् केवल दृश्यगत भ्रामक है।'

'भगवन् !' राजा ने पूछा, मनुष्य सम्यक्दर्शी किस प्रकार होगा ?'

'प्रबुद्धवर !' कुम्भज ने कहा, 'सत्संग तथा सत्शास्त्र के विचार द्वारा मानव सम्यक्दर्शी होता है।'

कुम्भज ने उठते हुए कहा, 'राजन् ! मुझे अपने पिता जी के पास पहुँचना है। मैंने जो कुछ कहा है उस पर आप विचार करेंगे, तो आत्मपद प्राप्त होगा।'

:o: :o: :o:

'राजन् ! राजन् ! ! राजन् ! ! !'

कुम्भज ने राजा को समाधि से जगाया। राजा कुम्भज को अपने सम्मुख देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उनकी पाद्य, अर्घ्य, पुष्प तथा माल्य से पूजा की। कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा :

'देवपुत्र ! आपके कारण मैं आत्म-दर्शनार्थ प्रवृत्त हुआ हूँ।'

'मानद !' कुम्भज बोले, 'आपके स्नेह के कारण मैं पिताजी का साथ त्यागकर यहाँ आया हूँ। आपके सत्संग में आत्म-विवेचन करने की इच्छा है।'

'देवपुत्र !' राजा ने कहा, 'आपका प्रतिदिन दर्शन होगा, इससे बढ़कर बात मेरे लिए और क्या हो सकती है।'

'राजन् !' कुम्भज बोले, 'जब से मैं आपको छोड़कर गया हूँ। उस समय से अब तक क्या घटनाएँ घटीं, कृपा कर कहिएगा ?'

'महात्मन् !' राजा बोला, 'शान्ति शनैः-शनैः आकर मुझमें घनीभूत होने लगी। मैं उस शान्ति में जैसे स्वयं शान्त होने लगा। मैं अपने चारों ओर शान्ति देखता हूँ। अपना स्वरूप सर्वत्र दिखाई देता है। इस समय मैं जिस असीम आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। उसका सतांश मुझे कभी नहीं मिला था।'

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'चलिए, शीतल जल में स्नान कर आएँ।'

'चलिए।'

राजा चुपचाप कुम्भज का अनुगामी हो गया। आश्रम-समीपस्थ कमलदल पूर्ण सरोवर में दोनों ने स्नान किया। सन्ध्यादि से निवृत्त होकर कुम्भज ने कहा :

'चलिए चलें।'

'चलिए।'

राजा स्थिर-चित्त कुम्भज के साथ आश्रम-कानन में लौट आया। आश्रम में विचरण करते हुए कुम्भज ने अकस्मात् कहा।

'कहीं चलिए, घूम आएँ।'

'चलिए।' राजा ने निर्विकार भाव से कहा।

दोनों वार्तालाप करते चलने लगे। कुछ दूर जाने पर कुम्भज ने कहा :

'हम कहाँ चल रहे हैं ?'

'जहाँ इच्छा हो चलिए।'

'आपने पूछा नहीं।'

'पूछकर क्या होगा ?' राजा ने स्थिर-चित्त कहा।

कुम्भज राजा के साथ तीर्थादि सात्विक, सुन्दर वनादि राजसिक तथा मरुस्थलादि तामसिक स्थानों में यात्रा करने लगा। राजा सभी स्थानों में समभाव रहा। उसे न कहीं हर्ष हुआ और न कहीं शोक। भयंकर गिरि-गुहा, गर्त्त, कठिन स्थानों में कुम्भज राजा के साथ गया। परन्तु वहाँ राजा के मुख पर किंचित् विषाद की रेखा नहीं दिखाई दी। कुम्भज और राजा एक आत्मा-दो शरीर हो गए थे। वे कभी शरीर में अंगराग, मृत्तिका, भस्म लगाते और कभी शिला-खण्डों पर बिना बिछावन के विश्राम करते। कठोर-से-कठोर शारीरिक पीड़ामय स्थानों में राजा को हर्ष-विषाद, सुख-दु:ख ने नहीं घेरा। शुभ-अशुभ स्थानों में पर्यटन करते रहे। किन्तु राजा के शान्ति, गम्भीरता, सम्यक् दृष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा। मालूम होता था कि उसे ज्ञान नहीं था कि वह क्या कर रहा है, उसे क्या करना चाहिए, क्या कर चुका है और क्या करने जा रहा है।

:o: :o: :o:

कुम्भज ने एक दिन राजा से सस्नेह कहा, 'राजन् ! मुझे पिता के पास जाना है। शुद्ध चैत्र प्रतिपदा को पितामह ब्रह्मा ने सृष्टि रचना की थी।'

'जाइए।' राजा ने निर्विकार भाव से कहा।

'साधो !' कुम्भज ने कहा : 'मैं जब तक न लौटूँ आप समाधि में स्थिर रहिएगा।'

'अच्छा !' राजा ने शान्त स्वर से कहा।

'समाधि-उत्थान होने पर यह पुष्प-मंजरी देखिएगा।' कुम्भज ने राजा को पुष्प-मंजरी दी।

'धन्यवाद !' राजा ने मित्र की भेंट मस्तक से लगाते हुए कहा।

कुम्भज ने प्रस्थान करना चाहा। राजा ने उसे दूसरी पुष्प-मंजरी देते हुए कहा, 'यह मेरी भेंट है।'

:o: :o: :o:

'देवपुत्र !' कुम्भज की उदासीन मुद्रा देखते हुए राजा शिखिध्वज ने पूछा, 'मार्ग में कुछ कष्ट हुआ है ? ज्ञानी कष्ट और शोक से परे हैं। आप ज्ञानी हैं। यह विपरीत आचरण देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है !'

'साधो !' कुम्भज ने शनैः-शनैः कहना आरम्भ किया, 'स्वर्ग-सभा समाप्त हुई। मैंने यहाँ आने के लिए प्रस्थान किया, मार्ग में दुर्वासा ऋषि से भेंट हो गई। वह काला कपड़ा पहने थे। उनके अलंकार काले थे। उनका रूप देखकर मुझे हँसी आ गई। मैंने उन्हें दण्डवत् किया। उनसे पूछा—भगवन् ! आपका वेश स्त्रियों की तरह क्यों है ?'

'मूर्ख !' दुर्वासा बिगड़कर बोले, 'मुझसे परिहास करता है !'

'ऋषिवर !' कुम्भज ने कहा, 'आपका अलंकार—'

'तुमने मेरे लिए अनुचित वचनों का प्रयोग किया है। रात्रि में तुम स्त्री और दिन में पुरुष होगे।'

'शाप देकर दुर्वासा मुनि क्रोध प्रदर्शित करते हुए चले गए। मैं परेशानी में पड़ गया हूँ। रात्रि में स्त्री होकर कहाँ रहूँगा ? दिन में पुरुष होकर कहाँ निवास करूँगा ? स्त्री-वेश में देवताओं के साथ कैसे रहूँगा। मुझे लज्जा मालूम होती है। जीवन में परिवर्तन प्रतीत होता है।'

राजा शान्त चित्त अपने आसन पर बैठा रहा। उसमें आश्चर्य किंवा विस्मय का मुहूर्त्त मात्र के लिए प्रवेश नहीं हुआ।

'निर्मल चन्द्रानन !' राजा ने कहा, 'स्त्री किंवा पुरुष होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। सब बराबर हैं।'

'क्यों राजन् ?'

'देवकुमार !' राजा ने कहा, 'आप शरीर नहीं हैं। शरीर न होने पर, चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसमें क्या कोई अन्तर होता है !'

'किन्तु !'

'महात्मन् !' राजा ने कहा, 'हेयोपादेय दूर रहता है। साम्य उनमें स्थिर रहता है। मैं केवल आपकी कही वाणी दुहराता हूँ।'

'नृपति !' कुम्भज ने कहा, 'आप सत्य कहते हैं। शरीर का कर्म स्वाभाविक ढंग से होता है। उसमें सुख-दुःख का अनुभव करना मूर्खता है। जब तक शरीर है, तब तक शरीर का स्वभाव रहेगा। उस स्वभाव का त्याग करना बुद्धिमानी नहीं है। ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों को इन्द्रियों तथा मन की चेष्टाएँ होती हैं। ज्ञानी उनमें आसक्त नहीं होते, उनमें बद्ध नहीं हो जाते। ज्ञानी और अज्ञानी के मन तथा इन्द्रियों के कर्म में यह अन्तर है। इन्द्रियाँ विषयों में बर्तती हैं। जब तक तिल है तब तक उसमें तेल है। इसी प्रकार जब तक शरीर है, तब तक शरीर का कर्म है।'

'ब्रह्मन् !' राजा ने कहा, ज्ञानी समान सत्ता में स्थिर रहता है। उन्हें दोष नहीं लगता। अज्ञानी शरीर का दुःख अपना दुःख समझता है। एतदर्थ उसे दुःख होता है। ज्ञानी शरीर का दुःख, शरीर का कार्य समझता है। उसे अपना नहीं मानता। अतएव उसे दुःख नहीं होता।'

'सत्य है। राजन् ! मैं यहीं ठहरता हूँ।'

'स्वागत है।'

× × ×

कुम्भज आश्रम में ठहर गए। सन्ध्याकाल था। दोनों दैनिक कार्यो से निवृत्त हुए। आसनों पर बैठ गए।

'राजन् !' कुम्भज ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा। 'मेरा रूप स्त्री का होने लगा।'

राजा ने देखा, कुम्भज के शरीर में परिवर्तन हो रहा था। उनका पुरुष-रूप स्त्री-रूप में धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा था।

'राजन् !' कुम्भज ने अपने वक्षस्थल पर हाथ रखते हुए कहा। 'देखिए, सुन्दरी युवती तुल्य मेरे वक्षस्थल पर, कुच उभड़ रहा है।'

राजा ने देखा। कुम्भज के छाती पर दो ठोस कुच निकल आए हैं। स्तनों को देखकर राजा के मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ। उन्हें देखकर शांत बैठ रहा।

कुम्भज पुरुष रूप में जितने सुन्दर थे उससे सात गुना युवती रूप में सुन्दर हो गए। उनका नवयुवती रूप देखने योग्य था। उनके अंगों एवं उपांगों से यौवन फूटा पड़ता था। उनके नारी-जन्य सौन्दर्य के सम्मुख रति तथा लक्ष्मी लज्जित थीं। कुम्भज में काम-प्रिय नारी के हाव, भाव, कटाक्षादि, अत्याधिक उत्पन्न हो गए। वे अत्यन्त काम-पीड़ित सुन्दर नवयुवती-तुल्य प्रतीत हो रहे थे। गम्भीरता के स्थान पर चंचलता, शांति के स्थान पर लज्जा, तप कान्ति के स्थान पर लावण्य, एवं दृढ़ता के स्थान पर, कोमलता पूर्णरूपेण आ गई थी।

'राजन् !' कुम्भज चपल कामासक्त रमणी की तरह बोले, 'आज मेरी इच्छा पुष्प-शय्या बनाने की होती है।'

'बनाइए।' राजा ने स्वभावतः कह दिया।

युवती-रूप कुम्भज ने वन के उत्तम प्रफुल्लित पुष्पों को एकत्र किया। उनकी शय्या रचकर बनाई। पुष्पों के सुरभि से आश्रम सुरभित हो गया। सुगन्ध की मादकता, मानव को सहज ही घ्राण-सुख से ओतप्रोत कर उसकी इन्द्रियों में विक्षोभ उत्पन्न कर सकती थी। अपनी सुन्दर शय्या को प्रफुल्लित नयनों से देखता हुआ, कुम्भज नारी-जन्य लज्जा से बोला,

'राजन् ! आइए।'

कामपीड़ित रमणी का स्पर्श ! कोमलांगी का स्पर्श ! रति की काम से मूक याचना ! किन्तु राजा पर रति तथा काम के किसी पुष्प-बाण का प्रभाव नहीं पड़ा। कुम्भज ने उसे पकड़कर उठाया। वह विदेह की तरह, मुक्त की तरह उठा।

वसन्त की उषाकालीन खिलती कली की तरह, खिलती कामातुर नारी ने राजा को शय्या पर सुला दिया। राजा पुष्प-शय्या पर लेट गया। नारी उसके पार्श्व में सो गई। राजा का आलिंगन किया। चुम्बन किया। उनमें काम-भावना उत्पन्न करने के जितने प्रयास थे, सबका आश्रय लिया।

किन्तु राजा को किंचित् मात्र स्पर्श सुख का अनुभव नहीं हुआ। वह विषयासक्त न हो सका। उसमें किसी प्रकार का संवेदन नहीं हुआ। नारी की सब कामक्रियाएँ जैसे एक निर्जीव पाषाण मनुष्य-मूर्ति के साथ हो रही

थीं। राजा में काम-भाव जाग्रत नहीं हुआ। शरीर से काम का लोप हो चुका था। कामेन्द्रियों का जीवन समाप्त हो चुका था।

रात्रि पर्यन्त कुम्भज-स्वरूप नारी तथा राजा पुष्प-शय्या पर पड़े रहे। राजा में काम-भावना उत्पन्न न हुई।

कुम्भज दिन में पुरुष तथा रात्रि में नारी रूप से राजा के साथ निवास करने लगा। राजा के साथ नारी-रूप कुम्भज पुष्प-राजि में भ्रमण करता। कामोद्दीपक प्रसाधनों का आश्रम लेता। प्रकृति की सुन्दरता में रम कर, राजा में नारी-रूप रम जाना चाहता। किन्तु राजा मुहूर्त मात्र के लिए इन्द्रियों से प्रभावित नहीं हो सका।

नारी-कुम्भज ने राजा में काम उत्पन्न न होता देखकर, आश्रम त्याग देने का विचार किया। राजा के साथ मन्दराचल, अस्ताचल आदि पर्वतों तथा काम एवं रति के प्रिय स्थानों में भ्रमण करता सुमेरु पर्वत पर चला आया। इन्द्रियातीत हो चुका था। इन्द्रियाँ उस पर अपना प्रभाव स्थापित करमे में असफल सिद्ध हुईं।

:o: :o: :o:

मन्दराचल की द्रुमाच्छादित सुन्दर गुफा थी। लताएँ प्रफुल्लित थीं। गुफा का प्रांगण वकुल पुष्प की पुष्प-रेणु से भरा था। हरित पल्लवों की चंचलता मन की चंचलता-तुल्य चंचल थी। आम्र वृक्ष की मंजरियों मे बैठी कोयल विरह से कूक उठती थी। हरिण-हरिणी के साथ क्रीड़ा करते थे। शरीर-सुख का आनन्द ले रहे थे। कभी भागते, कभी स्नेह से मिलते और कभी बैठते। कभी एक-दूसरे का स्पर्श करते। और कभी मुह से थककर भूमि में मुख रखते। आँखें मूँद लेते। समीपस्थ सरोवर में खिले पद्मों की पंखड़ियों पर; पद्म-पत्र पर, सारसों के फट-फटाते पंखों से उछले जल-बिन्दु अपना अस्तित्व रखते किन्तु उनसे एक रस नहीं हो पाते थे। पद्म केसर पर मधुमक्खियों के मधु-संचय की घटनावली में मुग्ध भ्रमर मदमस्त गूंजता नहीं थकता था।

कुम्भज राजा के समीप बैठा। राजा व्योमहीन, ज्वालाहीन अग्नि-तुल्य शान्त था। कुम्भज में चंचलता थी। कुम्भज ने काम का स्मरण करते हुए कहा।

'राजन् !' नर-नारी के शारीरिक धर्मों में विभिन्नता है। उनके संयोग से सृष्टि चलती है। उनकी अपनी इच्छाएँ हैं। अपनी भावनाएँ हैं। उनके अपने देह के धर्म हैं। कर्म हैं। आजीवन देह का धर्म तथा कर्म रहता है।'

'ठीक है।' राजा ने गम्भीर गगन की ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'राजन् !' कुम्भज ने कहा, 'नारी के लिए नर आवश्यक है। नर-नारी का अपना धर्म है। उनका अपना कर्म है। वह प्रकृति-जन्य है। दैवी सम्बन्ध है।'

'हाँ—!' राजा ने हुँकारी भर दी। उनकी दृष्टि सरोवर में उत्फुल्ल कमलों के पास चक्कर काटते उज्ज्वल हंसों पर स्थिर होने लगी।

'मादन !' कुम्भज ने कहा, 'नारी-धर्म के अनुसार नर-नारी का विवाह होना चाहिए। विवाह पुरुष तथा स्त्री दोनों का धर्म है। जीवन का अत्यन्त कोमल एवं फलप्रद बन्धन है।'

'हाँ-!' राजा ने उत्फुल्ल कमल के समीप अविकसित कमलिनी की ओर देखते हुए कहा।

'अनघ !' कुम्भज ने कहा, 'युवती का विवाह माता-पिता करते हैं। उनके अभाव में कुटुम्बी करते हैं। उनके अभाव में नर-नारी स्वय एक-दूसरे का वरण कर लेते हैं।'

'ठीक है।' राजा ने हंस तथा हंसिनियों के जल विहार को लक्ष्य करते हुए कह दिया।

'नृपतिवर !' कुम्भज ने कहा, 'मैं अपने नारी-धर्म के अनुसार विवाह करना चाहता हूँ।'

'कर लीजिए !' राजा ने आकाश में प्रशन्नतापूर्वक गमन करते एक जोड़े पक्षी को देखते हुए कहा।

'प्रभो !' कुम्भज ने अत्यन्त प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा, 'मैंने वर ढूँढ़ लिया है।'

'अच्छा किया।' राजा ने भूमि पर जाती हुई चीटियों की पंक्ति को देखते हुए कहा।

'भगवन् !' कुम्भज ने कहा, 'उसके विषय में आप कुछ जानना चाहेंगे ।'

'जानने की आवश्यकता ?' राजा ने वायु-प्रवाह में उड़ते पुष्पों को लक्ष्य करते हुए कहा।

'यदि मैं आपही को अपना पति वरण करूँ।' कुम्भज ने मुसकराते हुए कहा।

'क्यों ?' राजा ने वृक्ष पर से उड़ते सारिका की ओर देखते हुए कहा, 'आप सर्व-गुण-सम्पन्न हैं।'

'महात्मन् !' राजा के लोचन बन्द हो गए। राजा ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया, 'आपकी इच्छा। इस विवाह से मुझे न दुःख होगा न सुख। न हर्ष होगा और न विषाद।'

'प्रभो !' कुम्भज ने प्रफुल्लित होकर कहा, 'आज पूर्णमासी है। पूर्ण-शशि-बिम्ब अपनी पूर्ण शीतल रश्मियों के साथ इस अरण्य रात्रि को पूर्ण कर देगा। हमारा भी मनोरथ पूर्ण होगा। यह शुभ लग्न है। शुभ मुहूर्त्त है। विवाह-सम्बन्ध में हमें बँध जाना चाहिए।'

'आपकी जैसी इच्छा।' राजा ने विवेक का आश्रय लेते हुए कहा।

कुम्भज राजा का हाथ पकड़कर प्रसन्नतापूर्वक उठा। राजा के साथ कमलदल-पूर्ण सरोवर में स्नान किया। नवीन उत्साह, नवीन उमंग, रति-काम के संयोग की सुखद आशा के साथ कुम्भज लौटा राजा के साथ।

उसने गुफा बन-कुसुमों से सजाई। राजा का पुष्प शृङ्गार किया। पुष्पमाल कण्ठ में डाल दिया। राजा निर्विकार बैठा रहा।

'राजन् !' कुम्भज ने राजा के नेत्रों में अपनी काम-दृष्टि स्थिर करते हुए कहा, 'आप पत्नीवत् मेरा शृंगार कीजिए।'

नारी-स्वरूप कुम्भज को राजा शान्तिपूर्वक अलंकृत करने लगा। कुसुमों से उसका शृंगार किया। वनमालाओं से उसका वक्षस्थल भर दिया बाहु पर पुष्प-माल लपेट दिया। कलाई में पुष्प का कंकण पहनाया। कटि कुसुम-मेखला से सुसज्जित कर दी। उसके श्याम केशों में उज्ज्वल सुरभित पुष्प गूँथ दिए। कानों में सुगन्धित मंजरी का कुण्डल पहनाया।

कुसुमों में भिनती नारी कुम्भज बड़ी सुन्दर लगती थी। प्राकृतिक

प्रसाधनों के कारण उसके प्राकृतिक सौन्दर्य की शोभा में सुरभि आ गई थी। उसका स्वरूप पार्वती-तुल्य हो गया था।

'राजन् !' कुम्भज ने स्त्रीजन्य लज्जा से कहा, 'आप मुझे मदनिका नाम से सम्बोधित कीजिएगा।'

'अच्छा।'

मदनिका ने राजा को नारी-जन्य हास, परिहास, क्रीड़ा, मधुर संभाषण, संगीत, नृत्य से विचलित करने का प्रयास किया। उन्हें आर्कषित करने का प्रयास किबा। किन्तु राजा की भावभंगी में किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हुआ। राजा शान्त अपने-आप में स्थिर रहा।

:o: :o: :o:

'राजन् !' कुम्भज ने चकित होते हुए पूछा, 'कोलाहल कैसा सुनाई पड़ रहा है ?'

'कोई आ रहा होगा।' राजा की दृष्टि स्थिर थी।

आश्रम में देवराज इन्द्र अप्सराओं, देवांगनाओं, अपने पारषदों के साथ आ रहे थे। उन्हें देखकर कुम्भज ने कहा।

'राजन् ! देवराज इन्द्र का आगमन हुजा है।'

'पधारने दो।' राजा ने इच्छा, अनिच्छा, उत्साहादि, कुछ नहीं प्रकट करते हुए कहा।

आश्रम में इन्द्र ने विशाल काम-सज्जा-सज्जित वाहिनी के साथ प्रवेश किया। उनकी महान वाहिनी में युवती अंगनाएँ, काम-विमोहित अप्सराएँ और योग्य सामग्रियों से युक्त किंकर थे।

कुम्भज ने इन्द्र की पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, माल्यादि द्वारा पूजा की। उन्हें आसन दिया। राजा ने भी इन्द्र की यथाविधि पूजा की। दोनों की पूजा प्राप्त कर इन्द्र प्रसन्न हुए।

'राजन् !' इन्द्र ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए पूछा, 'आप कुशल से हैं ?'

'देवेन्द्र !' राजा ने विनम्र शब्दों में निवेदन किया, 'आपकी कृपा से, आपके प्रसाद से, आपकी असीम करुणा से सब कुशल है। क्या मैं यह जानने की धृष्टता कर सकता हूँ कि आपका अकारण यहाँ कैसे शुभागमन हुआ है ?'

'राजन् !' इन्द्र ने सस्मित कहा, 'यह स्थान आपके निवास योग्य नहीं है। हम आपको यहाँ से ले जाने के लिए आए हैं। ऐरावत गज, उच्चैःश्रवा अश्व, अप्सराएँ, किंकरादि आपकी सेवा में उपस्थित हैं।'

'देवेन्द्र !' राजा ने निर्विकार भाव से कहा, 'मैं इन्हें लेकर क्या करूँगा।'

'राजन् !' इन्द्र ने कहा, 'आपके महान् तप और पुण्य के कारण आपके आश्रम में हम आए हैं। आपका स्थान स्वर्ग में है। वहाँ आपको पधारना चाहिए। सब सिद्धियाँ आपकी मुखापेक्षी हैं। आप उनका उपयोग कर सकते हैं। अनिच्छित प्राप्त वस्तुओं का त्याग करना अनुचित है। आप स्वर्ग सुख प्राप्त कीजिए।'

'शक्र !' राजा ने कहा, 'अपने पूर्व जन्मों के फलानुसार स्वर्ग कई बार हो आया हूँ। जहाँ हो आया हूँ, वहां बारम्बार जाना उचित नहीं मालूम होता।'

'मानद !' इन्द्र ने कहा, 'स्वर्ग-सुख सब सुखों की चरम सीमा है।'

'देवेन्द्र !' राजा ने कहा, 'मेरा स्वर्ग यहीं है। मैं अपने स्वर्ग में नित्य विचरण करता हूँ। अपना स्वर्ग त्याग कर, आपका स्वर्ग लेने से क्या लाभ ? 'यह होगा केवल स्थान परिवर्तन।'

'किन्तु—।'

'सुरेश्वर !' राजा ने कहा, 'मेरा स्वर्ग मेरी आत्मा में स्थित है। मेरे चारों ओर स्वर्ग है। मैं अपने इस विशाल ओर-छोर विहीन स्वर्ग को त्याग कर आपके क्षयशाली स्वर्ग को प्राप्त कर क्या करूँगा ?'

'महात्मन् ! इन्द्र ने कहा, 'ज्ञानी तथा वेदज्ञ गण यथाप्राप्त भोगों का सेवन करते हैं। इसमें आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।'

'देवेश्वर !' राजा ने कहा, 'मैं इच्छारहित हो गया हूँ। मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है। मुझे कोई वासना नहीं है। इच्छित आत्मपद प्राप्त हो गया है। मैं अपने आत्मराज्य में आनन्दित हूँ।'

इन्द्र गम्भीर हो गए। अंगनाएँ उदास हो गईं। अप्सराएँ लज्जित हो गईं। किंकरों ने मुख फेर लिया। उच्चैःश्रवा वन में चला गया।

ऐरावत आश्रम के बाहर सूँड़ से एक शाखा पकड़कर खेलने लगा। इन्द्र ने आसन त्याग दिया।

'राजन् ! आपका और कुम्भज का कल्याण हो।'

इन्द्र चले। उदास कोलाहल दूर होता, वन में विलीन हो गया।

:o: :o: :o:

'मदनिका ! मदनिका ! ! मदनिका ! ! !' राजा ने गंगा-तट पर खड़े पुकारा। राजा तट से सन्ध्योपासना कर के उठा था। उसने चारों तरफ दृष्टि दौड़ाई।

'मदनिका !' राजा ने पुनः पुकारा।

किसी तरफ से उत्तर नहीं आया। राजा तट पर खोजने लगा। वह और आगे बढ़ा। उसने देखा एक सुन्दर उद्यान। उद्यान विविध प्रस्फुटित पुष्पों से भरा था। सम्पूर्ण स्थान सुगन्ध से पूरित था। पादपों के परिरम्भ में पुष्पित लताएँ झूम रही थीं।

उद्यान में लघु जलाशय था। विश्राम निमित्त शिलाएँ यत्र-तत्र रखीं थीं। मध्य में कुटी थी। कुटी पर लताएँ चढ़ी थीं। वे हरित थीं। पूर्ण यौवना थीं।

राजा ने उद्यान में शनैः-शनैः प्रवेश किया। उद्यान जनशून्य था। विहंगम-शून्य था। पशु-शून्य था। एकान्त अपने पूर्ण रूप में स्थित था। कुटी के बाहर तक कुसुम-राशि बिखरी थी। कुटी से सुगन्ध की उत्कट गन्ध निःसृत हो रही थी। राजा कुटी के द्वार पर खड़ा हो गया। कुटी में शय्या थी। उस पर पुष्प बिखरे थे। मदनिका पुष्पों से सजी थी। वह पुष्पों द्वारा अलंकृत एक युवा पुरुष के बाहुपाश में सुख से पड़ी थी। युवा पुरुष अलंकृत था। काम-मूर्ति था। उसके भुजयुगल मदनिका के कटि में थे। अधर मिले थे। लोचन बन्द थे। पद पर पद पड़ा था। दोनों का शरीर मिलकर एकाकार हो जाना चाहता था।

राजा ने काम एवं रति का सुन्दर विलास देखा। उसने हस्तक्षेप नहीं किया। वह लौटा। उसके मुखमण्डल पर सुख, विषाद, दुःख, क्रोध, क्षोभ कुछ नहीं था। उसकी मुद्रा पूर्ववत् शान्त थी। वह शान्तिपूर्वक

उद्यान की शिला पर आया। आसन लगा कर बैठ गया। उसकी समाधि लग गई।

राजा की समाधि खुली। राजा ने देखा मदनिका कुटी से निकल कर खड़ी थी। अपने अस्तव्यस्त वस्त्रों को ठीक कर रही थी। श्रृंगार में कुम्हलाए पुष्प-आभूषणों को उतार रही थी। उसके वक्षःस्थल पर टूटी पुष्प-माला थी। बाहुओं में पड़े पुष्प-अलंकार मसलकर शरीर से लग गए थे। कटि की पुष्प-मेखला एक लकीर खींचती उसके कटिप्रदेश से भूमि स्पर्श कर रही थी। केशों में गुँथे उज्ज्वल बेला के पुष्प, उषाकालीन नक्षत्रों की तरह कान्तिहीन हो गए थे। उसका शरीर शिथिल था। वह सरोवर में शनैः-शनैः उतरी। अपने अंगों को धोया। शीतल जल-स्पर्श से उसमें नवीन चेतना उत्पन्न हुई। वह सरोवर से ऊपर आई। राजा को शिला पर बैठे देखा।

'मदनिका !' राजा ने कहा, 'सुखपूर्वक विश्राम करो। मैं यहाँ बैठा रहूँगा। स्वस्थ होने पर चलना।'

मदनिका लज्जित हो गई।

'मदनिका !' राजा ने शान्त स्वर में कहा, 'चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैंने तुम्हारा और उस महान् सुन्दर युवक पुरुष का काम-सुख देखा हैं।'

'क्षमा करो राजन् !' मदनिका नारी-जन्य लज्जा के साथ राजा के चरणों पर गिर पड़ी।

'मदनिके !' राजा ने कहा, 'तुमने हमारा कुछ अपराध नहीं किया। तुम्हारे इस कर्म से मुहूर्त्त काल के लिए न तो मैं लज्जित हूँ, न मुझे किसी प्रकार का विषाद है।'

राजा में विषाद, क्षोभ, दुःख, सन्ताप आदि का कुछ भाव नहीं था। उसमें अविचल शान्ति थी। मदनिका की आँखें भर आईं। वह बोली :

'राजन् ! इसमें मेरा लेशमात्र दोष नहीं है। आप तट पर सन्ध्या करने गए थे। मैं यहाँ बैठी थी। युवक आया। वह बली था। मुझे बलपूर्वक पकड़कर कुटी में ले आया। मैं परवश थी। मैंने विरोध किया।

मैंने जाति-व्रत-धर्म की तीनों मर्यादाओं का प्रतिपालन किया। किन्तु उसकी शक्ति के सम्मुख पराजित हो गई।'

मदनिका अंचल से आँसू पोंछने लगी। उसकी हिचकी बँध गई। अंचल मुख से लगाकर उसने बिलखना आरम्भ किया।

'मदनिके!' राजा ने संयत स्वर में कहा, 'तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं है। मैं तुम में केवल एक स्वरूप का दर्शन करता हूँ। वह स्वरूप तुम्हारा मौलिक स्वरूप आत्मा है। मुझे तुम्हारा दूषित, मिथ्या, कामपीड़ित स्वरूप कहीं दिखाई नहीं दे रहा है। मैं दोष किसे दूँ? मैं क्रोध किस पर करूँ?'

मदनिका आँसू अंचल से पोछने लगी।

'मदनिके!' राजा ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'हमारा मित्र कुम्भज हमारे समीप है। हमारे अन्तःकरण में है। तुम्हारे आचरण का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। तुम कुम्भज नहीं हो। तुम दुर्वाशा ऋषि का शाप हो।'

राजा ध्यानस्थ होने लगे। मदनिका कुटी की तरफ पुनः लौटी।

:o: :o: :o:

'चुड़ाला! तुम!! मदनिका!!!'

शिला पर बैठे राजा ने अपने सम्मुख सर्वालंकृत युवती को देखकर कहा। राजा ने अपने चारों तरफ देखा। मदनिका आकर कुटी में पुनः लौट गई थी। राजा ने चुड़ाला से पूछा।

'चुड़ाला! तुम यहाँ कैसे? क्या तुमने मदनिका का रूप धारण किया था? तुम्हारे, कुम्भज और मदनिका के रूपों में कितना साम्य है!'

'आर्य!' चुड़ाला ने प्रेमपूर्वक कहा. 'मैं आपकी रानी चुड़ाला हूँ।'

'तुम यहाँ किस प्रकार आईं?'

'मैं आपके पास बहुत दिनों से हूँ।'

'मेरे साथ?'

'हाँ।'

'कस प्रकार?'

'मैं ही कुम्भज थी। मैंने ही माया रचकर इन्द्र और आपका संवाद कराया। कुटी में मिथ्या पुरुष बन कर आपकी परीक्षा ली। मैं ही यहाँ

से कुछ काल पूर्व मदनिका-रूप लौटी थी। और अब मैं स्वयं आपके सम्मुख उपस्थित हूँ। आपके साथ निवास करती हुई, इन अठ्ठारह वर्षों में समय-समय पर राज्य-कार्य देखने के लिए चली जाया करती थी। इसलिए मैं कुछ दिन साथ नहीं रहती थी।'

राजा की पलकें मिलने लगीं। राजा निर्विकार आसन पर बैठे रहे। राजा की आँखें पुनः खुलीं।

'देवि !' राजा ने कहा, 'तुमने आत्म-दर्शन के लिए जो कुछ किया, स्तुत्य है। केवल तुम्हारे प्रसाद द्वारा मैंने शान्ति प्राप्त की है।'

'आर्यपुत्र !' चुड़ाला बोली, 'आप प्रशंसा कर मुझे लज्जित करते हैं। मैंने केवल अपने कर्तव्यों का पालन किया है। आपने राज्य त्याग किया। मैंने आपसे निवेदन किया था कि वन में निवास करने से कोई लाभ नहीं होता। आपको दल-दल में फँसा देख, मैंने यह सब प्रयास आपकी मुक्ति के निमित्त दस वर्षों तक किया है।'

'और आठ वर्ष ?'

'उन दिनों भी मैं आपसे विमुख नहीं थी। आत्म-ज्ञान तथा शान्ति अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है। आठ वर्षों तक आपको अपने इच्छानुसार खूब चलने दिया। मैंने देखा कि आप अपने मिथ्या कार्यों द्वारा स्वंयं शिथिल हो गए हैं। आपको कोई मार्ग नहीं मिलता था। तब मैंने प्रकट होकर आपका पथ-प्रदर्शन करने का साहस किया था।'

राजा शान्त सुनता रहा।

'देव !' चुड़ाला ने पूछा, 'आपकी अब क्या इच्छा है ? हमें विदेह, जीवन-मुक्त होकर, कार्य सम्पादन करना शोभा देता है।'

'देवि !' राजा ने कहा, 'मैं इस समय जो हूँ तुम्हारी कृपा से हूँ। तुम ही मेरी गुरु हो। जो कहोगी करूँगा।'

राजा अपनी रानी चुड़ाला के चरण-कमलों पर श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक गिर पड़ा।

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग ७७–११०।

किराट

'हे ! क्या खोजते हो ?'

विन्ध्याचल का सुन्दर कानन था। एक व्यक्ति व्यग्र होकर कुछ अन्वेषण कर रहा था। एक वनवासी ने उसे देखकर कहा।

'भाई ! मेरी एक वस्तु खो गई है।' अन्वेषक ने अत्यन्त दीन भाव से वनवासी के समीप आकर, निवेदन किया।

'वस्तु क्या है ?'

'एक कौड़ी !'

वनवासी अट्टहास कर उठा। 'कौड़ी !'

'हाँ !'

'अरे।'

'मित्र ! मेरी सम्पत्ति है।'

'कौड़ी क्या सम्पत्ति होगी ?'

'वाह ! आज एक कौड़ी है। कल उसे दो करूँगा, परसों तीन और चौथे रोज चार। इस प्रकार मैं महान धनी बन जाऊँगा।'

'मूर्ख ! एक कौड़ी के लिए इतना परिश्रम ! !'

'मित्र ! दया करो। जानते हो तो बता दो।'

'मुझे इतना समय कहाँ ? एक कौड़ी के लिए इतनी हाय-हाय !'

वनवासी चला गया। अन्वेषक व्यग्रतापूर्वक कौड़ी खोजने लगा। सन्ध्या आई। वह उदास हो गया। एक दूसरे पथिक ने उसकी उदासी देखी।

'क्या है भाई ?'

'मेरा सर्वस्व लुट गया है पथिक !'

'किस प्रकार ?'

'मैं घर से आ रहा था। मेरे पास एक कौड़ी थी। कौड़ी कहीं असावधानी के कारण गिर गई।'

पथिक हँस उठा।

'हँसते क्यों हो भाई ?' अन्वेषक ने दुःखित होकर कहा ।

'कितना काल खोजते हुआ ?'

'दो दिन हो गए ।'

'दो दिन !'

'हाँ ।'

पथिक चकित होकर अन्वेषक का मुख देखने लगा । अन्वेषक का मुख सूखा था । उसने बड़ी दीनता से आह भरकर कहा ।

'हाँ पथिक ! दो दिन हो गए ।'

'अब !'

'खोजूँगा भाई ! कहीं यहीं पड़ी होगी । शायद मिल जाय ।' अन्वेषक ने दृढ़ स्वर में कहा ।

'न मिली तो ?'

'क्यों न मिलेगी पथिक !'

पथिक की दृष्टि अन्वेषक पर स्थिर हो गइ ।

'दुनियाँ में क्या खोजने से नहीं मिलता ? मैंने उसे तोड़ कर कहीं फेंक नहीं दिया है ? कहीं पड़ी होगी । खोज लूँगा ।'

अन्वेषक नवीन उत्साह के साथ पुनः खोजने के लिए उद्यत हो गया । उसमें आत्मविश्वास था । लगन थी ।

'दो दिन परिश्रम कर दस कौड़ी उपार्जन कर लेते ।' पथिक ने कहा ।

'इससे अधिक उपार्जन कर लेता किन्तु खोई कौड़ी ?' अन्वेषक ने विचारपूर्ण मुद्रा से कहा ।

'मेरी राय है'—पथिक ने अपनी यात्रा आरम्भ करने के लिए उठते हुए कहा ।

'क्या ? कौड़ी कैसे खोजूँ ?' अन्वेषक ने उत्सुकतापूर्वक पथिक की ओर देखा ।

'नहीं मित्र !' पथिक ने कहा, 'तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है । खाना-पीना त्याग कर कौड़ी के पीछे पड़े रहना कौन बुद्धिमानी है ?'

'वाह ! क्या अपनी वस्तु त्याग दूँ ? कितने परिश्रम का परिणाम कौड़ी थी। कितने परिश्रम से उसे संचित कर रखा था ? पथिक ! मैं खोजकर विश्राम करूँगा।'

'तुम पागल हो।' पथिक चल पड़ा।

कौड़ी खोजने में अन्वेषक पुनः लग गया।

:o: :o: :o:

'किराट ! ओ !! किराट ! ! !'

'क्या है भाई !'

शिथिल शरीर किराट पुकारने वाले के पास आया।

'किराट बन्धु ! क्या कर रहे हो ?'

'मेरी कौड़ी खो गई है।'

'ऊँह ! तुम्हारा रात-दिन ध्यान में लगा रहता है। रुपयों का तुम्हारा भण्डार किस दिन काम आएगा ?'

'उपयोग निमित्त संचय किया है।'

'घर पर सब लोग चिन्तित हैं। दुःखी हैं। तुम्हारा क्या हुआ ? किसी को मालूम नहीं।'

'किससे कहलवाता बन्धु !'

'तुम स्वयं कह कर चले आते। समस्त विन्ध्याचल की घाटी तुम्हारे बन्धुओं ने छान डाली है।'

'घर पर कहने आता, इसी बीच मेरी कोई कौड़ी ढूँढ़ लेता। मैं क्या करता ? तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ।'

'अचानक भेंट हो गई। मैं यात्रा के लिए निकला था। तुम्हारी घर पर खोज हो रही थी। पथिक से भेंट हुई थी। उसने तुम्हारा हाल कहा था। मैं समझ गया कि तुम जैसा कृपण मूर्ख दुनियाँ में और कोई नहीं होगा। एक कौड़ी के पीछे खाना-पीना त्याग दिया है तुमने। तुमसे मिलने, तुम्हारे बन्धुओं को तुम्हारी सूचना देने की गरज से यहाँ चला आया।'

'धन्यवाद ! आओ हम मिलकर कौड़ी खोजें।'

'क्षमा करो मित्र ! तुम्हारी कौड़ी तुम्हें फले-फूले। मुझे नहीं चाहिए। पड़ोसी के नाते अपना कर्तव्य कर दिया। चलो घर चलें।'

'ना—मैं तो बिना खोजे न जाऊँगा।'

'अच्छा ! घर क्या कह दूँगा ?'

'बिना कौड़ी खीजे न आ सकूँगा।'

:o: :o: :o:

'सुना—'

'क्या ?'

'किराट को चिन्तामणि नामक मणि मिल गई।'

'ओह् ! हो। !'

'उसके जैसा ऐश्वर्यशाली कौन होगा ?'

'मणि मिली कैसे ?'

'जंगल में कौड़ी खोजते-खोजते मिल गई।'

'हूँ—'

'अरे ! तुम्हीं तो उसकी खबर लेकर आए थे। वह वन में भूखा-प्यासा कौड़ी खोज रहा था।'

'हाँ, उसने मुझसे भी कहा था। कौड़ी खोजो।'

'क्यो नहीं खोजा ? खोजने पर तुम्हारा उस जैसा भाग्य हो जाता।'

'भाई ! मूर्खों को कोई सींग-पूँछ नहीं हुआ करती।'

ग्रामवासियों ने उत्साहपूर्वक किराट का जयनाद किया। पड़ोसी उदास एक वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया। भीड़ में से कोई कह उठा।

'परिश्रम, धैर्य एवं पौरुष का फल है।'

पड़ोसी की आँखें वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे भर आईं। जनरव मिल कर गाने लगा। पड़ोसी की आँखों के सम्मुख एक अवहेलनीय कौड़ी घूम रही थी।

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध : सर्ग–८३।

कुम्भज

चारु-द्रुम-परिरम्भित सुमेरु पर्वत पर एक सुन्दर गुहा थी। गुहा के नीचे मन्दाकिनी-मन्थर गति से धीरे-धीरे बहती चली जा रही थी। गुहा में भगवान् नारद की समाधि लगी थी।

भगवान् की समाधि खुली। मन्दाकिनी-पुलिन में मानवलीला की ध्वनि मुखरित थी। वे गुहा से निकले। वे आश्चर्यान्वित थे निर्जन स्थान में कोलाहल सुनकर। शीतल सरिता तट पर नारद रुक गये। वहाँ थी अप्सराओं की विचित्र जल-क्रीड़ा।

रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ सरिता जल में केलिरत थीं। कल-कल निनादिनी सरिता की चंचल तरंग धारा में उनका वस्त्ररहित, मुक्त हास-परिहास अद्‌भुत सौन्दर्य सृष्टि कर रहा था।

कल-कल निनादी चारु उज्ज्वल जल-प्रवाह में वस्त्ररहित उज्ज्वल गौर वर्ण कामिनियों के मुक्त हास-परिहास तथा जल-क्रीड़ा द्वारा उद्‌भूत लहरियों में उनका शरीर उत्फुल्ल कमल-सा प्रतीत होता था। उनकी उज्ज्वल कान्ति शुद्ध होकर जैसे निखर उठी थी।

भगवान् नारद ने देखा रूप का विलास, काम की किलोल, नारी का आकर्षण। विकार मुस्कराया। नारद स्वयं चकित हुए। वीर्य स्खलित हो गया। शरीर की विचित्र क्रिया देख उन्होंने वीर्य को विधिवत् एक कुम्भ अर्थात् घट में रख दिया।

नारद स्थान से हट गए। गुहा में वापस आए। घट के सुरक्षित स्थान में रख दिया। वीर्य का दुग्ध से सिंचन किया। घट से यथासमय कुम्भज ने जन्म ग्रहण किया।

कुम्भज का नारद ने पुत्रवत् पालन-पोषण किया। उन्हें शास्त्र-पारंगत कराया। ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अनन्तर उसे साथ लेकर स्वर्ग गए।

:o: :o: :o: :o:

पितामह ब्रह्मा ने पौत्र को आशीर्वाद दिया। उसका नाम 'कुम्भज' रखा। स्वयं उसे आत्मोपदेश दिया।

कुम्भज ने पिता नारद से पूछा, उसका नाम कुम्भज क्यों पड़ा ? नारद ने उसके जन्म की कहानी कह सुनाई।

'भगवन् !' कुम्भज ने पूछा, 'आप विदेह हैं। मुक्त हैं। स्वयं भगवान् के अंश हैं। आपका वीर्य क्यों स्खलित हुआ ?'

'पुत्र !' नारद ने मुस्कराकर कहा, 'जब तक शरीर है। शरीर का धर्म रहता है। शरीर-धर्म का त्याग अनुचित है। शरीर सुखमय है। सुन्दर है। सुरभि है। मधुर है। मनोरम है। किन्तु समय पर वही दुःखमय हो जाता है। कुरूप हो जाता है। दुर्गन्धित हो जाता है। हृदय को पाषाण कर देता है। उन्मत्त कर देता है। शरीर का स्वभाव नहीं छुटता। ज्ञानी एवं अज्ञानी में शरीर भेद उत्पन्न कर देता है।

ज्ञान का शरीर कार्य से विरत होने पर दुःख नहीं देता। किन्तु अज्ञानी को दुःख देता है। उज्ज्वल वस्त्र पर केसर का रंग चढ़कर निखर जाता है। अन्धकार-पूर्ण अज्ञानी पर सुख-दुःख का चितकबरा रंग शीघ्र चढ़ जाता है। ज्ञानी का शरीर मोम के खिलौने के समान जल का स्पर्श करते हुए भी, भींगता नहीं। जिसके अन्तःकरण पर ज्ञान-स्वरूप मोम चढ़ा है, उसे सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता।

'पुत्र !' नारद ने पुनः कहा, 'सुख एवं दुःख की नाड़ियाँ भिन्न हैं। मानव जब सुख की नाड़ी में स्थित होता है, तब उसे दुःख का अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार जब वह दुःख की नाड़ी में स्थित होता है, तब उसे सुख का किंचित्मात्र अनुभव नहीं होता। अज्ञानी की दोनों नाड़ियाँ चलती रहती हैं। ज्ञानी इन दोनों नाड़ियों में किसी में स्थित नहीं होता। वह सर्वदा एक-रूप रहता है।'

'किन्तु' कुम्भज पूछना चाहता था। नारद बोले,

'पुत्र ! वासना से चित्त जिस समय क्षुब्ध होता है उस समय नाड़ियाँ क्षुब्ध होती हैं। नाड़ी अपने स्थान का त्याग करने लगती है। उस अवस्था में वीर्य स्वभावतः वीर्य नाड़ी का त्याग कर, नीचे की ओर चल पड़ता है।'

'शरीर-धर्म का नाश शरीर के अवसान के साथ होता है। अतएव जहाँ तक इसे शुभ कर्मों में लगाया जाय, अच्छा है। इसे नीरस, कुत्सित,

मिथ्या कहकर त्याग देने से कुछ लाभ न होगा । इस शरीर का नियन्त्रण करना इसे अपने वश में करना, परम पुरुषार्थ है । यही उचित है ।'

'कुम्भज !' नारद ने स्नेह से कहा, 'इस शरीर की उपेक्षा मत करो । सदा उपयोग न होने पर, यह एक भार हो जायगा ।'

'जैसी आज्ञा ।' कुम्भज ने पिता का चरण स्पर्श करते हुए नम्रतापूर्वक कहा ।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध सर्ग–८६ ।

काँच-मणि

'अरे यह क्या ?'

मार्ग में चिन्तामणि मणि पड़ी थी। उसे उठाते हुए श्रीमान् पुरुष के मुख से अचानक बातें निकल गईं।

मणि को उसने उलट-पलट कर देखा। उसने विचार किया कि मणि चिन्तामणि नहीं हो सकती। चिन्तामणि कठिन परिश्रम के पश्चात् प्राप्त होती है। शास्त्र यही कहता है। जो रत्न देवताओं को अप्राप्त है, वह मेरे घर के समीप अनायास कैसे मिल सकता है ? यह मणि नहीं है। काँच है।

'मणि-प्राप्ति-निमित्त शास्त्रीय अनुष्ठान करते हुए देख कर, मेरे किसी पड़ोसी ने मेरे साथ परिहास किया है। मार्ग में धोखा देने के लिए रख दिया है। यदि मैं किसी को मणि दिखाऊँगा तो लोग कहेंगे, मेरा इतना भाग्य कहाँ ? मुझे इतनी सरलतापूर्वक मणि कैसे मिल जायगी ? मुझे लोग पाखण्डी कहेंगे। जीवन-पर्यन्त कष्ट करने पर मणि कहीं मिलती है। यों ही मिल जायगी ? ऊँह।'

पुरुष ने मणि को घृणापूर्वक फेंक दिया। दोनों हाथ झाड़ता हुआ बोला :

'वाह ! क्या मेरा दैव इतना प्रबल हो गया है ? भ्रम है। मिथ्या है। कपट है।'

वह आगे चला। कुछ दूर जाने पर पुनः लौट कर आया। संकल्प-विकल्प की आँधी में परेशान था। कभी विचार करता, उसका भ्रम था। मणि फेंक कर उसने अच्छा नहीं किया। वह अपने विचारों की उधेड़-बुन में आगे-पीछे करता बढ़ता गया।

:o: :o: :o:

'यह मिली—'

पुरुष ने भगवान् की जय-जयकार करते मणि उठा ली। मणि चमक रही थी। ज्योति फूट रही थी। विचित्र आभा थी। हर्ष से वह नाच उठा। चारों ओर बात फैल गई। मणि मिल गई। चिन्तामणि मिल गई।

उसने समझा, संसार का ऐश्वर्य मिल गया। आनन्दातिरेक में, उमंग में, पड़ोसियों को अपना सब कुछ दान कर दिया। घर-द्वार, कपड़ा-लत्ता, कुछ नहीं छोड़ा। सर्वस्व दान कर दिया। चिन्तामणि के साथ कानन में चला आया। मणि के बल पर नया संसार बनाने का विचार करने लगा।

:o: :o: :o:

'अरे! यह तो काँच है!!'

उसकी आँखें मणि पर घूमने लगीं। मणि ध्यान से देखने लगा। मस्तक पर स्वेद-बिन्दु उमड़ आए। शरीर काँप उठा। मणि हाथ से गिरते ही काँच की तरह टूट गई।

'हे भगवान्! मणि इस तरह कहाँ टूटती है?'

उसने टुकड़ों को उठाकर देखा तो मणि काँच थी।

उसे सारा संसार घूमता दिखाई दिया। हृदय बैठ गया। आँखों के आगे अँधेरा छा गया। धमनियाँ शिथिल हो गईं। रक्त का वेग रुकने लगा। चक्कर खाकर भूमि पर गिर पड़ा। उसके नेत्रों के सम्मुख घर के पासवाली मणि की रूप-रेखा घूमने लगी। व्याकुल होकर उठा। जिधर उसकी दृष्टि पड़ती थी उसी तरफ से मणि जैसे कह उठती थी – तुमने मेरी अवहेलना की है।

व्याकुल होकर वह भागना चाहता था। किन्तु शक्ति का लोप हो चुका था। घर की सम्पत्ति से हाथ धो चुका था। व्यथा से व्याकुल वह चिल्ला उठा। उसका आर्तनाद शून्य अरण्य में विलीन हो गया। प्रतिध्वनि तक न उठी। व्यग्र होकर आँखें उसने मूँद लीं। मणि उसके कानों में कहने लगी।

'मैं तुम्हें मिली थी। तुमने मुझे सरलता पूर्वक प्राप्त किया था। इसलिए तुमने मेरा मूल्य नहीं समझा। सिद्ध हुए सिद्ध को तुमने कुछ नहीं समझा। दूसरे के पीछे दौड़ पड़े। अब मैं क्या करूँ? मेरा तुमने सदुपयोग नहीं किया।'

मणि पुरुष की बन्द आँखों में घूमती परिहास करने, सी लगी। उसने नेत्र खोले। चारों ओर भयंकर अन्धकार घनीभूत हो रहा था। उसका प्राण शनैः-शनैः उसके व्याकुल शरीर का साथ छोड़ चला।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग : ८८।

हस्ती

एक विशालकाय शक्तिशाली हाथी था। विन्ध्याचल का पवित्र कानन था। महावत ने हाथी को लौह-शृंखला द्वारा आबद्ध कर दिया था। स्वतन्त्रता-प्रिय हाथी को परतन्त्रता अखरने लगी। स्वाधीन जीवन का स्मरण आता। व्याकुल होकर रोने लगता। पवन को स्वच्छन्द बहता, पक्षियों को चारु शाखाओं पर फुदकता, मेघों को आकाश में उड़ता, समीप में किसी पशु को स्वतन्त्रतापूर्वक नमन करता, देखकर उसकी आँखों में आँसू आ जाते थे। वह अपने को कोसता। स्वतन्त्रता का मौलिक मूल्य आँकता। उसे अपना जीवन भार प्रतीत होने लगा।

शीतल प्रस्फुटित कमल-दल-पूर्ण सरोवर के प्रसन्न जल के स्थान पर, घड़े का गन्दा जल मिलता था। हरे-भरे तृणों, नव-पल्लवित शाखाओं के स्थान पर, सूखे डण्ठल मिलते थे। पुरुषार्थ के प्रिय फल के स्थान पर, आश्रय के दारुण फल पर जीवन आश्रित हो गया था। रुचिकर, पुष्टिकर, शक्ति-वर्धक, विकासशील भोजन के स्थान पर, केवल काया चलाते रहने के लिए शुष्क भोजन मिलता था।

उसने विचार किया, इतनी बड़ी काया पालकर, क्या करेगा? वह पराधीनता की वेणी लौह-शृंखला से लड़ पड़ा। पूर्ण शक्ति लगा दी। शृंखला भग्न हो गई। स्वाधीनता मुसकरा उठी। कह उठा :

'अहा! कितनी शीतल वायु है? विश्व कितना सुन्दर है?'

महावत ने देखा। स्वाधीन होने पर हाथी का दौड़ना। हाथी टूटे बाँध के जल के समान उमंगपूर्वक बढ़ चला।

महावत परिश्रमी था। साहसी था। वह ताल वृक्ष पर चढ़ गया। हाथी वृक्ष के नीचे गमनशील हुआ। वृक्ष पर से वह हाथी की गर्दन पर कूद पड़ा। हाथी को वश में करना चाहा।

महावत कूदा। गरदन पर आने की अपेक्षा वह आ गया हाथी के सामने। मृत्यु की भयंकर मूर्ति आँखों के सम्मुख आ गई। उसकी आँखें

फैल गई। धमनियों का स्पन्दन बन्द हो गया। उसका हृदय हाथी के प्रति हिंसा का विचार कर काँप उठा। उसने समझ लिया कि हाथी उसे जीवित नहीं छोड़ेगा।

हाथी किंचित् काल रुका। उसकी बुद्धि स्वाधीन वायु-मण्डल में परिष्कृत हो गई थी। शुद्ध होकर निर्मल हो गई थी। हाथी ने अपने स्वाधीनता दिवस के प्रथम शुभ दिन में अपना पद रक्त-रंजित करना अच्छा न समझा। वह प्रसन्नतापूर्वक जयघोष करता निकल गया।

महावत बच गया। किन्तु उसके मस्तिष्क में केवल एक बात उठ रही थी। किस प्रकार हाथी को वशवर्ती किया जाय।

महावत ने हाथी का अनुसरण किया। उसकी दिनचर्या का अध्ययन किया। अपने साथियों की सहायता से हाथी के चारों ओर खाईं खोदकर उसे तृणादि से ढक दिया।

हाथी उठा। वह खाईं में फँस गया। अपने सम्मुख लोलुप भयंकर महावत को देखा। उसे एक दिन छोड़ दिया था। कोई व्यंगपूर्वक कह रहा था,

'हस्ती ! तुमने उमंग से, सुख-काल में अपने शत्रु महावत को उपेक्षा-पूर्वक छोड़ दिया था। उसी का परिणाम है, तुम्हारी पराधीनता। तुमने सोचा था, शत्रु तुच्छ है। आक्रमण कर उसे परास्त कर दोगे। भयरहित हो गए। उसी का फल है बन्धन।'

हाथी को अपनी मूर्खता पर क्रोध आया। क्रोध से चिल्ला उठा। उस गर्त में उछला, कूदा, किन्तु सब व्यर्थ था। दुःख एवं संताप से क्षुभित हो गया। शिथिल हो गया। जीवन-हीन तुल्य बैठ गया।

अजस्र अश्रुधारा बह चली। रक्त स्राव आरम्भ हो गया। सुन्दर कानन ऊजड़-बीहड़ दिखायी देने लगा। महावत उसके सम्मुख टहलता हुआ गर्व में आता। वायुमण्डल, प्रकृति, पादप, भूमि सब हाथी का परिहास करने लगते थे।

❀

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग–८९।

कच

'भगवन् !'

युवक-भावापन्न कच ने अपने पूज्य पिता देवगुरु बृहस्पति को नत-मस्तक प्रणाम किया।

'वत्स !' स्नेहमय दृष्टि पुत्र पर उठी।

'पिताजी ! एक शंका है।' कच ने विनम्र स्वर से कहा।

'कहो' बृहस्पति की जिज्ञासु आँखें पुत्र पर केन्द्रस्थ होने लगीं।

'इस संसार-पिंजर से मेरा किस प्रकार त्राण होगा ?'

'पुत्र ! मुक्ति का आधार सर्वाङ्गीण त्याग है।'

कच गम्भीर हो गया। बृहस्पति शान्त थे। कच पिता की चरण-रज लेकर उठा। आश्रम त्यागकर बाहर निकल पड़ा वह। बृहस्पति मुसकरा उठे।

:o: :o: :o:

पिताजी !' चरण स्पर्श करते हुए परमविज्ञानी कच बृहस्पति के सान्निध्य में उपस्थित हुआ।

'पुत्र !'

'सब त्याग कर वन जाना चाहता हूँ। मैंने यही निश्चय किया है।'

'जाओ पुत्र !' बृहस्पति ने स्नेह से कहा।

कच चल पड़ा। बृहस्पति निर्विकार बैठे रहे। पुत्र आँखों से ओझल हो गया। पिता की शान्त मुद्रा में किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। उद्वेग-हीन, संयोग-वियोग-हीन बृहस्पति अपने कार्य में संलग्न हो गये।

:o: :o: :o:

'पिताजी !' बृहस्पति के चरणों की वन्दना करते हुए कच ने कहा।

'आठ वर्ष तक कहाँ थे पुत्र ?'

'भगवन् ! मैं निविड़ वन में जाकर तपस्या करने लगा। एकान्त में मैंने आठ वर्ष व्यतीत कर दिए।'

'तुमने क्या पाया कच ?'

'पिताजी ! आपके कथनानुसार मैंने सर्वस्व त्याग किया, किन्तु मुझे विश्रान्ति न मिली।'

वागीश्वर बृहस्पति ने पुत्र की बात सुनकर केवल इतना ही कहा, 'पुत्र ! सब त्याग करो।'

कच के उत्तर की अपेक्षा न कर बृहस्पति स्वर्ग की ओर चल पड़े। कच पर उनके कथन की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका भी विचार उन्होंने नहीं किया।

पिता के प्रस्थान के पश्चात् कच ने अपने वस्त्रों का त्याग किया। वल्कल धारण कर, उसने वन की एकान्त गुफा में जाकर, पुनः निवास किया।

:o: :o: :o:

'पिताजी !' खिन्न मन कच पिता के समीप उपस्थित हुआ।

'कच !' पिता की स्नेह-दृष्टि उठी।

पिता का पूजन कच ने किया। पिता ने पुत्र का आलिंगन किया। कच के विषादपूर्ण वचन निकले,

'भगवन् ! आपकी आज्ञानुसार मैंने सब कुछ त्याग किया। मेरे पास कुछ भी नहीं रह गया। फिर भी आत्मपथ में मुझे विश्रान्ति नहीं मिल रही है।'

'पुत्र ! मैंने सर्व-त्याग कहा था। तुम उसका अर्थ समझ नहीं सके। 'सर्व' शब्द का अर्थ है चित्त। उस चित्त का त्याग करो। चित्त का त्याग करने पर तुम्हें अभीष्ट पद मिल सकेगा।'

बृहस्पति गम्भीर हो गए। कच विचारमग्न हो उठा। चित्त-परित्याग के निमित्त कच ने पुनः वन में प्रवेश किया।

:o: :o: :o:

'पिताजी !' स्वर्ग में अपने पिता गुरु बृहस्पति के समीप पहुँचकर कच ने प्रणाम किया। पिता को एकान्त में पाकर कच ने कहा,

'भगवन् ! मैंने वन में चित्त को बहुत ढूँढ़ा। अनेक प्रकार से विचार किया; किन्तु चित्त के स्वरूप का मुझे कुछ पता नहीं चला।'

बृहस्पति की मुद्रा गम्भीर हो गई।

'पिताजी ! आपने जिस चित्त के त्याग की बात कही है उस चित्त का स्वरूप क्या है ? बिना रुप जाने में उसका कैसे त्याग करूँगा ?'

'वत्स ! चित्त-वित्त के पण्डित 'अहंकार' को चित्त कहते हैं। जीव के अन्तःस्थल के अहंभाव —'मैं' इस प्रकार के ज्ञान एवं अभिमान का नाम चित्त है।'

'अहंकार-रूप चित्त का स्वरूप क्या है ? उसका त्यान कैसे कर सकूँगा ?' कच गम्भीर हो उठा।

'तनय ! अहंकार का त्याग, फ़ूल तोड़ने एवं आँख मूँदने से भी सरल है। अहंकार मिथ्या है। इसकी उत्पत्ति भ्रम द्वारा हुई है। अप्रबुद्ध बालक परछाईं में भूत, रस्सी में सर्प, मरुस्थल में जल एवं आकाश में भ्रम द्वारा दो शशि-बिम्ब देखता है। ठीक उसी प्रकार अहंकार की उत्पत्ति प्रमाद के कारण हुई है। वह वास्तव में न सत् है, न असत् ! चेतन-सत्ता आकाश से भी निर्मल है। ज्ञान-स्वरूप सभी स्थानों में विद्यमान है। लहरें जिस प्रकार अपने किसी भी रुप में केवल जल ही हैं, उसी प्रकार केवल चेतन ही सब में, सर्वदा, सर्व प्रकार प्रकाश-स्वरुप वर्तमान रहता है। उस चेतन सत्ता से अहंकार उत्पन्न नहीं होता।'

कच की चकित दृष्टि पिता के पवित्र मुखमण्डल पर स्थिर हो गई।

'पुत्र !' बृहस्पति ने कहा, 'मैं', 'तुम', 'वह' आदि का स्वरुप केवल भ्रममात्र है। भ्रम की सृष्टि है। इस प्रकार का तुच्छ, परिमित भ्रान्त-ज्ञान दिक् एवं काल के वशीभूत है। वास्तव में तुम दिक् कालादि से अपरिच्छिन्न, स्वच्छ, नित्योदित, विशाल, सर्वमय एवं एकमात्र निर्मल चैतन्य हो। चारों ओर फैले फल, कुसुम तथा पल्लवादि का एकीभावापन्न रस जिस प्रकार मधु होता है, उसी प्रकार तुम इस जगत्-समूह के सार, आनन्दमय, चैतन्यरूप अवस्थित हो। तुम निर्मल एवं सर्वदा अनन्त चिदात्मा हो।'

द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जैसे कच की आँखों के सम्मुख एकाकार होने लगे।

'वत्स !' बृहस्पति ने पुनः कहा, 'तुम स्वयं सत्ता-स्वरूप हो। फिर तुममें अहंभाव का ज्ञान कैसा ?'

कच की मुद्रा अत्यन्त गम्भीर थी। वह जीवन-मुक्त सा शान्त बैठा रहा।

'सुनो' ! बृहस्पति ने गम्भीरतापूर्बक कहा। 'अहंकार एवं ममता का त्याग वास्तविक त्याग है। वस्तु की इच्छा होने पर उसे इसलिए ग्रहण न करना कि उसका त्याग करना है, यह त्याग नहीं है। यह आत्म-प्रवंचना है, पाखण्ड है। वासना करना, किन्तु ग्रहण न करना, त्याग नहीं. त्याग का दिखावा है। वासना का त्याग होने पर, अहंकार एवं ममता का यथार्थ त्याग होगा पुत्र !'

कच ने पिता के चरणों पर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मस्तक रख दिया।

●

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण: पूर्वार्द्ध : सर्ग : १११।
पुराण : मत्स्य : २५–२६
महाभारत : आदि पर्व : ७६ : ११–६४
७७ : ६–२३
७८ : १
शान्ति पर्व : ४७ : ९
अनुशासन पर्व २६ : ८

मिथ्या पुरुष

जिसकी बालक के समान कोमल बुद्धि थी। जिसकी मायायन्त्र-तुल्य मूर्खता थी। उसे लोग 'अहंकार पुरुष' के नाम से पुकारते थे'। उसने शून्य स्थान में जन्म ग्रहण किया था। वह शून्य स्थान में निवास करता था। आकाश में जिस प्रकार बादल-समूह तथा मरुस्थल में मृग-मरीचिका होती है, उसी प्रकार शून्य स्थान में वह पुरुष था। वह जहाँ रहता था, वहाँ शून्य के अतिरिक्त और कुछ न था। वह जहाँ-जहाँ जाता उसे शून्य के अतिरिक्त और कुछ न मिलता। उसमें संकल्प-भावना दृढ़ हो उठी कि वह आकाश का है, आकाश उसका है। अतएव अपनी प्रिय वस्तु आकाश की रक्षा करनी चाहिए। आकाश की रक्षा न होने पर उसे भय हो गया कि वह स्वयं नष्ट हो जायगा।

आकाश-रक्षा-निमित्त उसने एक घर बनाया। घर में बैठकर वह रक्षा करने लगा। घर छोड़कर कहीं जाता नहीं था। वह अपनी इस रक्षा-व्यवस्था से संतुष्ट था।

शारदीय वायु जिस प्रकार शरद्-ऋतु के छोटे-छोटे मेघों को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार उसका घर कुछ काल पश्चात् नष्ट हो गया।

गृहाकाश के नष्ट होने पर वह हाय-हाय करता अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगा। वह आर्तनाद कर उठा, 'ओह गृहाकाश ! तुम मुहूर्तमात्र में ही कहाँ चले गए ? भगवन् ! निर्मल आकाश नष्ट हो गया। मैं क्या करूँ ?'

शोकावेग नष्ट होने पर, उसने बहुत सोच-विचारकर, एक कूप बनाया। सोचा गृह के समान कूप गिर न सकेगा। उसका आकाश कूप में सुरक्षित रहेगा। अपनी योजना पर प्रसन्न हो गया। वह कूप में बैठकर कूपाकाश को रक्षा करने लगा।

काल प्रभाव से कूप नष्ट हो गया। कूपाकाश को नष्ट होते देखकर, रोने लगा। उसके शोक की सीमा न रही।

कुछ दिनों में विलाप शिथिल हुआ। उसने विचार किया कि घट बनाकर उसमें आकाश को रक्खा जाय। वहीं आकाश की रक्षा की जाय। वह घटाकाश के साथ संतोषपूर्वक बैठ गया। घटाकाश की रक्षा करने लगा।

कालक्रम की शृंखला में उसका घट नष्ट हो गया। कुम्भाकाश किंवा घटाकाश के नष्ट होने पर वह घोर विलाप करने लगा। विलाप करते-करते थक जाने पर, उसने निश्चय किया कि, सुदृढ़ कुण्ड बनाकर आकाश की रक्षा करनी चाहिए। कुण्ड बनाकर कुण्डाकाश की रक्षा करने लगा।

समय की गति के प्रवाह द्वारा कुण्ड भी नष्ट हो गया। अपने निरन्तर के प्रयत्नों को असफल होते देखकर, वह कातर हो उठा। उसके विलाप की सीमा न रही। भावना उत्पन्न हुई। आकाश की रक्षा न होने से उसकी कैसे रक्षा होगी? उसने ठोस विस्तृत सभाकार भवन बनाया। अपने सभाकाश के साथ काल-यापन करने लगा।

पान जिस प्रकार सूखे पत्तों को गिरा देता है, काल ने उसी प्रकार सभाकार भवन को गिरा दिया। सभाकाश के नष्ट होने पर, वह चार वर्ष तक शोकसागर में डुबकियाँ लगाता रहा।

शोक एवं दुःख का भार हलका होने पर उसने आकाश-रक्षा के निमित्त मघाकृति कुशूल बनाया। कुशूलाकाश की रक्षा करने लगा।

कुछ काल पश्चात् कुशूल भी नष्ट हो गया। कुशूल का नाश देखकर वह अत्यन्त शोक-विह्वल हो गया।

इस प्रकार वह मिथ्या पुरुष, अपने रक्षा स्थान के नष्ट हो जाने पर रोता, शोक करता, विक्षिप्त होता। किन्तु जब रक्षा का कुछ प्रबन्ध कर लेता था, तो प्रसन्नतापूर्वक सन्तुष्ट हो जाता था।

जिन लोगों ने देखा है, वे कहते हैं, उस मिथ्या पुरुष का यह क्रम अब तक जारी है।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध सर्ग : ११२

भृंगीश

सुमेरु पर्वत पर अचानक कोलाहल सुन पड़ा। कोलाहल की ध्वनि मानव की न थी। पशु की न थी। सुर की न थी। और न असुर की थी। कोलाहल किस प्रकार उत्पन्न हो गया, भृंगीश समझ न सके। आत्मनिरत बैठे हुए, भृंगीश की कुटी में, कौतूहल ने प्रवेश किया।

उत्तर दिग्वर्ती उज्ज्वल श्रृंग शिखर पर ध्वनि उठ रही थी। भृंगीश धीरे-धीरे निकट आती हुई, ध्वनि की ओर चल पड़े।

अद्भुत शोभायात्रा थी। रूपवैचित्र्य का विचित्र मनमोहक प्रदर्शन था। सुन्दरता का उपहास था। नियन्त्रण और अनुशासन को चिढ़ाता कोलाहल तरंगित था। अराजकता का चारु अभिनय था। हँसना, बोलना, गाना, रोना, खेलना, कूदना, दौड़ना, लड़ना, व्यंग, प्रतिव्यंग सब अपनी चरम सीमा पर थे।

भृंगीश के पहुँचते ही सबने दाँत चियार दिए। कोलाहल के अधिनायक भगवान् शंकर भृंगीश की पूजा ग्रहण कर प्रसन्नतापूर्वक बोले, 'भृंगीश ! मैं प्रसन्न हूँ।'

अपने अधिनायक शंकर की प्रसन्नता देखते ही कोलाहल ने भयंकर ध्वनि द्वारा गगन गुंजित कर दिया। देवी गौरी प्रसन्न हो उठी। गौरी की सुन्दर मुसकान पर शंकर पुलकित हो गये।

'भगवन् !' भृंगीश बोले, 'आत्मदर्शनाकांक्षी हूँ। किन्तु सफलता नहीं मिल रही है।'

भगवान् शंकर की मुद्रा गम्भीर हो गई। साथ ही गम्भीर हो गया प्रदर्शन।

'देव !' अंजलिबद्ध भृंगीश ने कहा, 'क्या मैं कुछ उपाय जान सकूँगा ?'

'निश्चय !' शिव बोले।

'भगवन् का अनुग्रह !' भृंगीश भूतेश्वर के चरणों पर मस्तक रखकर बोले।

'महाकर्त्ता, महाभोक्ता, महात्यागी बनो भृंगीश।'

उत्तर सुनते ही, महादेव के गणतन्त्रीय गण महाक्रान्ति के उन्मत्त गणों के तुल्य नाच उठे।

'प्रभो ! महाकर्त्ता कौन है ?'

'महाभाग ! अनुभव-स्वरूप आत्मा के आश्रित, शुभ क्रियाशील निःशंक, राग-द्वेष-रहित, अनिच्छित धर्म एवं अधर्म कर्मशील, निरहंकार, मौन, मत्सर-रहित, अनिच्छित का त्यागी एवं अप्राप्य का आकांक्षी लोक संग्रहार्थ आचरण करने वाला महाकर्त्ता है। पुण्य, पाप, क्रियाओं में अहंकार-रहित, पुण्य एवं पाप करने पर, स्वयं पुण्यात्मा एवं पापी न मानकर, अकर्त्ता विगतस्नेह, सत्यवत् स्थित, महाकर्त्ता है। निरिच्छित व्यावहारिक, दुःख में शोक रहित एवं सुख में हर्षरहित, स्वाभाविक चित्त-समता का द्रष्टा; विषमताहीन; सुख की विषमता से रहित, एवं जिसने दुःख-सुख का त्याग किया है, वही महाकर्त्ता है।'

शिव के पारषद जैसे पुलकित हो गये। सबका मस्तक हर्ष से हिल उठा !

'महाभोक्ता भगवन् !'

'प्राप्त बस्तु का रागद्वेष से रहित होकर भोग, भिक्षावृत्ति में सुख-दुःख का अभाव, प्राप्य वस्तु में स्वामित्व-भावना-हीनता, स्वयं भोक्ता-भावना-रहित; व्यक्ति महाभोक्ता है, षड्रस अर्थात् मधुर, अम्ल, तिक्त, लवणादि रसास्वादन में समचित्त, रसमय पदार्थों में हर्षित एवं नीरस पदार्थों में द्वेषरहित समभाव; बुरे एवं अच्छे पदार्थों में दुःख रहित, शुभ-अशुभ, भाव-अभाव, क्रियाओं में अविचलित रहनेवाला महाभोक्ता है। जीवन-मरण इच्छा विहीन, शत्रु-मित्र सुहृत् एवं द्वेषियों में सम बुद्धि, शुभ-अशुभ, सुख-दुखों को भोगने में, जो हिचकता नहीं, महाभोक्ता है।'

भूतगणों में जैसे सुनने की उत्सुकता बढ़ने लगी। कोलाहल नितान्त नीरव हो उठा था।

'और महात्यागी प्रभो !'

'सुनो भृंगीश ! जो संसार देह, इन्द्रिय एवं अहंकार की सत्ता का त्याग कर स्थिर रहनेवाला महात्यागी है, मैं न तो देह हूँ, मेरी न यह देह है, समझने वाला महात्यागी है। शुभ-अशुभ में अहंकार परित्याग कर समभाव से शीलबान होकर मन, इन्द्रिय, देह से रहित होता हुआ चेष्टा करनेवाला महात्यागी है। महात्यागी सम चित्त है। क्षमाशील है। मद, मान, मत्सर, मनन इत्यादि की कल्पना त्याग दी है। धर्म एवं अधर्म वाणी आदि द्वारा मानसिक विषयों का त्याग करने वाला महा-त्यागी है।

कोलाहल भगवान् शंकर की ओर गम्भीरतापूर्वक देखने लगा। भृंगीश ने भगवान् के चरणों पर मस्तक रखा ही था कि पुनः कोलाहल आरम्भ हो गया। शिव का नन्दीं आगे बढ़ा। भृंगीश किंकर्त्तव्यबिमूढ़ हो गया। शिव मुसकराते हुए चल पड़े। प्रदर्शन अपने पूर्ण कोलाहल में आगे बढ़ चला।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग : ११५

इक्ष्वाकु

'जरा, मरण, संक्षोभ, सुख, दुःखादि से पूर्ण दृश्य-प्रपंच का क्या कारण है ?' महाराज इक्ष्वाकु विचार करने लगे। बहुत विचार किया। उनकी समक्ष में कुछ नहीं आया।

एक दिन ब्रह्मलोक से मनु भगवान उनकी सभा में पधारे। उनकी यथाविधि इक्ष्वाकु ने पूजा की।

'पितः !' इक्ष्वाकु ने निवेदन किया, 'बहुत दिनों से अनेक शंकाओं से ग्रसित हो गया हूँ। यदि आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।'

'वत्स !' मनु ने स्नेह से पुत्र की ओर देखते हुए सभा में कहा, 'शंकित मन अच्छा नहीं होता। उसका समाधान हो जाय तो उत्तम है।'

'करुणानिधे !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'यह सृष्टि कहाँ से आई है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसका भोक्ता कौन है ? इसकी रचना किसने की है ? इस घने विस्तीर्ण बिछाए संसार जाल से मैं विहंगम कैसे पार पा सकूँगा ?'

'अहो पुत्र !' मनु ने प्रसन्न वदन कहा, 'चिरकाल से उत्पन्न होते विवेक के कारण तुमने उत्तम प्रश्नों को उपस्थित किया है। जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह गन्धर्व नगर तथा मरुस्थल में जल-तुल्य भ्रम एवं मिथ्या है।'

'वत्स् !' मनु ने प्रफुल्लित लोचनों से कहा, 'इन्द्रियों से जो अतीत है। वह आत्मा है। आत्मा सत्य है। अविनाशी कहा जाता है। उसे ज्ञानीजन आत्मा तथा सत् कहते हैं। समस्त दिखाई पड़ने वाली संग परम्परा सदात्म-स्वरूप महादर्पण में प्रतिबिम्बित हो रही है। तेज-स्वभाव द्वारा उत्पन्न ब्रह्म की स्फुरण शक्ति कहीं ब्रह्माण्ड रूप में विवर्तित होती है, कहीं पृथ्वी आदि में प्राणिरूपता प्राप्त करती है। इस संसार में न तो बन्धन है और न मोक्ष है। केवल निरामय एक मात्र ब्रह्म अवस्थित है। वह ऐक्य तथा द्वैत से परे है। केवल संवित्सार विजृम्भित होता है।'

वर्तमान मन्वन्तर के मनु वैवस्वत हैं। अतएव इस मनवन्तर को वैवस्वत मनवन्तर कहते हैं। वैवस्तव मनु के पुत्र राजा इक्ष्वाकु हैं। इस मनवन्तर के अवतार बामन हैं। इस काल के इन्द्र का नाम उर्जस्विन किंवा पुरन्दर किंवा महाबल है।

'भूपते !' मनु ने पुनः कहा, 'परमेश्वर शास्त्रों और गुरु द्वारा दिखाई पड़ सकता है। वह अपनी सत्त्वावस्था में बुद्धि द्वारा, स्वतः अपनी आत्मा द्वारा, दिखाई पड़ता है। मार्ग में गमनशील पथिक को राग-द्वेष-हीन बुद्धि से देखा जाता है। उसी प्रकार अपनी सत्वस्थ बुद्धि द्वारा अपनी इन्द्रियों को देखना चाहिए। देहादि पदार्थ मात्र का अपनी बुद्धि से, बहुत दूर से त्याग कर, शीतल अन्तःकरण से, नित्य आत्मभाव में स्थिर होना चाहिए।

'पुत्र ! मनु ने निश्चयात्मक स्वर में कहा, 'यह देह मैं हूँ। इस प्रकार की बुद्धि संसार-बन्धन का कारण होती है। मुमुक्षु लोगों को इस प्रकार की बुद्धि का आश्रय नहीं लेना चाहिए। मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ। यह शाश्वत बुद्धि संसार बन्धन से दूर करती है। निर्मल जल में बाहर तथा भीतर चारों ओर प्रकाश रहता है। उसी तरह बाहर-भीतर चारों ओर आत्म-प्रकाश है। अनेक सुवर्ण-आभूषणों में जिस प्रकार एकमात्र धातु सोना रहती है और आभूषणों तथा अलंकारों का नाम केवल उनकी विचित्रता का द्योतक है, उसी प्रकार आत्मा की कलाओं का सबकुछ द्योतक है। जिस प्रकार अपने स्तन पर सोये शिशु को विस्मरण कर माता अनायास रोने लगती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा के लिए मनुष्य रुदन करता है। शरीर नष्ट हो जाने पर प्राणी आत्मा को अजर और अमर न जानकर रुदन करता है। जिस प्रकार स्पन्दन के कारण जल, तरंग, बुद्बुद, भँवर, धारा अनेक रूपों में दिखाई देती है, उसी प्रकार संकल्पों के कारण चिद्रूप ब्रह्म नाना रूपों में बढ़ता रहता है।

इस मनवन्तर के देवगण हैं : १० आंगिरस, २ अश्विनी, १२ आदित्य, १० भृगु-देव, ४९ मरुत, ११ रुद्र, ८ वसु, १० विश्वदेव तथा १२ साध्य।

इस मनवन्तर के सप्तर्षि हैं : अत्रि, कश्यप, गौतम, जमदग्नि, भारद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र।

वैवस्वत मनु के पुत्र हैं : अरिष्ट, इक्ष्वाकु, इल, करुष, कुशनाभ, धृष्ट, नभ, नृग, पृषध्र, प्रांशु, वसुमत, शर्याति।

मनु चौदह हैं : स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, रौच्य, भौत्य।

'पुत्र!' मनु ने कहा, 'यह जीव संसार कर्म में विचरण करता स्वयं अपने को कर्ता समझ बैठता है। सूर्य प्रकाश द्वारा जगत् की क्रियाएँ चलती हैं। चुम्बक के पास स्वतः लोहा खिंच आता है। किन्तु सूर्य एवं चुम्बक स्वयं कुछ नहीं करते। उसी प्रकार शरीरादि की चेष्टा चेतना द्वारा होती है। किन्तु वह चेतन स्वयं अकर्ता रहता है। कल्पना के कारण आत्मा में देहादि का भ्रम उत्पन्न होता है। सुख-दुःख कल्पना के कारण उत्पन्न होते हैं। मूर्खों ने अज्ञान के कारण शुद्ध आत्मा में दुःख-सुख की कल्पना की है।

'पुत्र !' मनु ने मुसकराकर कहा, 'जल तथा दर्पण में प्रतिबिम्बित होती वस्तुएँ जल तथा दर्पण का स्पर्श नहीं करतीं। उसी तरह ज्ञानियों की क्रियाएँ स्पर्श नहीं करतीं। पर्वत की छाया डोलती है तो पर्वत का डोलना प्रतीत होता है। उसी प्रकार देहादि की क्रिया में, चंचलता में तथा गमन शीलता में भ्रम के कारण, आत्मा का चलना आदि प्रतीत होता है। परन्तु आत्मा पर्वत की तरह निश्चल रहती है। शुद्ध उज्ज्वल मणि से नाना प्रकार की वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं किन्तु कोई वस्तु मणि को अपने रंग में रंग नहीं लेती। आत्मा में इन्द्रियाँ प्रतिभासित होती हैं, लेकिन आत्मा को स्पर्श नहीं करतीं। उसे अपने रंग में रँगने में असमर्थ होती हैं।

'पुत्र ! ' मनु ने कहा, 'मिठाई के मिठास का स्वाद सब मिठाईयों में एक रस-तुल्य व्यापक है। उसी प्रकार आत्म-सत्ता सबमें व्यापक है। अग्नि में तपाने से सोना शुद्ध होता है। उसका मल नष्ट हो जाता है। वह स्वयं राख नहीं बन जाता। उसी प्रकार इस मलस्वरूप मनुष्य देह का नाश होता है, न कि निर्मल आत्मा का।

'सुनो !' मनु ने कहा, 'दर्पण जितना शुद्ध तथा निर्मल होता है, उतना ही अच्छा उसमें प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। उसी प्रकार बुद्धि जितनी ही शुद्ध तथा निर्मल हो जाती है, उतना ही सुन्दर आत्मा का प्रतिबिम्ब देखने में समर्थ होती है।'

'निर्मल बुद्धि किस प्रकार होगी पितः !' इक्ष्वाकु ने पूछा।

'पुत्र !' मनु ने उत्तर दिया, 'संसार की असत्यता की भावना जैसे-जैसे नष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धि निर्मल होती चलती है। आत्मा ही अपना शत्रु है। वही अपना मित्र है। दृश्य पदार्थों तथा अनात्म विषयों की तरफ से अपनी चेष्टाएँ खींचकर, चित्त को अपने आपमें जो लीन कर लेता है, वह स्वयं अपना मित्र है। इसी प्रकार अनात्म पदार्थों एवं दृश्यों में चित्त लगाने वाला, अपना शत्रु है।

'राजन् !' मनु ने कहा, 'यह संसार आत्मा में स्थित नहीं है। स्वयं आत्मा है। आत्मा के भ्रम तथा अज्ञान के कारण संसार कल्पना है। अन्यथा सब कुछ चिदाकाशमय है। काल सबका ग्रास करता है। काल का ग्रास तुम स्वयं न बनो। उसका अतिक्रमण कर सको उस अवस्था की तुम्हें भावना करनी वांछनीय है। आत्मा काल का भक्षण करती है। उस आत्मा के स्वरूप में तुम्हें स्थित होने का प्रयास करना चाहिए। अज्ञानजनक विकार आत्मा के स्वरूप का दर्शन करने के पश्चात् स्वतः नष्ट हो जायेंगे। आत्मा को तुम्हें कहीं खोजने नहीं निकलना है। वह किसी विशेष काल अथवा देश में नहीं रहती। वह सर्वत्र, सब समय वर्तमान है। अहं भावना का त्याग करने पर तुम मुक्त की तरह प्रसन्न होंगे। तुम्हें दुःख स्पर्श नहीं कर सकेगा। तृणाच्छादित मणि अपना अस्तित्व रखते हुए अगोचर रहती है। उसी प्रकार आत्मा वासना तथा तृष्णा से ढँकी है। उनके हटने पर आत्मा का दर्शन होगा।'

'राजन् !' मनु ने कहा, 'जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के परे जो अवस्था है, उसमें तुम्हारा प्रवेश होने पर तुम्हें मुक्ति का दर्शन मिलेगा। आत्मादि बोध-वाचक नाम केवल समझने के लिए शास्त्रकारों ने दिया है। अन्यथा वह निर्वाच्य पद है। स्वप्न का अनुभव स्वप्न को सिद्ध करता है। ठीक इसी तरह मन, वाणी आदि आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। शास्त्र मर्यादा रखने के लिए तुम्हे निर्लिप्त भाव से दानादि करना चाहिए। इनमें तुम्हारी आसक्ति, अहं भावना तथा वासना उचित नहीं है। नट अनेक स्वांगों तथा रूपों का अभिनय करता है। दूसरों की दृष्टि में अपने वास्तविक रूप के अतिरिक्त दूसरा प्रकट होने लगता है। इसी प्रकार चेष्टाएँ करते हुए भी तुम संकल्प तथा अभिमान से रहित अपने आत्म-

स्वरूप में स्थित रहो। निर्विकल्प समाधि में तुम्हें आत्मा का दर्शन होता रहेगा। असमाधि काल में भी आत्मा का दर्शन प्राप्त होता चलेगा। उस समय तुम्हें यह जगत् आत्म-सत्ता मात्र प्रतीत होगा।'

'राजन् !' मनु ने कहा, 'संकल्पों का त्याग कर, केवल आत्म-भावना का चिन्तन करो। वह शास्त्र एवं गुरु-प्रदर्शित मार्ग द्वारा प्राप्त होता है। शास्त्र और गुरु केवल मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। तुम्हें आत्म-दर्शन नहीं करा सकते। दर्शन तुम्हें स्वयं करना होगा। वह अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त होगा। सूर्य-प्रकाश केवल अपनी आँखों देखा जा सकता है। आत्मा का दर्शन अपनी आत्मा द्वारा हो सकता है। बहिर्मुख संकल्प दुःख तथा अन्तर्मुख संकल्प आत्मदर्शन का कारण होता है। नृपवर ! तुम स्वयं आनन्द, अजर, अमर, अद्वैत स्वरूप हो। अपने इस अद्भुत स्वरूप को स्वयं क्यों नहीं देखते ?'

'भगवन् !' इक्ष्वाकु बोले, 'यदि आत्मा अद्वैत है तो दृश्य पदार्थ पाषाणादि क्या है ?'

'पुत्र !' मनु ने उत्तर दिया, 'आत्मा में स्पन्दन निस्पन्दन दोनों शक्तियाँ हैं। उसमें स्पन्द होता है। जगत् दिखाई देता है। निस्पन्द होने पर अपना स्वरूप दिखाई देता है। पवन के स्फुरण किंवा गति से जल के स्तर से उठती लहरें जल से भिन्न दिखाई पड़ती हैं। उसी प्रकार स्फुरण संयोग द्वारा अहंकार के कारण वस्तुओं में भिन्नता दिखाई देती है। अन्यथा सब एक है। पर्वतादि विश्वात्मा का चमत्कार है। स्वप्न में पर्वतादि के आकार, उनके गुरुत्व का अनुभव मात्र होता है। इसी प्रकार जाग्रत विश्व केवल आत्मा का अनुभव रूप है। अतएव इस आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है।'

'यदि भगवन् ! आत्मा सूक्ष्म है, तो पर्वतादि स्थूल पदार्थ कैसे दृष्टि-गोचर होते हैं ?'

'वत्स !' मनु बोले, 'आत्मा में अनन्त शक्ति है। आत्मा से भिन्न कहीं किसी प्रकार का अन्य रूप नहीं है। सूर्य की उष्ण-शक्ति और सूर्य की प्रकाश-शक्ति सूर्य से भिन्न नहीं है। आत्मा की शक्ति आत्मा से भिन्न नहीं है। पवन में स्पन्द तथा निःस्पन्द दोनों शक्तियाँ हैं। स्पन्द-

शक्ति द्वारा पवन के बहने पर पवन का अनुभव होता है। किन्तु जब वह निस्पन्द हो जाता है तो उसका अनुभव नहीं होता। आत्मा में स्पन्द स्फुरित होने पर अहं भाव की उत्पत्ति होती है। अहं के कारण चित्त, आकाशादि तन्मात्राएँ क्रम से प्रकट होने लगती हैं। जगत् का संकल्प होता है। अतएव स्पन्द-शक्ति के स्फुरित होने पर जगत् का अनुभव होने लगता है। और वही जब निस्पन्द हो जाता है तो पुनः सब एकाकार अर्थात् केवल आत्मवत् रह जाते हैं।'

'पितः !' इक्ष्वाकु ने प्रश्न किया, 'इन स्पन्दों से, इन संकल्पों से, मनुष्य मुक्त किस प्रकार होगा ?'

'पुत्र !' मनु ने सस्नेह कहा, 'उनकी निवृत्ति के लिए क्रम से साधन करना होगा।'

'भगवन् !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'साधन का रूप क्या होगा ?'

'मानद !' मनु ने कहा, 'साधन की सात भूमिकाएँ होती हैं।'

'महात्मन् !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'प्रथम भूमिका का क्या रूप है ?'

'जिज्ञासु !' मनु ने कहा, 'प्रथम भूमिका शास्त्र तथा सज्जनों के सम्पर्क द्वारा अपनी प्रज्ञा का विवर्धन करना है। जिज्ञासु की जिज्ञासा दृढ़ होनी चाहिए। तत्पश्चात् विवेक का उदय होगा। विवेक द्वारा बुद्धि शुद्ध एवं स्थिर होगी। यह जाग्रद्रूप है। यह श्रवण भूमिका मानव की है।'

'भगवन् !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'दूसरी भूमिका क्या होगी ?'

'पुत्र !' मनु ने कहा, 'दूसरी भूमिका का नाम विचारणा है। बुद्धि की शुद्धता तथा स्थिरता द्वारा निर्मल विचार-शक्ति उत्पन्न होने पर सत्संग द्वारा प्राप्त शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारों का स्वयं अपनी दृष्टि से विचार करना चाहिए। शास्त्रों ने क्यों यह बात कही है ? उनके कहने का प्रयोजन तथा तात्पर्य क्या था ? उनका विचार क्यों ठीक है ? इन विचार-वीथियों में विचरण करते हुए स्वयं विचार करना चाहिए। हम क्या हैं ? यह जगत् क्या है ? हमारा उद्देश्य क्या है ? इस जीवन का प्रयोजन क्या है ? हमारा स्वरूप क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं देना होगा। शंका-समाधान न होने पर सत्संग

तथा शास्त्रों का आश्रय लेना उचित है। इसमें मानव मनन करता है। यह भूमिका भी जाग्रद्रूप की श्रेणी में रखी गयी है।'

'महात्मन् !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'तीसरी भूमिका क्या है ?'

'जिज्ञासु !' मनु ने कहा, 'असंगभावना तीसरी भूमिका है। इसे निदिध्यासन भी कहते हैं। यह भूमिका जाग्रद्रूप की अन्तिम अवस्था है।'

'और चौथी ?'

'पुत्र !' मनु ने कहा, 'चौथी भूमिका का नाम विलायनी है। इसमें वासनाओं का विलय हो जाता है। अतएव इसको विलायनी कहा गया है। इस भूमिका में वासनाओं को पुराने जीर्ण वस्त्रों की तरह उतार कर फेंक दिया जाता है। वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। आत्म-भावना की दृढ़ता से आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह भूमिका स्वप्न रूप है।'

'पाँचवीं भूमिका का रूप क्या है पितः ?'

'वत्स !' मनु ने कहा, 'पाँचवीं भूमिका आनन्द है। यह शुद्ध संविद् मय आनन्द-स्वरूप पाँचवीं भूमिका है। इस भूमिका में जीवनन्मुक्त पुरुष अर्ध सुप्त तथा अर्ध-प्रबुद्धावस्था में रहता है। आत्मा के साक्षात्कार द्वारा मनुष्य में आनन्द उत्पन्न होता है। इस अवस्था में मनुष्य शुद्ध संवित् रूप मात्र रह जाता है। वह आनन्द में लीन होता है। देखने वाले समझते हैं, वह जागता हुआ भी सोता है। बाह्य व्यवहारों को करता हुआ भी उनसे उदासीन रहता है। वह जीवन्मुक्त की तरह हो जाता है। यह भूमिका सुषुप्ति स्वरूप है।'

'भगवन् !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'छठवीं भूमिका क्या रूप है ?'

'मानद !' मनु ने कहा। 'छठी भूमिका स्वसंवेदन रूपा है। ब्रह्माकारानुभव वृत्ति है। यह आनन्दैकघनकारा है। इस अवस्था में व्यक्ति सुषुप्त सदृश हो जाता है। मनुष्य की अवस्था सुप्त व्यक्ति की तरह हो जाती है। वह अपनी आत्मा में लीन हो जाता है। वह संसार अनुभव

की सीमा पार कर जाता है। उसके अनुभवादि नष्ट हो जाते हैं। आत्मानन्द में मग्न आत्मरत रहता है। यह तुर्यावस्था है।'

'पितः !' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'अन्तिम सातवीं भूमिका क्या है ?'

'पुत्र !' मनु ने कहा, 'सातवीं भूमिका 'परिप्रौढ़ा' कही गयी है। ब्रह्माकारानुभवात्मक वृत्ति-स्वरूप तुर्यावस्था भी जिसमें विलीन हो जाती है। यह मुक्ति अवस्था अन्तिम सातवीं भूमिका है। समता, स्वच्छता, परिपूर्णता पूर्ण है। स्वप्रकाश स्वरूप परब्रह्म अवशिष्ट रहता है। यह तुर्यातीत अवस्था है।'

'राजन् !' मनु ने कहा, 'यह जगत् आत्मा से भिन्न है। कठपुतली तागों से बँधी अनिच्छित कार्य करती है। यह किसी प्रकार का अनुभव नहीं करती। तुम भी उसी प्रकार अहंकाररहित अपना काम यह विचारते हुए करो कि न तो तू कुछ करता है और न तुझे कुछ करना है। तुमसे न किसी का राग है, और न द्वेष। तुमने यदि किसी प्रकार का स्फुरण न होगा, तो दुःख भी न होगा। एक बात स्मरण रखना। देखा, सुना सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। निरन्तर इसी भावना का आश्रय लो। यही संसार समरांगण में तुम्हारा अभेद्य कवच होगा। इसी के द्वारा तुम अपनी रक्षा कर सकोगे।'

'पुत्र !' मनु ने पुनः कहा, 'प्रायः वस्तुएँ भ्रामक और सत्य प्रतीत होती हैं। उसके दृश्य रूप को वास्तविक रूप न समझ कर, उस रूप के विषय में विचार करो कि, उसका मौलिक स्वरूप क्या है ? यदि तुम्हारे विवेक की कसौटी पर वह सत्य उतर जाय, तो उसे सत्य मानना। वही सत्य आत्मा है। हीरा तथा हिमकण दोनों उज्ज्वल होते हैं। किन्तु जब वे सत्य की कसौटी पर कसे जाते हैं, तो विवेक-किरणें उन्हें परखने लगती हैं। हीरा चमकने लगता है और हिमकण गल जाता है।'

'वत्स !' मनु ने कहा, 'सुख-दुःख मिथ्या हैं। अतएव अहंकार-रहित अपने सत्य-स्वरूप में स्थित हो। यदि विचार-कसौटी पर अहंकार-जनित संसार सत्य प्रतीत हो, तो उसे सत्य मानो। यदि आत्मा सत्य मालूम पड़े, तो उसका आश्रय ग्रहण करो। शुभ-अशुभ अभिमान-

रहित इन्द्रिय चेष्टाएँ तुम्हारे बन्धन का कारण न होंगी। आकाश-स्थित जलपूर्ण मेघ आकाश में रहते हुए भी आकाश को ढँक नहीं सकता। इसी प्रकार कर्मफल, वासना-रहित क्रिया कर्म, तुम्हें किसी प्रकार भी अपने अंकों में नहीं ले सकेंगे।'

'वत्स !' मनु ने कहा, 'दृश्य का कारण अज्ञान है। अज्ञान के नाश पर आत्मा का दर्शन होता है। आत्म-दृश्य प्राप्त होता है। अपनी भावना, अपनी कल्पना, अपने संकल्प के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। यदि तुम आत्मा की भावना करोगे, तो तुम्हें आत्मा प्राप्त होगी। प्रकृति के वियोग से मिलती है शान्ति। प्रकृति के संयोग से प्राप्त होता है दुःख।'

'इक्ष्वाकु !' मनु ने कहा, 'अन्तर्मुख होने पर व्याकुलता नष्ट होगी। हृदय शशि-तुल्य शीतल होगा। ज्ञानाग्नि में देह जल जाता है। ज्ञानी मुक्त हो जाता है। क्रियाएँ ज्ञानी को बाँध रखने में असमर्थ हो जाती हैं। ज्ञानी सर्वदा अभिवादन का पात्र है। पूजा का पात्र है। ज्ञानी का आवास भी प्रणाम-योग्य है। ज्ञानी के शब्दों का जो जिह्वा उच्चारण करती है, वह प्रणाम के योग्य है। जिन दिशाओं की ओर वह देखता है, वे प्रणाम के योग्य हैं। ज्ञानी जिस अलौकिक नैसर्गिक आनन्द को प्राप्त करता है, वह प्रणाम के योग्य है।'

'और सिद्धियाँ ?' इक्ष्वाकु ने पूछा, 'उनका सुख किस प्रकार का है ?'

योगवासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध : सर्ग : ११७–१२२।

वाल्मीकि रामायण : उत्तर काण्ड : ७; ७९; ५७;

" " : अयोध्या काण्ड : ११०

पुराण :

भविष्य पर्व ब्राह्म पर्व : ७९

हरिवंश	१ : ११
	१ : १०
भागवत	७ : ८
	९ : ६ : ४

'पुत्र !' मनु ने कहा, 'सिद्धियों का आनन्द, उनका सुख सीमित है। यदि किसी ने उड़ने की, कोई पानी पर चलने की, शक्ति प्राप्त कर ली, तो उससे उसका क्या लाभ हुआ ? पक्षी आकाश में उड़ते हैं। मगर पानी में तैरता है। किन्तु क्या पक्षी अथवा मगर शक्ति द्वारा आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञानी शांति-सुख प्राप्त कर सकता है। आनन्द प्राप्त करता है। कटघरे का छूटा सिंह पुनः कटघरे में नहीं आता। उसे देखकर दूर से भागता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुनः अज्ञान पिंजड़े में नहीं आता।'

'पितः ! मैं क्या करूँ ?'

ब्रह्माण्ड–२ : ३२ : १२० : १२१
३ : ६१ : ६–११
ब्रह्म : ५ : ४४–४७
विष्णु : ४ : १
४ : २ : ३
वायु : २ : २३
४ : ३ : १८
८५ : ४
पद्म : सृष्टि खण्ड : ८ : २१०
४४ : २३७
लिंग : १ : ६५
ब्रह्माण्ड : ३ : ६०
मत्स्य : १२ : १५–२८
१४५ : ११५ : ११६
भविष्य : प्रतिसर्ग पर्व : १ : १
महाभारत : आदि पर्व : ७५ : १५
१७४
वनपर्व—२०२ : १
शान्ति पर्व : १९९ : ३९–१७
२०० : २६
अनुशासन पर्व : २ : ५
१६६ : ७३; ११५ : ६६
आश्वमेधिक पर्व : ४२-५

'पुत्र !' मनु ने कहा, 'मैंने तुम्हें सात भूमिकाएँ बताई हैं। ज्ञान का रूप बताया है। शरीर का रूप बताया है। आत्मा का रूप बताया है। तू आत्म-चिन्तन कर। उसे देख। उसे पहचान। उसे जान। और उससे मिल जा। मिलने पर तुम्हारे दुःखादि नष्ट हो जायेंगे। तू शुद्ध होगा। तू पवित्र होगा। तू आनन्दित होगा। तू जिस समय आत्मा में स्थित होगा, उस समय तुम्हारी अवस्था उस मणि के समान निर्लिप्त हो जायगी, जिसके पास रंग-विरंगे पदार्थ रखे रहते हैं। पदार्थों का प्रति-

मनु का उल्लेख निम्नलिखित स्थानों पर मुख्यतया मिलेगा :

ऋगवेद : १ : ८० : १६
२ : ३३ : १३
८ : ३० : ३
५ : २७ : ३
८ : ५२ : १
८ : ६३ : १
१० : ६० : ४
१० : ६२ : ६–११
१० : ६३ : ७
११४ : २

अथर्ववेद : १४ : २ : ४१
१४ : ३६ : ६

तैत्तरीय संहिता : १ : ५ : १
२ : १ : ५ : ६
२ : २ : १० : २
३ : १ : ६ : ४–५

ऐतरेय ब्राह्मण : ५ : १४

शतपथ ब्राह्मण : १ : १ : ४ : १४
१ : ८ : १ : १
१३ : ४ : ३ : ४
१३ : ५ : ४ : ५

जैमिनीय ब्राह्मण : ३ : १६७

जैमिनी उपनिषद् ब्राह्मण : ३ : १५ : २

बिम्ब रंग-बिरंगा पड़कर, मणि को उन्हीं रंगों की तरह प्रतीत कराता है। किन्तु मणि किसी रंग का स्पर्श नहीं करती। शुद्ध, पावन, आत्मदर्शन होने पर पाप-पुण्यादि तुम्हारा स्पर्श नहीं करेंगे।'

'भगवन् !' इक्ष्वाकु ने मनु के चरणों पर श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक मस्तक रखते हुए कहा, 'कृतार्थ हुआ। उसे जाना, जिसे जानना चाहिए।'

पंचविंश ब्राह्मण : २३ : १६ : १७
१३ : ३ १२
निरुक्त : ३ : ४
आपदस्तंब सूत्र : २ : ७ : १६ : १
छान्दोग्योपनिषद : ३ : ११ : ४
बृहदारण्यकोपनिषद : १ : ४ : १०
नृसिंह उपनिषद : ४ : ३
बृहद्देवता-५ : १४
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्य स्मृति
वैवस्तव मनु के महाभारत में उल्लेख :
वैवस्वत तीर्थ :
महाभारत अनुशासन पर्व : २५ : ३९
वैवस्वत मनु :
आदि पर्व : ७५ : १-१२, ०५-१६
वन पर्व : १८७
भीष्म पर्व : १२२ : ३८-४२
शान्ति पर्व : ३४८ : ५१
अनुशासन पर्व : १७ : १७७-१७८
वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड : १ : ६, १०, १३, २३, ४७, ५७, ५९-६१, ७०, ७२
" " " अयोध्या काण्ड : २, ४, ६, १२, ११०
" किष्किन्धा काण्ड-सर्ग : ५३

काष्ट मौन

'मुनि जी ! मुनि जी !! मुनि जी !!!'

व्याध शीघ्रता में था। उसने अत्यन्त आतुरतापूर्वक पुकारा।

'कहिए'। मुनि ने निरुद्वेग शान्तिपूर्वक पूछा, मुनि के अर्थ प्रस्फुटित लोचन शनैः-शनैः उन्मीलित हुए। सम्मुख खड़ा था, हाथ में धनुष लिए व्याध।

'मुनिवर !' व्याध बोला, 'मैंने एक हरिण पर बाण चलाया था। हरिण घायल होकर भागा। मैं भी उसके पीछे-पीछे दौड़ता आना। परन्तु वह दिखाई नहीं पड़ रहा है। क्या आप बता सकते हैं। मेरा शिकार किधर गया है ?'

'ना'। मुनि की पलकें पुनः मिलने लगीं। व्याध ने अत्यन्त तीक्ष्ण स्वर से पूछा,

'मुनिवर ! हरिण आपके सम्मुख से गया है। वे देखिए रक्त बिन्दु।'

व्याध ने धनुष से रक्त बिन्दुओं को दिखाते हुए कहा।

'व्याध !' मुनि ने शान्त मुद्रा में कहा, 'मैंने रक्त-विन्दुओं को सर्वप्रथम तुम्हारे संकेत करने पर देखा है।'

'मुनिवर ! विश्वास नहीं होता। हरिण आपकी आँखों के सम्मुख से निकल जाय। आप बैठे रहें। फिर भी नही देखें ? आप जैसे धर्माचरणीय शुद्ध आचरणशील व्यक्ति को मिथ्या-भाषण शोभा नहीं देता।'

'व्याध !' मुनि ने अपनी पूर्ववत् शान्त मुद्रा में कहा, 'मिथ्या से अधिक हेय मेरे लिए और कुछ नहीं है। किन्तु यहाँ इसी प्रकार बैठा रहकर भी, मैंने नहीं देखा। चाहे तुम विश्वास करो अथवा नहीं।'

'किन्तु ऐसा हो कैसे सकता है ?' व्याध ने आश्चर्यपूर्वक कहा।

'वधिक ! मैं निरहंकार एवं चिन्तारहित हूँ। उनके अभाव में मैं जड़ जगत् कैसे देख सकता हूँ ?'

'इस समय कैसे आप देख रहे हैं ?'

'वधिक ! सूर्य के आश्रय में लोक क्रियाशील होता है। दीपक के आश्रय में मणि चेष्टा करती है। किन्तु सूर्य, दीपक एवं मणि एक प्रकाश के साक्षी हैं। मैं भी उसी तरह इन्द्रियों का साक्षीभूत मात्र हूँ। मुझे इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनकी चेष्टा उनके स्वभावानुसार होती रहती है।

'वधिक !' मुनि ने पुनः कहा, 'अहंभाव का आधार है अहंकार। मणि के दाने जिस प्रकार एक सूत्र में बँधकर मालाकार होते हैं, उसी प्रकार अहंकार एक सूत्र में इन्द्रियों को पिरोता है। सूत्र टूट जाने पर मणि के दाने विखर जाते हैं। उनका एक सम्बन्ध टूट जाता है, उसी तरह अहंकार-सूत्र के टूट जाने पर इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है। राजा के नष्ट होने पर सेना, गोपाल के नष्ट होने पर गाएँ, पिता के नष्ट होने पर सन्तान व्याकुल हो जाती है। इन्द्रियों का अभिमान तथा उनका सम्बन्ध अहंकार से होता है। अहंकार के नष्ट होने पर अभिमान एवं स्वत्व नष्ट हो जाता है।'

'वधिक !' मुनि ने पुनः कहा, 'इस समय मेरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में विचरती हैं। मुझे उनके विचरण में न राग है, न द्वेष। मैं न जागृत हूँ, न स्वप्न में हूँ और न सुषुप्ति में हूँ। मैं स्थित हूँ तुरीयावस्था में। मैं नहीं जानता कि तुम्हारा मृग बायें गया अथवा दाहिने। उसको देखा होगा दृश्य इन्द्रियों ने। आखों को बोलने की शक्ति है नहीं कि वे कह सकें मृग किस ओर गया। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण एवं त्याग करती थीं। एक के विषय का दूसरे को ज्ञान नहीं था। एक की शक्ति दूसरे में नहीं थी। एक का ज्ञान दूसरे में नहीं था। एक का सम्बन्ध दूसरे से नहीं था। इनका केन्द्र था अहंकार। वह इनके कार्यों को जानता था। इनसे काम लेता था। जब वह नष्ट हो गया तो वधिक ! तुम्हें कौन बतायेगा कि मृग किस ओर गया ?'

'वधिक !' मुनि ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'शरद्कालीन मेघ के नष्ट हो जाने पर आकाश शुद्ध एवं निर्मल प्रकट होता है। उसी प्रकार तुरीयावस्था में मैं अहंकार-रहित, स्वच्छ, निर्मल, शान्त, रूप में स्थित

हूँ। इन्द्रियों का जीव एवं अहंकार नष्ट हो चुका है। देखने में इन्द्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, किन्तु वे अस्त हो चुकी हैं। दीवार पर तूलिका द्वारा बनी आभा जिस प्रकार देख नहीं सकती, उसी प्रकार शरीर पर लगी मेरी आँखें इस अवस्था में कुछ भी नहीं देख सकतीं। बोलो वधिक, मैं तुमसे क्या कहूँ ?'

'यह पद क्या है भगवन् !' वधिक ने किंचित् विचारपूर्वक पूछा,

'इस पद में, इस अवस्था में अहंभाव—अनहंभाव, सत्-असत्, आदि भावों को त्याग कर सम, स्वच्छ स्थिति प्राप्त होती है। चित्त की संकल्प शक्ति, कल्पना का लोप एवं जगत्भाव नष्ट हो जाता है। जीवन मुक्ति की वही स्थिति है। यह अवस्था जागृत एवं स्वप्नों से परे है। इसमें संकल्पों का अभाव है। सुबुद्धि भी नहीं है। वह है अद्वैत पद। अशब्द पद है। शब्द का वहाँ प्रवेश नहीं होता। उसमें क्षोभ भी नहीं है। तुमसे बात करने वाला यह काष्ट मौन उसी तुरीयावस्था में स्थित है। बधिक ! तुम्हें हिंसा द्वारा, वासनामय मृग के पीछे दौड़ने से, कुछ लाभ न होगा। परम, चिर, अपरिमित, आनन्द की एक झलक क्यों नहीं लेते वधिक ?'

बधिक अपलक दृष्टि से काष्ट मौन मुनि की ओर देख रहा था। मुनि बात करते-करते पुनः मानो अपनी अन्तरात्मा में लीन हो गए।

योग व स ऽ   रामायण : निर्वाण प्रकरण : पूर्वार्द्ध सर्ग : १२४

निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध

- □ विद्याधर ....
- □ इन्द्र ....
- □ मंकी ....
- □ मनमृग ....
- □ विवेक ....
- □ पाषाण ....
- □ शिला ....
- □ विपश्चित ....
- □ ब्रह्ममस्तक ....
- □ वटधाना ....
- □ शव ....
- □ सिन्धुराज ....
- □ ब्रह्मनील शिला ....
- □ ब्रह्माण्ड ....
- □ कुन्दन्त ....
- □ काष्ठ वैवधिक ....
- □ प्रज्ञप्ति ....
- □ राम शिष्यतोपाख्यान

विद्याधर

'महात्मन् . . . !'

काकभुशुण्डि को प्रणाम करता हुआ, विद्याधर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ।

भुशुण्डि ने देखा— एक शान्त विद्याधर। उनकी अन्वेषक दृष्टि विद्याधर पर फैल गई। वाणी मुखरित हुई, 'विद्याधर! आपका कौन-सा प्रयोजन मैं सिद्ध कर सकता हूँ ?'

'ब्रह्मज्ञानी। अपनी करुण कहानी सुनाने आया हूँ।'

काकभुशुण्डि के पवित्र लोचनों में सहानुभूति थिरक उठी।

'यदि भगवन्! आज्ञा. . .।' अत्यन्त अनुनय-भरा स्वर चलते-चलते रुक गया।

'मेरा सौभाग्य...!'

'तत्वविद् महात्मन्! निवेदन करूँ—?'

'प्रसन्नतापूर्वक मित्र!'

'मेरी बड़ी लम्बी आयु है। मैं चार युगों से जीवित हूँ। बहुत भोग भोग चुका हूँ। समस्त विद्याओं का अध्ययन कर चुका हूँ। मेरे सत्कर्मों की गणना करना कठिन है, किन्तु मुझे कहीं शान्ति प्राप्त न हो सकी। मैं शान्ति का अकांक्षी हूँ। मुझे शान्ति चाहिए। आपकी पुण्यसेवा में शान्ति के निमित्त आया हूँ।'

'मित्र! और कुछ ?' काकभुशुण्डि की परिष्कृत वाणी मुखरित हुई।

'महात्मन्! कष्टों का जब तक वर्णन न करूँगा तब तक निदान कैसे होगा ? उपयुक्त ओषधि कैसे प्राप्त होगी ?'

विद्याधर ने काकभुशुण्डि को करबद्ध प्रणाम कर पुनः निवेदन करना आरम्भ किया, 'चित्ररथ गन्धर्व के शोभनीय उद्यान में, स्वर्ग के स्वर्गीय नन्दन कानन में, अप्सराओं के साथ विचरकर, बहुत काल तक मैंने अवर्णनीय सुखों का उपभोग किया है। पुष्पक विमान पर बैठकर, असीमित

आकाश भ्रमण किया है। तप, दान, व्रत एवं यज्ञ भी आवश्यकता से अधिक किये हैं।

'सौंदर्य-संचय में, रूप-संचय में, रूपमय जीवन में, रूप-आनन्द में, सहस्त्रों वर्ष क्षणों के समान व्यतीत कर दिया है, किन्तु नेत्रों की तृप्ति नहीं हुई। नाना प्रकार की सुगन्धों का उपभोग किया है। फिर भी नासिका नहीं थकी है। अनायास सुगन्ध की ओर दौड़ जाती है। न जाने कितनी स्वादिष्ट खाद्य-सामग्री उदरस्थ कर गया हूँ, फिर भी स्वादिष्ट भोजन की सुगन्ध और उसके दर्शन मात्र द्वारा रसना चंचल हो जाती है। स्वर्गीय बालाओं, कमनीय कामिनियों, गन्धर्वों, सभी का सरस संगीत श्रवण कर चुका हूँ, किन्तु संगीत लहरियों की साधारण थिरकन में श्रवणेन्द्रियाँ आकर्षित हो जाती हैं। कितनी ही यौवनोन्मत्त युवतियों का स्पर्श-सुख प्राप्त कर चुका हूँ। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि स्पर्श-सुख-सागर के तट पर आशा लगाए अतृप्त-सा खड़ा हूँ।'

काकभुशुण्डि के अधरों पर हलकी रेखा खिचकर बिलीन हो गई।

विद्याधर की विरागपूर्ण वाणी पुनः मुखरित हुई, 'विषयों की ओर, सुख के निमित्त दौड़ता रहा, किन्तु मिला दुःख। समय की गति और सुख की आकांक्षा के साथ तृष्णा बढ़ती गई। और उस तृष्णा में मैं भुनता गया। इन्द्रिय तथा विषयों का जब तक संयोग रहता है, तब तक सुख अनुभूत होता है और वियोग में दुर्दर्शन होने लगता है, दुःख का।

'इन्द्रियाँ कमल से भी कोमल प्रतिभासित होती हैं, परन्तु होती हैं पाषाण पर्वत से भी अधिक कठोर। महान् ऐश्वर्यशाली श्री-सम्पन्न तथा रात-दिन परिश्रम कर कंकाल-स्वरूप पेट न भरने वाले बुभुक्षा पीड़ित व्यक्ति के चिता-भस्मों में कुछ अन्तर प्रतीत नहीं होता। मैं जब इस प्रकार विचार-वीथियों में भ्रमण करने लगता हूँ, तब मन रो उठता है। ऊपर से देखने में मैं सुखी प्रतीत होता हूँ, किन्तु हृदय व्याकुल रहता है। कहीं शान्ति नहीं मिलती।'

'भगवन्!' विद्याधर ने गम्भीर मुद्रा से कहा, 'इस संसार में एक सेना है। इन्द्रियों के भोग उस सेना के साथी हैं। इन्द्रियाँ रथ हैं। शृंखला तृष्णा है। नाना प्रकार के विषय घोड़े हैं। अहंकार, संकल्प, विकल्प,

धारण किया जाने वाला खड्ग हैं। अहंकार की क्रिया शस्त्रों का समूह है। मैं जानता हूँ कि इस सेना को जिसने नहीं जीता, उसने अपने जीवन में कुछ नहीं किया है। यह जानते हुए मैं कुछ नहीं कर पा रहा हूँ। महात्मन्! अनुग्रह कर बताइए कि, मैं किस प्रकार शान्ति प्राप्त कर सकूँगा ?'

'मित्र ! यहाँ कुछ दिन विश्राम करो।' काकभुशुण्डि ने गम्भीर नील गगन की ओर देखते हुए कहा।

:o: :o: :o:

कुछ काल आश्रम में निवास करने के पश्चात् काकभुशुण्डि ने एक दिन विद्याधर से कहा,

'यह संसार एक वृक्ष के समान है। सुमेरु जैसे उत्तुङ्ग पर्वत उस वृक्ष के पत्ते हैं। नक्षत्र कलियाँ हैं। ग्रह फूल हैं। जन्म एवं मृत्यु वृक्ष की लता है। सुख-दुःख फल हैं। अहंकार उस वृक्ष का बीज है। निरंहकार-अग्नि में जब अहंकार स्वरूप बीज भस्म होकर नष्ट हो जायगा, तब अहंकार की उत्पत्ति नहीं होगी।

'मूर्तिकार पाषाण-खण्ड द्वारा मूर्ति निर्माण करता है। जिस प्रकार वह मूर्ति कलाकार की कल्पना है, उसी प्रकार शिल्पीमन विश्व-मूर्ति की कल्पना करता है। भित्ति पर की चित्रकारी जिस तरह चित्रकार के कल्पना की जीवीत साकार प्रतिमा है, उसी प्रकार शून्य आकाश में चित्त ने विश्व-मूर्ति कल्पित की है। सुवर्ण द्वारा निर्मित आभूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं है, किन्तु अज्ञानी उसे सुवर्ण नाम-रूप से भिन्न समझकर, उसका भिन्न-भिन्न नामकरण करता है। उसी प्रकार आत्मा से भिन्न विश्व नहीं है। अज्ञान एवं भ्रम से विश्व का अस्तित्व अपने से भिन्न प्रतीत होता है। स्थावर एवं जंगम जगत् का मूल स्रोत आत्मा है। आत्मा द्वारा वह उदय हुआ है। आत्मा में स्थित रहता है। आत्मा में उसका अन्त हो जाता है।

'विद्याधर ! तुम जानते सब कुछ हो। तुम्हें ज्ञान है। तपस्या द्वारा तुमने कर्म का त्याग किया है, किन्तु वासना का त्याग तुम नहीं कर सके। मन से वासना दूर न हो सकी 'तुम्हारा त्याग केवल बाह्य त्याग है। आन्तरिक त्याग के बिना बाह्य त्याग केवल पाखण्ड मात्र है। शरीर का

रोग ऊपरी उपचार से समूल नहीं नष्ट होता है। अन्तर की शुद्धि से वास्तविक शुद्धि होती है। अन्तर के औषधि-सेवन से ही रोग समूल नष्ट होता है।

'बाह्य त्याग केवल लोक को धोखा देने के लिए है। तुमने समझा था कि दुनिया तुम्हें महात्मा एवं त्यागी समझेगी। तुमने त्याग किया था दिखाने के लिए। यह तुमने नहीं सोचा कि इस त्याग द्वारा तुमने दुनिया को नहीं, बल्कि अपनी आत्मा को धोखा दिया है। अभ्यासरत होकर तुम्हें अन्तःकरण की शुद्धि की ओर ध्यान देना होगा। उस शुद्धता की तुम्हें आवश्यकता है, जिसके द्वारा हृदय शुद्ध होकर तुम्हारे अन्तःकरण की शुभ्र ज्योति देदीप्यमान हो उठे।'

विद्याधर अवाक्-तुल्य काकभुशुण्डि का उद्वेगरहित शान्त मुखमण्डल देखता रह गया। महर्षि ने पुनः कहा,

'जो लोग यह सोचते हैं कि मुक्त होंगे। ईश्वर उन्हें मुक्त करेगा। वे कदाचित् मुक्त नहीं होते। मुक्ति अपने परिश्रम एवं त्याग से प्राप्त होती है। आत्मानन्द अपने पुरुषार्थ द्वारा मिलता है। वह अमृत नहीं है, जो पिलाया जायगा। वह बाजीकरण औषधि नहीं है, जिससे शक्ति उत्पन्न होगी। वह है आत्मानुभव। वह अनुभव एवं तृप्ति ज्ञान द्वारा होती है।'

'भगवन्! अज्ञान क्या है?'

'आत्मा में देश, काल, समयादि का प्रतिभासित होना, अज्ञान है।'

'अज्ञान का अभाव कैसे होगा?'

'पुरुषार्थ से, उसका नाश करो विद्याधर!'

'किस प्रकार महात्मन्?'

'उपाय अत्यन्त सरल है—अज्ञान का नाश! अपने समय का द्वितीयांश शास्त्राध्ययन एवं सत्संग, चतुर्थांश शास्त्रविचार एवं शेष चतुर्थांश आत्म-चिन्तन में लगाओगे, तो अशब्द एवं अरूप पद की प्राप्ति होगी।'

'अशब्द पद क्या है?'

'ज्ञानियों का सत्संग, शान्त निर्विकार जनों का आदर एवं अनुकरण अज्ञान का अर्धांश नष्ट करता है। चतुर्थांश मनन एवं विचार द्वरा नष्ट होता है, शेष चतुर्थांश अभ्यास द्वारा नष्ट होता है।'

'यदि मैं इसे न कर सकूँ तो ?'

'ऐसी अवस्था में जिस वस्तु की अभिलाषा उत्पन्न हो उसी का त्याग करो। अज्ञान का चतुर्थांश इस प्रकार नष्ट होगा। शेष चतुर्थांश भाग शास्त्रविचार, यत्न एवं अभ्यास द्वारा स्वतः शनैः-शनैः नष्ट हो जायगा।'

'और कोई सरल उपाय भगवन् !'

'सत्संग, सत् शास्त्र-विचार, दृढ़ अभ्यास, यदि तीनों एक साथ मिल जायँ, तो अज्ञान एक साथ नष्ट हो जाता है।'

'महात्मन् ! पुनः कहिएगा ?'

'क्यों न कहूँगा विद्याधर! एक अंश अनुकरण अभ्यास के द्वारा दूसरे अंशों के हेतु भूमिका तथा क्षेत्र सज्जित करता है। साधन स्वयं एकांश का द्वार पारकर द्वितीयांश में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरे अंशों को क्रमशः पार करते हुए ज्ञान प्राप्त किया जाता है।'

'विद्याधर—!' ऋषि ने आकाश की ओर देखते हुए कहा, 'यह जगत् संकल्पमात्र है। मन के स्फुरण का रूप है। स्फुरण के नष्ट होने पर जगत् स्वयं नष्ट हो जाता है।'

'मित्रवर !' ऋषि ने विद्याधर को सम्बोधन कर, कहना आरम्भ किया, 'आत्म-स्वरूप पर्वत पर आकाश वन है। उस वन में संसार-वृक्ष लगा है। वृक्ष का रस वासना है। अज्ञान-भूमि पर वृक्ष उगा है। नदियाँ एवं समुद्र उसकी शिराएँ हैं। सूर्य एवं चन्द्र वृक्ष के पुष्प हैं। सुख-दुःख वृक्ष के फल हैं। जन्म-मृत्यु परिखाएँ हैं। परिखाओं में अनात्म-रूपी जल भरा है। वासना जल की तरंगे हैं। विश्व उस तरंग का बुलबुला है। शरीररूपी फेन जल पर तैरता रहता है।'

'सुनो !' ऋषि ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'अहंकार वायु चलती है। तरंगें उत्पन्न होती हैं। बुलबुलों का सृजन होता है। फेन प्रकट होता है। वायु की गति शान्त होती है। फेन, बुलबुले एवं तरंगों का लोप होकर केवल जल बच जाता है। केवल जल का आकार दृष्टिगोचर होता है। फेन, बुल-बुले, तरंगे अपने जलरूप में स्थित हो जाती हैं। इस अहं का नाम अज्ञान है। फेन, बुलबुलों एवं तरंगों का अपना कोई निजी अस्तित्व नहीं है। वे केवल जल के परिणाम हैं। अहं के नष्ट होने से अज्ञान नष्ट होता है।'

'विद्याधर !' मुनि ने आदेश के स्वर से कहा, 'संकल्प, वासना, अहं, मोह, तृष्णा, राग, द्वेषादि असत्य विकारों का त्याग कर, केवल अपने वास्तविक सत्यस्वरूप के दर्शन पाने की चेष्टा करो। जब अपने स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर, उसमें लीन होगे तब तुम्हें प्राप्त होगी शान्ति। शास्त्रों को केवल तोते की तरह रट लेने, उनके केवल अध्ययन कर लेने से कुछ नहीं होगा। जब तक उनके निर्धारित मार्गों एवं उपायों का अनुसरण न करोगे तब तक चार युग नहीं, महाप्रलय पर्यन्त तुम्हें शान्ति नहीं प्राप्त होगी।'

'भगवन् ! मैंने आज कुछ समझा है।' श्रद्धापूर्वक विद्याधर ने मुनि का चरण-स्पर्श कर पूजन किया। आत्म-तत्त्व दर्शन के निमित्त उसकी चित्त-वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : ५–१६

नोट—श्री वसिष्ठ जी ने यह कथा श्रीराम को सुनाते हुए कहा था कि उस घटना को हुए उस समय से ११ कल्प बीत चुके हैं।

इन्द्र

एक समय कल्पवृक्ष की एक शाखा में गूलर का एक फल लगा था। सुर-असुरादि प्राणी उसमें कीटाणुओं के समान निवास करते भुनभुना रहे थे।

स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल लोक उस फल के कपाट थे। विशाल फल वासना-रस-पूर्ण था। विविध अनुभव उस फल के सौरभ थे। चित्त उसका मधुर स्वाद था। ब्रह्म-रूप विशाल उस वृक्ष में सूक्ष्म जगत् सत्तास्वरूप फल विद्यमान था।

अहंकार फल का वृन्त था। चैतन्य प्रकाश द्वारा वह प्रकाशित था। ज्ञान उसका विकसित मुख था। सागर एवं नदियाँ शिराएँ थीं। पंचतन्मात्राएँ उसका घेरा था। विस्तृत, नीहारा-विन्दु एवं तारे फल के अंग थे। उस वृक्ष पर अनेक काक, कोकिलादि निवास करते थे। वह फल महाकल्प के अन्त में पक कर गिर पड़ता है। वह जब नष्ट होता है, तब ब्रह्ममय हो जाता है। सुर-असुरादि कीटाणु-पूर्ण, उस फल में त्रिभुवन-पति देवराज इन्द्र रहते थे। उनका अविद्या-आवरण दूर हो चुका था।

नारायणादि एक समय स्वर्गलोक से कहीं चले गये थे। असुरों ने सुर-सेना पर आक्रमण किया। इन्द्र पराजित हो गये। इन्द्र की पराजय से ही असुर संतुष्ट नहीं हुए! सुरों के प्रति उनकी हिंसा-भावना चरम सीमा पर, पहुँच गयी थी। इन्द्र चारों ओर भागने लगे। उन्हें कहीं शरण नहीं मिली। विफल-मनोरथ होकर वे अपने संविद्रूप त्रसरेणु में प्रवेश कर वहीं बैठ गए। राक्षस विफल-मनोरथ होकर, हताश हो गए।

त्रसरेणु में कुछ दिन निवास करने के पश्चात् इन्द्र को सुर-असुर-युद्ध की स्मृति भूल गई। उहें केवल अपना ज्ञान रह गया।

वह एक मन्दिर में बैठे थे। अपनी कल्पना द्वारा इन्द्र ने वहाँ अपना आवास बनाया। आवास के पश्चात् पुर बनाया। पुर के अनन्तर जनपद बनाया। जनपद-निर्माण के पश्चात् नदी, पर्वतादि-समन्वित देश बनाया। देश के पश्चात् महादेश बनाया। त्रैलोक्य बनाया। स्वयं इन्द्र होकर राज्य करने लगे। पूर्व वैभव, जिसकी उन्हें कल्पना थी, प्राप्त किया। उन्होंने बहुत समय राज्य किया। कालान्तर में इन्द्र को कुन्द नामक पुत्र-रत्न हुआ।

इन्द्र की मृत्यु के पश्चात् कुन्द और कुन्द के पश्चात् उसके पुत्र, और उसके पश्चात् उनके पुत्रों की परम्परा राज्य करने लगी।

उस वंश में सर्वगुण-सम्पन्न देवराज हुआ। जीवन-मरण की गति देख कर उसने विचार किया कि जीवन-मरण की परम्परा तोड़ी जाय। वह देव-गुरु बृहस्पति की सेवा में उपस्थित हुआ।

देव-गुरु बृहस्पति से उपदेश प्राप्त कर प्रसिद्ध विद्वान होकर, देवराज विस्पृह, निर्भय एवं वासना-हीन होकर राज्य करने लगा। उसने असुरों को परास्त किया। पश्चात् अत्यन्त समारोह एवं उत्साह के साथ सौ यज्ञ किये। तत्पश्चात् मृणाल-दण्ड के सूक्ष्म तत्व में जाकर वह निवास करने लगा। वहाँ निवास करते हुए उसने जय-पराजयादि अनेक घटनाओं का अनुभव किया। एक बार उसकी इच्छा हुई कि यथाविधि ध्यानासक्त होकर ब्रह्मतत्व का निरीक्षण करे।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्ध : सर्ग : १४
वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड : ४८ : १, सर्ग १,६,१४,१६,२५-२७,३०,४०
उत्तरकाण्ड : ३०
ऋग्वेद : १ : ३३ : १४
१ : ११
१ : ३३ : १५
१ : ८४ : १३
२ : १२
२ : १४
२ : १५ : ८
४ : १८ : १४
७ : १८ : १६
८ : १००
१० : ८६
पातंजलि गृह सूत्र : १७ : ६
पुराण :
वायु : १ : २३
२ : ३
१ : ६१ : २६-३२

वह एकान्त में ध्यान लगाकर परम ब्रह्म के निरीक्षण में तल्लीन हो गया। उसे प्रतीत हुआ कि अन्दर एवं बाहर, सब स्थानों तथा सब वस्तुओं में ब्रह्म का अवस्थान है। चारों ओर सहस्त्रों हाथ-पैर, असंख्य मस्तक, मुख, नख, नयन, एवं सब दिशाओं में उसकी असंख्य श्रवणेन्द्रियाँ हैं। वही सब स्थानों में व्याप्त है। इन्द्रियों द्वारा उसके रूप का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

भागवत : ११ : ४ : ७
६ : ६; ९,
१२ : ११ : १७;
८ : ६; १७;
६ : १८ : ७
१ : १८, १६;
१० : २५ : १९
लिंग : २ : ५१
मत्स्य : ४७ : ५५-५८; ४४; २४; २५; ७; ८;
पद्म सू० : २३
पद्म उ० : १५३; १६८; १५१; ३४; १८८;
भू० : ९१,
ब्रह्म : १२८; १८८;
८६
११
स्कन्द : १ : १, ८, २ : ७ : २३,
१ : १९, ९
९ : १ : १७; १९; ५१;
१ : १ : १५-२१;
गणेश पुराण : १ : ३४-४०
ब्रह्माण्ड : ३५ : ३३-३७
३ : १ : ८५
हरिवंश : २ : ६४; ७५;
महाभारत :
आदि पर्व : ३ : १३१
३ : १४६-१४९

बल्कि उसी के कारण सब इन्द्रियों में ग्रहण की शक्तियाँ विद्यमान हैं। वह कहीं आसक्त न था। फिर भी, वह सबको धारण किए हुए था। वह निर्गुण होते हुए भी, गुण भोक्ता था। चराचर के भीतर एवं बाहर वह अवस्थित था। अति सूक्ष्म होने के कारण उसे जाना नहीं जा सकता था। वह अत्यन्त दूर होते हुए भी निकट था। पृथ्वी के समान सर्वत्र स्थित होते हुए भी, सूर्य-चन्द्र के समान सर्वत्र वर्तमान था। पर्वत के समान वह सभी स्थानों में था।

आदिपर्व : ६५ : ११-१६
७५ : १०-११
२५ : ७-१७
१८ : ४०
२६
३१ : १०
३३ : १८
३४ : १-२०
४७ : ७-३१
५३ : १५-१७
६३ : ११६
६७ : १४४-१४५,
७१ : २१-२६
७८ : ४
८८ : १-५
१२२ : २६-३५
१२९ : ६
१९६ : ९-२६
२०६ : ३८
२१० : २७
२२६ : ९
२२७ : २३
२३३ : १०-१२

सभापर्व : ७
३८ : २९,

समुद्र के समान वह सब स्थानों में था। आकाश-रूप में भी वह सब स्थानों में था। सब स्थानों में जगत्-रूप किंवा संसार-रूप से वर्तमान था। सब स्थानों में वह रूप, आद्य चिद्रूप एवं सर्वस्वरूप में अवस्थित था। फिर भी वह उन सब में न था। अर्थात् यह सब उसमें न थे और न वह उन में था :

वन पर्व : ९ : ६—१६
३७ : ५८
४१ : ४३-४५
४४ : ८
४५ : २
६६ : ५५-५८
५५ : ६
५७ : ३५-३६
५८ : ११-१२
१०१ : १४-१५
१२४ : १७
१२५ : २-३
१२६ : ३
१३१ : २३-२४

द्रोण पर्व : ६२ ; ७-३१
१३५ : ४१-४२
१४२ : २४
१६६ : १३-१४
१७३ : ७२-७५
१९३
१९७ : २०
२२३ : १५
२२४ : २१-२२
२२७ : १७-१८
२२९ : २३, ४८
२८८ : ३
३१० : ४-२३

इस प्रकार वह सूक्ष्म परमाणु में ही विविध प्राणी-संकुल एवं विविध चेष्टा-संकुल स्वर्ग नरकादि-विशिष्ट जगत् का भ्रम देखने लगा।

इन्द्र जीव-भाव-विमुक्त हो गया। ब्रह्म का विशुद्ध ज्ञान द्वारा ध्यान करता हुआ, वह ध्यानावस्थित हो गया :

उद्योग पर्व : ९ : ९-५४
१० : ३२-४६
१३ : १९-२२
१६ : ३१-३४
१७ : ६
१८ : ७-९
१०४ : २८
द्रोण पर्व : ६२ : ७
९४ : ६४ : ६६
कर्ण पर्व : ३१ : ४२-४४
३३ : ३७-४०
८७ : ५७-७२
शल्य पर्व : ४३ : ४३-४५
४५ : ३५-३६
४६ : ४४-४५
४८ : २-५८
४९ : ३-४
५३ : ५-१५
शान्तिपर्व : ११ : ११-२६
२९ : १२०-१२१
८४ : २
९८ : ११-५०
१०३ : ४-५
२२४ : २८-६२
१७३ : ८-१३
१८०
२२२ : ९-३७
२२३ : ३-१४

उदार बुद्धि महात्मा इन्द्र ने ध्यान-बल द्वारा ब्रह्म का दर्शन किया। वह विचार करने लगा कि मैं अपनी सृष्टि में ध्यानावस्थित बैठा हूँ। मेरे चारों ओर मेरे संकल्पों की सृष्टि है। इस प्रकार विचार करता हुआ, यातायात लोक से होता, वह स्वर्गलोक भ्रमण करके, अन्त में इन्द्रलोक पहुँचा।

शान्तिपर्व : २२४ : २–४
२२५ : ५–३६
२२६ : ३
२२७ : १४–१९; ८६–११६
२२८ : १६–१८; ८९
२६६ : ४७–५१
२८१ : १३–२१
२८२ : ९–५६
३४२ : २३, ४२,
३५२ : ७–६
अनुशासनपर्व : ५ : १३–२८
१२ : २६–३१, ४२–४३
२७ : २७
२६ : २४–२५
३६ : ३
४१ : ७–२६
६२ : ५३
७२ : ६–१२
७४ : १
८३ : १३–१४
८६ : २५
९४ : ४७–४६
६६ : २२
१०२ : ७–६१
१०५ : ४८–५०, ५६
१५६ : १६–३१
१६० : ३३–३६

इन्द्र को देखकर उसने देखा कि, मैं स्वयं इन्द्र हूँ। अहंभाव संस्कार उद्-बोधित हुए और स्वयं ही वह इन्द्रभाव को प्राप्त हो गया। वह इन्द्रभाव को प्राप्त होकर बहु-घटना-शोभित त्रैलोक्य का राज्य करने लगा।

आश्वमेधिक पर्व : ५ : १८–२१
९ : १–५, ८
१० : २–३०
११ : १९
५५ : १८–१९, २२
५८ : ३२–३३, ३५
मौसल पर्व : ४ : २८
महाप्रस्थान पर्व ३ : १–२९
स्वर्गारोहण पर्व : २

झंकी

सूर्य की प्रखर किरणें पृथ्वी को भेद रही थीं। भयंकर मरुस्थल था। प्रत्येक कण अग्नि के अंगार-तुल्य प्रतीत होता था। क्षितिज तक हरित वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं था। कहीं इधर-उधर बिखरी-सी कँटीली झाड़ियाँ दिखाई पड़ जाती थीं। बहुत दूर पर किरातों का एक धुँधला ग्राम दिखाई पड़ रहा था। एक अत्यन्त श्रान्त पथिक धूप एवं भूख से व्याकुल था। मरुस्थल का अतिक्रमण करता हुआ वह ग्राम की ओर अग्रसर हो रहा था।

'ओह !' पथिक बोला, 'दुर्जनों के संग-तुल्य भयावनी गर्मी है। अन्तःकरण अग्नि-किरणों के क्रूर प्रहारों द्वारा दग्ध हो गया है। प्रचण्ड अग्नि मानो प्रज्वलित हो रही है। संसार कितना परस्पर विरोधी रूप धारण करता है ?

'आह ! इस पथ पर कोई महात्मा, कोई दयालु, शायद कभी गमनशील नहीं हुआ है। प्रतीत होता है, यहाँ की भयंकर अवस्था का किसी ने अनुभव नहीं किया है। कहीं प्राणियों का अस्तित्व नहीं है। कहीं शीतल छाया नहीं है। कहीं विश्रान्त स्थान नहीं है।

'भगवन् ! यह स्थान इसी का पात्र है। हमारे ऊपर यह दया नहीं करता। इसके ऊपर कौन दया करेगा ? यह दूसरों को भूनता है। जलाता है। कष्ट देता है। भला कौन इसे शीतल, सुरम्य और सुन्दर बनाना चाहेगा।'

पथिक पसीने से लथपथ हो गया था। जितना शीघ्र दिखाई पड़ते हुए गाँव में पहुँचना चाहता था, उसका मार्ग उतना ही दूर होता जाता था।

ग्राम की झलक समीप दिखाई पड़ते वह बोला, 'हे ! भगवान् ! ! तुमसे प्राण बचा लिए। एक बूंद जल मिल जायगा। कहीं शीतल छाया में बैठ कर, अपने जलते हृदय को, शरीर द्वारा निकलती चिनगारियों को, ठण्ढी कर सकूँगा। चल पद चल, जरा जल्दी चल। वहाँ तुम्हें शीतल जल से स्नान कराऊँगा तुम्हें शीतल करूँगा।'

'पथिक !' शान्त वाणी गूंजी।

पथिक की दृष्टि पड़ी एक कान्तिमान् शान्त व्यक्ति पर। उद्वेग के

चिन्हों का उसकी मुद्रा में अभाव था। मरुस्थल के भयंकर रूप और आतप द्वारा वह किंचित् मात्र भी कातर नहीं हुआ था। पथिक ने उसकी गम्भीर मुद्रा देखी। वह अचानक रुक गया। अपने पथ का पथिक साथी समझा।

'आओ यात्री !' पथिक बोला, 'समीप ही गाँव है। वहाँ तरु-छाया मिलेगी। जल होगा। मानव होंगे। शान्ति होगी। सुख मिलेगा। मित्र ! चलो वहीं चलें।'

किन्तु, आगन्तुक यात्री बोला, 'वह कुत्सिक गाँव किरातों का है।'

'ऊँह—इससे क्या ?'

'पथ के साथी ! उस गाँव में सुख न मिलेगा।'

'क्यों !' पथिक बोला, उसका उठता कदम हठात् उठते रुक गया। उसकी आश्चर्यपूर्ण दृष्टि यात्री के मुख पर स्थिर हो गई।

'पन्थी !' यात्री ने चलते हुए कहा, 'वह गाँव स्वयं जल रहा है।'

'एं—!' पथिक ने उचक कर गाँव की ओर देखा। पुनः तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा यात्री की ओर देखते हुए कहा,

'परिहास करते हो ? गाँव कहाँ जल रहा है ? न अग्नि-ज्वाला दिखाई पड़ती है और न धूआँ।'

'पंथी ! तुम नहीं देख रहे हो। मैं देख रहा हूँ।'

'वाह !' पथिक अपने नेत्रों को हाथों से मलकर गाँव की ओर ध्यान-पूर्वक देख कर बोला, 'यात्री ! तुम मुझे धोखा देना चाहते हो ?'

'मित्र ! मानव भला मानव को धोखा देगा ?'

'फिर—?'

'पंथी ! उस गाँव में भयंकर अग्नि लगी है।'

'तुम पागल हो।' पथिक ने चलते हुए उपेक्षापूर्वक कहा।

'मित्र ! तुम्हें दृष्टि-भ्रम हो गया है।'

'अरे !' यात्री के आत्म-विश्वास एवं दृढ़ भावना को देखकर, पथिक को अपने ऊपर पुनः सन्देह होने लगा। पथिक ने ध्यानपूर्वक गाँव की ओर देख कर कहा,

'आश्चर्य ! मैं धुआँ तक नहीं देख रहा हूँ। तुम कहते हो गाँव जल रहा है।'

'हाँ पंथी ! गाँव तृष्णा की भयंकर अग्नि से जल रहा है। वहाँ जाने पर तुम्हें सुख न मिलेगा।'

'क्यों ?' पथिक ने विचलित होते हुए यात्री के शांत मुख की ओर देखते हुए पूछा।

'जहाँ सुख नहीं, वहाँ हमें क्या सुख मिलेगा ? जिनके पास स्वयं सुख नहीं, वे हमें क्या सुख देंगे ? उनके पास शान्ति, शीतलता एवं आश्रय नहीं है। हमें शान्ति कैसे मिलेगी ? सुख कैसे प्राप्त होगा ?'

'जल, छाया, आश्रय—।'

'जल इस भीषण गर्मी में कुछ समय पश्चात् सूख जायगा। इस गाँव के पश्चात् पुनः किसी गाँव की हमें अपेक्षा होगी। क्षणिक छाया के पश्चात् पुनः सूर्य की प्रखर किरणों का आश्रय लेना होगा। एक आश्रय से निकलने पर दूसरे आश्रय की चिन्ता में मन व्याकुल हो उठेगा। क्या इसी का नाम शांति, छाया, आश्रय है ?'

'ऊँह !'

'मित्र ! काम-क्रोधादि के वशवर्ती इन पामर ग्रामवासियों के आवास में भला कहाँ सुख होगा ?'

पथिक ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

'पथिक ! अन्धकारपूर्ण सर्पों से पूर्ण गिरिगह्वर में, कीट की तरह पाषाण में, भयंकर मरुभूमि में पंगु कुरंगों के समान रहना, उन अज्ञानी ग्रामवासियों के संग रहने से अच्छा है।'

'महात्मन् !' पथिक अचानक यात्री की ओर घूमकर देखते हुए बोला, 'आपके वचनों में शांति है। दिव्य कांति आपके पवित्र शरीर द्वारा प्रस्फुटित हो रही है। सुन्दर वस्तु देखकर राग उत्पन्न होता है, किन्तु आपकी सुन्दरता द्वारा मुझे शान्ति मिल रही है। आपकी कान्ति में शान्ति है। मृत्यु-सदृश इस आतप में, इस घोर मरुस्थल में, प्रकृति के इस भयंकर रूप में, आप की शान्ति, आप के हृदयस्थल की शीतलता, आप के साथ मार्ग चलना, मुझमें स्वयं शीतलता उत्पन्न कर रहे हैं।'

यात्री की मुद्रा शान्त थी।

'महात्मन् ! मुझ अकिंचन का नाम मंकी है। मैं मांडव्य ऋषिवंशीय हूँ।'

'मुझे लोग वसिष्ठ कहते हैं मित्र।'

वसिष्ठ का नाम सुनते ही पथिक विस्मयापन्न हो गया। खड़ा हो गया। दण्डवत किया। उनकी यथाविधि पूजा की। बद्ध प्रांजलि प्रणाम कर पथिक ने कहा, 'पूर्व जन्म के भाग्योदय के कारण आपका पवित्र दर्शन पाकर आज मैं कृतार्थ हुआ हूँ। ऋषि-शार्दूल, मेरे अपराधों को क्षमा कीजिएगा।'

'नहीं मित्र ! नहीं ! !' वशिष्ठ ने प्रेम से कहा।

'मरुस्थल में आप के शुभ आगमन की कथा क्या मैं जान सकूँगा ?'

'कोशलाधिपति महाराज अज के यहाँ कुछ प्रयोजन है। वहीं जा रहा हूँ। आपने किस ओर प्रयाण किया है ?'

'तीर्थ-यात्रा के लिए निकला हूँ।'

'प्रयोजन ?'

'अनेक पवित्र स्थानों, तीर्थों में भ्रमण कर चुका हूँ। मुझे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं हो सकी है। घर में निवास करते-करते मन उचट गया है। कुछ सुख न मिला। घर से वैराग्य हो गया। विचार करता हूँ या तो शान्ति मिलेगी या मृत्यु। आवका शुभ दर्शन प्राप्त हुआ है। आशा उत्पन्न हो चली है कि शान्ति मिलेगी। मेरा कल्याण होगा।'

वसिष्ठ मुस्कुरा उठे।

'भगवन् ! मैंने त्रिदण्ड अर्थात् मनसा, वाचा, काया से तपस्या की है। यज्ञ किया है। शास्त्रों का अध्ययन किया है। कागज पर लिखे वेद का जैसे कागज को कुछ ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार न जाने मुझमें आत्म-प्रकाश क्यों नहीं प्रकाशित हुआ है ! सुख-दुःख मेरा पीछा नहीं छोड़ते। मैं व्याकुल हो गया हूँ।'

'विप्र !' वसिष्ठ ने कहा, 'संवेदन, भावना, वासना, एवं स्मृति अनर्थों की जड़ हैं। इनके नाश के पश्चात् परम, शान्ति प्राप्त होती है। शान्ति मानव-जीवन का परम लक्ष्य है।'

'संवेदन क्या है, गुरुवर !'

'अहंकार का उदय संवेदन है।'

'भावना ?'

'चित्त का वह संस्कार जो अनुभव तथा स्मृति द्वारा उत्पन्न होता है।'

'वासना ?'

'किसी वस्तु की दृढ़ प्राप्ति की भावना का नाम वासना है।'

'और स्मृति ?'

'पूर्वकाल का अनुभूत ध्यान स्मृति है।'

'स्फुरण क्या है ?'

'वसन्त ऋतु में वल्लरी फूलती है। पवन सुवासित होता है। ठीक उसी प्रकार अहंकार उत्पन्न होने पर संवेदन का स्फुरण होता है। जगत् का रूप प्रकट होता है। जगत् का विकास होता है। संसार में अनेक प्रकार की मंजरियाँ, पुष्प एवं फल लगते हैं। उनने रूप एवं गुण के आकर्षण में हम सब कुछ भूल जाते हैं। संसरण करने से ही संसार का नाम संसार हुआ है। संसार गतिशील है। आवागमन की सुन्दर परम्परा है। निरन्तर एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाता रहता है। चंचल है। अतएव इसे संसार कहते हैं।

'संसार-वृक्ष वासना-जल द्वारा सिंचित होकर बढ़ता है। वासना जल द्वारा अभिवृष न होने पर वृक्ष स्वतः सूख जायगा। अहं के पश्चात् मन की भावना उत्पन्न होती है। अहंकार विनष्ट होने पर ममत्व स्वतः नष्ट हो जाता है। अहंकार का दूसरा नाम बन्धन है। अहं से छुटकारा का नाम है मोक्ष। अहं के नष्ट हो जाने पर, जो शेष रह जाता है वही आत्मा है।

'अहं द्वारा वासना का जाल फैलता है। उस वासना-जाल में जन्म-मृत्यु मानव की सहचरी बन जाती है। प्रकम्पित वायु में तृण-तुल्य वासना द्वारा मानव इधर-उधर भटकता फिरता है। पर्वत-शिखर पर फेंका कंकड़ स्वयं चोट खाता हुआ, इधर-उधर लुढ़कता, अधोगति प्राप्त करता है। ठीक उसी तरह अपने प्रमाद के कारण, जीव जन्म पाते चले जाते हैं। वे घटी यन्त्र के समान कभी ऊपर और कभी नीचे होते रहते हैं। वासना भिन्नता एवं अनैक्यता की जननी है। वासना के नाश होने पर भिन्नता एवं अनेकता का स्वतः नाश हो जाता है।'

'सुनो !' वसिष्ठ ने कहा, 'चैतन्य वृत्ति के संसरण के कारण संसार हुआ है। संसार के लोप होने पर स्वरूप का शुद्ध दर्शन होता है। चैतन्य, वृत्ति

बहिर्मुख स्फुरित होने पर बन्धन का कारण होती है। वासना से मुक्ति पाकर मानव शशि-तुल्य सुखद, शीतल, अमृतवत्, प्रसन्न एवं प्रकाशमान हो जाता है। मानव शरीर प्राप्त होने पर यदि मानव आत्मपद प्राप्त कर, परमानन्द उपभोग नहीं करता तो वह पशु तुल्य है। अमृतपान के पश्चात् कोई खली खाना पसन्द नहीं करता। आत्मानन्द के पश्चात् कोई विषय-वासना, तृष्णा एवं अहंकार के अधीन हो नहीं सकता।'

'पुत्र !' वशिष्ठ जी बोले, 'नेत्र-उन्मीलन अवस्था में संसार दिखाई पड़ता है और बन्द करने पर अदृश्य हो जाता है। नेत्रों का यह स्फुरण अहंकार है। आकाश की शून्यता जैसे आकाश है, पवन का स्पन्दन जैसे पवन है, जल की तरंगे जैसे जलमात्र हैं, उसी प्रकार जगत् संविद्मात्र है। संविद् से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब केवल भ्रम है। विश्व मिथ्या है। अपनी भावना की प्रतिमूर्ति है। अतएव विश्व के निमित्त शोक एवं हर्ष करना वृथा है।'

'मंकी !' वशिष्ठ ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'सबका अधिष्ठान आत्मा है। अतएव सब कुछ आत्म-स्वरूप है। दृश्य-रहित द्रष्टा, ज्ञेय रहित ज्ञाता, इच्छा रहित इच्छा, अद्वैत, नानात्व, निराकार, आकार, अकिंचन, किंचन, क्रिया-अक्रिया सब कुछ वही है। विश्व आत्मा का स्फुरण मात्र है। एतदर्थ मंकी ! आत्मा का दर्शन प्राप्त करो। आत्मा की संगति करो। आत्मपुर में निवास करो। आत्मस्थान में आश्रय ग्रहण करो। आत्मदेश में चल कर अपनी पिपासा शान्त करो। आत्मपुर में एकान्त, मुक्त विचरण करो। वहाँ चिर शान्ति है, चिर शीतलता है। चिर आनन्द है। चिर तृप्ति है। आओ पुत्र ! आत्मपुर में चलें, इस मानवीय कुत्सित, मलिन, वासना-तृष्णा-पूर्ण किरातपुर में जाकर क्या करोगे ?'

मरुस्थल का दृश्यवर्ती ग्राम स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। वशिष्ठ ने सस्मित कहा,

'पथिक ! मेरा मार्ग भिन्न है, मैं उसी से जाऊँगा।'

मंकी वशिष्ठ की वन्दना कर बोला, 'गुरो ! मैं भी आप ही का अनुसरण करूँगा।'

वसिष्ठ उस मार्ग द्वारा गमनशील हुए जो गाँव से दूर होता जाता था। मंकी शान्त खड़ा रहा। वशिष्ठ क्षितिज में लोप हो गए। किरातों के गाँव की ओर करबद्ध नमस्कार करते हुए मंकी बोला,

'ग्राम ! तुम्हें नमस्कार है। तीर्थ-यात्राओ ! तुम्हें नमस्कार है। आत्मदेव ! आज मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। चिर सखे ! आत्मदेव !! तुम हमारे साथी हो, आओ, साथ चलें।'

मंकी ग्राम का मार्ग त्याग कर दूसरी ओर चल पड़ा।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : २३ – २५ मंकी का उल्लेख पद्म पुराण ३. ६ : १४३ में आया है। उसे कौषीत का पुत्र कहा गया है। उसने साबरमती नदी पर तपस्या किया था। उस स्थान का नाम मंकी तीर्थ है। दूसरे एक द्रव्य लोभी मंकी का उल्लेख महाभारत शान्ति पर्व में मिलता है। उन्होंने कालान्तर में तपस्या किया। ब्रह्मत्व प्राप्त किया था। शान्ति पर्व १७७, ४–५४, उक्त दोनों मंकी योग-वासिष्ठ वर्णित मंकी से भिन्न प्रतीत होते हैं।

मन-मृग

इस चित्त-स्वरूप भूमि पर विवेक-कानन है। उस कानन की भूमि में वासना हल जोतती है। भूमि तैयार होती है। वैराग्य बीज बोता है। मन क्यारियाँ बनाता है। सत्संग सलिल उसे सींचता है। होता है बीज अंकुरित।

क्रिया का अनुभव-खेत निराता है। अंकुरों को आत्म-सूर्य जीवन दान देता है। रक्षा निमित्त खेत के चारों ओर धैर्य खावा बनाता है। खेत की रखवाली पति-पत्नी सन्तोष तथा मुदिता करते हैं। उन्हें भय रहता है। कहीं आशा पक्षी, बीज चुग न जाय। कहीं अभिलाषा-पशु, कोमल अंकुर चर न जाय।

दया अंकुर को नष्ट करने के लिए, घन तथा कामिनी तुषार सतत प्रयत्न करता रहता है। अंकुर में वैराग्य तथा विचार दो पल्लव पल्लवित होते हैं। अंकुर बढ़कर तरुवर होता है।

तरु पर राग-द्वेष-बन्दर कूदते हैं। उछलते हैं। झकझोरते हैं। शाखाओं को नष्ट करने का आनायास प्रयास करते हैं। वैराग्य, अभ्यास, सन्तोष, रस से तरु पुष्ट किया जाता है। उसकी शीतल छाया होती है शान्ति। उसमें शुद्धतापुष्प पुष्पित होता है। कोमलता-फल लगता है। उसमें कीर्ति-मंजरी सुरभित होती है।

यह वृक्ष समाधि-तुल्य स्थित होता है। उन्नत अवस्था प्राप्त करता है। उसकी छाया में चुपचाप मन-मृग आकर विश्राम करने लगता है। वृक्ष की शीतल छाया में मनमृग के ताप शीतल हो जाते हैं। मृग परम शान्ति प्राप्त करता है।

वह वृक्ष-ब्रह्म आकाश में वृद्धि प्राप्त करता जाता है। वैराग्य और सन्तोष छाल उसके पेड़ी तथा शाखा को पुष्ट करते हैं। मनमृग उसकी छाया में शान्ति निमित्त बैठता है। उसमें पवित्रता प्रवेश करने लगती है। शुद्धता उसके मलों को प्रक्षालित करती है। अज्ञान पौधा वृक्ष की शीतल छाया में उदास होकर मुरझा जाता है। इन्द्रियाँ निस्संग होकर कार्य करती हैं। आनन्द उसे फुलाता है। वह आत्मलीन हो जाता है।

मृग तरु की शीतल छाया के समीप आकर यदि भटक कर जंगल में भागता है तो द्वैत, अज्ञान, प्रमादादि वधिक आखेट निमित्त उसके पीछे लग जाते हैं। वह अपनी प्राण-रक्षा के निमित्त भागता है। क्रूर वधिक उसका पीछा करते हैं। प्राण-भय से दुःखित होकर वह इन्द्रिय-ग्राम में शरण लेता है। ग्रामवासी उसे पकड़ लेते हैं। वह ग्रामवासियों का आश्रित हो जाता है। उसकी स्वतंत्रता, उसकी जीवन-चेतना नष्ट होने लगती है। अकस्मात् ग्राम-वासियों से मुक्त होकर वह कानन में पुनः पहुँचता है। वहाँ अप्राप्त विषयों के ताप द्वारा दीन हो जाता है।

मृग ताप से, तृष्णा से, व्याकुल होकर शीतल जल-स्थानों के आश्रय निमित्त विचरण करने लगता है। उसके पीछे काम-स्वरूप श्वान पड़कर भूकने लगते हैं। श्वानों से त्राण पाने के लिए वह वैराग्य-कानन में भागकर आता है। वहाँ उसे क्रोधाग्नि दग्ध करने लगती है। वासना-मच्छर काटने लगते हैं। वह अपनी दीनावस्था पर रोता है। मोह तथा लोभ अन्धकार में स्वयं अन्धों-तुल्य प्रकाश निमित्त, थका-मादा बैठ जाता है।

शरीर की शक्ति निमित्त, क्षुधा की तृप्ति निमित्त, दीन मृग शरीर भार की गठरी उठाते उठता है। हरित तृणों का रूप उसे आकर्षित करता है। रूप से आकर्षित मृग उत्साह से चलता है। सुन्दर रूप-सम्पन्न तृणाच्छादित ममता-गर्त में गिर जाता है। पुत्र, कलत्र, धनादि-स्वरूप हरित कोमल तृणों के मोह में फँस जाता है। मन-सिंह पाँव दबाए आता है। उस पर टूट पड़ता है। उसे अपना ग्रास बना लेता है।

कदाचित् सिंह से अपनी रक्षा करने में मृग सफल होकर उठता है, तो आशा-शृंखला में बँध जाता है। वह तमालादि कंटकाकीर्ण तरुओं के आश्रय में अपना दुःख भूलने के लिए जाता है। सुख-शान्ति की कामना करता है। परन्तु उसे वहाँ न तो सुख मिलता है और न शान्ति। वह आकुल होकर पुनः विचार करने लगता है। उसे स्मरण हो जाती है, पूर्व वृक्ष की शीतल शान्त छाया। जहाँ से वह भाग आया था। जहाँ से भटककर दूसरी ओर चला गया था। पूर्व वृक्ष की ओर उसके पद विश्राम निमित्त, शान्ति निमित्त और आनन्द निमित्त उठने लगते हैं।

पुन: समाधि-बृक्ष की छाया में उसके ताप मिटने लगते हैं। बुद्धि विमल हो जाती है। हृदय-कमल खिलने लगता है। वह वृक्ष के अनुभव फल, शास्त्र-पल्लव तथा विचार-पुष्प को देखकर आनन्द-विभोर हो जाता है। उसे इस पृथ्वी से विरक्ति हो जाती है। वह अपने जीवन की पुरानी केंचुल उतार कर नवीन ग्रहण करता है।

वह समाधि-वृक्ष पर चढ़ने का प्रयास करता है। वह समाधि-तरु पर चढ़ जाता है। वह वृक्ष से उतरता है। उसकी ज्ञान-दृष्टि खुली रहती है। उसे ज्ञान हो जाता है, अपने पूर्वकालीन जीवन का, मिथ्या धारणा का, संसार की निस्सारता की ओर वास्तविक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का। मद्यप नशा उतरने पर अपने पूर्वकालिक क्रियाओं के लिए पश्चात्ताप करने लगता है। उसी प्रकार वह भी पश्चात्ताप करने लगता है, नाहक जंगलों में भटकता रहा!

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : ४४–४५

विवेक

गुहा भयंकर थी। अन्धकारपूर्ण थी। उसमें प्रकाश धीरे-धीरे प्रवेश करने लगा। अन्धकार क्षुब्ध हो गया। वह एकच्छत्र अधिकार त्यागना नहीं चाहता था। प्रकाश-रश्मियाँ शशैः-शनैः गुफा में फैलने लगीं। अन्धकार अपनी अस्तित्व-रक्षा निमित्त व्याकुल हो गया। उसने किसी कोने में आश्रय लेना चाहा। किंतु प्रकाश के विपुल प्रसार के सम्मुख कहीं टिक नहीं सका। बाध्य हो गया। गुफा से भाग निकला।

गुफा प्रकाश द्वारा ज्योतिर्मय हो गई। एक आगन्तुक आ रहा था। वह निर्मल था। शुद्ध था। शान्त था। गम्भीर था। गुफा में ध्वनि प्रतिध्वनित हुई।

'आगन्तुक ! प्रकाश के साथ शुभागमन, धन्यवाद।'

'आपका यह बन्धन ?'

'मित्र ! अपनी कहानी पुनः कहूँगा। क्या मैं शुभ परिचय पाने का अधिकारी हूँ ?'

'बन्धु ! मुझे 'विवेक' कहते हैं। मैं भी आपके परिचय का अभिलाषी हूँ।'

'ओह ! मेरा नाम। मुझे लोग 'जीव' कहते हैं।'

'मित्र ! तुम्हारा इतना सुन्दर रूप और यह मलिनता ?'

'विवेक ! वासना ने मुझे मलिन कर दिया है।'

'तुम निर्मल क्यों नहीं होते ?'

'किस प्रकार—!'

'स्नान के द्वारा—!'

'किस प्रकार स्नान करूँ बन्धु ?'

'क्यों—?' विवेक ने साश्चर्य पूछा।

'देखते नहीं, चित्त ने मुझे बाँध रक्खा है। मेरी स्वाधीनता लुप्त हो गई है। शत्रु ने सर्वस्व अपहरण कर लिया है। मुझे भिखारी बना दिया है। बहुत दिनों से मैं इस तिमिराच्छन्न गुफा में पड़ा हूँ।'

'मुक्त क्यों नहीं होते ?'

'चित्त ने बाँध रखा है। इतनी शक्ति कहाँ शेष रह गई है बन्धु ?'

'मेरी सहायता लोगे ?'

'तुम मेरे वास्तविक मित्र हो, विवेक !'

'आओ ! मैं तुम्हारा बन्धन खोल दूँ। चित्त ने कठिन चिन्ता बन्धन लगा दिया है ?'

'बन्धु ! बन्धन ने मुझे जीवित ही भस्म कर दिया है। मैं जीता हुआ भी मरा हूँ। शरीर पर बन्धन के काले-काले धब्बे पड़ गये हैं।'

'जीव !' विवेक ने बन्धन खोलते हुए कहा, 'मुक्त होने पर कहाँ जाओगे ?'

'जहाँ तुम कहोगे।'

'मैं--?'

'हाँ --'

जीव चुप था। उठकर खड़ा हो गया। विवेक जगच्चिन्तन की चिन्ता-रज्जु व्यवस्थित करने लगा।

'मित्र !' जीव ने अनुगृहीत स्वर में कहा, 'तुम्हारा अनुग्रह कभी भूल नहीं सकूँगा।'

विवेक ने जीव के कण्ठ में करमाल डालते हुए स्नेहपूर्ण स्वर से कहा,

'गुफा के अन्धकार को सर्वदा के लिए नमस्कार कर चलो चलें।'

वे गुफा केबाहर आए। शीतल, शुद्ध, स्वास्थ्यप्रद सुखद वायु-स्पर्श प्राप्त कर जीव जीवनमय हो गया। शून्य जगत् की ओर उसकी दृष्टि गई। उसने निःश्वास परित्याग करते हुए कहा,

'विवेक ! सुहावना वायुमण्डल, प्रकृति की सुषमा देखकर, अपने मलिन रूप पर मुझे लज्जा आती है। वासना की मलिनता ने मेरा वास्तविक रूप बिगाड़ दिया था।'

'आओ ! पवित्र सरिता में स्नान करें।'

जीव ने स्वच्छ पवित्र विरक्ति-सरिता में पूर्ण स्नान किया। मलिनता दूर हो गई। शुद्ध रूप निखर आया। शुद्धता पर स्वयं प्रसन्न होता हुआ वह बोला,

'मित्र ! क्या मेरा वही पूर्वरूप है ?'

'नहीं जीव ! तुम्हें पहचानना कठिन होगा। तुम्हारा शुद्ध स्वरूप कितना निर्मल है, कान्तिपूर्ण है, सुन्दर है, दिव्य है, देखते बनता है !'

विवेक एवं जीव स्नानान्तर तट पर पहुँचे। स्वर्गीय संगीत की ध्वनि सुन पड़ी।

'विवेक ! संगीत कैसा ?'

'सुनोगे ?'

'हाँ'

'चलो--'

विवक एवं जीव ने सरिता-तट पर सामगान तल्लीन तपस्वियों को देखा।

'जीव ! यह है स्वर्गीय संगीत। सुनने की इच्छा हो तो बैठ जायँ।'

'विवेक ! यह नयी दुनिया है। नया जीवन है।' दोनों साम-गान सुनने लगे। कुछ समय पश्चात् विवेक ने कहा,

'मित्र ! अब मैं जाता हूँ।'

'कहाँ--?'

'वहीं--जहाँ से आया था।'

'क्यों !'

,मेरा कार्य पूरा हो गया।'

'मैं भी साथ चलूँगा !'

'तुम--!'

'हाँ' जहाँ तुम चलोगे, मैं भी वहीं चलूंगा। जहाँ तुम रहोगे, वही मैं भी रहूँगा। तुम्हारा निवास-स्थान सुन्दर, पवित्र, उत्तम एवं शुद्ध होगा।'

'नहीं, यहीं रहो।' विवेक ने मुसकराकर कहा।

'नहीं।'

'अच्छा चलो।'

:o: :o: :o:

'यह क्या है ?'

'सागर--'

'भयंकर है।'

'भँवरें रौद्र हैं ?'

'जैसे मृत्यु।'

'तरंगे सुन्दर लगती हैं--'

'तृष्णा की तरह—।'

'जल उत्तम है ?'

'जैसे अज्ञान।'

'यहाँ के प्राणी कितने आनन्दपूर्वक विचरण करते हैं ?'

'जैसे इन्द्रियाँ हैं।' जीव ने घृणापूर्वक कहा।

'पार उतरना है ?'

'सागर मृत्यु-स्वरूप है विवेक! इय भयंकर जलराशि को कैसे पार करूँगा ?'

'वह देखो! नौका—'

'किसकी है—'

'मेरी—'

'ओह--'

'चलोगे ?'

'हाँ '

'भयभीत तो न होगे ?'

'नही।'

'क्यों—?'

'तुम जो साथ हो।'

दोनों नौका पर बैठ गए। नौका लहरों पर खेलती चल पड़ी।

'हम कहाँ आ गये ?'

'अपने देश में।'

'कितना आनत्द है'।—आनन्द से जीव की पलकें मिल गई।

विवेक नाव खेते हुए चला जा रहा था।'

'कहाँ चल रहे हो विवेक ?'

'उसी के पास जिसने मुझे भेजा था।'

'किसने भेजा था—?' जीव आश्चर्य चकित बोला।

'परमात्मा ने।'

'क्यों ?'

'तुम्हें बन्धन-मुक्त करने के लिए।'

'ओह—!' जीव गम्भीर हो गया।

विवेक के अधरों पर मुस्कान थी। वे तट पर पहुँचे। नाव से उतरे। कुछ काल चलते रहे। जीव खड़ा हो गया। विवेक चलता रहा। उसने फिरकर नहीं देखा। जीव ने विवेक को जाते देखा। मित्र-वियोग हो रहा था। जीव कुछ कह न सका। आत्म-देश में निर्विकार, स्थिर खड़ा रहा। दृष्टि अन्तर्मुख हो गई। आत्म-दर्शन हुआ। आत्मदेश में आत्म-दर्शन द्वारा वह आनन्दमय हो उठा। उसने देखा, आत्मा शान्त है। उसने आत्मा से पूछा,

'आत्मन् ! विवेक कहाँ गया ?'

'जीव !' अन्तर्ध्वनि हुई। 'तुमने अन्तर्मुख होकर मुझे देखना चाहा था। विवेक मेरा दूत था। वह मेरे पास आ गया। उसका ध्यान त्याग दो।'

जीव ने आत्मदेव को प्रणाम किया। उसके चारों ओर आनन्द था। वह कह उठा,

'ओह—! ओह ! ! परमात्मा—मैं--आत्मा ! ! ! आनन्दस्वरूप—मैं स्वयं ?'

जीव जीव नहीं रह गया था।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : ४८-५०

पाषाण

आकाश मार्ग द्वारा महर्षि वसिष्ठ कहीं एकान्त समाधि लगाने चले। वे देवताओं के एक पर्वत पर पहुँचे। मन्द-मन्द मनोरम समीरण बह रहा था। देवाँगनाओं के पवित्र कर्णप्रिय संगीत से वायुमण्डल परिपूर्ण था। चामर-धारिणी कमनीय बालाएँ देवों के मस्तक पर चमर डुला रहीं थीं। इन्द्रियों का विषय विलास था। महात्मा वसिष्ठ को स्थान रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। वे आगे बढ़े।

फल-पुष्प पूर्ण एक मनोहर वन था। उस वन में हरित शृंग शिखर था। शिखर पर पुष्पित द्रुमाच्छादित एक गुहा थी। शीतल पवन गुहा का संरक्षक था। मरुत वहाँ निवास करता था। विहंगमों का कलरव था। शांति की सुन्दर प्रतिमा वहाँ न थी। ऋषिवर आगे बढ़े।

सुन्दर नाग-कन्याएँ थीं। यौवन के अल्हड़पन के साथ घूम रही थीं। इन्द्रिय-विषय-प्रसाधनों द्वारा देश पूर्ण था। इन्द्रिय सुख निमित्त मिथ्या स्वर्ग-तुल्य था। इन्द्रिय सुख सर्व थे। मुनिवर वसिष्ठ को स्थान एकान्त प्रतीत न हुआ। वे आगे बढ़े।

दशों दिशाएँ एकान्त निमित्त अन्वेषण करने के पश्चात् वशिष्ठ शिथिल हो गए। ऋषि को कहीं एकान्त न मिल सका। अनन्तर वह पुनः गगन-गामी हुए। पवन, भैरव, विद्याधर, सिद्ध आदि कितने ही लोगों के स्थानों को देखते हुए वे बढ़ रहे थे। उनको भूतों के कितने ही ब्रह्माण्ड, पक्षियों के समान आकाश में चलते-फिरते दिखाई दिए। उन ब्रह्माण्डों में वसिष्ठ ने नाना प्रकार के स्थानों को देखा। गरुड़-स्थान को पारकर देखा। कहीं सूर्य का प्रकाश था और कहीं नहीं भी था। चन्द्रमण्डल को पारकर अग्नि-स्थान में पहुँचे। अग्नि स्थान को पारकर महाकाश में पहुँचे। वहाँ इन्द्रियगम्य पदार्थ नहीं थे। वहाँ पृथ्वी, जल, वायु, तेज सबका अभाव था। केवल सीमाहीन अनन्त आकाश था।

उस महाकाश में वसिष्ठ ने अपने संकल्पों द्वारा एक कुटी का निर्माण किया। वे पद्मासन लगाकर बैठ गये। एक वर्ष की समाधि का संकल्प लिया। अपने संकल्प के कारण एक वर्ष के पश्चात् वसिष्ठ की समाधि खुली।

आकाश में श्रवणगत हुआ मधुर संगीत। संगीत-लहरियों के प्रसार से आकाश भर उठा। शब्द-ध्वनि की ओर उन्होंने कान लगाये। स्वर-लहरियाँ शब्द-ध्वनि के साथ प्रसृत हो रही थीं। किन्तु गायक अदृश्य था। गान का उद्गम स्थान जानने की जिज्ञासा हुई। आकाश का गुण शब्द है। वशिष्ठ ने विचार किया, आकाश रूप हो जाने पर उद्गम स्थान तथा चिदाकाश होने पर समस्त ब्रह्माण्ड का पता स्वतः लग जायगा।

:o: :o: :o:

वसिष्ठ पद्मासन लगाकर बैठ गए। कर्मेन्द्रियों का निरोध किया। अनन्तर ज्ञानेन्द्रियों का निरोध किया। अभ्यान्तरिक एवं वाह्य इन्द्रियों का पूर्ण निरोध कर अहंवृत्ति का त्याग किया। अहंवृत्ति का त्याग करते ही वे आकाशवत् हो गए। आकाश को त्याग कर बुद्धि-आकाश में प्रवेश किया। बुद्धि-आकाश को भी त्याग कर चिदाकाश हो गए।

चिदाकाश-स्वरूप होते ही उनको अनन्त सृष्टियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। एक सृष्टि आवरणहीन थी। कहीं एक ही भूत अर्थात् तत्व का आवरण था। कहीं दो, कहीं तीन, कहीं चार तत्वों का आवरण था। और कहीं पांचों तत्वों का आवरण था। कहीं छः, कहीं सात, कहीं आठ, कहीं नव और कहीं-कहीं सोलह आवरणों की सृष्टियाँ दिखाई पड़ी।

कुछ सृष्टियों में सूर्य एवं चन्द्रमा नहीं थे। कुछ में पूर्ण अन्धकार था। कुछ में केवल प्रकाश था। कुछ केवल एक रूप में थी। कुछ में काल का ज्ञान नहीं था। कहीं केवल देवता रहते थे। कहीं केवल मानव थे। कहीं केवल राक्षस थे। कहीं केवल तिर्यक् थे। कहीं केवल दैत्य थे। कहीं केवल शून्य था। कहीं प्रलय हो रहा था। कहीं उत्पत्ति हो रही थी। कहीं कृमि थे। कहीं बाल्य, यौवन, वृद्धावस्था की मर्यादा नहीं थी। कहीं केवल जल था। कहीं शास्त्रों का विपर्यय था।

इन सृष्टियों को देखते हुए महात्मा वसिष्ठ संगीत-स्रोत की ओर अग्रसर हुए। पहले केवल शब्द सुनाई पड़ रहा था। शब्द का अर्थ ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् महात्मा वसिष्ठ की समझ में बातें आने लगीं। वसिष्ठ ने

ध्यानपूर्वक स्रोत-मूल पर पहुँचकर देखा। एक सर्वांग सुन्दरी विद्याधरी अपनी संगीत-माधुरी मधुर कण्ठ द्वारा फैला रही थी।

वसिष्ठ को देखकर विद्याधरी उनके समीप आ गई।

'उत्तम-अर्थी महात्मन् !' विद्याधरी बोली, 'प्रणाम ! ! आप वसिष्ठ हैं ! ! ! आपको पहचानती हूँ। आप संसार-सागर पार कर चुके हैं। आप हमारे पूज्य हैं।'

वशिष्ठ की गम्भीर मुद्रा में आश्चर्य का समावेश हुआ। उस सुन्दरी विद्याधरी कों जीवन में कभी देखा नहीं था। उसके जानने का कभी प्रयोजन उत्पन्न नहीं हुआ था।

'देवी !' वसिष्ठ बोले, 'आप का परिचय ? आपका आगमन कहाँ से हुआ है ? आपका क्या प्रयोजन है ? क्या मैं जान सकता हूँ ?'

'मुनीश्वर !' विद्याधरी बोली, 'ब्रह्माकाश के अणु के परमाणु के छिद्र में भी जो छिद्र है उसमें आपका जगत् है। उस जगत् में आप निवास करते हैं। ब्रह्मा की संवेदनरूपी कन्या ने इस जगत् की रचना की है। आपके जगत् में समुद्र वेष्ठित पृथ्वी है। इसके परे अनेक लोकालोक हैं। उस लोकालोक में एक स्थान पर सात योजन विस्तृत उज्ज्वल जनपूर्ण, कमल-दलमय सरोवर है। सरोवर के चारों ओर कल्पवृक्ष लगे हैं। वहाँ की सब शिलाएँ चिन्तामणि हैं। सरोवर के उत्तर दिशा में एक सुवर्ण शिला पड़ी है। शिला के शिखर पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश विलास करते है। मेरे पतिदेव, मैं तथा मेरा कुटुम्ब उसी शिला पर रहता है।'

'महात्मन् !' विद्याधरी बोली। 'एक वृद्ध वेदपाठी शास्त्रज्ञ विद्वान् उस शिला पर निवास करता है। अपनी कामनापूर्ति के निमित्त अपने मन द्वारा विवाह निमित्त उसने मुझे उत्पन्न किया। मैं जब युवती हुई तो उसने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। वह जन्म से वेदाभ्यासी तथा विरक्त-चित्त है। मैं सुन्दर हूँ। मुझे देखकर काम मूर्छित होता है। कुसुमों के समान मैं मुसकुराती हूँ। मुझे पाने के लिए लोग लालायित रहते हैं। मैं महालक्ष्मी की सखी हूँ। ऋषिवर ! ! भला बताइए मुझमें आप क्या अव-गुण देखते हैं ?'

वशिष्ठ की दृष्टि नत हो गई ।

'मुनिवर !' विद्याधरी ने खिन्न मन से कहा, 'वह महादीर्घसूत्री है। जिस समय मैं उत्पन्न हुई थी, उसने कहा था । वह मुझसे विवाह करेगा । मैं उसकी प्रिय भार्या बनूँगी । युवावस्था प्राप्त होने पर मैं काम-पीड़ित हूई । मैं अपने सुन्दर रूप, श्री, मधुर संगीत द्वारा उसे आकर्षित करने का उपक्रम करती हूँ. उसे स्मरण दिलाती हुई कि उसने ब्याह करने कि प्रतिज्ञा की थी। किन्तु वह विरक्त हो उठता है। महात्मन् ! उसने वासनाओं का परित्याग किया है । उसके मनोमय संसार में किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नहीं होती । मैं उसके वियोग में जलने लगी । किन्तु उसे मेरी किंचितमात्र चिन्ता नहीं होती ।'

'भगवन् !' विद्याधरी ने करुण स्वर से कहा, 'वह रमणी भाग्यवान् है, जिसका पति विवाह के पश्चात् मृत्यु-मुख हो गया है। वह कुमारी कन्या भी अच्छी है, जिसे पति का संयोग-सुख प्राप्त नहीं हुआ है । वह नारी अच्छी है, जो पति-संयोग के पहले मर गई है। जिस स्त्री का पति जीवित है, जिसका विवाह हुआ है, यदि उस स्त्री का पति उसका स्पर्श नहीं करता तो स्त्री का जीवन नरक से भी भयंकर हो जाता है। प्रलयकाल के द्वादश सूर्यों का ताप, उस नारी के हृदयताप के सम्मुख तुच्छ प्रतीत होता है।'

'ऋषिवर !' विद्याधरी कह चली—'आत्मभाव बिना पुरुष, पात्र बिना अन्न, समदृष्टि बिना ज्ञान; पाप स्थान का धन, वेश्या की लज्जा, निष्फल हैं। उसी प्रकार पति बिना में निष्फल हूँ। जीवन को इस प्रकार निष्फल होते देखकर वैराग्य भावना शनैः-शनै मुझमें भी जागृत होने लगी। मेरी तृष्णा-कामिनी वैराग्यरूपी तुषारपात द्वारा नष्ट हो गई है।'

'मुनिवर !' विद्याधरी पुनः बोली, 'मेरे पति वेदाध्यायी हैं एवं एकांत में बैठते हैं परन्तु आत्मपद प्राप्त नहीं कर सके हैं। मन स्थिर करने का अभ्यास कर रहे हैं। सफलता प्राप्त नहीं की है। ईषणाओं से रहित वे आत्मविचार करते हैं। परन्तु उनको आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ है। अब मुझमें वैराग्य उत्पन्न हुआ है। हम पति-पत्नी दोनों आत्मपद पाने के लिए प्रयत्नशील हैं।'

'महात्मन् !' विद्याधरी ने कहा, 'शरीर से हमें विरक्ति हो गई है। हमें सिद्धियाँ मिल गई हैं। मैं आकाश में विचरती हूँ। सिद्धि द्वारा सिद्धों के मार्ग से आती-जाती हूँ। मुझे आत्मपद का दर्शन अभी तक नहीं हुआ है।

मुझे निर्वाण-प्राप्ति की इच्छा हुई है। मैं सिद्धों, विद्याधरों आदि के स्थानों पर गई। विफल-मनोरथ होने पर, मैंने यही निश्चय किया कि आप की शरण मिलने पर मेरी मनोकामना सिद्ध होगी।'

'गुरुदेव !' विद्याधरी शिष्याभाव से बोली, 'मैं स्त्रीभाव के वशीभूत हो कर आपकी चरण-सेवा निमित्त नहीं आई हूँ। मैं आई हूँ, शुद्ध शिष्या भाव से। मैं अपने पतिदेव तथा अपने आत्मदर्शन की लालसा के साथ आयी हूँ। आप दयावान हैं। आप महात्मा हैं। आप सुहृदय हैं। मेरी एक मात्र इच्छा है कि आप हमें आत्मप्रकाश दान करने की कृपा करें।'

वशिष्ठ की मुद्रा गम्भीर हो गई। वह संकल्प के आसन पर सुन्दरी को बैठा कर स्वयं आसनस्थ होकर बोले,

'सुन्दरी ! तुमने कहा कि शिला में तुम्हारी सृष्टि है। सृष्टि शिला में किस प्रकार उत्पन्न हुई ?'

'भगवन् !' सुन्दरी बोली, 'मेरी शिला-सृष्टि है। ब्रह्मा मेरा पति है।'

'तुम्हारा त्रैलोक्य ?'

'महात्मन् ! ऊर्ध्व लोक में सुर, पाताल में असुर, मध्य में मानव, पशु-पक्षी आदि निवास करते हैं। पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, तेज, वायु, अकाशादि उस सृष्टि में हैं। समुद्र ने गम्भीरता, जीवों ने प्राण, पवन ने गति, आकाश ने शून्यता, पृथ्वी ने धैर्य, विद्याधरों ने ज्ञान, अग्नि ने ताप, सूर्य ने प्रकाश, दैत्यों ने क्रूरता, विष्णु ने अवतार, नदियों ने प्रवाह एवं पर्वतों ने स्थिरता ग्रहण की है। प्राणी जन्म-मृत्यु ग्रहण करते हैं। देवतागण विमानारूढ़ विचरण करते हैं। यदि आप चाहें तो उस सृष्टि को देख सकते हैं। गुरुदेव ! चलिएगा ?'

'चलूंगा।'

आकाश मार्ग द्वारा वशिष्ठ विद्याधरी के साथ शिला-सृष्टि के दर्शनार्थ चल पड़े।

'विद्याधरी !' वशिष्ठ ने आश्चर्य से कहा, 'यह तो केवल शिला है। तुम्हारी सृष्टि कहाँ है ?'

विद्याधरी वशिष्ठ की आश्चर्य चकित मुद्रा देखकर मुसकुरा रही थी।

'शोभने !' वशिष्ठ बोले। 'द्वीप, द्वीपान्तर, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, लोक, आकाश, दिक्, नक्षत्र मण्डल, सूर्य; चन्द्रमा भूतों का संचार देवगण असुरगण,

विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व, योगीश्वर, वरुण, कुबेर, जगत की उत्पत्ति, प्रलय, संचार, पाताल, मण्डलेश्वर न्यायाधीश,मरुस्थल, काननादि कुछ नहीं दृष्टि-गोचर हो रहे हैं।'

'ब्रह्मन्!' विद्याधरी बोली, 'इस शिला में मुझे प्रत्यक्ष सृष्टि प्रतीत हो रही है। जिस देशान्तर का आपने वर्णन किया है, उसका संस्कार पहले से मुझ में स्थित है। अतएव वे मुझे प्रतीत होते हैं। आपमें वे संस्कार उपस्थित नहीं हैं। अतएव आपको वे प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होते। आपने निश्चय कर लिया है कि यह शिला है। अतएव आपको यह शिला प्रतीत हो रही है। केवल गुरु के उपदेश श्रवण करने से शिष्य को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अभ्यास द्वारा सिद्धि मिलती है। प्रयत्न एवं एकाकी लगन से सिद्धि मिलती है।

'विश्व की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो अभ्यास एवं परिश्रम द्वारा प्राप्त न की जा सके। आपके संकल्प का मेरे संकल्प के साथ संयोग होने पर, मेरे संकल्प की शिला-सृष्टि आप देख सकेंगे। मेरे अन्तर्वाहक में शिला-जगत् स्थित है। अन्तर्वाहक में सबकी एकता होती है। धारणा के अभ्यास के पश्चात् शुद्ध बुद्धि में स्थिति होने पर आपको शिला में सृष्टि दिखाई देगी।'

विद्याधरी की बात ध्यानपूर्वक सुनकर वसिष्ठ जी चुप हो गए। वे पद्मासन लगाकर बैठ गए। आधिभौतिकता का त्याग करने पर उनकी ज्ञानदृष्टि उन्मीलित हुई।

ज्ञानदृष्टि द्वारा वसिष्ठ ने देखा, शिला आकाशस्वरूप थी। पृथ्वी आदि पार्थिव दृष्टिगोचर नहीं होते थे। केवल चिदाकाश एवं अपनी आत्मा का रूप चारों ओर प्रतिभासित था। अन्तर्वाहक के उदय होने के साथ-ही-साथ शिला में सृष्टि का ज्ञान होने लगा। वसिष्ठ जब ज्ञान-दृष्टि द्वारा शिला को देखते थे, तो वह ब्रह्मस्वरूप हो जाती थी और जब संकल्प-दृष्टि द्वारा देखते थे, तो पृथ्वी आदि के साथ लोकपाल दिखाई पड़ने लगते थे।

शिला की सृष्टि देखते हुए, वसिष्ठ ने विद्याधरी की ओर देखा। विद्या-धरी ने शिला की सृष्टि में प्रवेश किया। उसके साथ वसिष्ठ ने भी शिला-सृष्टि में प्रवेश किया।

वसिष्ठ के साथ चलती हुई विद्याधरी बोली, 'भगवन् ! आपको मैं अपने पति के पास ले चलती हूँ। आप कृपाकर हमें आत्म-उपदेश दीजिए जिससे हम लोग आत्मानन्द प्राप्त कर सकें।'

:o: :o: :o:

'देव ! उठिए।'

अपने समाधिस्थ पति को विद्याधरी ने सम्बोधित किया। जागने के कारण पति की चेष्टाएँ पुनः जागृत होने लगीं। उसकी आँखों ने सम्मुख बैठे हुए वसिष्ठ एवं सुन्दरी को देखा।

'देव !' विद्याधरी ने निवेदन किया, 'परम पिता ब्रह्मा के पुत्र ऋषिवर वसिष्ठ महात्मा आप ही हैं।'

'ऋषिवर ! आप कुशल से तो हैं ? आपने इतना कष्ट क्यों किया ?'

'तपस्वी ! आपने जिसे अपनी भार्या निमित्त उत्पन्न किया था, वही अनिन्द्य सुन्दरी मुझे यहाँ लिवा लाई है कि मैं कुछ आत्मतत्त्व की बातें यहाँ करूं।'

'सुनो !' तपस्वी बोला, 'मैं शान्त, अजर, अमर हूँ। मैं उदय-अस्त से परे हूँ मैं चिदाकाश हूँ। स्वयं अपने-आप में शांत-स्वरूप स्थित हूँ। मैं किसी का पति नहीं हूँ। कोई मेरी भार्या नहीं है। मैंने किसी को उत्पन्न नहीं किया है। किसी को किसी निमित्त नहीं रखा है।'

'महात्मन् !' तपस्वी अपनी स्त्री की ओर देख कर बोला, 'यह मेरी स्त्री नहीं है। यह केवल मूर्त्त-स्वरूप मेरी वासनामात्र है। मैंने स्वयं इस जगत्-जाल की रचना की थी। अब मुझे निर्विकल्प निर्वाण पद की इच्छा उत्पन्न हुई है। अतएव मैंने अपनी वासनास्वरूप इसका त्याग किया है। इसके दुःख के लिए भला आप बताइए मैं क्या कर सकता हूँ ? इसको स्वयं वैराग्य उत्पन्न हुआ है। इसलिए आपकी शरण में गई है।

'जब तक मैं अपनी स्त्री-स्वरूप इस वासना-सुन्दरी का त्याग न करूँगा, तब तक मुझे कैसे आत्मदर्शन प्राप्त होगा ? स्वयं शुद्ध चित्त होने के कारण इसने धारणा का अभ्यास किया है। इसे अन्तर्वाहकता प्राप्त हुई है। अन्तर्वाहकस्वरूप से यह आकाश में विचरण करती है। आकाश में उसे आप

की सृष्टि दृष्टिगोचर हुई है। परम पद पाने के निमित्त इसने आपका सत्संग प्राप्त किया है। अपने कल्याणार्थ वह आपको मेरे समीप लाई है।'

वसिष्ठ गम्भीर हो गए।

'महात्मन् !' तपस्वी बोल चला, 'जिस प्रकार महासागर की तरंगें उत्पन्न होती हैं, उनमें ध्वनि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार हम-आप उत्पन्न होते हैं। बोलते हैं। मिलते हैं। किन्तु हैं सागर की लहरियों के समान जो स्वयं उत्पन्न और विलीन हो जाती हैं। लहरियाँ जिस प्रकार जलराशि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार हम-आप सब एक ही वस्तु के स्वरूप हैं।'

'महर्षि !' तपस्वी ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'इस शिला में हमारी सृष्टि चिद्घन-रूप हैं। आपकी सृष्टि में वह शिला है। हम हैं चैतन्य-घन। वही चैतन्य-घन आकाश-आत्मा शिला-रूप में प्रतिभासित है। समस्त पदार्थ आत्मसत्ता द्वारा ही प्रतिभासित होते हैं। अतएव जहाँ आत्मसत्ता है वहाँ जगत् है। हमारी शिला-सृष्टि चर्मचक्षुओं द्वारा नहीं अपितु अन्तर्वाहक दृष्टि द्वारा दिखाई पड़ सकती है। वास्तव में न कहीं संकल्प है और न कहीं प्रलय।

'ब्रह्म ही अपने स्वभाव में सर्वत्र स्थित है। आकाश में आकाश, समुद्र में समुद्र, जिस प्रकार स्थित है, ब्रह्म में ब्रह्म उसी प्रकार स्थित है। आकाश की नीलिमा जिस प्रकार न सत्य है, न असत्य, उसी प्रकार ब्रह्म में यह जगत् न सत्य है और न असत्य।

'मैं उस ब्रह्म का किंचन ब्रह्म हूँ। शिला-जगत् मेरे संकल्प का परिणाम है। जिस समय मैं अपने संकल्पों का नाश करूँगा, उस समयइस सृष्टि का नाश हो जायगा। मन में संकल्पों का स्फुरण हुआ था। उसमें वासना थी। उस वासना द्वारा इस सृष्टि का उदय हुआ। इच्छा एवं संकल्पों के निर्वाण के साथ-ही-साथ जगत् का निर्वाण हो जायगा। मैं अपने इस जगत् का लय करता हूँ।'

'विद्याधरी !' तपस्वी की गम्भीर ध्वनि गूँजी, 'तुम निर्वाण प्राप्त कर, अपने ज्ञानादि का लय करो।'

ब्रह्म-स्वरुप ब्राह्मण तपस्वी समाधि लगाकर अपने संकल्पों का क्षय करने लगा। मूर्तिस्वरूप वह शांत स्थिर हो गया। उसे सम्पूर्ण जगत् का

विस्मरण हो गया। सुन्दरी भी पद्मासन लगाकर व्रत निश्चय में लीन होने लगी। तपस्वी ब्रह्म की निर्वेदना में लीन हो गया। उसकी सृष्टि में प्रलय काल की घटनाएँ घटने लगीं।

वसिष्ठ ने देखा, उपद्रव होने लगे थे। स्त्रियाँ दुराचारिणी हो गई थीं। पुरुष पापी हो गए थे। पुण्य-आत्माओं ने धर्म त्याग कर दिया था। रमणियाँ लज्जा और शील त्यागने लगी थीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, रागादि अपनी मर्यादा पार कर चुके थे। शास्त्रमर्यादा का अतिक्रमण होने लगा था। नास्तिकता का बोलबाला था।

वर्षा बन्द होकर केवल कुहरा रूप में रह गई थी। पापी धनी हो गए थे। धर्मात्माओं को भयंकर कष्ट मिल रहा था। राजा मद्यप हो गया था। प्रजा का उत्पीड़न चरम सीमा पार कर चुका था। मात्स्य न्याय का डंका चारों ओर बजने लगा था। पापाचार उदय हो गए थे। धर्म का लोप हो गया था। अज्ञानियों के हाथ में राज्य-सूत्र आ गया था। ज्ञानी अज्ञानियों की सेवा करने लगे थे। दुर्जनों का आदर और सज्जनों की उपेक्षा होने लगी थी। पृथ्वी ने अपना गुण त्याग दिया था।

जन-स्थान खंडहर हो गए थे। नगर नष्ट होने लगे थे। नभ-मण्डल धूल से भर गया था। समुद्र ने अपनी मर्यादा त्याग दी थी। तटवर्ती देश जल-मग्न होने लगे थे। पर्वतों एवं कन्दराओं तक में जल भरने और निकलने लगा था। पर्वत समुद्र में गिरकर चक्र के समान घूमने लगे थे। महासमुद्रों की तरंगें उछलती हुई सूर्य एवं तारामण्डल तक पहुँचने लगी थीं। चारों ओर भयंकर हाहाकार था।

तपस्वी ने अपनी प्राण वायु को खींचा। वायु ने क्षुभित होकर अपनी मर्यादा त्याग दी। स्थावर-जंगम, जो जहाँ था, सब वहीं प्राणहीन होकर गिर पड़े। जो कुछ भी देशकाल-संयुक्त दिखाई पड़ता था, सबका लय हो गया। वासना के लय होते ही सृष्टि, आधिभौतिक तथा अन्तर्वाहकता का लय हो गया।

वसिष्ठ ने देखा, देश-काल के नाश के साथ महाप्रलय उपस्थित हो गया। ब्रह्मा के ब्रह्म पद लीन होने पर, द्वादश सूर्य ब्रह्म को जलाने लगे। ब्रह्मपुरी

जल गई। सूर्य ब्रह्मा के समान पद्मासन लगाकर स्थित हो गए। सूर्य का निर्वाण हो गया। चारों ओर केवल जल-ही-जल था।

उस समय वसिष्ठ ने देखा कि एक श्यामवर्ण पुरूष आकाश में प्रकट हुआ उसके मुख से ज्वालाएँ निकल रही थीं। उसके प्रकाश के सम्मुख कोटि-कोटि सूर्यों का प्रकाश भी तुच्छ था। उसकी कान्ति के सम्मुख विद्युत्-कान्ति अत्यन्त मन्द थी। वह पंचमुख था। त्रिनेत्र था। दश भुज था। आकाश-स्वरूप था। हाथ में भयंकर त्रिशूल था। उसके श्वासों द्वारा समुद्र क्षुभित हो उठता था। सर्व अहंकारों की समष्टि एवं महाप्रलय की बड़वाग्नि सम्मुख आ गई थीं।

उस रुद्र मूर्ति को वसिष्ठ ने नमस्कार किया। उसके पाँच मुख और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ थीं। दश भुजाएँ कर्मेन्द्रियों की समष्टि थीं। सत्त्व, रज, तम, भूत, वर्तमान, भविष्य, ऋक, यजु, साम, मन, बुद्धि, चित्त एवं ओंकार की तीन मात्राएँ उसकी तीन आँखें थीं। उसका वपु आकाश था। त्रैलोक्य-सदृश त्रिशूल उसके हाथ में था।

रुद्र ने जब प्राणों को खींचा तब संसार उनके मुख में प्रवेश करने लगा। पृथ्वी, जल, तेज एवं मरुत् उनके मुख में पहुँच गये। केवल निर्मल शुद्ध आकाश शेष रह गया। वह आकाश-रूप था। वह महाप्रलय के पश्चात् नृत्य करने लगा।

उस छाया-स्वरूप आकाशीय रुद्र के नृत्य के साथ-ही-साथ, उसके शरीर से एक क्षीणकाय देवी निकली। देवी का आकार ऊँचा था। वह कृष्णवर्ण थी। त्रिनेत्र थी। उसकी ग्रीवा उन्नत थी। उँगलियाँ लम्बी थीं। कण्ठ में रूद्राक्ष एवं मुण्डमाला थी। हाथों में त्रिशूल, बाण, ध्वजा, उत्पल, मुसल आदि आयुध थे। पाताल देवी का चरण था। पृथ्वी मध्य भाग किंवा उदर था। सुमेरू नाभि स्थान था। दिशाएँ दश भुजाएँ थीं। पर्वत की कन्दराएँ नासिका थी। लोकालोक पर्वतादि अस्थियाँ थीं। कण्ठ में सरिताओं की माला थी।

वरूण, कुबेरादि देवताओं की रूण्डमाला उसके वक्षस्थल पर सुशभित थी। करों में ब्रह्म का आभूषण था। कटि में ब्रह्माण्ड के घुँघूरूओं की मेखला थी। कानों में धर्म-अधर्म के कुण्डल थे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष स्तनों द्वारा वेद

दुग्ध-तुल्य स्रवित थे। श्वास-मार्ग में मरूत् विराज रहा था। जब वह नाचती थी तब करधनी अर्थात् मेखला के घँघरू उसकी तरंगों के साथ नाच उठते थे। वसिष्ठ ने उनके नृत्य को देखते हुए, उन्हें नमस्कार किया।

महात्मा वसिष्ठ किंचित् विस्मित हुए। आत्मदृष्टि उन्मीलित हुई। तब कहीं न शिव थे और न शक्ति। सब कुछ चिदाकाश रूप था।

कल्पांत ही रूद्र थे। कल्पांत की वही मूर्ति नृत्य करते-करते स्वयं लीन हो गई थी। चेतन का किंचन ही महाप्रलय में रूद्र एवं भैरवी होकर प्रतिभासित हुए थे। चिदाकाश संकल्प द्वारा नृत्य करता था। उसका चमत्कार चित्त ही शक्ति किंवा देवी थी। देवी एवं शिव में कोई अन्तर नहीं था। शिव की क्रिया-शक्ति देवी थी। वही क्रिया-शक्ति जब शिव की ओर आती थी तो अपने रूप का संकोचन करती हुई, शिव चिदाकाश में मिलकर एकाकार हो जाती थी। जब शिव से अलग होती हुई दूर चली जाती थी, तो उसका रूप अनेक रूपों में होता चला जाता था।

उसके अनेक रूप—जयन्ती, चंडिका, काली, दुर्गा आदि चित्त शक्ति के अनेक रूपों में दिखाई पड़ते थे। किन्तु वही आत्मा की स्फुरण-स्वरूप चित्त शक्ति केन्द्रस्थ होती आत्मा में जब मिल जाती थी, तब केवल शुद्ध आत्मा शेष रह जाती थी। आत्मा से, शिव से, व्यतिरेक होने पर शक्तियाँ नाना प्रकार के जगत् की रचना करतीं। उनमें अपनी भावना, संकल्प, कल्पना, वासना आदि के अनुसार, अनेक प्रकार के भ्रम एवं रूप उत्पन्न होते। वसिष्ठ क्रिया-शक्ति देवी एवं शिव का वास्तविक रूप जानकर मन-ही-मन मुस्करा उठे।

वसिष्ठ ने देखा कि देवी नृत्य में तन्मय होती-होती, धीरे-धीरे शिव में लीन हो गई। शिव नृत्य करते-करते चिदाकाश में लुप्त हो गए।

वसिष्ठ का ध्यान खुल गया। वसिष्ठ ने अपनी आँखों से देखी—ब्रह्म-शक्ति, देवी-शक्ति एवं शिला। वसिष्ठ आँख मींचकर सोचने लगे कि क्या मैं स्वप्न देख रहा था? वे अपनी कुटी की ओर अग्रसर हुए। कुटी में वसिष्ठ ने देखा कि उनका शरीर वहाँ नहीं था। कुटी में एक सिद्ध सिद्धासन लगाकर आत्मपद-लीन था।

वसिष्ठ ने विचार किया। अप्रार्ष लोक चलना चाहिए। कुटी का संकल्प लोप होते ही कुटी का लोप हो गया।

अपनी कुटी का लोप-अवस्था देखते हुए वसिष्ठ लौटे। उन्होंने देखा कि सिद्ध का शरीर भूतल पर जाकर स्थिर हो गया। कौतूहलवश वसिष्ठ सिद्ध को जागृत कर, कुछ हाल पूछना चाहते थे। जल की छींटों द्वारा सिद्ध को सचेत किया। वसिष्ठ ने अपने साकार रूप अर्थात अपने अद्वैत भाव को त्याग कर सिद्ध के सन्मुख उपस्थित होकर पूछा।'

'सिद्ध ! क्या मैं आपका शुभ परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ?'

'भगवन् !' सिद्ध बोला, 'आप मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए। मैंने आप की अवज्ञा की है।'

वसिष्ठ की मानसिक पूजा कर सिद्ध बोला, 'महात्मन् ! संसार तीव्र प्रवाहमयी सरिता है। चित्त समुद्र इसका मूल स्रोत है। जन्म एवं मृत्यु सरिता के दोनों किनारे हैं। राग, द्वेष सरिता प्रवाह की तरंग-मालाएँ हैं। भोग, तृष्णा प्रवाह के चक्रित चक्र हैं।'

'मुनीश्वर!' सिद्ध पुनः बोला, 'देह सरिता है। उस सरिता में बुद्धि मछली का आश्रय स्थान है। मछली अपनी इच्छा के वशीभूत होती है। ग्रीवा बाहर निकालती है। भोग बकुला उसे पकड़ लेता है। भोग चोर की मायावी बातों में फँस कर, जीव अपनी यात्रा आरम्भ करता है। मार्ग में चोर जीव को लूट लेते हैं। अपने लक्ष्य पर पहुँचने के पहले जीव दीन, कातर और दुःखी हो जाता है। उसका जीवन शून्य प्रतीत होने लगता है। वह बीच मार्ग से ही लौट आता है, पुनः नये जीवन के साथ नवजीवन यात्रा का उपक्रम करता है। वह अपनी यात्रा फिर प्रारम्भ करता है। फिर लूट जाता है। उसका जीवन केवल मार्गों के आवागमन में बीतता रह जाता है। वह लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता। जिसके पास आत्म-रूपी निधि है, उसका चोर क्या बिगाड़ सकता है ? आत्म-निधि को पथिक, अपना साथी, रक्षक एवं प्रकाश बनाकर चलता है। आत्म-निधि उसकी रक्षा करती है, पोषण करती है, आनन्द देती है, और उन्हें गन्तव्य स्थान पर चुपचाप पहुँचा देती है।'

'ऋषिवर !' सिद्ध बोला, 'शरीर आपदाओं का घर है। विकारों का गर्त है। वेदनाओं का गट्ठर है। आशाओं की मृगतृष्णा है। सुखों की सूखी छाया है। शास्त्र कहते हैं, शरीर मिथ्या है। मैं नहीं कह रहा हूँ। उत्तम स्थानों में भी मैं गया। किन्तु सार पदार्थ कुछ नहीं दिखाई दिया। नन्दन वन

को काष्ठों के ढेर किंवा प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? संसार माया मात्र है। पृथ्वी पर पंच भूतों का प्रसार है। शरीर अस्थि, मांस, मज्जा, मल-मूत्र आदि का संग्रह है। इस नश्वर शरीर पर अहंकार करने वालों को धिक्कार है।

'अंजुलि के समान आयु है। शरीर के द्वारा सुख की आशा करना मूर्खता है। सुन्दर कुन्तल श्वेत होकर लज्जा के कारण हो जाते हैं। वृद्धावस्था में शरीर को पुष्ट पदार्थों की आवश्यकता होती है। अंग-प्रत्यंग घिसकर अपनी उपयोगिता खो देते हैं। तूलिका द्वारा अति चतुरतापूर्वक चित्रित कमिलिनी भ्रमरों को नहीं आकर्षित कर सकती।उसी प्रकार विषय मुझे आकर्षित नहीं कर सकते।'

'भगवन्!' सिद्ध किंचित् स्थिर होकर बोला, 'शरीर मिथ्या है। फिर भी मुझे आपका शरीर कुटी से बाहर करने का अधिकार नहीं था। मैंने विचार से उसे उठाकर, बाहर नहीं रखा। मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। महात्मन्! मुझे क्या क्षमा करेंगे?'

'साधो!' वसिष्ठ बोले, 'मैंने विचार किए बिना आपको उस कुटी में गिराया है। मैं बिना विचार किए ही उठ गया था। वह कुटी मेरे अन्तर्वाहक संकल्प में थी। अपने संकल्पों को त्यागकर, अपने स्थान की ओर चला तो संकल्प नष्ट होने के साथ-साथ कुटी नष्ट हो गई। वह कुटी गिरी, तो आप भी उस कुटी में थे। अतएव आप भी गिरे। आपको मेरा ज्ञान इस कारण नहीं हुआ कि, जिस समय अन्तर्वाहकता में स्थिति होती है, उस समय त्रिकाल का ज्ञान हो जाता है। किन्तु व्यवहार में लीन होने पर, वह ज्ञान नष्ट हो जाता है। और ज्ञान रहता है केवल वर्तमान का। उसी वर्तमान ज्ञान के कारण आपने शव-स्वरूप मेरा शरीर कुटी से बाहर कर दिया। इसमें आपका अथवा मेरा कुछ दोष नहीं है।'

'भगवन्!' सिद्ध बोला, 'अपनी असीम दया का परिचय देकर आपने क्षमा कर दिया है। मैं आपका अनुगृहित हूँ।'

'सिद्ध! क्षमा भी मिथ्या है। दया भी मिथ्या है। अच्छा बन्धु, अब चलूँ!'

सिद्ध ने वसिष्ठ का चरण वन्दन किया।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : ५८–९६

शिला

एक महान् विशाल शिला है। उसका अन्त नहीं है, आदि नहीं है। वह शुद्ध है। निर्मल है। सुन्दर है। अपनी सत्ता में स्वयं स्थित है। शालिग्राम तुल्य मनोरम है। चक्र, गदा, पद्म, शंख, शालिग्राम पर, जैसी सुन्दर रेखायें रहती हैं, उसी प्रकार शिला पर सुस्पष्ट चारु रेखायें हैं। वह वज्र से भी कठोर है। असंख्य कोटि कल्प बीत गये परन्तु उस शिला का क्षय नहीं हुआ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश शिला पर रेखाओं के समान फैले हैं। वह निर्बिकाश है। पृथ्वी आदि पंच भूतों से रहित पाषाणवत् है। किन्तु उसकी रेखायें चैतन्य प्रतीत होती हैं।

वसिष्ठ कहते-कहते तुष्णीभूत हुए। भगवान् रामचन्द्रने पूछा, 'गुरुदेव ! पाषाणवत् शिला निर्विकाश है तो उसमें चैतन्य कहाँ से आया ?'

राम !' वशिष्ठ बोले, 'शिला पाषाण से भी उज्ज्वल है। वह न चैतन्य है, न जड़। उसका चैतन्य केवल स्वभाव के कारण दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार जल का स्वभाव द्रुत है, उसी प्रकार चैतन्य उसका स्वभाव है। लहरें जिस प्रकार सागर का स्वभाव हैं, उसी प्रकार चैतन्य शिला का स्वभाव है। वह स्वरूप में स्वयं स्थित है। वह शुद्ध शिला-स्वरूप है। उसका पूर्ण ज्ञान अब तक कोई प्राप्त नहीं कर सका है।'

'भगवन् !' राम ने पूछा, 'शिला का किसी ने दर्शन किया है ? उसे कोई भंग कर सकता है ?'

'राम ! मैंने उस शिला को देखा है। बिना परिश्रम किये आँखें भी कुछ नहीं देख सकतीं। अतएव अभ्यास द्वारा तुम्हें शिला का दर्शन प्राप्त होगा।'

'महात्मन् !' राम पूछे, 'वह है कैसी ?'

'शिला परम शुद्ध है। निर्मल है। निर्मलता उसका स्वभाव है। वह मलिन नहीं होती। वह चिह्नों से रहित है। आदि अन्त एवं मध्य से रहित है। उसे कोई भग्न नहीं कर सकता है। वह भग्न करने योग्य नहीं है। शिला से भिन्न यदि कोई वस्तु हो, तो वह उसका भेदन कर सकती है। सब दृश्य पदार्थ, यथा—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देवता, दानव, सूर्य, चन्द्रमादि शिला की रेखाएँ हैं। वे सब उसी शिला में स्थित हैं। वह

शिला सूक्ष्म, निराकार, आकाश-स्वरूप है।'

'निराकार शिला का आपने दर्शन किस प्रकार किया गुरुदेव ?'

'प्रियवर !वह इन्द्रिय-गम्य नहीं है। वह केवल स्वानुभाव द्वारा बोध-गम्य है अपने स्वभाव में स्वयं स्थित होकर मैंने उसे देखा है।'

'किस प्रकार गुरो !'

'उस शिला को देखा है। अतएव उसे देखने में समर्थ हूँ राम !'

'वह शिला है क्या भगवन् ?'

'राम ! वह शिला स्वयं परमात्मा है।'

'और रेखाएँ ?'

'पंचतत्व उसपर की रेखाएँ हैं। एक रेखा बड़ी है। उसी रेखा के अन्तर्गत और रेखाएँ रहती हैं।'

'महात्मन् !' वह बड़ी रेखा क्या है ?'

'पुत्र ! वह है आकाश। उसी के आश्रय में अन्य तत्व रहते हैं। सब उसी के रूप हैं। राम ! तुम उसी के रूप हो। पंचतत्व, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि प्रतीत होने वाले कर्म उस ब्रह्ममय शिला की रेखाएँ हैं। मैंने उसे शिला इसलिए कहा है कि, वह घन-चैतन्य रूप है। उस चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नाना प्रकार के व्यवहार उसी के रूप हैं। पर्वत, गुहा, स्थावर, जंगम, जगत् सब कुछ उसी के रूप हैं। उनका रूप आत्मस्फुरण के कारण दृष्टिगोचर होता है। जगत् केवल ब्रह्म-सत्ता है। पवित्र, अपवित्र, सत्य, असत्य, विद्या-अविद्या आत्मसत्ता के दूसरे नाम हैं। आत्म-सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ब्रह्मसत्ता स्वयं अपने स्वरूप में आप स्थित है।'

'राम !' वसिष्ठ बोले, 'वह घन-ब्रह्म-रूप है। चिदानन्द घन सब में व्यापक है। परमार्थ घन शान्त रूप है। अतएव संकल्प एवं कल्पना को त्यागकर केवल उसमें स्थित होने का अभ्यास करो।'

राम ने गम्भीर मुद्रा द्वारा गुरु-दृष्टि से वसिष्ठ को प्रणाम किया।

विपश्चित

'अपनी शक्ति द्वारा गो-स्वरूप पृथ्वी को बाँध रखने वाले तथा विष्णु-स्वरूप विजेता देव ! आपके पवित्र चरणों के समीप यह दीन कुछ नम्र निवेदन करना चाहता है। भगवन् ! यदि आज्ञा हो !' चर की दृष्टि नत हो गई।

चर कम्पित था। रोम-रोम द्वारा उद्वेग -भावना प्रकट हो रही थी। उसके वस्त्रों पर रक्त के छींटे थे। राजा विपश्चित की आँखें मन्त्री की ओर घूम गयीं। सभा मण्डप में मन्त्री की कोमल वाणी मुखरित हुई :

'चर ! अपना उद्देश्य बिना विशेषणों के तुरन्त कहो।'

'भगवन् !' भूमि की ओर देखते हुए चर ने शोक-समन्वित स्वर में कहा, 'आपने पूर्व दिशा में जिस मन्त्री को नियुक्त किया था उनका ज्वर के कारण निधन हो गया।'

सभा उदास हो उठी; राजा की दृष्टि चर के उदास मुख-मण्डल पर केन्द्रित होने लगी।

'पृथ्वीपते !' करबद्ध नतमस्तक चर ने कहा, 'दिवंगत शत्रु-विजयी मन्त्री आपके आदेशानुसार आपके साम्राज्य-विस्तारार्थ यमराज तथा उसके लोक का विजय करने गये थे। आपके दक्षिण दिशा के मन्त्री पूर्व-दक्षिण दिशा में विजय प्राप्त कर रहे थे। उसी समय उक्त दिशा के शत्रुओं ने उन पर आक्रमण किया और उनको यम-भवन का अतिथि बना दिया।'

सभा मण्डप गम्भीर हो उठा। राजा की आँखें रक्तिम हो गईं।

'भगवन् !' चर ने अत्यन्त विनीत स्वर से कहा, 'आपके पश्चिम देश के मन्त्री को पूर्व तथा दक्षिण दिशाओं की सेनाओं ने आक्रमण कर, अपने अपार बल के कारण पराजित किया है। दिवंगत मन्त्री ने आपके आत्म-गौरव की पवित्र स्मृति के साथ, युद्धस्थल में अपनी आत्म-बलिदान की कहानी के साथ अपना बलिदान कर दिया।'

राजा उद्विग्न हो गया। वीरों के हाथ अस्त्र-शस्त्रों पर पड़ गये। मन्त्री वर्ग विचारशील हो गये। सेनापति कुछ सोचने लगा। चर की वाणी गूँज रही थी। दूसरा चर रक्त-स्नान किये सभा मण्डप में दौड़ता आया और बोला,

महाराज की जय देव! घोर विरत्ति काल का उदय हुआ है। उत्तर दिशा पर शत्रु ने आक्रमण कर दिया है। शत्रु-सेना आँधी की तरह बढ़ती चली आ रही है। अपनी सेना ने किसी प्रकार उनकी बाढ़ रोक रखी है। यदि समय पर सहायता न पहुँची तो...

सभा में सन्नाटा छा गया। राजा अकस्मात् सिंहासन त्याग कर खड़ा हो गया। उसकी गम्भीर दृढ़ वाणी से सभा-मण्डप गूँज उठा,

'वीरो! रणयात्रा की तैयारी करो सामन्तो—'

राजा का वाक्य समाप्त नहीं हुआ था कि, प्रतिहारी चिन्तित राजा के सम्मुख नतमस्तक खड़ा हो गया। राजा प्रतिहारी की मुद्रा देखकर आशंकित हो गया।

'प्रतिहारी!' राजा ने जिज्ञासा के स्वर में कहा।

'भगवन्!' प्रतिहारी ने बद्ध-प्रांजलि कहा, 'उत्तर देश के सेनापति द्वार देश पर उपस्थित हैं।'

'शीघ्र लाओ।' राजा ने आदेश के स्वर में कहा।

सभा-स्थल में उपस्थित व्यक्तियों की आँखें द्वार-देश की ओर घूम गईं। राजा का ध्यान आगन्तुक सेनापति की ओर लग गया।

क्षत-विक्षत शरीर सेनापति ने सभा में प्रवेश किया। उसका वर्म रक्त से भीगा था। राजा के समीप पहुँच वह चरणों पर गिर पड़ा।

राजा ने उसे उठाते हुए पूछा, 'वीरवर! क्या हुआ?'

'नृपशार्दूल! शत्रु-सेना चारों ओर से यम-दूतों के समान बढ़ती चली आ रही है। मालूम होता है, उन्हें मृत्यु की लेशमात्र चिन्ता नहीं है।'

राजा ने सेनापति की तरफ देखा। सेनापति कुछ कहना चाहता था कि सभा-मण्डप में वेगपूर्वक प्रवेश करते हुए एक नागरिक चिल्लाया,

'राजन्! शत्रु के असंख्य सैनिकों ने नगर घेर लिया है। वे वायुवेग से बढ़ते आ रहे हैं।'

नागरिक उत्तर की अपेक्षा नहीं कर अपनी प्राण-रक्षा निमित्त वहाँ से भाग गया। राजा ने मंत्रियों तथा सेनानायकों की तरफ देखा। प्रधान मंत्री नें राजा से निवेदन किया,

'देव ! हम लोग पूर्वापर विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शत्रु का वर्तमान परिस्थिति में सामना करना कठिन है। साम, दाम एवं भेद की नीतियाँ सफल नहीं होंगी। केवल एक उपाय है—'।

'दण्ड।' राजा बीच में वज्र-ध्वनि-तुल्य बोल उठा।

'राजन्। विलम्ब घातक होगा।' सेनापति ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

'सेना सुसज्जित करो। आज अपनी परीक्षा है।'

राजा ने सभा-मण्डप को वेगपूर्वक त्याग दिया।

:o: :o: :o:

'अग्निदेव ! 'मैंने आपको अपना एकमात्र देव माना है। मैंने जगत में किसीं दूसरे की पूजा नहीं की है। आपकी पवित्र ज्वाला मेरे गृह में निरन्तर प्रज्वलित रही है। आपके प्रसाद के कारण मैंने विजय-यात्राएँ की हैं। आपके आशीर्वाद के कारण मेरा राज्य सुरक्षित रहा है। वसन्तीय पादपों की तरह मेरी प्रजा आपकी दया के कारण फलती-फूलती रही है। आपके कारण प्रजा में किसी प्रकार का दुःख, दुष्प्रवृत्ति, अनाचार तथा अनैतिकता का दर्शन नहीं मिलता। आपकी प्रतिभा के कारण इस राज-सिंहासन के सम्मुख सब का मस्तक झुकता रहा है। भगवन् ! यह राज्य, यह जीवन, सब कुछ आपका है। आपकी कृपा का द्योतक है। मेरा कुछ नहीं है।'

'भगवन्।' राजा ने करुण स्वर में कहा, 'ये विपत्तियाँ मुझ पर क्यों आ गई हैं। क्या मैंने अनजाने प्रजा का कोई अपराध किया है ? क्या अनजाने किसी व्यक्ति को निरपराध दण्ड दिया है ? क्या अनजाने किसी को मानसिक कष्ट पहुँचाया है ? क्या अनजाने में किसी ऐसे पाप का भागी हो गया हूँ कि, बिना सिंहासन, बिना शरीर का त्याग किए, पाप की गठरी हलकी नहीं हो सकती ! यदि ये बातें हैं, तो देव ! मेरा यह मस्तक आपके चरणों में है।'

राजा विपश्चित ने अपना मस्तक अपने हाथों से काटकर प्रज्वलित अग्नि में, अपने इष्ट देव अग्नि के चरणों में डाल दिया। मस्तक प्रज्वलित अग्नि में पड़ने के साथ शरीर का अधोभाग स्वयं ज्वाला में प्रवेश कर गया। राजा विपश्चित अग्नि-ज्वाला में शनैः शनैः शान्त हो गया।

:o: :o: :o:

'वीरो !'

लोगों ने देखा, प्रांगण में एकत्र सेना ने देखा, मन्त्रियों ने देखा—राजा विपश्चित को चार मनुष्यों के रूप में, वे चारों राजा पवित्र वैजयन्ती माला, चन्दन, कस्तूरी, केसर, तिलक, यौद्धिक अलंकार धारण किए हुए देव सेनापति स्कन्द की तरह चले आ रहे हैं। राजा विपश्चित के वे शरीर सेना के आगे खड़े हो गए।

'सैनिको! पौरगण !! सामन्तगण !!!' वज्रध्वनि गूँजी, 'आज पवित्र दिन है। आज उसके ऋण से उऋण होना है जिसने हमारा पालन-पोषण कर इतना बड़ा किया है। उसकी कृपा को क्या भूल सकोगे पौरगण ? पवित्र पुण्यमयी मातृभूमि के वक्षःस्थल पर क्या तुम्हारी आँखें विदेशी वाहिनी का ताण्डव नृत्य देख सकेंगी ? वीरो ! बढ़ो !! हम मरने नहीं जा रहे हैं। हम जीने चल रहे हैं। हम इतिहास बनाने चल रहे हैं। चारणों की वाणी में, कवियों की कविता में एवं गाथाओं के पृष्ठों में कुछ पंक्तियाँ जोड़ने चल रहे हैं।'

जनरव द्वारा वायुमण्डल प्रकम्पित हो उठा। सैनिकों के पद अनायास आगे उठ गए। चारों विपश्चित चारों दिशाओं में सेना सहित चल पड़े।

:o: :o: :o:

चारों राजा विपश्चित विजय प्राप्त करते-करते समुद्र-तट पहुँच गए। भूमि आगे और न देखकर चारों दिशाओं के समुद्रों के किनारों पर अपना-अपना शिविर लगाकर समुद्र की शोभा देखने लगे।

समुद्र की फेनिल लहरें अपने घोर निनाद के साथ समुद्र-तट को स्पर्श करती लौटतीं और पुनः स्पर्श करती सनातन कर्मशील हो गयीं। राजा

तरंगों का आवागमन देखता प्रसन्न हो रहा था। मन्त्री की ओर देखकर बोला।

'लहरें कितनी चंचल हैं ?'

'जैसे यौवन।' मन्त्री ने मुसकराकर कहा।

'कितनी सुन्दर हैं।' राजा तरंग-मालओं के विलास पर मुग्ध होता बोला।

'जैसे लक्ष्मी।' मन्त्री ने समुद्र-तटवर्ती गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं की ओर देखते हुए कहा।

'कितनी सुखकर लगती है।' राजा ने समुद्र-स्तर स्पर्श करती आती हुई शीतल मरुत के स्पर्श का सुख लेते हुए कहा।

'जैसे स्वास्थ्य !' मन्त्री ने राजा के पुष्ट शरीर की ओर देखते हुए कहा।

'महासमुद्र कितना विशाल है ?' राजा ने समुद्र के छोर तक देखने का प्रयास करते हुए कहा।

'जैसे संसार।' मन्त्री ने समुद्र-तट पर एकत्रित, खेलते, आते-जाते, नावों पर मछुओं को मछली मारते हुए देखकर कहा।

राजा की मुद्रा गम्भीर हो गयी। मन्त्री ने गरजते समुद्र की ओर देखते हुए कहा :

सुन्दर लहरें मनुष्य पर दया नहीं करतीं। चंचलता स्थिरता नहीं देती। सुख प्यास नहीं बुझाता। विशालता उदारता की तरह आश्रय नहीं देती। महाराज यह सब मिथ्या है।'

'तो ?'

'महाराज !' मन्त्री ने कहा, 'लक्ष्मी, आरोग्य तथा यौवनावस्था तीनों अनर्थों की जड़ें हैं।'

'लक्ष्मी कैसे होगी मन्त्रिन् ! विशाल सेना, विशाल राज्य, कोष के ही आश्रित हैं।'

'भगवन् ! पापी लक्ष्मी को पाप में लगाते हैं। धनी लक्ष्मी से मनुष्य-जीवन खरीदते हैं। कितने ही मानव लक्ष्मी की तुला पर संसार को तौल कर उसका मूल्यांकन करते तथा लक्ष्मी से सुख खरीदना चाहते

हैं। लक्ष्मी के सम्मुख मानव का कोई मूल्य नहीं रहता। वह जड़ किंवा भौतिक पदार्थ मात्र रह जाता है। मानव अपने हृदय की चंचलता लक्ष्मी की चंचलता द्वारा शान्त करना चाहता है।'

'आरोग्य ?'

'आरोग्य मानव ही विषयों का भोग करता है। ज्वरपीड़ित अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति कामरत नहीं होता। दुर्बल व्यक्ति मात्स्य-न्याय का आश्रय नहीं लेता।'

'और यौवन ?'

'शायद ही कोई यौवनावस्था में सुकृत करता है। विषय यौवन में उन्मत्त हो जाते हैं। पापी यौवन को पापकर्म तथा पुण्यात्मा शुभ कर्मों में लगाता है।'

'हूँ'। राजा गम्भीर हो गया, महार्णव की तरंगों का गर्जन तथा उनका उद्वेगपूर्ण उठना-गिरना देखते हुए हुँकारी भर दिया।

'पृथ्वीनाथ !' मन्त्री ने कहा, 'समुद्र में सभी स्थानों पर मुक्ता, प्रवाल तथा रत्न नहीं होते। वे कहीं-कहीं मिल जाते हैं। परन्तु जीवन के ग्राहक जीव सभी स्थानों पर समुद्र में मिल जाते हैं। यही अवस्था संसार की है ? कितने ज्ञानियों का दर्शन मिलता है ? किन्तु अज्ञानी पग-पग पर कष्ट देने के लिए, प्राण हरने के लिए पहले से तैयार बैठे मिलते हैं।'

'मन्त्री !' राजा ने विशाल समुद्र पर आँख फैलाते हुए कहा, 'समुद्र अपनी मर्यादा क्यों नहीं त्यागता ?'

'राजन् !' मन्त्री ने कहा, 'जीवनमुक्त-तुल्य समुद्र राग-द्वेष रहित है, निष्काम है। वासनाहीन शान्त है। आश्रयहीन है। त्यागी है। इसके आश्रय में कहीं रत्न, कहीं बड़वाग्नि, कहीं ग्राह, कहीं जड़ पदार्थ, कहीं शिखर और कहीं समतल भूमि है किन्तु वह किसी से राग-द्वेष नहीं करता। समुद्र एक-रूप से स्थिर रहता है। उसे किसी की इच्छा नहीं होती। सूर्य उसे तपाता है किन्तु वह क्षुभित नहीं होता। शशि की शीतलता से वह प्रसन्न नहीं होता। अपनी वासना के वशीभूत होकर वह किसी वस्तु की प्राप्ति में रत नहीं होता। उसका जो नैमित्तिक कर्म है, उसे बिना फल की आशा के करता है। अपने-आपको सुखा कर संसार की रक्षा के के लिए मेघों का सर्जन करता है। मेघ नदियों द्वारा पृथ्वी की सब मलिनता

स्वच्छ करता, समुद्र में गंदगी लाता है किन्तु त्यागी के समान उसकी भावना में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। वह अपने उन परोपकारी कार्यों में किंचित् मात्र शिथिलता नहीं करता, जिनके कारण पृथ्वी हरी-भरी, सुहावनी हो उठती है।'

'आकाश कितना असीमित है ?' राजा ने महासमुद्र के ऊपर फैले, ओर-छोर-हीन, गम्भीर गगन की ओर देखते हुए कहा।

'नृपवर !' मन्त्री बोला, 'आकाश सब का आश्रय है। भूमण्डल आकाश में स्थित है। नक्षत्र आकाश में स्थित हैं। ग्रह आकाश में स्थित हैं। सृष्टियाँ आकाश में स्थित हैं। सर्वत्र आकाश है। यह आकाश समदर्शी है। भगवन् ! यह आकाश चाण्डाल के झोंपड़े तथा ब्राह्मण की कुटिया में समरूप से निवास करता है। सब को आश्रय देकर स्वयं असंग रहता है। शुभ तथा अशुभ दोनों आकाश को विचलित नहीं करते। हर्ष एवं शोक दोनों अवस्थाओं में सम रहता है। वह महात्माओं के समान सर्वव्यापी तथा ज्ञानियों के हृदय के समान निर्लिप्त है। दिन में वह श्वेत सात्विक, सन्ध्या काल में लाल राजसी तथा रात्रि काल में अन्धकार तामसी आवरणों द्वारा ढक जाने पर भी उन रंगों से, उनसे, असंग रहता है। अनन्त जगत् इस आकाश से उत्पन्न होते हैं। उसी में विलीन हो जाते हैं।'

'ओह !' राजा ने आकाश की शून्यता लक्ष्य करते हुए कहा, 'आकाश कितना शून्य है ?'

'राजन्।' मन्त्री ने कहा, 'हम सब किंवा यह जगत् आकाश का रूप है। आत्मा आकाश है। चेतन आकाश है। अतएव आकाश को शून्य की संज्ञा देना कहाँ तक उचित कहा जायगा ?'

राजा विचार करने लगा। मन्त्री ने कहा, 'भगवन् ! राज्य व्यवस्था का प्रबन्ध करना चाहिए। समुद्र-तट पर व्यर्थ समय खोने से लाभ नहीं होगा।'

'ठीक है मन्त्री।'

चारों विपश्चितों ने राज्य-व्यवस्था का प्रबन्ध किया। मण्डलेश्वरों को नियुक्त किया। व्यवस्था पूर्ण हो जाने पर उन्होंने अपने मंत्रियों से कहा,

'मन्त्रीगण ! हमने समुद्र तक दिग्विजय की है। समुद्र पार द्वीप है । उसके पश्चात् पुनः समुद्र है। तत्पश्चात पुनः द्वीप है । हम उन्हें देखने चलेंगे।'

:०: :०: :०:

चारों विपश्चितों ने अग्निदेव का स्मरण किया। अग्निदेव उनके सम्मुख प्रगट हुए। अग्नि ने सस्नेह पूछा,

'विपश्चित ! क्या चाहते हो ?'

'भगवन् ! पंचभौतिक दृश्य में जो प्राणी हैं, उनको हमें देखने की इच्छा है।'

'एवमस्तु।'

अग्निदेव अन्तर्धान हो गए । राज-विपश्चितों ने अपने-अपने मन्त्री एवं सामन्तों आदि को एकत्र कर विदा ली। एकत्र समुदाय शोकाकुल हो गया। मन्त्री ने कहा,

'राजन् ! ईश्वर की माया का अन्त नहीं है। आप कैसी यात्रा करने जा रहे हैं। इससे क्या लाभ होगा ?'

'मन्त्रीवरो !' राजा बोले, 'आप लोग कर्त्तव्यनिष्ठ हों। अपने कर्मों में रत होकर प्रजा का रन्जन कीजिए। हम लोगों ने जो निश्चय किया है, वही करेंगे।'

चारों विपश्चितों ने समुद्र में अपनी-अपनी दिशाओं से प्रवेश किया । राजा विपश्चित को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा । सामुद्रिक जन्तुओं एवं अनेक हिंस्र प्राणियों द्वारा उदरस्थ होते, पुनः जन्म लेते अनेक योनियों में उनको भ्रमण करना पड़ा। वे अपनी-अपनी दिशाओं में भ्रमण करने लगे।

दक्षिण दिशा का विपश्चित पिशाचिनी पर मोहित होकर अनेक योनियों में घूमता रहा। पूर्व दिशा का विपश्चित बहता हुआ मच्छ के मुख में चला गया और जन्म-मृत्यु के बन्धन में फँस गया।

पश्चिम दिशा का विपश्चित हम-कूप पक्षी पर आरूढ़ होकर कुशद्वीप में जाकर अनेक योनियों में भ्रमण करने लगा। उत्तर दिशा के विपश्चित ने मकरी के मुख में जाकर अनेक जन्म प्राप्त किए। कोई पक्षी हुआ, कोई

वृक्ष हुआ, कोई पशु हुआ। इस प्रकार अग्निदेव के आशीर्वाद के कारण अपनी इच्छानुसार अनेक योनियों में भ्रमण करते वे भगवान् की अनन्त माया देखने लगे।

चारों विपश्चित एक ही शरीर के अंग थे। जिस प्रकार जिह्वा, नासिका, नेत्र, मुख की रुचियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, उसी प्रकार अपनी रुचि एवं वासना के कारण वे अपनी रुचियाँ बदलते थे। विपश्चित एक ही था। परन्तु अपनी दृढ़ वासना के अनुसार चारों दिशाओं को जीतना चाहता था। अतएव वह स्वयं अपने संकल्पानुसार चार रूप में प्रकट हुआ था। विपश्चित की गति विष्णु भगवान् के सदृश हो गई थी, जो एक ही समय अनेक स्थानों में प्रकट होकर अनेक कार्य करते हैं।

पश्चिम दिशा का विपश्चित वन में विचर रहा था। एक हाथी आया। उसे मारकर गर्त में डाल दिया। दूसरे विपश्चित को राक्षस उठा ले गये और उसे बड़वाग्नि में फेंक दिया। वह भस्म हो गया। तीसरे विपश्चित को एक विद्याधर स्वर्ग ले गया। वहाँ उसने इन्द्र का अपमान किया और इन्द्र के क्रोध में भस्म हो गया। चौथे विपश्चित को एक मच्छ ने आठ टुकड़ों में करके मार डाला। मृत्यु के पश्चात् वे आकाश-रूप हुए। उनका पूर्व जन्म का संस्कार लोप नहीं हुआ था। अतएव उनमें स्फुरण हुआ। स्फुरण के कारण वे अपने अन्तर्वाहक शरीर द्वारा स्फुरण करने लगे।

उन विपश्चितों में एक विष्णु स्थान में अवसान प्राप्त कर मुक्त हुआ। मच्छ के उदर में रहने के पश्चात् दूसरा विपश्चित एक देश का राजा हुआ और राज्य किया। तीसरे ने चन्द्रलोक के निकट जाकर चन्द्रलोक प्राप्त किया और चौथा सम्पूर्ण पृथ्वी आदि में भ्रमण करते हुए भूगोल देखने लगा

विपश्चित बहुत दिनों तक भ्रमण करते रहे। एक भ्रमण करता रहा और चौथा पर्वत पर मृग हुआ। तिर्यक् देश के राजा ने वह मृग पकड़कर राजा दशरथ को भेंट किया। दशरथ ने मृग को रामचन्द्र के क्रीड़ास्थल में रखवा दिया।

:o: :o: :o:

मृग आया। महाराज दशरथ के सभामण्डप में राम ने वसिष्ठ से कहा, 'भगवन् ! यही वह मृग है जिसकी कथा आपने विपश्चित रूप से कही थी ?'

'हाँ राम।'

'गुरुदेव ! इसे आप मनुष्य-योनि में क्यों नहीं प्रकट करते।'

राम की बात सुनकर सभी लोगों ने राम का समर्थन किया। राजा दशरथ ने गुरु वशिष्ठ से निवेदन किया। वसिष्ठ बोले,

'राम ! यह इस प्रकार अपनी योनि नहीं त्याग सकता। मैं इसके इष्ट अग्निदेव का आवाहन करता हूँ। उनसे इसका उपकार होगा।'

वसिष्ठ ने पद्मासन लगाकर अग्निदेव का ध्यान किया। स्मरण करते ही बिना समिधा अथवा इन्धन के सभामण्डप में अग्निज्वाला प्रकट हो गई। अग्निज्वाला देखकर चंचल मृग अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक अग्नि के समीप वह चला आया।

'भगवन् !' वसिष्ठ ने अग्निदेव से निवेदन किया। 'मृग आपका भक्त है। उसने आपकी पूजा की है। आप कृपाकर इसे पुनः विपश्चित बनाइये, ताकि यह ज्ञान प्राप्त कर सके।'

गुरु वशिष्ठ कह ही रहे थे कि मृग उछलकर अग्निज्वाला में कूद पड़ा। वह किंचित् मात्र भी दुःखी न हुआ। वह अत्यन्त प्रसन्न दिखाई पड़ रहा था। शनैः-शनैः उसका शरीर लुप्त हो गया और उसके स्थान पर वह कांतिमय मानव-रूप धारण कर उस अग्नि से बाहर निकला।

उसके वस्त्र सुन्दर थे। मस्तक पर रत्नजटित मुकुट था। कण्ठ में यज्ञोपवीत एवं रुद्राक्ष की माला थी। उसके बाहर आते ही अग्निज्वाला अंतर्हित हो गई। विपश्चित को देखकर समस्त सभामण्डप विस्मयापन्न हो गया। सबकी दृष्टि उस पर केन्द्रस्थ हो गई थी। कोई कुछ बोल न रहा था। सभी स्तब्ध थे। विपश्चित को अपने पूर्व जीवन का सब वृत्तान्त स्मरण हो आया। वसिष्ठ के सम्मुख आकर वह प्रणाम कर बोला —

'ब्रह्मन् ! यह माया-भ्रामक, अज्ञानी आपको नमस्कार करता है।'

'राजन् !' वशिष्ठ ने कहा, 'तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा। तुम्हारी अविद्या नष्ट होगी।'

विपश्चित ने सभामण्डप और सिंहासन पर सूर्य-सदृश राजा दशरथ को ध्यानपूर्वक देखा। राजा दशरथ का अभिवादन करते हुए उसने कहा,

'राजन् ! मेरी पूजा ग्रहण कीजिए।'

राजा दशरथ ने विपश्चित को अपने बगल में सिंहासन पर बैठाते हुए कहा,

'राजन् ! आपने बहुत भ्रमण किया। आप शिथिल हो गए होंगे। कुछ विश्राम कीजिए।'

विपश्चित विश्वामित्रादि ऋषियों को नमस्कार कर बैठ गया। राजा दशरथ ने विपश्चित से पूछा,

'महाभाग, क्या आप कहानी सुनाएँगे ?'

विपश्चित की कहानी वही थी जिसे वसिष्ठ ने सुनाया था। सुनकर लोग कह उठे--आश्चर्य ! ! !

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १०८–१३०

अनेक स्थान पर विपश्चितों का उल्लेख मिलता है। स्वरोचिष मन्वन्तर के इन्द्र का नाम है। मार्कण्डेय पुराण (१३ : १३–१५) के अनुसार एक राजा विपश्चित ने विदर्भराज की कन्या से विवाह किया था। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण (३ : ४२ : १) में लोहित-वंशज के रूप में विपश्चित का उल्लेख आता है। उसे दक्ष जयन्त लौहित्य का शिष्य कहा गया है। इसी उपनिषद (३ : ४१ : १) में एक आचार्य के रूप में उल्लेख किया गया है। यहाँ उसे पराशर-वंशी कहा गया है, किन्तु योग-वासिष्ठकार का विपश्चित इन सबसे भिन्न प्रतीत होता है। ऋग्वेद में मर्मज्ञ विद्वान के अर्थ में विपश्चित शब्द का प्रयोग किया गया है।

ऋग्वेद : ८ : ५४ : ९
३ : ३६ : ७
८ : १ : ४
८ : ३ : ३
८ : ४३ : १९
९ : ६४ : २५

शतपथ ब्राह्मण : ३ : ५ : ३

ब्रह्ममस्तक

पितामह ब्रह्मा, ब्रह्मलोक में थे। गम्भीर थे। ज्ञानसमाधि लगी थी। उनकी चित्त-वृत्ति वेद की ऋचाओं के गूढ़ अर्थ समझने में संलग्न थी।

कुल काल पश्चात् सामवेद की ऋचाएँ अनायास उनके मुख से मुखरित होने लगीं। पवित्र स्वरलहरियाँ वायुमण्डल को भरती शुद्ध करने लगीं। वायुमण्डल वेदमय हो उठा। पितामह बाह्य वस्तुज्ञान-हीन हो गए।

इसी समय शिव वहाँ आये। पितामह का एकान्त सामगान सुनने लगे। पवित्र गान-लहरियों में आत्मभाव का सर्जन हो रहा था।

शिव कुछ काल तक पितामह को एकाग्र दृष्टि से देखते रहे। उनको आश्चर्य हुआ। वे अतिथि थे। ब्रह्मा परम्परा एवं मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे थे। उनका औपचारिक स्वागत नहीं हो रहा था। रहस्य समझ में न आया।

शिव क्रोध से ताम्रवर्ण हो गए। उन्होंने ब्रह्मा का पंचम मुख नख से काट लिया।

मुख कटने पर पितामह की मुद्रा किंचित् मात्र विचलित न हुई। उन्हें ज्ञान नहीं हुआ। पितामह का साम-संगीत वायुमण्डल को पूर्ण करता रहा।

शिव के विस्मय की सीमा न रही। ध्यानपूर्वक ब्रह्मा की ओर देखकर बोले,

'ब्रह्मन् ! मैंने आपका मुख काट लिया है।'

'अच्छा।' ब्रह्मा ने शांतिपूर्वक कहा।

'भगवन् !' मैंने क्रोध के वशीभूत होकर अज्ञान कर्म किया है।'

'मुझे आपके क्रोध ने स्पर्श नहीं किया है।'

'देव ! आपका मुख।' शिव उदास हो गए।

-इस मुख से मेरा क्या प्रयोजन ?' ब्रह्मा ने कटे मुख की ओर उपेक्षा-पूर्वक देखते हुए कहा।

'भगवन् !'

'शिव ! मुझे किंचित क्लेश नहीं हुआ है। मुख यदि रहा तो भी ठीक है, न रहा तो भी ठीक।'

'यदि आज्ञा हो तो मैं इसे पुनः जोड़ दूँ ?'

'कुछ लाभ न होगा '

'क्यों ?'

'शरीर मिथ्या है !'

'किन्तु ?'

'शरीर अपने संकल्प का परिणाम है। यह मुख मेरा संकल्प था। मुख मैं नहीं था, शिव !'

शिव लज्जित हो गए।

ब्रह्मा के मुख पर पवित्र स्मित रेखा खिंच उठी।

'मैंने आपके संकल्प में क्षोभ उत्पन्न किया है भगवन् !'

'नही रूद्र।'

'भगवन् !'

'क्षोभ अहंकार का कारण है। अहंकार के कारण संकल्प का अस्तित्व होता है। अहंकार पाँच मुख का करण है। आप ने मुझे कष्ट नहीं दिया है। अहंकार को क्षति पहुँचाया है। अहंकार को क्षति पहुँचा कर ब्रह्मपद प्राप्त किया जा सकता है।'

'भगवन् !'

'शिव ! मेरे चिदाकाश का अंश मेरा मुख नहीं था। फिर मुझे क्रोध, हर्ष, दु:ख अथवा कष्ट क्यों होता है ? जिस प्रकार पाँच मुख, उसी प्रकार चार, तीन, दो और एक या एक भी नहीं। मिथ्या एवं अहंकारस्वरूप वस्तु के निमित्त खेद करना बुद्धिमानी कही जायगी। असत्य को एक दिन असत्य होना था। हाँ, भ्रममय कालदृष्टि से उसमें कुछ शीघ्रता अवश्य प्रतीत होती है।'

'महात्मन् ! आपका निश्चय ?'

'मेरा निश्चय केवल आत्मपद में है महेश ! चिदाकाश में किंचित् मात्र विक्षोभ नहीं उत्पन्न हुआ है। मैं इस मुख को पुनः लगा सकता हूँ। किन्तु उससे लाभ क्या होगा ?'

शिव का मस्तक नत हो गया। ब्रह्मा के कटे मस्तक से रक्त निकल रहा था। पितामह किंचित्मात्र विचलित नहीं हुए। उनकी मुद्रा एवं भाव में परिवर्तन नहीं हुआ। पुनः सामध्वनि मुखरित होने लगी। शिव ने अपनी विचार-वीथियों में तल्लीन होते हुए अनन्त की ओर प्रस्थान किया।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १२५

वटधाना

भूलोक में वटधाना देश है। उसके राजा के तीन पुत्र थे। उन पुत्रों में एक पुत्र ने एक दिन अपने दूसरे भ्राता से प्रश्न किया।

'भाई ! यह आकाश कितना विशाल है ?'

'कहीं-न-कहीं अन्त होगा ही।' दूसरा भाई बोला।

'इसमें कितने नक्षत्र हैं ? कितने ग्रह हैं ? कितने उपग्रह हैं ?' तीसरे भाई ने प्रश्न किया।

'उनकी भी कहीं सीमा होगी।' दूसरा भाई बोला।

'अनन्त है।' प्रथम भ्राता ने कहा।

'क्या बात करते हो ? सबका अन्त होता है।' द्वितीय भ्राता ने कहा।

'पृथ्वी गोल है अतएव उसका छोर कैसे होगा ?' प्रथम भाई ने जिज्ञासा प्रकट की।

'तो ?' द्वितीय ने प्रश्न किया।

'आकाश के चमकते नक्षत्रादि यदि पृथ्वी से बड़े हैं, तो उनका कौन अन्त पा सकता है ?' तृतीय बन्धु ने कहा।

'मनुष्य क्या नहीं कर सकता ?' प्रथम भ्राता ने उत्तर दिया।

'तब —?' दूसरे भाई ने प्रश्न किया।

'चलो हम चलें। देखें इसका कहाँ अन्त होता है।' तृतीय भाई ने कहा।

'इससे लाभ ?' प्रथम भ्राता ने प्रश्न किया।

'एक बात का पता चलेगा।' द्वितीय भ्राता ने कहा।

तीनों राजकुमार विपश्चित की तरह संसार के ओर-छोर का पता लगाने के लिए चल पड़े।

:o: :o: :o:

सत्रह लाख वर्ष समाप्त हो गए। उन राजकुमारों को संसार के आदि-अन्त का पता नहीं चला। वे तीनों राजकुमार अभी तक अक्षीण, निश्चयाधीन संसार की सीमा का पता लगा लगाने के लिए परिभ्रमण कर रहे हैं। अपनी यात्रा में वे समुद्र पाते हैं। पर्वत पाते हैं। पृथ्वी पाते हैं। पुनरपि समुद्र, पर्वत, पृथ्वी क्रम से पाते रहते हैं। उनका जन्म होता है। उनकी मृत्यु होती है।

अपने दृढ़ संकल्पों के कारण निरन्तर जन्म लेकर परिभ्रमण में लग जाते हैं। स्वप्न-तुल्य अनन्त इस सृष्टि का उन्हें आदि-अन्त नहीं मिला। वह अनन्त है। उस अनन्त में वटधाना घूम रहे हैं।

जिसका आदि नहीं है, जिसका अन्त नहीं है, उसके आदि-अन्त को ढूँढ़ निकालने में वटधाना राजकुमार कब सफल होंगे, भविष्य के गर्भ की बात है। इस उपाख्यान के समाप्त करने की बात भी भविष्य के लेखकों पर छोड़ देता हूँ।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १३१

शव

'भास !' महाराज दशरथ ने विपश्चित से पूछा, 'आपने अपने गमनागमन काल में कौन-कौन-सी सृष्टियों का अवलोकन किया है ? क्या आप अपनी स्मृति द्वारा प्रकाश डाल सकेंगे ?'

'महाराज ! जैसी आज्ञा ।'

सभास्थित सामन्त, सभासद, मन्त्री, अमात्य, सेनानी, पुरोहित, मुनिमण्डल, पौरगण, राज्य कर्मचारी एवं अधिकारी आदि की जिज्ञासु दृष्टि विपश्चित के मुख मण्डल पर केन्द्रस्थ हो गई ।

'भगवन् !' विपश्चित ने कहना आरम्भ किया, 'सर्व प्रथम मैं अपने इष्टदेव अग्निदेव को नमस्कार करता हूँ । उनकी कृपा द्वारा ऋषियों का अनुभव प्राप्त कर, इस शुभ सभास्थल में आप महानुभावों की सेवा में कुछ निवेदन करने योग्य हुआ हूँ ।'

विपश्चित ने करबद्ध मूक प्रणाम इष्टदेव अग्नि का ध्यान करते हुए किया । पश्चात् उपस्थित सभी प्राणियों को प्रणाम कर महाराज दशरथ की ओर विनम्र दृष्टि से देखते हुए कहना आरम्भ किया,

'अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए, एक बार मैं सहस्त्रों वर्षों तक वृक्ष योनि में था । जब मेरी कोई टहनियाँ काटता, तो मुझे अत्यन्त कष्ट होता था । मेरे हरित पल्लवों को तोड़कर तथा पीटकर लोग नाना प्रकार के कष्टों से मुझे पीड़ित करते थे । मैं रात-दिन सोचता था, फल, फूल, पल्लव, सूखी समिधा एवं लकड़ियों से जगत् की सेवा करता हूँ, बदले में कुछ चाहता नहीं । फिर भी लोग मुझे कष्ट देते हैं ! मैंने मूकवत् यह प्रश्न पथिक, पशु, पक्षी, मानव किंवा प्राणी मात्र से किया । किसी ने कभी कोई उत्तर नहीं दिया । मैं अपने इस जीवन से ऊब गया था । यौवनावस्था में ही लोगों ने मुझे काट दिया ।

'वृक्ष के पश्चात् मैं सुन्दर सरोवर का उत्फुल्ल कमल हुआ । मेरी सुन्दरता पर मुग्ध होकर कवियों ने सुन्दर काव्य रचना की । मधुकर गुनगुन करते मुझे गाना सुनाते । मैं उन्हें अपना सौरभ और मकरन्द

दान करता । किन्तु कवियों ने मुझे किसी प्रकार प्रसन्न करने की चेष्टा न की । निदान मुझे भी अपनी लीला एक दिन समाप्त करनी पड़ी ।

'इस प्रकार पक्षी, श‍ृङ्गाल, मृग के जन्म धारण करता हुआ, देव कानन में मंजरी हुआ । देवांगनाएँ एवं देवगण मुझे पोसते थे, मेरे सौरभ पर मुग्ध थे, मेरे गुणों पर मुग्ध होकर मेरी सेवा करते थे । देवांगनाएँ अपने सुन्दर कण्ठों से लगाकर मुझे जैसे अपना सर्वस्वदान कर देती थीं । मैं उनके स्पर्श-सुख का ग्राहक था । मैं उनके आत्म-समर्पण पर मुग्ध हो गया था । इस जीवन के पश्चात् मैं रमणी हुआ ।

'रमणी-जीवन में मुझे सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हुई । रमणी-जीवन के पश्चात् मैं सिद्ध हुआ । सिद्धता प्राप्त कर मैं ब्रह्माण्डों में विचरण करने लगा । मैंने वहाँ एक स्त्री देखी । उसके शरीर में अनेक ब्रह्माण्ड थे । दर्पण-सदृश उसके शरीर में अनेक जगत् दिखाई पड़ रहे थे । साश्चर्य उसे प्रणाम कर मैंने पूछा,

'देवि ! क्या यह अकिंचन आपका शुभ परिचय पाने का अधिकारी है ?'

'साधो ! मैं शुद्ध चित्त शक्ति हूँ । समस्त ब्रह्मांड एवं जगत् मेरे अंगों में स्थित है ।'

'मैं देवी को नमस्कार कर दूसरी सृष्टि में पहूँचा । वहाँ केवल पुरुष निवास करते थे । नारियों का नाम नहीं था । पुरुष द्वारा पुरुष की सृष्टि होती थी ।

'अनन्तर इस सृष्टि को त्याग कर आगेवाली सृष्टि में पहुँचा । वहाँ सूर्य, चन्द्र, दिन, रात, अग्नि और तारे थे । वहाँ की समस्त वस्तुएँ अपने प्रकाश द्वारा प्रकाशित थीं ।

'और आगे बढ़ा । उस सृष्टि में केवल आकाश था । वहाँ सब कुछ आकाश द्वारा उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता था ।

'उस सृष्टि को देखकर आगेवाली अन्य सृष्टि में गया । वहाँ देखा कि सभी प्राणी किंवा जीवधारी एक समान थे । न तो वहाँ दु:ख था, न रोग । सब जैसे गंगा-तट पर बैठे थे ।

'एक सृष्टि में मन्दराचल द्वारा क्षीर समुद्र मथा जा रहा था। इस सृष्टि को छोड़कर आगे बढ़ा। देखा कि मानव आकाश में उड़ते थे। देव-स्थानों में वेदपारंगत मानव विचरणशील थे।

'मैं एक दूसरी सृष्टि में गया। देखा--मन्दराचल पर कल्प वृक्षों के पवित्र झुरमुट से स्थान सुरम्य था। वहाँ मुझे मन्दर अप्सरा मिली। मुझे साथ लेकर वह गंगा-तट पर चली आई। मैं सात वर्षों तक उसके साथ रहा। सुखपूर्वक बिताता। ऐसा कोई स्थान नहीं था जहाँ मैं न गया हूँगा। एक ब्रह्माण्ड के महाकाश से गिरकर मैं पृथ्वी पर आया। गिरकर सो गया। महागाढ़ सुषुप्ति अवस्था में स्थिर हो गया। उस सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् मुझे स्वप्न में आपकी यह सृष्टि दिखाई दी।'

श्रीरामचन्द्र ने आश्चर्य-चकित होते हुए पूछा, 'और क्या आपने देखा?'

'मैं एक सृष्टि में था। देखा, आकाश में स्पन्दन हुआ। कुछ छाया-सी दिखाई पड़ी। वह छाया बढ़ते-बढ़ते इतनी विशाल हुई कि, उसने सम्पूर्ण आकाश को ढक लिया। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रादि छिप गये। इस भयंकर स्थिति की भयंकरता उस समय और भयंकर हो गई, जब भूकम्प की गति तीव्र हो गई, मैं डर गया। अपने इष्टदेव अग्निदेव का ध्यान किया— 'भगवन्! जन्म-जन्मान्तर से मेरी आप रक्षा करते आये हैं। आपके आशीर्वाद से जगत् देखने निकला हूँ। देवेश! क्या आप हमारी इस समय रक्षा नहीं करेंगे?'

'पुत्र! भयभीत न हो।' आकाशवाणी सुन पड़ी।

'अग्निवाहन तोता मेरे सम्मुख आ गया। तोते पर आसीन होकर आकाश मार्ग द्वारा गमनशील हुआ। विशाल आकाशीय शरीर सीमा से बाहर निकला। देखा, वह आकाशीय शरीर भयंकर नाद करता हुआ, शव के समान गिर पड़ा। उस भीमकाय शव के गिरने पर पर्वत तक पृथ्वी में धँस गये। तरुवरादि नष्ट हो गए। प्राणियों का नाश हो गया। यह भयंकर अवस्था देखकर मैंने अग्निदेव से निवेदन किया,

'इष्टदेव! यह भयंकर अवस्था किस प्रकार उत्पन्न हुई? इस प्रकार का विशाल शरीर, तो कभी देखने या सुनने में नहीं आया था।'

'पुत्र !' अग्नि बोले, 'तुम शान्त होकर जो कुछ हो रहा है देखो। शव के शान्त हो जाने पर सब कुछ कहूँगा।'

अग्निदेव कह रहे थे कि, चारों ओर से गन्धर्व, देवता, विद्याधर, सिद्धादि निकलकर एकत्र हो गए। यही ध्वनि सुनाई पड़ती थी। 'यह शव कैसा ? बिना प्रलय काल आये पृथ्वी कैसे शवाच्छादित हो गई ?'

'किन्तु पृथ्वी की रक्षा कैसे होगी ?' एक ध्वनि उठी।

'बिना शव का नाश किए पृथ्वी कैसे सुखी होगी ? शव यदि इसी प्रकार पड़ा रहा, तो दुर्गन्ध से ब्रह्माण्ड तक दूषित हो जायगा।' दूसरी जनवाणी सुन पड़ी।

'मित्रो ! हमें शववाहिनी देवी की स्तुति करनी चाहिए।' तीसरी जनवाणी गूँजी।

देवी की स्तुति होने लगी। जिस समय स्तुति हो रही थी, उसी समय सप्तद्वीप शव के उदर में समा गए। भुजाएँ सुमेरु आदि पर्वतों को आच्छादित करतीं और दूसरे अंग ब्रह्माण्ड को लाँघते हुए, पाताल तक पहुँच गये।

आकाश में विकट ध्वनि होने लगी। शववाहिनी देवी यक्ष, वैताल, एवं भैरवादि अपने गणों के साथ अग्निप्रवाह-तुल्य चली जा रही थी। केश श्वेत थे। नेत्र रक्त थे। कंठ में मुंडमाला थी। खड्ग, मूसल, ध्वजा, ऊखल आदि नाना प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित थी। बड़वाग्नि के समान देवी को देखते ही, देवताओं ने पूजाकर निवेदन किया :

'माँ ! पुत्रों की रक्षा करो। हम आपकी शरण हैं।'

'देवी चण्डिका ने प्राणवायु वेग से खींची। शव में जितना रक्त था, प्राण वायु द्वारा देवी पान कर गईं। रक्तपान से प्रसन्न होकर देवी नाचने लगीं। देवी के नेत्रों की अग्नि-ज्योति द्वारा शव का मांस परिपक्व होने लगा। देवी के गण मांस भक्षण करने लगे। शव का कुछ मेदा बच गया। उसी से पृथ्वी का नाम मेदिनी हुआ। अस्थियों के अवशेषों द्वारा हिमालयादि पर्वत हुए। ब्रह्मा जी सृष्टि की यह अवस्था देखकर, एक नवीन सृष्टि की रचना करने लगे।

शव की यह अवस्था देखकर मैंने अपने इष्टदेव अग्नि से पूछा, 'भगवन्! यह शव किसका था ?

'वत्स !' अग्निदेव बोले, 'चिदाकाश चिन्मात्र है। सर्वज्ञ है। अनामय है। अनन्त है। आत्म तत्व है। अपने-आप में स्वयं स्थित है। उसका आभास संवेदन चित्त है। वह जब स्फुरित होता है, तो उसमें यह भावना उत्पन्न होती है कि, वह तेज है, अणु है। वह अणु की भावना द्वारा अणु हो जाता है। अणु में जब शरीर की भावना उत्पन्न होती है, तो उसमें शरीर का संकल्प उदय होता है। अपने संकल्प के कारण वह शरीर-रूप धारण करता है। इन्द्रियाँ घनीभूत होने लगती हैं। इन्द्रियाँ जब विषयों का ग्रहण करने लगती हैं, तब वही चिद्रूप जीव, प्रमाद के कारण आधाराधेय भाव ग्रहण करता है। प्राण, मन, अहंकार ग्रहणकर, वह अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धव, पर-अपर की भावना करने लगता है। पंचभौतिक तत्वों को अपना शरीर समझने लगता है। वह अपने स्फुरण के अनुसार अपना अंग प्राप्त करता है।'

परिषद विपश्चित की ओर आश्चर्यमय दृष्टि से देखने लगी। राजा दशरथ अपने सिंहासन पर झुक गए। श्रीरामचन्द्र की मुद्रा गम्भीर हो गई। अग्निदेव पुनः बोले,

'चिन्मात्र के स्फुरण के कारण चित्त उत्पन्न हुआ है। चित्त ने अपने को तेज, अणु समझा। उससे अहंकार वृत्ति अहंकार, निश्चयात्मक बुद्धि, चैतन्य, स्वरूप, चित्त एवं संकल्प-विकल्प रूप मन उत्पन्न हुआ। इनके पश्चात् तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं। उसके अनन्तर कल्पनानुसार शरीर एवं इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। अहंकार-स्वरूप एक दैत्य एक ऋषि की कुटी पर आया। अपने बलगर्व द्वारा प्रेरित होकर उसने मुनि की कुटी नष्ट कर दी।'

'राक्षस !' मुनि ने पूछा, 'तुमने यह क्या किया ?'
'मुने ! यह है मेरा पौरुष, यह है हमारी शक्ति।'
'तुम्हारी यह शक्ति पाशविक है। यह शक्ति नहीं अहंकार है।'

'अच्छा देखो !' दैत्य ऋषि की ओर अग्रसर अपनी शक्ति-प्रदर्शन के निमित्त हुआ ही था कि, मुनि ने शाप दिया, 'दुष्ट ! मच्छर हो जा ।'

'ऋषि के शाप द्वारा दैत्य का शरीर भस्म हो गया । उसका संवित भूताकाश-रूप हो गया । आकाश में उसका संयोग हुआ वायु से । उस समय ऋषि के शाप की वासना उसमें उदित हुई । वासना के साथ पंच-तन्मात्राएँ उदित हुईं । अज्ञान के कारण मृत्युकाल के समय की शाप की बात उसे स्मरण थी । उसी भावना के कारण वह स्वयं मच्छर-रूप हो गया ।

'वह मच्छर हरित दूर्वादलों में, कमल दल में, पल्लवों पर तथा मलिन स्थानों में अन्य मच्छरों के साथ भ्रमण करने लगा ।

'अकस्मात् एक मृग आ गया । मृग के चरणों के नीचे वह पिस गया । अन्तिम अवस्था में काल-स्वरूप मृग की मूर्ति उसके मन में बैठ गई ।

'मृत्यु पश्चात् जब उसका संवित भूताकाश में स्थित हुआ, तो अन्तिम मृगाकार वासना के कारण, उसमें मृग होने की वासना स्फुरित हुई । अत-एव वह मृग योनि में उत्पन्न होकर सुन्दर मृग हुआ ।

'वन में मृग रहित दूर्वादलों द्वारा अपनी क्षुधा पूर्ति करता स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करता था ।

'एक दिन धनुष-बाण लिए एक व्याध ने उसे देख लिया । मृग बाणों द्वारा आहत होकर गिर गया । वह अपना अन्तिम श्वास तोड़ रहा था । धनुष-बाण लिए व्याध उसके सम्मुख आकर खड़ा हो गया । अपने हत्यारे की साकार मूर्ति उसकी पथराती हुई आँखों में खिंच उठी । अपनी अन्तिम दृढ़ वासना के अनुसार वह व्याध हुआ । धनुष-बाण लेकर वनों में घूमता शिकार खेलने लगा ।

'व्याध वन में पशु-पक्षियों की हत्या करता प्रसन्नतापूर्वक वन में विचरण करता था । उसको हत्या करने में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं होता था । एक दिन वह एक मुनि के आश्रम पर अनायास पहुँच गया ।

'बधिक !' मुनि ने पूछा, 'हिंसा में तुम्हें क्या आनन्दानुभव होता है ? निर्दयतापूर्वक जीवों की हत्या करते और उन्हें कष्टपूर्वक मरते देखकर तुम्हें प्रसन्नता होती है ?'

'महात्मन् ! मुझे इसी में तृप्ति मिलती है ।'

'व्याध !' मुनि ने कहा, 'यदि तुम एक हत्या कर तृप्ति का अनुभव करते हो, तो पुनः दूसरे दिन हत्या क्यों करते हो ? तुम्हें तृप्ति तो प्राप्त नहीं होती ?'

व्याध की मुद्रा विचारशील हो गई ।

'बधिक !' मुनि ने कहा, 'क्या तुमने कभी सोचा है। तुम्हारी यह चेष्टाएँ पाप कर्म कही जाती हैं। तुम अपने लिए नरक का द्वार खोल रहे हो ?'

'नरक ! मेरे यहाँ तो पीढ़ियों से यही कर्म होता आया है। यही तो हमारे कुटुम्ब की परम्परा है ।'

'परम्परा कुत्सित विचारों एवं पापों को प्रश्रय नहीं देती । यह परम्परा नहीं है । अज्ञान परम्परा तुम्हारे कुटुम्ब में चली आ रही है उसी का वह एक रूप है ।'

'किन्तु इनके माँस से हमारे कुटुम्ब का कार्य चलता है। यह हमारी भोज्य सामग्री है ।'

'भोग-विद्युत्-किरणों के समान है। तुम्हें हरिण का मांस भक्षण करते हुए कितना काल हुआ बधिक ?'

'बाल्यकाल से ही उनका उपभोग करता हूँ ।'

'किन्तु उस माँस के भोग से तुम्हारी कभी तृप्ति हुई ?'

'नहीं ।'

'तब, यह भोग तुम्हारा मिथ्या है ।'

'तो...!'

'बधिक ! तुम सुखी होना चाहते हो ?'

'अवश्य –'

'कितना सुख चाहते हो ?'

'जो कभी समाप्त न हो।'

'वह सुख शान्ति से प्राप्त होगा, लोगे ?'

'लूँगा।'

'वह सुख निर्वाण है वधिक !'

'निर्वाण !' व्याध का आश्चर्य से मुख खुल गया।

मुनि शान्त बैठे वधिक की ओर देख रहे थे। वधिक ने गम्भीर नील गगन की ओर देखा। प्रसन्न पक्षी-पंक्ति कलरव करती आकाश में उड़ती चली जा रही थी। धनुष-बाण पर, उसका हाथ अनायास गया। धनुष पर बाण रखकर, शर चलाना चाहता था कि, आश्रम के चारु तरु-पल्लवों में कोयल कूक उठी। हरिण उससे घृणा न कर उसके सम्मुख आकर बैठ गए। सारिका की पवित्र सुरीली कण्ठ-ध्वनि में संगीत-लहरियाँ थिरक उठीं। सिंह के शिशु, आश्रमीय हरिण शिशु के साथ प्रेम से खेलने लगे। वधिक निश्वास त्यागता गम्भीर हो गया। धनुष-बाणवाले हाथ अनायास झुक गए। उसकी आँखें भर आईं। वह ऋषि के चरणों पर गिरकर बोला, 'भगवन् ! मुझे शान्ति चाहिए।'

ऋषि मुस्कुरा उठे।

'महात्मन् !' बधिक बोला, 'मैं इतना पाप कर चुका हूँ कि, कठिन अभ्यास द्वारा शान्ति प्राप्त करना मेरे लिए कठिन होगा। यदि आप सरल मार्ग मुझे बताएँ, तो मैं आपका बहुत ऋणी हूँगा।'

'व्याध ! मैं तुम्हें सरल मार्ग का उपदेश दूँगा। तुम चिर शान्ति प्राप्त कर सकोगे।'

बधिक ने पूर्ण श्रद्धाभक्तिपूर्वक मुनि का चरण स्पर्श किया।

'बधिक !' मुनि ने कहा, 'शम एवं दम से आत्मप्राप्ति होती है।'

'महात्मन् ! शम क्या है ?'

'मन को एकाग्र करना शम है।'

'दम—?

'इन्द्रियनिरोध।'

'इनके द्वारा किस प्रकार मुझे शान्ति प्राप्त होगी?'

'मन की एकाग्रता द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। अन्तःकरण की शुद्धता द्वारा आत्मज्ञान का उदय होता है। आत्म-ज्ञान द्वारा संसार-भ्रम नष्ट होगा। भ्रम नष्ट होने के पश्चात् प्राप्त होगी चिर शान्ति।'

बधिक ने गुरुस्वरूप मुनि की पूजा की। तप के लिए प्रणाम कर, प्रस्थान किया।

'मेरी कुटी के बाहर एक दिन एक व्यक्ति सो रहा था। श्वास चल रहा था। मैंने उसे ध्यानपूर्वक देखा। भावना उठी। उसके शरीर में प्रवेश कर उसके अन्तःकरण का हाल जानूं।

'पद्मासनासीन योग से मैंने उसके श्वास-मार्ग द्वारा उसके भीतर प्रवेश किया। भीतर प्रवेश कर देखा। रसों को ग्रहण करने वाली शिराओं का जाल बिछा था। मल-मूत्र, वीर्य, रक्त, पित्त-कफ, वायु इत्यादि ग्रहण करनेवाली शिराएँ थीं। अनेक विकारों को वहाँ लक्ष्य किया। रक्त-मज्जामय, नर्क-सदृश शरीर देखकर, मेरा मन खिन्न हो गया। आगे बढ़ने पर, उसके हृदयाकाश में प्रवेश किया। वहाँ उसकी संवित्-रूपी जीवसत्ता विद्यमान थी। मैं उसके हृदयाकाश में तद्रूप हो गया। उस सुप्त मनुष्य की अनेक सृष्टियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। अपनी इन्द्रियों द्वारा जाग्रत अवस्था में जिन सृष्टियों का अवलोकन किया था, उनका संस्कार उसके चित्त में स्थिर था, वे मुझे प्रतिभासित होने लगे। अन्तस्थल की भूत सत्ता, उसके स्वप्न में सृष्टि बनकर मुझे दिखाई देने लगी। बधिक! मुझे जाग्रत सृष्टि तथा उस स्वप्न की सृष्टि में कुछ भी भेद न प्रतीत हुआ।'

'जाग्रत सृष्टि क्या है?'

'चिरपर्यन्त प्रतीति का नाम है जाग्रत।'

'और स्वप्न?'

'किंचित् काल की प्रतीति है स्वप्न।'

कुछ समय पश्चात् व्याध ने ऋषि के चरणों पर मस्तक रखते हुए कहा, 'देव ! इस बधिक की पूजा स्वीकार कीजिए।'

'ऋषि के लोचन उन्मीलित हुए। बधिक की मुद्रा अत्यन्त शान्त थी। लोचन स्थिर थे। मुखमण्डल तप की पवित्र कान्ति द्वारा तेजोमय था। मुद्रा में गाम्भीर्य था। ऋषि ने आशीर्वाद दिया,

'पुत्र ! बहुत समय तक तुमने तप किया है। क्या कुछ शान्ति प्राप्त हुई ?'

व्याध मुनि की यथाविधि पूजा समाप्त कर आसन पर बैठ गया।

'भगवन् ! दो शंकाएँ हैं ?'

'कहो वत्स !'

'महात्मन् ! मनुष्य बाह्य दृष्टि द्वारा कैसे देखता है ? स्वप्न-सृष्टि बाहर किस तरह दिखाई देती है ?'

'जिज्ञासु !' ऋषि ने स्नेह से कहा, 'यही प्रश्न मैंने एक बार गणेशजी से किया था। उनके कथनानुसार अभ्यास द्वारा जो अनुभव मैंने प्राप्त किया है उसे सुनो,

'पद्मासनासीन इन्द्रियों का निरोध करते हुए, मैंने योगाभ्यास आरम्भ किया। मन को मन में लीन किया। बुद्धि को पुर्यवष्टका में स्थिर किया। शरीर से पुर्यवष्टका को विरक्त कर आकाश में स्थिर किया। इस प्रकार इच्छानुसार शरीर में प्रवेश करता एवं निकलता था।'

'दोनों में भेद क्या है ?'

'दोनो का रूप एक ही है। उनमें भेद कुछ भी नहीं है। उसके स्वप्न का अनुभव मुझे जाग्रत एवं मेरा अनुभव उसे स्वप्नवत् प्रतीत हुआ। स्वप्न-स्वरूप स्वप्न जाग्रत अवस्था में स्वप्न है, जाग्रत अपने काल में जाग्रत एवं स्वप्न काल में वही जाग्रत स्वप्न हो जाता है। अतएव जाग्रत स्वप्न अवस्था की प्रतीति किसी काल में केवल स्वप्न है। इन दोनों में किंचित् मात्र भेद नहीं है; क्योंकि दोनों की अधिष्ठान चैतन्य सत्ता है।'

'व्याध !' मुनि ने कहा, 'चित्त संवेदन जब प्राण से मिलकर स्फुरित होता है, तो उसी स्फुरण का नाम जीव, मन, चित्त, अहंकार आदि

होता है। वही संवेदन का जब बाह्य मुख प्रस्फुरण होता है, तो जाग्रत जगत् प्रतिभासित होता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय एवं चतुष्टय अन्तःकरण सम्मिलित होकर, जब विषयों का ग्रहण करती है, तो मानव कहता है कि वह जाग्रत है। इसी प्रकार जब चित्त-स्पन्दन निद्रादोष के कारण अन्तर्मुख स्फुरित होता है, तो स्वप्न द्वारा नाना प्रकार की सृष्टियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। उस समय स्वप्न जगत जाग्रत जगत्तुल्य प्रतीत होता है। जब संवेदन अन्य सत्ता की ओर स्फुरित होता है, उस समय न तो जाग्रत अवस्था रहती है, न स्वप्न। अपितु केवल आत्म-सत्ता का अस्तित्व शेष रह जाता है। अतएव चित्त के स्फुरण काल में जाग्रत जगत् प्रतीत होता है। जब स्फुरण नहीं होता तो जाग्रत जगत् की कल्पना का लोप हो जाता है। निष्कर्ष निकलता है, यह जगत् केवल मिथ्या एवं कल्पना मात्र है।

'बधिक ! जब मैंने जाग्रत एवं स्वप्नावस्था देखी, तो स्वाभाविक इच्छा हुई कि, सुषुप्ति अवस्था भी देखूँ। सुषुप्ति प्रलय का नाम है। उस समय द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य तीनों का अभाव हो जाता है।'

'भगवन् ! सुषुप्ति का रूप—?'

'पुत्र ! जिस अवस्था में चित्त स्फुरित नहीं होता, वही सुषुप्ति अवस्था है। चित्त को जब स्फुरित किया, तो सुषुप्ति काल का दर्शन प्राप्त हुआ। उस समय कल्पनारहित केवल चित्त सत्ता दृष्टिगोचर होती है।'

'वत्स !' मुनि ने कहा, 'सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् तुरीयावस्था देखने की प्रबल इच्छा हुई।'

'महात्मन् ; उसका स्वरूप—?'

'तुरीयावस्था साक्षीभूत वृत्ति है। उसकी उत्पत्ति सम्यक् ज्ञान द्वारा होती है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं की वह साक्षीभूत एवं सुषुप्ति के तुल्य है। तुरीयावस्था एवं सुषुप्ति अवस्था में मुख्य भेद यह है कि, सुषुप्ति अवस्था में जड़ता आ जाती है। किन्तु तुरीयावस्था में जड़ता का नाम नहीं रहता। सम्यक् बोध तुरीयावस्था है।'

उसके शरीर में चारों अवस्थाएँ देखकर मैं बाहर निकला। मुझे बाहर भी वैसा ही जगत् प्रतीत हुआ, जैसा भीतर। मैंने पुनः उसके शरीर में प्रवेश

किया। प्रथम बार उसके शरीर में प्रवेश किया था, तो मेरा संवेदन उससे मिलकर एक हो गया था, अतएव मुझे एक सृष्टि का ज्ञान हुआ। दूसरी बार प्रवेश करने पर, मेरी भावना में अन्तर हो गया था। इस प्रकार एक तो मैं अपनी और दूसरी उस सोये व्यक्ति की सृष्टि देखने लगा। एक में उसका संवेदन स्फुरण होता था और दूसरे में मेरा। दोनों के संवेदन-स्फ़ुरण के कारण दो सृष्टियों का सर्जन हो गया था। आत्मसत्ता के आश्रय में संवेदन स्फुरण के कारण सृष्टियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। उसका स्वप्न मुझे जाग्रत प्रतीत होने लगा। कुछ समय तक दो सृष्टियाँ दिखाई पड़ती रहीं। अनन्तर मैंने अपना संवेदन उसके संवेदन से मिला दिया। दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। केवल एक सृष्टि दिखाई देने लगी। स्वप्न-सृष्टि का लय चित्त में होने लगा और आई सुषुप्ति अवस्था।'

'महात्मन्! सुषुप्ति कब होती है?'

'व्याध! मानव जब भोजन करता है, तो वह भोजन समवाही नाड़ी पर स्थिर हो जाता है। उस समय जाग्रत नाड़ी स्थिर हो जाती है। प्राण भी स्थिर हो जाता है। मन भी स्थिर हो जाता है। यही अवस्था सुषुप्ति है।

'भगवन्! मन यदि प्राणों द्वारा गतिशील होता है, तो प्राण मन का जीवन हुआ। ऐसी अवस्था में मन का अपना कोई निजी अस्तित्व तो नहीं होता होगा?'

'जिज्ञासु! चित्त शक्ति का सम्बन्ध मन से जब होता है, तो प्राण उदय होता है। उसी प्राण को ग्रहण कर मन कहता है कि वह जीव है। प्राण उसकी गति है। प्राण उसका आश्रय है। प्राण बिना वह जीवित नहीं रह सकेगा।'

'ऋषिवर! मन कैसे शान्त होगा?'

'वधिक! मन की शान्ति के दो उपाय हैं। प्रथम लोकविदित है कि, मन की वृत्ति को अभ्यास द्वारा एकाग्र किया जाय। दूसरा है प्राण-स्पन्दन पर नियन्त्रण। प्राण क्षुभित होने पर, मन भी क्षुभित हो उठता है। मानव आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तापों द्वारा जलने लगता है।'

'मन की स्थिति कैसी होती है ?'

'दो प्रकार की—ज्ञानी एवं अज्ञानी।'

'अज्ञानी की स्थिति का क्या रूप है ?'

'सुनो ! बहुत भोजन करने पर भोजन नाड़ियोंपर जाकर स्थित हो जाता है। जिन नाड़ियों द्वारा जाग्रत अवस्था में प्राण का आवागमन होता है, उन पर भोजन का दबाव पड़ने के कारण प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण के स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है। जब वासना सहित वे नाड़ियाँ रुक जाती है, तो मन सुषुप्ति अवस्था प्राप्त करता है। यह स्थिति अज्ञानियों को प्राप्त हुआ करती है। यही कारण है कि स्वभावतः भोजन के पश्चात् निद्रा आने लगती है।'

'ज्ञानी की स्थिति ?'

'ज्ञानी एवं सम्यक्दर्शियों का चित्त चैतन्यता के साथ स्थित होता है। यह चैतन्यता दो प्रकार की होती है। योगियों तथा ज्ञानियों की। समाधि में मन को स्थिर कर, योगी अपनी चैतन्यता स्थायी रखता है। यह अवस्था समाधिनिष्ठ चित्त की स्थिति है, न कि अज्ञानियों की जड़ता। ज्ञानियों की चैतन्यता सम्यक् ज्ञान द्वारा स्थित होती है, क्योंकि ज्ञानी का चित्त वासना-रहित होता है। वासना के अभाव के कारण स्फुरण नहीं होता। जिनका चित्त इस प्रकार स्थित होता है उन्हें शान्ति प्राप्त होती है, बधिक !'

'तत्पश्चात् ?'

'उसके शरीर में प्रवेश किया तो उसका भोजन पचा नहीं था। जाग्रत नाड़ी स्फुरित न थी। वह अपनी सुषुप्ति अवस्था में था। उसकी सुषुप्ति अवस्था में अपने-आपको भूल गया। अन्न कुछ पचने लगा तो प्राण स्फुरित हुआ। प्राण स्फुरित होने पर जड़-वृत्ति नष्ट होने लगी। प्राण-स्फुरण द्वारा संचार-चक्र की भावना स्फुरित हुई। मैं जगत को देखने लगा और अपना पूर्व-संस्कार भूल गया।

'वत्स ! मुझे अपनी कुटी, भाई, बन्धु आदि सबका अनुभव होने लगा। अनन्तर देखते-देखते प्रलयकाल आ गया। पहले अग्नि-ज्वाला उठी।

पुनः जल-प्रवाह चला। उस भयानक प्रवाह में मेरी कुटी बह गई। बन्धु-बान्धव बहने लगे। मैं भी जलप्लावन में डूबने-उतराने लगा। समस्त विश्व, देवता, किन्नरादि उस जल-प्रवाह में बह चले।

'पुत्र! मैं बहता हुआ एक गिरि-कन्दरा में जाकर लगा। जल द्वारा स्थान शुद्ध करके अपनी कुटी का निर्माण किया। ब्राह्मण तो था ही, अपनी कुटी में विद्याध्ययनाकांक्षी विद्यार्थी भी आ गए। मेरा सांसारिक जीवन गतिशील हुआ। अपनी इस अवस्था में एक शत वर्ष रहा।

"बधिक! उस कुटी में एक दिन एक मुनि का आगमन हुआ। वे स्वागत पूजा प्राप्त करने के पश्चात् नाना प्रकार के देशों की अपनी भ्रमण-कथा कहने के अनन्तर बोले, चिन्ममात्र ही एक सार तत्त्व है। वही जगत् है। संसार है। यह सब उसी की माया है। उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

'व्याध! मेरी ज्ञानदृष्टि मुनि के उपदेश द्वारा खुल गई। मैं अपनी स्वभाव-सत्ता में जाग उठा। जाग्रत होने पर देखा, सब मेरा ही संकल्प था।

'मैं स्वप्न में था। स्वप्न का अनुभव कर रहा था। वह स्वप्न उसी पुरुष का था जिसके शरीर में मैंने प्रवेश किया था। उस सुप्त पुरुष के शरीर से निकल कर देखा कि हमारा शरीर पद्मासीन था। शिष्यगण बैठे थे। मैंने अपने शरीर में प्रवेश किया। समाधि खुली। देखा, जिसके शरीर में प्रवेश किया था, वह अभी तक सो रहा था।

'मैंने पुनः विचार किया कि उस मनुष्य के चित्त में प्रवेश कर देखना चाहिए कि वहाँ की क्या अवस्था है? मैंने उसके शरीर में अपनी योग-शक्ति द्वारा प्रवेश किया।

'वहाँ प्रवेश कर मैंने देखा। पहला प्रलय समाप्त हो चुका था। पहली सृष्टि लोप हो जाने के पश्चात् दूसरी सृष्टि का प्रलय-काल उपस्थित था। प्रलय की भयंकर अग्नि लगी थी। मैं अग्नि-ज्वाला में पड़ गया।"

'भगवन्! प्रलय अग्नि में आपको जगत् किस प्रकार प्रतिभासित हुआ?' व्याध ने नम्रतापूर्वक पूछा।

'बधिक ! पहली बार मैंने अपने को भूलकर उसके हृदयाकाश में जगत देखा था। दूसरी बार स्वयं अलग रहता हुआ, जगत् देखने लगा।'

'पुत्र !' मुनि ने कहा, "निमित्त एवं समवाय दो कारण होते हैं। घट का निमित्त कारण कुम्हार का चाक है, क्योंकि वह घंट बनाने में केवल मात्र निमित्त अर्थात् साधन है। घट मिट्टी से बनता है, अतएव मिट्टी समवाय कारण है। वास्तव में मिट्टी का रूप-परिवर्तन घट का रूप है।

'वत्स ! जो वस्तु कारण-युक्त होती है, वह सत्य और जो कारणरहित होती है वह असत्य है। आत्मा इन दोनों कारणों से रहित है। वह जगत का कारण नहीं हो सकती। आत्मा अद्वैत है। वह निमित्त कारण नहीं हो सकती। वह नित्य है। अपने-आप रूप में स्थित है। उसका रूप-परिवर्तन नहीं हो सकता। अतएव समवाय कारण से रहित है, क्योंकि घट की कच्ची मिट्टी के समान उससे कोई वस्तु बनाई नहीं जा सकती। कुम्हार के चाक के समान किसी साधन द्वारा उसका आकार परिवर्तित कर, दूसरा आकार नहीं किया जा सकता।'

'बधिक !" मुनि ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "आत्म-सत्ता उस समय भी थी, जब जगत् नहीं था। आत्म-सत्ता में संवेदन स्फुरित होने के कारण, यह जगत् सूर्य की किरणों में जल-स्वरूप प्रतिभासित हो रहा है। आत्मा का आभास यह जगत है। अतएव आत्मा जगत-रूप है। वहाँ न कोई शरीर था। न पृथ्वी थी। न जल था। न वायु थी। न अग्नि थी। न आकाश था। न उत्पत्ति थी और न प्रलय था। केवल चिन्मात्र रूप था। जिस प्रकार सोते मनुष्य को स्वप्न दिखाई देता है और जागते को नहीं, उसी प्रकार जिनको ज्ञान दृष्टि है, जो जागृत हैं, वे जगत् के वास्तविक रूप को देखते हैं न कि स्थूल।'

'मुनीश्वर ! कुछ लोग कहते हैं कि, जीव कर्म द्वारा उत्पन्न होता है। अनेक जन कहते हैं कि, बिना कर्म जीव की उत्पत्ति होती है ?'

"जिज्ञासु ! आदि में परमात्मा द्वारा ब्रह्मादि का जो स्फुरण हुआ था, वह कर्म रहित था। उन्हें जरा-मृत्यु का स्पर्श नहीं था। वे ब्रह्म-स्वरूप थे। ज्ञान उनका शरीर था। उनकी आत्मा में ही रति थी। सृष्टि के

आदि ब्रह्मादि तथा अनन्त जीव, जो ब्रह्म द्वारा स्फुरित हुए थे, वे ब्रह्म से भिन्न नहीं थे। वे कर्माधीन नहीं थे। ज्ञान त्याग कर जिन जीवों ने अज्ञान को अपना कवच बना लिया, वे अविद्या के कारण अपने स्वरूप का विस्मरण कर अपने कर्मों के अधीन हो गए। अपने वासनानुसार नाना प्रकार के शरीर धारण करने लगे। ज्ञानियों को जगत् आत्मस्वरूप एवं अज्ञानियों को प्रमाद के कारण द्वैत-रूप दृष्टिगोचर होता है। वे अपने आपको जगत् से भिन्न समझते हैं। अपने को भोक्ता एवं जगत् को भोग्य मान बैठे हैं। अतएव वे जगत् के पदार्थों में सुख-दुःख का अनुभव करते हुए, कर्म बन्धन में फँस गये हैं। आत्मा में अहंमय चित्त के स्फुरण द्वारा जो कुछ होता चलता है, वही जगत् है। इस जगत् में अपने निश्चयानुसार वस्तुएँ प्रतीत होने लगती हैं। और इसी को 'नेति' कहते हैं।'

'भगवन्! परलोक क्या है? इस जीवन का हन्ता कौन है? परलोक में भोग करनेवाला कौन शरीर होता है?'

'व्याध! चिन्मात्र में अहं भावना के उदय होने पर शरीर किंवा देह की भावना होती है। दृढ़ भावना के कारण देह का अस्तित्व होता है। तत्पश्चात् जगत् प्रतिभासित होने लगता है। संकल्प-स्वरूप जगत्-स्वरूप के प्रमाद द्वारा दृढ़ हो जाता है। उसके स्फुरण के अनुसार वस्तुओं का रूप होता है। यह जगत् केवल संकल्प मात्र है। किन्तु भ्रम में इसका स्वरूप सत्य की तरह प्रतीत होता है।

'प्रमाद के कारण शरीर में अभिमान उत्पन्न होता है! उस अभिमान के कारण, वह कर्तव्य एवं भोक्तव्य सबमें अपना रूप देखता है। वासना उत्पन्न होकर दृढ़ हो जाती है। वासना के निश्चयानुसार अपने लोकों की वह स्वयं रचना करता है। न तो कोई बना हुआ लोक है न परलोक। जिस प्रकार मानव एक स्वप्न को देखकर, दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उसी प्रकार अविदित वासना के कारण एक लोक को त्याग कर दूसरा देखता है। स्वप्न में जिस तरह निराकार शरीर साकार प्रतीत होता है, उसी प्रकार परलोक अपने संकल्प का रूप है। जैसी वासना होती है, वैसा वह प्रकट होता है।'

'बधिक !' मुनीश्वर ने नीलाम्बर की ओर देखते हुए कहा, 'वास्तव में शरीरादि आकाश-रूप है। अनेक पदार्थ स्वप्न में अनुभव रूप होकर, स्वप्न प्रतीत होते हैं। स्वप्न के पश्चात् सब एकाकार हो जाते हैं। प्रलय में सब वस्तुएँ एकाकार हो जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञान द्वारा सब वस्तुएँ एकाकार प्रतीत होती हैं। संवित् स्फुरित होता है तो जगत् प्रतिभासित होता है। उसका रूप दृष्टिगोचर होता है। भावनाओं का उदय होता है। स्फुरण काल में प्रलय होता है। केवल चिन्मात्र सत्ता-स्वरूप में स्थिर रह जाती है। संवित् से स्फुरण काल में सुषुप्ति हो जाती है।'

'सुनो पुत्र !' मुनीश्वर पुनः बोले, 'यदि जीव मृत्यु पश्चात् परलोक या नरक में गमन करता है, तो इसका अर्थ हुआ कि वह मरता नहीं। मृत्यु नाम का कोई वस्तु नहीं है। यदि मृत्यु होती है, तो पूर्व संस्कारों एवं स्मृतियों की भी मृत्यु होनी चाहिए। किन्तु बात उलटी है। मानव पूर्व संस्कार एवं स्मृति के कारण कर्मशील होता है। मृत्यु मिथ्या है। अज्ञान के कारण, कार्य-कारण एवं जन्म-मरणादि प्रतीत होते हैं।

'किन्तु देह का आकार मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है। यह शरीर आँखों के सम्मुख जलकर राख हो जाता है।'

'बधिक !' मुनि ने किंचित् मुस्कुराकर कहा, 'यात्रा निमित्त प्रस्थित व्यक्ति हमसे बहुत दूर होता जाता है। हमारी आँखों से हजारों योजन दूर होने पर, दिखाई न पड़ने पर, हम उसे मरा हुआ नहीं समझते। तुम कह सकते हो कि, वह यात्री लौटकर आता है। बातचीत कर और देखकर उसके अस्तित्व का साकार अनुभव करते हो। स्वप्न में भी मरा व्यक्ति साकार प्रतीत होता है। अपनी बातें सुनाता है। तुम्हारी सुनता है। अपने जीवन की कहानी वह तुम्हें सुनाता है और तुम उससे अपना सुख-दुःख कहते हो। इस प्रकार यदि कोई जीव जन्म लेता है, तो उसका शरीर मानो परलोक में रहता है। वह जब परलोक में मरता है, तो यहाँ जन्म लेता है। इस जगत् में परलोक और परलोक में यह जगत् मिथ्या प्रतीत होता है। अतएव एक ही जीव परलोक एवं जगत् दोनों को मिथ्या समझता है।

'बधिक! यह सब मिथ्या है। न कोई मरता है और न कोई परलोकादि है। यदि इस जगत् में कुछ सत्य है, कुछ स्थिर है, तो वह शुद्ध आत्मसत्ता है। उसी के स्फुरण के कारण वस्तुएँ अपना रूप ग्रहण करती एवं दिखाई देती हैं।

'सुनो व्याध! कल्पवृक्ष का अर्थ क्या तुम्हें ज्ञात है? कल्पवृक्ष का अर्थ हुआ कल्पना के अनुसार फल देनेवाला वृक्ष। जैसी कल्पना होगी, जैसा स्फुरण होगा, वैसा ही फल प्राप्त होगा।

'पुत्र! वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं। संकल्पसिद्ध एवं दृष्टसिद्ध। संकल्प में दृढ़ भावना के कारण संकल्पसिद्ध तथा दृश्य में दृढ़ भावना होने के कारण दृश्यसिद्ध होती है। इन्द्रिय-गम्य पदार्थ दृष्ट-सिद्ध हैं। ब्राह्मण यदि अपने को चाण्डाल अथवा कोई व्यक्ति अपने को पागल समझकर, तद्-रूप आचरण करने लगे, तो उसका वह आचरण उसके संकल्प का परिणाम होता है, अतएव वह संकल्प-सिद्ध हुआ।'

'आत्म-सत्ता उस समय तक प्राप्त नहीं होती, जब तक इनमें अभ्यास रहता है। आत्म-सत्ता के अभ्यास के उदय के साथ-ही-साथ आत्म-सत्ता के जानने का उपक्रम आरम्भ होता है। जगत् एवं आत्मसत्ता का अभ्यास एक साथ नहीं हो सकेगा। यात्री एक साथ उत्तर एवं दक्षिण दोनों दिशाओं में गमनशील नहीं हो सकता। जगत्-प्राप्ति का इच्छाशील व्यक्ति आत्म-प्राप्ति नहीं कर सकेगा।'

'भगवन्! स्वप्न क्यों दिखाई पड़ते हैं?'

'पुत्र!' ऋषि ने कहा, 'चिद् अणु के ओज में सम्पूर्ण जगत् स्थित है। ओज, अन्तःकरण एवं हृदय में भेद नहीं है। यद्यपि बाहर से दिखाई देता है कि, चैतन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है, किन्तु चैतन्य सत्ता उक्त तीनों में स्थित रहती है। उस सत्ता का चित्त से संयोग होता है। उसके पश्चात् प्राण से संयोग होता है। प्राण क्षुभित होता है। तब चित्त में खेद का उदय होता है। चित्त में खेद उत्पन्न होने पर, प्राण में खेद उत्पन्न होता है। प्राण स्थिर होने पर जीव शान्ति प्राप्त करता है। प्राण स्थिर नहीं रहता तो जीव जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्था में भ्रान्त पथिक के समान भ्रमण करता रहता है।

'हृदय ओज धातु है। उसमें चिद्-अणु दीप-स्वरूप अपना प्रकाश फैलाता है। ओज के आश्रित नाड़ियाँ चलती हैं तो वे रस ग्रहण करती हैं। भोजन के पश्चात् अन्न जाग्रत् नाड़ी में प्रवेश करता है। नाड़ी स्थिर हो जाती है। प्राण कफ नाड़ी में स्फुरित होता है। स्वप्नावस्था आती है। तन्मात्राओं को लेकर, चित्त वृत्ति जब ओज धातु में स्फुरित होती है, तो स्वप्न दिखाई देता है। ओज धातु पर अन्नादि का भार पड़ता है, तो सुषुप्ति अवस्था होती है। निद्रा एवं जाग्रत् दोनों का बल जब समान होता है, तो उस अवस्था में दोनों की प्रतीति होती है। किन्तु जाग्रत की प्रबलता होने पर जाग्रत एवं निद्रा की प्रबलता होने पर सुषुप्ति का अनुभव होता है।

'निद्रारहित स्थिति में जो मन्द-मन्द संकल्प होता है उसी को मनोराज्य कहते हैं। चित्तवृत्ति बाह्य विषयों को त्याग कर, अन्तर्मखी होती है तो स्वप्नावस्था प्राप्त होती है। यदि शरीर में कफ की प्रबलता हुई तो चन्द्रमा, क्षीर समुद्र, नदियाँ-सरोवर, जलाशय, फल-फूल, उद्यान, हरित-वन, हिमालय, कल्पवृक्ष, सुन्दर-स्त्रियाँ, पल्लव, द्रुमादि, शीतल स्थानादि दृष्टिगोचर होते हैं। पित्त की अधिकता होने पर सूर्य, अग्नि, सूखे तरुवर, सूखा फल, सांध्य गगन की लाली, वनाग्नि, तप्त पृथ्वी, मरुस्थल, गर्म जलादि उष्ण पदार्थ दिखाई देते हैं। वायु की प्रबलता शरीर में होने पर वायु का वेग, पाषाण-वर्षा, हाथी, घोड़े, स्वयं उड़ता प्राणी, अप्सरादि के पीछे दौड़ तथा समस्त जगत गतिशील दिखाई देने लगता है। वासना के अनुसार जीव सात्त्विक, राजस एवं तामस वस्तुएँ देखता है। तीनों एकत्र होकर उग्र हो जाते हैं तो देखने लगता है प्रलय काल।

'वत्स! पुर्यष्टक कफ स्थान में प्रवेश करने पर जल एवं शीतल वस्तुओं का रूप एवं उनका क्षोभ देखता है। पित्त स्थान में प्रवेश करने पर उष्णीय एवं वायुस्थान में प्रवेश करने पर वातव्य क्षोभ तथा दृश्य देखता है। केवल वायु का प्रकोप होता है तो महाप्रलय की चलती वायु का दृश्य, उड़ते पर्वत एवं भूकम्पादि दिखाई देने लगते हैं। कफ का प्रकोप होने पर समुद्रों का उछलना एवं प्रल-यरूप दिखाई देता है। इसी प्रकार पित्त के क्षुभित होने पर महाग्नि एवं उसकी क्रियाएँ दिखाई देने लगती हैं। प्राण जिस समय अन्नपूर्ण जाग्रत् नाड़ी में प्रवेश करता है, उस समय जीव नीचे

चला जाता है। नाड़ियों में स्फुरण-शक्ति नहीं रहती। सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। कुछ अन्न की पाचन क्रिया आरम्भ होती है। चित्त संवित अपने विकारों के अनुसार स्वप्न देखता है। अन्न एवं जल पच जाता है तो जाग्रत् अवस्था आ जाती है। जाग्रत्, स्वप्न दोनों का बल सम रहता है तो दोनों को देखता एवं अनुभव करता है। इस प्रकार तीनों अवस्थाएँ तीनों गुणों के कारण होती और मिलती रहती हैं। इनका देखनेंवाला तीनों गुणों से परे है—गुणातीत और आत्मा है।'

'भगवन् ! अपनी कुटी के बाहर सोये हुए व्यक्ति के अन्दर प्रलय देखने के अतिरिक्त आपने और क्या देखा ?'

'जब मेरे देखते जाग्रत नाड़ी में अन्न स्थित हुआ तो अन्न के जो दाने शेष रह गये थे, वे पर्वत सदृश प्रतीत होने लगे। नाड़ी का स्फुरण रुक गया। मैं जैसे तामस नरक में गिर गया। वहाँ मुझे किसी प्रकार का ज्ञान शेष नहीं रहा। अन्न जब कुछ पच चला, तो साँस लेने का अवकाश मिला। प्राण स्फुरित हुआ। सुषुप्ति दिखाई पड़ी। सुषुप्ति से जागकर जगत् देखा। मकड़ी जिस प्रकार आकाश में जाला बनाती है, उसी प्रकार उस पुरुष के हृदय में, शून्याकाश से सृष्टि निकलकर दिखाई पड़ने लगी। हमारी अन्तर की दृष्टि बाहर रूप होकर दिखती है। अन्तर की भावना बाहर अपनी भावना का सर्जन करती है। पदार्थों की भावना अन्तर से बाहर की ओर स्फुरित होती है। जगत् दिखाई देता है। आकाशमय द्रष्टव्य जगत् वास्तव में निराकार है। अपने चित्त का स्फुरण आकार की भावना प्रकट करता है। जाग्रत् सृष्टि की समष्टि का नाम विराट् है। लिंग शरीर की समष्टि स्वप्नमय हिरण्यगर्भ है। सुषुप्ति की समष्टि आत्माकृत माया है। समस्त शरीर की समष्टि तुरीया है।'

'मुनीश्वर ! आप दूसरे की सृष्टि में किस प्रकार भ्रमण करते थे ?'

''पुत्र ! मैं उसके हृदय में नाना प्रकार का जगत् देखता रहा और अपने कुटुम्ब के साथ अपनी कुटी पर पुरानी स्मृति खोकर पड़ा था। उग्रतपा नामक ऋषि मेरी कुटी पर आए। उनका मैंने यथोचित आदर-सत्कार किया।'

'ऋषिवर !' मैंने पूछा, "जिस समय आपका यहाँ आगमन हुआ, उस समय आप शिथिल थे। परिश्रान्त थे । आपमें क्रोध का अभाव था । भोजन के पश्चात् आपमें हर्ष नहीं उत्पन्न हुआ। अतएव आप ज्ञानी हैं । आपमें राग द्वेष नहीं है। कृपाकर मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिएगा ?"

'पूछिए।' महात्मा उग्रतपा ने साधारण स्वर में कहा।

'भगवन् ! मानव अपने पाप का फल भोगता है । कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। किन्तु अकाल किंवा दुर्भिक्ष के कारण समूह-के-समूह मानव क्यों मरते हैं ? उनके किन कर्मों एवं पाप का उन्हें दण्ड मिलता है?'

'जगत् क्या है ? हम कौन हैं ? अन्त क्या है ? इन प्रश्नों को तुम स्वयं अपने आप से पूछो।' उग्रतपा ने कहा।

'मुनि !' उग्रतपा पुनः बोले, 'जगत् स्वप्न है। हम स्वप्न हैं । शरीर स्वप्न है। आप हमारे स्वप्न हैं। हम आपके स्वप्न हैं। जगत् केवल शुद्ध आत्मस्वरूप है। अहं संवेदन के स्फुरण के कारण जगत् का आकार स्मरण होता है। संवेदन जैसे-जैसे स्फुरित होते हैं, वैसे ही वैसे जगद् दिखाई पड़ता है।'

'सुनो ! ऋषि !' उग्रतपा ने कहा, 'यह सृष्टि विराट् पुरूष का शरीर है। विराट् पुरूष दूसरे विराट् पुरूष के संकल्प में स्थित है । यह विराट् दूसरे विराट का रोमांच है। विराट् पुरूष के अंग का क्षोभ एवं जीव की पाप वासना उत्पन्न होती है, तो पाप वासना एवं अंग-क्षोभ मिलकर किसी स्थान पर प्रकट होता है। उनके प्रकट होने पर, उस स्थान पर कष्ट एवं उपद्रव होने लगते हैं। वन में वज्र पड़ने से जिस प्रकार बहुत वृक्ष नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार एकत्र पाप एवं वासना के कारण दुर्भिक्ष में समूह-के-समूह प्राणी मर जाते हैं। शरीर के किसी स्थान पर मच्छर काटता है, तो वह स्थान क्षुभित हो जाता है। रोमावलियाँ खड़ी हो जाती हैं । उसका प्रभाव अंग विशेष तक सीमित रहता है। यदि किसी नगर में, किसी प्रान्त में, पाप एवं वासना का उदय होता है और वे मिल जाते हैं, तो उपद्रव उस स्थान विशेष तक सीमित रह जाता है। उसे खण्ड-दुर्भिक्ष अथवा स्थानीय दुर्भिक्ष कहते हैं। सर्प का विष समस्त शरीर में फैलकर शरीर नष्ट-

कर देता है। देश में पाप एवं वासना उत्पन्न होती है, तो दुर्भिक्ष समस्त देश में फैल कर विराट् पुरुष को कष्ट देता है। शरीर के रोम-रूपी जीव कष्टग्रस्त हो जाते हैं। जीव के पाप एकत्र होने पर दुर्भिक्ष पड़ता है और मृत्यु आती है।'

'मुने ! यदि आप तथ्य की बात जानना चाहते हैं तो पाप-पुण्य, सुख-दुःख, जगतादि सब मिथ्या हैं। सब अपना संकल्प है। सब अपनी कल्पना है। हम अपने संकल्प से, अपनी कल्पना से, अपनी वासना से स्वयं अपने लिए कष्ट उत्पन्न करते हैं। भोगते हैं। मरते हैं। जगत्-भ्रम आत्मदर्शन प्राप्त होने पर मिट जायगा। सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि एकाकार होकर केवल आत्म-स्वरूप रह जायेंगे। आपके संशयों का निवारण आत्म-शरण होने पर ही हो सकता है।'

उग्रतपा के कह चुकने पर मैंने विचार किया। यह शरीर एवं जगत् दोनों मिथ्या है। चलकर देखना चाहिए कि जिस शरीर को छोड़कर आया हूँ उसकी क्या अवस्था है। मैंने कहा, भगवन् ! मैं अपना शरीर जाकर देखना चाहता हूँ।'

उग्रतपा हँसे

मैं आश्चर्य-चकित उनकी ओर देखने लगा। उग्रतपा गम्भीर होने लगे। मैंने नम्रतापूर्वक पूछा,

'भगवन् ! आपके हँसने का रहस्य ?'

'तुम्हारा शरीर– '

'हाँ, ऋषिवर ! अपना शरीर देखने जा रहा हूँ।'

'वह अब नहीं है।'

'आप क्या कहते हैं ?' मैंने चकित होकर पूछा।

'वह शरीर बहुत दूर हो गया।'

'किस प्रकार ?'

'उसे नहीं पा सकोगे।'

'क्यो ?'

'अच्छा, जाओ देख आओ।'

उग्रतपा को नमस्कार कर अपने अन्तर्वाहक शरीर द्वारा मैं आकाश-मार्ग से गमनशील हुआ। अपना शरीर चारों ओर अन्वेषण करने लगा किन्तु न मिला। लौटकर उग्रतपा के पास आकर निवेदन किया :

'आश्चर्य! मैं अपना शरीर कहीं नहीं देख पाया। मुझे वह विराट शरीर नहीं मिला, जिसमें प्रवेश कर, मैं यहाँ पहुँचा था।'

'मुनिवर!' उग्रतपा बोले, 'जिस वन में आप निवास करते थे, जिस वन में आपकी कुटी थी, जिस कुटी में आपका शरीर था, सब भस्म हो गए। आप अपना शरीर किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगे?'

'अग्नि कैसे लगी भगवन्!'

'ऋषिवर! हम और आप जिस जगत् में बैठे हैं, यह उसका विराट् है, जिसके शरीर में आपने प्रवेश किया था उस सुप्त व्यक्ति का एवं आपका विराट् स्वरूप, दूसरे विराट् के अन्तर्गत है। उस विराट् शरीर में क्षोभ के कारण अग्नि लगी। उसके अन्तर्गत जो कुछ था सब जल गया। अतएव तुम्हारा शरीर एवं सुप्त व्यक्ति का शरीर, जिसमें तुमने प्रवेश किया था, भस्म हो गए। इस सृष्टि के विराट् का नाम ब्रह्मा है। ब्रह्मा का भी विराट् है। विराट् का विराट् आत्मा है। स्वप्न सृष्टि जाग्रत् अवस्था में दृष्टि-गोचर नहीं होती, उसी प्रकार आपका शरीर भी अदृश्य हो गया है। जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म-सत्ता है। ब्रह्म-सत्ता आप स्वयं हैं। जगत् उस सत्ता का आभास मात्र है। जगत् आपके स्वप्न में स्थित है। आपकी चिरकाल की प्रतीति एवं संस्कार, जगत् स्वरूप जाग्रत्-तुल्य मालूम होता है।'

'यदि मेरा स्वप्न जगत् सत्य है, तो सभी का स्वप्न जगत् सत्य होगा।'

'मुनिवर!' उग्रतपा ने कहा, 'आप अपने समाधि शरीर के कारण इस जगत् को असत्य कहते हैं, क्योंकि आपकी समाधि कुटी में लगी थी। इस जगत् में आकर, यहाँ का दृश्य देखकर, विचार करते हैं कि, यह जगत् असत्य और समाधिवाला जगत् सत्य! जिस सत्ता के अन्तर्गत आपका समाधि शरीर है, जब आप उस सत्ता को जान जायेंगे, तब आपको वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा कि, क्या सत्य है और क्या असत्य। जान लेने पर, आत्म-दर्शन प्राप्त होगा। दिव्य चक्षु द्वारा आप देखेंगे कि समस्त जगत् केवल

आत्मा का विस्तार है। समाधिवाला तथा यह जगत् दोनों आपकी आत्म-सत्ता के स्फुरण के रूप हैं। आप बताइए कि, यह जगत् असत्य एवं समाधि-वाला सत्य कैसे होगा ?'

'बधिक !' मुनि ने कहा, 'उग्रतपा द्वारा जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ था वह मैंने तुमसे कहा। तुम्हें शान्ति मिली या नहीं ?'

'बधिक ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह विचार-मग्न था।

'मित्र !' मुनि ने कहा, 'तपस्या करने पर भी तुम्हें आत्म-ज्ञान नहीं हुआ, अतएव शान्ति प्राप्त नहीं हुई। सत्संगति, शास्त्र-विचार एवं अभ्यास करना चाहिए। दृढ़ अभ्यास द्वारा चित्त शान्त होता है। चित्त के निर्वाण होने पर द्वैत भावना मिट जाती है। चित्त निर्वाण बिना हुए, राग-द्वेष का लोप नहीं होता। अभ्यास द्वारा चित्त-निर्वाण हो जाने के पश्चात् अविद्या नष्ट हो जाती है। मान एवं मोह रहित शान्त-पद प्राप्त होता है।'

बधिक उठ खड़ा हुआ। वह मुनि को श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रणाम कर बोला :

'भगवन् ! आपके कथनानुसार कार्य करूँगा।'

:o: :o: :o:

सहस्त्र वर्ष तपश्चर्या करने के पश्चात् व्याध पुनः मुनि के पास आकर बोला :

'भगवन् ! मुझे अब भी शान्ति नहीं मिली।'

'बधिक'। मुनि बोले, 'तुमने मेरे उपदेश के अनुसार अभ्यास नहीं किया।'

'महात्मन् ! क्या मुझे शान्ति न मिलेगी ?'

'मिलेगी बधिक ! तुम न तो मूर्ख हो और न पण्डित। तुम अभ्यासी हो। तुम्हें ज्ञान-प्राप्ति की चिन्ता है। तुम्हें ज्ञान अवश्य प्राप्त होगा ?'

'भगवन् ! मुझसे क्या त्रुटि हुई है ?'

'तुम्हारा यह निश्चय था कि संसार अविद्या है। उसके अन्त तक पहुँच कर उसकी थाह लूँ। तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय तुम्हारी शान्ति एवं आत्म-बोध में बाधक था। इसे दूर किए बिना तुम्हें शान्ति न मिली।'

:o: :o: :o:

'तपस्वी!' ब्रह्माजी ने प्रसन्नतापूर्वक कठोर तपस्या करते हुए बधिक से पूछा, 'तुम्हारी क्या इच्छा है?'

'भगवन्! मैं मलिनतापूर्ण हूँ। मलिनता के कारण मैं आत्मदर्शन नहीं पा रहा हूँ।'

'तुम्हारी कामना क्या है तपस्वी!'

'पितामह! मेरा शरीर योजनों पर्यन्त बढ़ता जाय। मृत्यु मेरे अधीन हो। अपनी इच्छा से चाहे जहाँ चला जाऊँ। मुझे कोई कहीं रोक न सके। मैं संसार का अन्त देखूँगा तभी मुझे आत्मपद प्राप्त होगा।'

'एवमस्तु' ब्रह्मा वरदान देकर अन्तर्धान हो गये।

बधिक का शुष्क शरीर शनैः-शनैः बढ़ने लगा। प्रलयकाल के समुद्र-तुल्य उसके शरीर में बाढ़ आ गयी। शरीर ने बढ़ते हुए, ब्रह्माण्डों को लाँघते हुए, महाकाश को ढक लिया। मिथ्या जगत् का अतिक्रमण कर गया। उसे अनुभव होने लगा कि वह बहुत बढ़ गया है। उत्कृष्टता का भाव उदय होते ही, तप का फल वैराग्य का भी उदय हुआ। वैराग्य उदय होते ही उसे अपने शरीर से घृणा उत्पन्न होने लगी।

'ओह' वह बोल उठा, 'मैं जगत् का अन्त जानने चला था। किन्तु जगत् का कहीं अन्त नहीं है। अविद्या का नाश नहीं हुआ है। अपनी इतनी बड़ी काया लेकर किसका सत्संग करूँगा? किस प्रकार शास्त्राध्ययन एवं अभ्यास द्वारा आत्मपद प्राप्त कर सकूँगा?'

'आह' बधिक ने चिन्तनीय मुद्रा के साथ कहा, 'इस शरीर का त्याग देना ही अच्छा है।'

'विपश्चित' अग्निदेव बोले, 'यह उसी बधिक का शव है। उसी शव को हमारे-तुम्हारे देखते-देखते चण्डिका एवं उसके गण भक्षण कर गए हैं।'

'महाराज' विपश्चित ने महाराज दशरथ को सम्बोधित कर कहा, 'अग्निदेव अन्तर्धान हो गए। मैंने भी वहाँ से प्रस्थान किया। एक दूसरी सृष्टि में पहुँचा। देखा कि, वहाँ के प्राणी तथा शास्त्र यहाँ से भिन्न थे। अन्य सृष्टि में पहुँचकर देखा कि, वहाँ के प्राणियों के पाँव काष्ठ के और आचार मानव जैसा था। वहाँ से चलकर दूसरी सृष्टि में पहुँचा। देखा कि, मानव के शरीर पाषाण के थे किन्तु थे वे व्यवहारशील। उससे आगे बढ़कर दूसरी सृष्टि में देखा कि, मानव शास्त्र-रूप थे। वहाँ से भी आगे बढ़कर अन्य सृष्टि में देखा कि, वहाँ के मानव बिना अन्न-जल एवं भोजन के चुप-चाप बैठे रहते हैं।'

'कोशलराज !' विपश्चित ने नम्रतापूर्वक कहा, 'भ्रमण करते रहने पर भी मुझे शान्ति न मिली। विचारों में तन्मय एक वन में गया। तपस्या करने लगा। कुछ काल पश्चात् सत्संग की भावना से कल्पवृक्ष के वन में पहुँचा। वहाँ मैंने एक व्यक्ति को देखा। उससे पूछा,

'हे मुनीश्वर ! सुनिए ?'

मुनीश्वर के समीप पहुँचकर उनकी यथाविधि पूजा की। पूजा एवं सत्कार प्राप्त करने के पश्चात् उसने कहा,

'मैं आपकी तपस्या हूँ।'

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि उसने पुनः कहा,

'साधो ! आपकी जो इच्छा हो उसे आप प्राप्त कर सकते हैं।'

'महात्मन् !' मैंने कहा, 'मैं आत्मा की प्राप्ति चाहता हूँ।'

'सुनो' उसने कहा, 'तुम्हारा एक जन्म मृग का होगा। तुम कोशल-राज की सभा में जाओगे। वहीं तुम्हें आत्म-दर्शन होगा।'

तपोदेव अन्तर्धान हो गए। मैं मृग बना वन में विचरण कर रहा था। उस वन के राजा ने मुझे पकड़कर, तीन दिनों तक अपने पास रखा। मुझे अत्यन्त सुन्दर देखकर, आपको उसने मेरी भेंट कर दिया। उस मृग से अब मैं आपके सम्मुख विपश्चित-स्वरूप उपस्थित हूँ।

विपश्चित ने महाराज दशरथ, परिषद् तथा सभी उपस्थित सज्जनों को नमस्कार किया। वशिष्ठ के चरणों का स्पर्शकर कहा,

'महात्मन् ! मैंने अनेक सृष्टियाँ देखीं। उन सृष्टियों में भिन्न-भिन्न आचार देखे। अनेक प्रकार की विभूतियों एवं अनुभवों को प्राप्त किया। नाना प्रकार के भोगों का भोग किया। अनेक प्रकार की चेष्टाएँ कर चुका हूँ। किन्तु मुझे सब स्वप्न प्रतीत होता है। अज्ञान के अन्त निमित्त अनेक युगों तक प्रयास करता रहा, किन्तु उसे दूर नहीं कर सका। मुझे शान्ति नहीं मिली। भगवन् ! आपके द्वारा मुझे आतम-पद-प्राप्ति का मार्ग प्राप्त हो गया है। मेरी अविद्या नष्ट हो चुकी है। अतएव आप मेरा नमस्कार स्वीकार कीजिए।'

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १३३–१५५।

नोट—उग्रतपा ऋषि का उल्लेख पद्म पुराण : पाताल खण्ड ७२ में आया है। योग-वासिष्ठ के उग्रतपा भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

सिन्धुराज

'आश्चर्य है ! राजा विदूरथ इतने दिनों तक घोर युद्ध करता रहा ?' राजा सिन्धु ने अपने मन्त्री तथा सेनापतियों के बीच भयंकर युद्ध की चर्चा करते हुए कहा। राजा विदूरथ पराजित हो गया था। युद्ध में हत हो चुका था। परन्तु उसका पराक्रम सर्वदा चर्चा का विषय बना रहता था। राजा सिन्धु उसका शत्रु था। उसने उसपर विजय प्राप्त की थी, किन्तु एक वीर की तरह राजा विदूरथ की वीरता का कायल था।'

'पृथ्वीराज !' सेनापति ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'उसका अद्भूत पराक्रम विस्मय का कारण है। आपने पिता के वनगमन पश्चात् आठ वर्ष की आयु में राज्य प्राप्त किया। उस समय से सौ वर्ष तक राजन् ! आपके बाहुबल के सम्मुख किसी का ठहरना कठिन रहा है। राजा विदूरथ के धैर्य, साहस, पराक्रम का कोई रहस्य अवश्य है।'

'सेनापति !' मन्त्री ने राजा की ओर देखते हुए कहा, 'मैं भी यही विचार करता हूँ।'

'मन्त्रिन् ! ' राजा ने कहा, 'मैं समझ चुका था कि हमारी विजय-यात्रा असफल होना चाहती है। गौरव धूल में मिलने वाला था। अचानक विदूरथ अपनी सेना सहित पराजित हो गया। हमें विजय-श्री मिली। उसका विस्तृत साम्राज्य मिला। उसका सब कुछ नष्ट हो गया। किन्तु हमें जो क्षति उठानी पड़ी है, वह आसानी से पूरी नहीं की जा सकती।'

'राजन् !' मन्त्री ने कहा, 'विदूरथ की वीरता, उसके सैनिकों का पराक्रम उच्च कोटि का था। उसमें वीरता, उसके सैनिकों में पराक्रम किस प्रकार आया यह सैनिक दृष्टि से जानना आवश्यक है।'

'अवश्य।' राजा सिन्धु ने सेनापति की ओर देखकर कहा।

'नृपशार्दूल !' मन्त्री ने कहा, 'राजा विदूरथ की पराजय, उसकी यमपुर की यात्रा में, निश्चय कोई रहस्य छिपा है।'

राजा, सेनापति तथा उस स्थान पर उपस्थित राजन्य-वर्ग का ध्यान मन्त्री की बातों पर लग गया। सबमें रहस्य जानने की इच्छा उत्पन्न हो गयी थी। सब लोग मन्त्री की ओर उत्सुकतापूर्वक देख रहे थे।

'मुनिवर ! राजा ने कहा, 'मैं साधन-सम्पन्न हूँ । बली हूँ, तथापि राजा विदूरथ ने सामना किया, यह हम सब के कौतूहल का विषय है ।'

'अनघ !' मन्त्री ने गम्भीरता पूर्वक कहना आरम्भ किया, 'स्वर्गीय राजा विदूरथ की रानी का नाम लीला था । वह सरस्वती देवी की उपासिका थी । देवी सरस्वती लीला की माता-स्वरूपा थी । देवी लीला पर प्रसन्न थी । राजन् ! लीला के कारण राजा विदूरथ इतना बली था ।'

'यदि भगवती सरस्वती का वरदहस्त विदूरथ पर था, तो देवी की कृपा से उसे युद्ध में विजय क्यों नहीं प्राप्त हुई ? उसने अपना विशाल राज्य क्यों खो दिया ? उसकी रानी लीला उसकी रक्षा करने में क्यों नहीं समर्थ हुई ?' राजा ने मन्त्री की ओर विवेक पूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा ।

'हे पद्मपलाश-नेत्र !' मन्त्री ने कहा, 'राजा विदूरथ को विजय की कामना नहीं थी । वह साम्राज्य-विजयी सम्राट् होकर अपनी विजय वैजयन्ती पृथ्वी पर नहीं फहराना चाहता था ।'

'वाह ! राजा होकर साम्राज्य न चाहे ?' सेनापति ने व्यंगपूर्वक कहा ।

'हाँ ! वह साम्राज्य चाहता था !' मन्त्री ने कहा ।

'मन्त्री ! तुम्हारी बातें परस्पर विरोधी हैं ।' राजा सिन्धु ने मुस्कराते हुए मन्त्री से कहा ।

'प्रभो !' मन्त्री ने नीलगगन की ओर नेत्र उठाते हुए कहा, 'वह ओर-छोर विहीन साम्राज्य चाहता था । जिसमें अस्त्र-शस्त्रों की झन्कार नहीं सुनाई पड़ती । जिसमें रक्त की नदियाँ नहीं बहतीं । जिसमें भौतिक लाभ निमित्त संघर्ष नहीं होता । जिसमें मनुष्य अपने हाथों को मनुष्यों के रक्त से रँगते नहीं । जिसमें मनुष्य हत्या-धर्म नहीं ग्रहण करते । जिसमें मनुष्य पशु बनना नहीं चाहता । जिसमें मिथ्या, भ्रम, असत्य का जाल नहीं बिछा रहता है ।'

'यह साम्राज्य कहाँ है मन्त्रिन् ?' राजा सिन्धु ने विस्मयापन्न होकर पूछा ।

'यहीं है भगवन् !' मन्त्री ने अपने उँगलियों के नखों की ओर देखते हुए कहा ।

'कहाँ ?' राजा ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

'प्रभो !' मन्त्री ने कहा, 'आपके हृदय में है। वह साम्राज्य है अपनी शान्ति, अपनी मुक्ति, अपने सत्य का। यह साम्राज्य अविनाशी है। इसमें विजय-पराजय नाम की कोई चीज नहीं होती। इसमें पराधीनता, कुवासना, अन्याय, अत्याचार, पाखण्ड, शब्द-चातुरी का स्थान नहीं है।'

'हूँ।' राजा गम्भीर हो गया।

'भगवन् !' मन्त्री ने कहा, 'इसी साम्राज्य के लिए राजा विदूरथ तथा उनकी रानी लीला ने देवी सरस्वती से प्रार्थना की थी।'

'उन्होंने अपना साम्राज्य पाया ?' सेनापति ने किंचित् उपहास के साथ कहा।

'मन्त्री !' राजा ने कहा, 'मैंने देवी सरस्वती की कृपा से यह विजय प्राप्त की है। देवी ने मुझे मोक्ष का वरदान क्यों नहीं दिया। मैं उनकी निरन्तर उपासना करता था। उनका एकान्त पुजारी था।'

'राजन् !' मन्त्री ने सस्मित कहा, 'शब्दों की बीजभूत प्रज्ञा सरस्वती सबके हृदय में संविद रूप निवास करती हैं। उस चैतन्य-स्वरूपिणी देवी की जो जिस भावना से पूजा करता है, उपासना करता है, भक्ति करता है, उसे अपनी चित्त शक्ति के द्वारा उसी प्रकार का फल मिलता है। आपने विजयकामना से उपासना की थी। आपको विजय प्राप्त हुई। यदि आपको मोक्ष की अभिलाषा होती तो मोक्ष मिलता।'

'मन्त्री !' राजा ने पूछा, 'मैं विशुद्ध संवित्-स्वरूप सरस्वती देवी के सम्मुख मोक्ष निमित्त क्यों प्रार्थना नहीं कर सका ?'

मन्त्री उत्तर देने जा रहा था कि राजा ने पुनः प्रश्न किया, 'सत्-स्वरूपिणी सरस्वती देवी, मेरी आत्मभूता होते हुए, मुझमें मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा क्यों न उत्पन्न कर सकी ? मैंने मुक्ति की चेष्टा क्यों नहीं की ?'

'विभो !' मन्त्री ने कहा, 'आपने पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रबल होने के कारण विजय की प्रार्थना की थी, देवी को प्रणाम कर, आपने अपने अशुभ प्राक्तन अभ्यास के कारण, मुक्ति सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने का

निवेदन नहीं किया। सृष्टि के प्रारम्भिक काल में, जीव अपनी वासनानुसार स्वभाव-सम्पन्न होता है। बाल्यावस्था में हुआ दृढ़ीभूति संस्कार, प्रायः कठिनता से बदला जाता है। निर्मल ज्ञप्ति द्वारा अपने अन्तःकरण के निर्मल स्वरूप मोक्ष अथवा अभ्यास के कारण जैसी चिन्ता करता है, वह चाहे सत्य हो अथवा असत्य, अन्य वासनाओं का विमर्दन करता हुआ, उसे निर्विघ्न प्राप्त करता है।'

'मन्त्रिवर!' राजा ने प्रश्न किया, 'मैं क्यों कुत्सित भावापन्न तथा अनार्य-रूप कुसंस्कारशील हो गया था?'

'मानद!' मन्त्री ने सविनय कहा, 'यदि आप ध्यानपूर्वक मेरी बातें सुनेंगे, तो सब बातें समझ में आ जायेंगी। आद्यन्त-रहित सत्स्वरूप नाना प्रकार के आकारों में ब्रह्म नाम की एक अनिर्वचनीय वस्तु वर्तमान रहती है। वह ब्रह्म अहं चित्त है। वह सर्वज्ञ है। वह ब्रह्म में चित्त हूँ। अतएव चित्त संकल्प संवित् को स्वयं प्राप्त होकर समष्टि दृष्टि चित्त बनकर चित्-रूप उपाधि में, उपाधि का त्याग नहीं करता हुआ जीव होकर निवास करता है। चित्त गगनवत् निर्मलाकृति है। अतिवाहक है। यह चित्त वास्तव में सत्य है। संसार के आधिभौतिकादि पदार्थ सत्य नहीं हैं। वह चित्त निराकार है। फिर भी परलोक, मृत्यु लोक, स्वप्न, जाग्रत, मरण, भोग, मोक्ष इत्यादि नाना प्रकार के संकल्पों के लिए सद् और साकार जगत् की तरह अवस्थित है। गगन एवं गगन की शून्यता एक वस्तु है। उसी प्रकार जगत् और चित्त अभिन्न है। पवन तथा उसका स्पन्दन एक-दूसरे से अभिन्न है। इसी तरह चित्त निराकार होने पर साकार जगत् सहित अभिन्न है।'

'महाभाग!' मन्त्री ने गम्भीरतापूर्वक सुनाते हुए राजा सिन्धु की ओर देखकर कहा, 'यह जगत मिथ्या है। वासना-रूप मात्र है। यह किंचित रूप में प्रतीयमान होता है। उस जगत् को निराकार चित्त समझना चाहिए न कि पृथक् स्वतंत्र वस्तु। सृष्टि के आरम्भ में परम ब्रह्म से केवल सत्त्व उत्पन्न हुआ था। वह सत्त्व-स्वरूप आपका जीव क्रमशः परिणति प्राप्त होकर, आज तामस रूप में परिणत हो गया है।'

'आर्य !' राजा ने चकित होकर पूछा, 'तामस शब्द का आपने प्रयोग किया है। उसका क्या अर्थ है?'

'विभो !' मन्त्री ने कहा, 'सावयव प्राणियों के अवयव हाथ, पैर आदि हैं। उसी प्रकार निरवयव आत्मा की अतिवाहिकता है। अनन्तर स्वकीय अतिवाहिक देह आधिभौतिकता प्राप्त करने पर, आत्मा स्वयं पृथ्वी आदि नाना प्रकार के पदार्थों का नामकरण करती है। स्वप्नवत् उस जगत् का मान होने पर, वह आत्मा अपने संकल्प-कल्पित नानारूपों से, नाना विधि की संज्ञाओं से व्यवहार करती है। जिन कारणों से उस समय विविध व्यष्टि सृष्टि कल्पना में अभिनव रूप अविर्भूत होते हैं, वही पूर्वाविर्भूत सत्यमय आत्मा जगत् में महातम रूप कही जाती है। अतएव आपकी वही अतिवासक जाति तामस नाम से अभिहित होती है।'

'अनघ !' राजा ने पूछा, 'तामस वृत्ति कैसे उत्पन्न हो जाती है ?'

'प्रभो !' मन्त्री ने कहा, 'सात्विक-सात्विकी, सात्विक, राजस-राजसी, राजस, तामस-तामसी और तामस प्रवृत्तियों में मानव उत्पन्न होता है ?'

'आर्य !' राजा ने पूछा, सात्विक 'सात्विकी किस प्रवृत्ति के लोग हैं ?'

'महाभाग !' मन्त्री ने कहा, 'स्वभावतः निर्विकार ब्रह्म विकार-रूप प्रतीयमान होने पर जीव भाव के आविर्भाव निबन्धन निमित्त, जीव जाति को सात्त्विकादि श्रयोदय विभागों में विभक्त किया है। आदिकाल में ब्रह्म प्रथम जीव रूप धारण करता है। स्वाभाविक ज्ञान और ऐश्वर्य युक्त बुद्धि द्वारा विषय-भोग करके इसी जन्म में इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करनेवाले को सात्त्विक-सात्त्विकी कहा गया है।'

'और सात्त्विक ?'

'भूपति !' मन्त्री ने कहा, 'संसार के अज्ञान प्रभावों द्वारा प्रभावित हो जाने पर, अपने इसी जन्म में ज्ञानादि द्वारा मुक्ति प्राप्त करनेवाले सात्त्विक कहे जाते है।'

'और राजस राजसी ?'

'नृपति ।' मन्त्री ने कहा, 'कल्पादि में नूतन रूप लेकर, भोग करते हुए, मोक्ष-पथ के पथिक को राजस-राजसी कहा जाता है ।'

'आर्य !' राजा ने प्रश्न किया, 'राजस की संज्ञा किन्हें दी जाती है ?'

'विभो !' मन्त्री ने कहा, 'विवेकादि उत्तम गुणों से युक्त जीव दस-पाँच जन्मों के पश्चात् मुक्ति-लाभ करते हैं, उन्हें राजस की संज्ञा दी गयी है ।'

'मन्त्रिवर !' राजा ने पूछा, 'तामस तामसी किन्हें कहते हैं ?'

'अनघ !' मन्त्री ने उत्तर दिया, 'असंख्य योनियों के ग्रहण करने के पश्चात् मोक्ष-भागी होनेवाले को तामस तामसी कहा गया है ।'

'और तामस ?' राजा ने प्रश्न किया ?

'राजन् !' मन्त्री ने कहा, 'राक्षसादि जन्मोपरान्त मोक्ष-पद प्राप्त करनेवालों का नामकरण तामस शब्द से किया गया है ।'

'मैं किस श्रेणी में आता हूँ ?' राजा ने आतुरतापूर्वक पूछा ।

'वीरवर !' मन्त्री ने किंचित् मुस्कुराकर उत्तर दिया, 'आप तामस तामसी जीव जाति में उत्पन्न हुए हैं । आपके अनेक जन्म हो चुके हैं । हमें आपकी योनियों का ज्ञान है । परन्तु अज्ञान के कारण अपनी योनियों, अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान आप स्वयं नहीं रखते ।'

'अनघ !' राजा ने कातर शब्दों में कहा, 'मैं किस प्रकार इस जीवन से मुक्त हूँगा ?'

'महाबुद्धे !' मन्त्री ने कहा, 'त्रिजगत् में विचरण करने से कोई लाभ नहीं होगा । भूतकाल का निन्दित कर्म वर्तमान काल के उत्तम कर्मों से आच्छादित होकर शोभित होता है । पूर्वकाल की असत् क्रियाओं पर विजय प्राप्त कर सत्य-कार्य-परायण होना चाहिए । वांछित वस्तु के लिए प्रयत्नशील, यदि घबराकर, शिथिल होकर बैठ नहीं जाता, तो वह वस्तु उसे अवश्य प्राप्त होती है । मनुष्य जिस प्रकार इच्छा करता है, जिस प्रकार प्रयत्न करता है, जिस प्रकार चिन्तन करता है, उसी प्रकार का हो जाता है । राजन् ! यदि आत्म-प्राप्ति निमित्त, आत्म-ज्ञान निमित्त, शान्ति-

निमित्त, मुक्ति-निमित्त, निर्वाण-निमित्त परिश्रम तथा अभ्यास करेंगे तो आपको अपनी इच्छानुसार, अपने यत्न के अनुसार अवश्य फल प्राप्त होगा।'

मन्त्री कहकर शान्त हो गया। सेनापति अन्यमनस्क हो गया। विदूरथ विजेता राजा सिन्धु दीर्घ निःश्वास परित्याग कर अपने आसन से उठा। मन्त्री के सम्मुख करबद्ध खड़ा हो गया। मन्त्री घबराकर आसन त्यागकर उठ गया। सेनापति तथा उपस्थित लोग किंचित् किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर कभी राजा के और कभी मन्त्री के मुखों की ओर देखने लगे।

'बन्धुवर !' राजा मन्त्री को सादर प्रणाम करता हुआ बोला, 'आपने मन्त्री का, मन्त्रणा देने का, वास्तविक कार्य सम्पादन किया है। वास्तविक साम्राज्य-विजय की तरफ प्रेरित किया है। मानव-जीवन के चरम आदर्श की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया है।'

राजा ने अपनी राजकीय वेशभूषा, परिधान, वस्त्र, राज-चिह्न उतार कर रख दिया। अपने भृत्यों को, अपने पारषदों को, सेनापति को, मन्त्री को करबद्ध नमस्कार करते हुए कहा,

'साधो ! मैं विजय-यात्रा निमित्त वनगमन करता हूँ। वन में विवेक हमारा मन्त्री होगा। सात्त्विक वृत्तियाँ मेरे शस्त्रास्त्र होंगे। अपने शत्रु वासना, तृष्णादि को पराजित करूँगा। अपना उज्ज्वल आदर्श मोक्षमय साम्राज्य स्थापित करूँगा।'

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग: १५६–१५।

पुराण तथा महाभारत में कई विदूरथ नामधारी पुरुषों का उल्लेख किया गया है। योग-वासिष्ठ वर्णित विदूरथ सबसे भिन्न प्रतीत होता है।

महाभारत :

आदिपर्व : १८५ : १०

२१८ : १०

सभापर्व : १४ : ६०

स्वर्गारोहणपर्व : ५ : १६

राजा बाहर निकल पड़ा। मन्त्री की आँखें भर आईं। लोगों के बद्ध कर मूर्धा से लग गये।

शान्ति पर्व : ४९ : ७५
पुराण : भागवत : १० : ५३, १७,
१० : १८
मारकण्डेय : १०६ : १०
अग्नि : २७५ : १९-२०;
पद्म सृष्टि खण्ड : १३

ब्रह्मनील शिला

'राम ! मैं तुम्हें ब्रह्मनील शिला उपाख्यान सुनाता हूँ।' वशिष्ठ ने कहा। राम ध्यानपूर्वक सुनने लगे।

'श्रवणभूषण राम, सुनो ! सहस्र कोटि योजन विस्तृत एक विपुल, विमल, नील शिला है। वह वज्र की तरह शक्तिमान है। अत्यन्त पुष्ट है। कठिन जठरवाली है। आकाश-सदृश निर्मल है। असंख्य कल्पों के लम्बे कालों तक उसका नाश नहीं होता। वह घनागिका है। कान्तांगीं है। निर्मलत्व में वह गगन-सदृश है। उसके समान सजातीय और कोई अन्य वस्तु सृष्टि में नहीं है। वह किस देश में है, किस काल में है, कहाँ है, किस प्रकार है, इसे आज तक कोई नहीं जान सका है। वह अविनाशिनी है। उसका अन्तस्थ भूत धातु विवर्जि है। उसमें पद्मजाल, शंख, गदा, चक्रादि लेखाएँ स्फटिक शिला के प्रतिबिम्ब-तुल्य अनेक भूत लेखाओं की तरह विद्यमान हैं। उसमें आकाश, वायु, सलिल, तेज, वसुधादि नहीं है। परन्तु लेखा किंवा उन रेखाओं ने अपनी संज्ञा आकाश, वायु, सलिल, तेज तथा वसुधा रख ली हैं।'

'भगवन् !' राम ने चकित होकर प्रश्न किया, 'शिला अचेतन होती है। उसे चेतना कैसे प्राप्त हो गई ? यदि वह अचेतन है तो उसका वायु, आकाशादि का नामकरण कैसे किया गया ?'

'राम !' वसिष्ठ ने कहा, 'वह शिला चेतन नहीं है। वह जड़ नहीं है। वह विपुलोज्ज्वला है। उसकी कोई जाति नहीं बता सकता। उसके पूर्व कोई वर्तमान नहीं था।'

'मुनिवर !' राम ने गम्भीरतापूर्वक पूछा, 'उस शिला के जठर में स्थित लेखाओं को कौन देखता है ? उस शिला में कब किसने रेखांकन किया है, कृपया मुझे बताइएगा ?'

'वत्स !' वसिष्ठ ने उत्तर दिया, 'ब्रह्म नील दृढ़ शिला को भग्न करनेवाला कोई उत्पन्न नहीं हुआ है। वह तोड़ी नहीं जा सकती। उस

विशालकाय शिला में सब कुछ आवृत है। उसके अन्दर लेखास्वरूप असंख्य वृक्ष-राशियों, पर्वतों, नगरों तथा पुरों की श्रेणियाँ विद्यमान हैं। देव, दानव, सूक्ष्म, असूक्ष्म, निराकार, साकारादि उस शिला में प्रतिमा-तुल्य स्थित हैं। उसमें आकाश नाम की वैपुल्य शालिनी लेखा है। चन्द्र, अर्क नाम की अन्यान्य उपलेखाएँ उसमें वर्तमान हैं।'

'ब्रह्मन् !' राम ने पूछा, 'उन लेखाओं को किसने देखा है ? वे किस प्रकार की हैं ? उस निविड़ शिला के अन्दर स्थित वे किस प्रकार देखी जा सकती हैं ?'

'राघव !' वसिष्ठ ने उत्तर दिया, 'मैंने उन लेखाओं को देखा है। यदि तुम देखना चाहते हो, तो समाधि द्वारा उन्हें देख सकते हो।'

'महात्मन् !' राम ने कहा, 'वज्र से भी कठोर वह शिला तोड़ी नहीं जा सकती, तथापि आपने किस प्रकार उसके जठर में स्थित लेखाओं का अवलोकन किया ?'

'सौम्य !' वसिष्ठ ने कहा, 'मैं उसके जठर में स्थित लेखा-स्वरूप हूँ। वहाँ पर, मैं विद्यमान हूँ। अतएव उन लेखा-जालों को देखने में समर्थ हूँ। किसी में उस शिला को भंग करने की सामर्थ्य नहीं है। उस शिला के महा-अन्तर में स्थित उसके सब लेखाओं को देख रहा हूँ।'

'ब्रह्मन् !' राम ने पूछा, 'कृपया आप बताइए, वह शिला क्या है ? आप क्या हैं। अब वह कहाँ स्थित है ? आप शिला किसे कहते हैं ? क्या आपने वह शिला देखी है ?'

'वत्स !' वसिष्ठ ने उत्तर दिया, 'मैंने वचोभंग युक्ति द्वारा तुमसे परमात्म महासत्ता का वर्णन किया है। वह विपुल शिला नहीं है। परमात्म महासत्ताशिला के निश्छिद्र जठर में हम शिला के मांस-स्वरूप स्थित हैं।'

राम साश्चर्य वसिष्ठ की ओर देखने लगे।

'राम !' वसिष्ठ ने पुनः कहा, 'नभ उस शिला का अंग है। उस शिला के अंग पंच महाभूत हैं। उस शिला के क्रिया एवं शब्द अंग हैं। वासना तथा कालकल्पना उस शिला के अंग हैं। भूमि, अनल, वायु, आकाश,

मन, बुद्धि, अहंकार उस शिला के अंग हैं। परमात्म महासत्ता शिला के मांस तुल्य हम स्थित हैं। उस परमात्म शिला के अंग होते हुए, उससे अभिन्न होते हुए हम भ्रम के कारण उससे अपने को भिन्न मानते हैं। वह शिला चिन्मात्रैकात्मिका है। भूतल, घट, पदादि शुद्ध संवेदनस्वरूप हैं, तत्त्वज्ञ उन्हीं भौतिक पदार्थों को, परमार्थ धन, एकरस, सर्वमेकधन, ब्रह्म मानते हैं। महाचिति में स्थित समस्त जगत् ब्रह्म-शिला के गर्भ में है। वह शिला छिद्रों से रहित है। आदि मध्य तथा अन्त शून्य है। उस ब्रह्मात्मा ने स्वयं जगत, भुवन आदि पर्यायवाची दृश्य नामधारिणी, कल्पना की है वत्स !'

रामचन्द्र गम्भीर हो गए। वसिष्ठ उनके शान्त गम्भीर मुखमण्डल की ओर देखते किंचित् मुस्कुरा उठे।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १६६

ब्रह्माण्डोपाख्यान

'पितः !' वसिष्ठ ने अपने पिता ब्रह्मा से निवेदन किया, 'यह जगज्जाल कितना विशाल है ? यह किसका परिणाम है ? यह कहाँ पर भासित है ?'

'वत्स ! ' ब्रह्मा ने कहा, 'जगत् में सर्वत्र ब्रह्म भासमाम है। वह इस जगत् का जगत् भाव है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह ब्रह्म सत्ता है। अनन्त है। अज्ञानियों की दृष्टि में वह जगद्‌रूप द्वारा अनन्त है। मेरा यह आख्यान तुम्हारे लिए प्रीतिकर होगा। शुभ होगा। सुनो, कर्ण-कुण्डल-तुल्य एक ब्रह्माण्ड-पिण्ड है। दूसरा ब्रह्माण्डाख्यान है।

'आकाश के शून्यत्व तथा वायु के शुद्ध स्पन्दन-तुल्य आकाश से अभिन्न चिदाकाश परमाणु है। चिद् व्योम परिमाण अदर्शनरूप निद्राकाल स्वप्न के समान, आत्मा में समष्टि जीव-भाव, उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार आकाश अपने से अभिन्न अपने में शून्य-रूप तथा वायु अपने में स्पन्दन देखता है। वह परिणामी नहीं है। वह स्वयं आकाश-स्वरूप है।

'अनन्तर अपनी अविकारिता, असंगता, पूर्णता, सूक्ष्मता के स्वभावों का त्याग नहीं करते हुए जीव आकाश-रूप अहंकार में, अहंकार द्वारा अपना स्वरूप देखता है।

'अहंकार-स्वरूप अहं जीव अपनी आत्मा में बुद्धि का अनुभव करता है। अपने को वह बुद्धि-रूप देखता है। वह बुद्धि, एक निश्चय निर्माणमयी असत् पदार्थों की भ्रान्ति उत्पन्न करने के कारण, माया-निरूपिणी होती है। विकल्पाभासों के आरोपण द्वारा बुद्धि आत्मा को निम्न स्तर पर ले जाती हुई, स्वप्न-समान 'मैं मन हूँ,' असत्य रूप देखती है। अज्ञ-बुद्धि मन निराकार होने पर भी घनाकार स्वप्न-वर्धित वस्तुओं का दर्शन करता है। अनन्तर स्वप्न के देह के समान आकारहीन होने पर भी, और भी घनाकार होकर पंचेन्द्रिय देखता है। इस प्रकार वह चिद्व्योम, परिमाणु मन देह समष्टि-रूप होकर, शून्यात्मा होने पर भी, अपने शून्य-रूप त्रिभुवनात्मक

विराट्-स्वरूप को देखता है। वह भित्ति-शून्य होने पर भी, भित्ति भास्कर-स्वरूप विस्तीर्ण होता है।

'उसमें अनेक भूत वेष्ठित हो जाते हैं। विविध स्थावर तथा जंगम उसमें अधिष्ठित हो जाते हैं। वह कल्पना तथा काल से व्याप्त हो जाता है। उसमें अन्यान्य संकल्प कल्पित हो जाते हैं। वह विराट् देह का समष्टि जीव, स्वप्न के व्यष्टि जीव के समान होकर, सबमें दर्पण प्रतिबिम्बवत् स्थित रहता है। वही द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन होता है। वह भोक्ता, भोग्य और भोग होता है। वह कर्ता, कार्य और क्रिया होता है। वह त्रिपुटियों के नवरंग में त्रैलोक्य नगर स्वप्नवत् देखता रहता है। वह बाह्य जगत् प्रत्येक व्यक्ति में दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह हृदय में अवगत होता है। इस प्रकार जीव-भेद में चित्रपरिमाणु सब के अति सूक्ष्म गर्भ में, कल्पित विशाल जगत्-समूह के साथ, वर्तमान रहता है।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १७६

महाभारत :

आदिपर्व : १ : १९-३२; ५५-७४
५ : ८
७ : १८-२५
२० : १०
६५ : १०
६६ : ४, १०-११, ३१-५०
१९६ : ७
२०८ : १७-२५
२१० : ४-११
२११ : २३-२४
२२२ : ६९-७७
२२३ : ५-११
२२४ : १९

सभापर्व : ३ : १५
११
३८ : २९
५३ : १४-१५

'इस तत्व के अज्ञान के लक्षण का नाम अविद्या है। ब्रह्म-रूप से परिज्ञात होने पर, वह निर्मल ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्मरूप द्वारा देखने पर, इस जगत् स्वप्न-जाल का जो द्रष्टा है, वह कुछ नहीं है। यहाँ कौन द्रष्टा है? कहाँ दृश्य है? कहाँ द्वैत है? और कहाँ द्वैत का कारण है? आकाश-स्वरूप प्रशान्त, आदि-अन्त-विवर्जित भेद-रहित केवल स्वच्छ ब्रह्म सर्वत्र प्रतिभासित होता आत्मा में स्थित है। जिस प्रकार महार्णव में वेग द्वारा चंचलता प्राप्त विशाल तरंगों के जल के परिमाणु समूह स्थित हैं, उसी प्रकार जब तक अज्ञान-निद्रा का अस्तित्व है, तब तक ब्रह्माण्डों की राशियाँ नित्य अनंतरूप परमात्मा में स्थित रहती हैं।

वनपर्व : ८४ : ८६
८७ : १६
८६ : १७–१८
१०० : ८
१२९ : १
१४२ : ४४–५७
१७३ : ११–१५
१७३ : ११–१५
२०३ : १०–१५
२०४ : २–४
२२४ : २४
२७४ : ११–१२
२७६ : ६–७
२६१ : ३५
उद्योगपर्व : १२३ : १४–१५
भीष्मपर्व : ६५ : ४७-७४
६६ : ६–२३
द्रोणपर्व : ५२:४०
५३ : ३–५, ७–२२
५४ : ३३–४३
६४ : ५३–५८
२०२ : ७६
कर्णपर्व : ३३ : ४१–६२
३४ : २–५, ७५–७९;
८७ : ६६–८५

पितामह ब्रह्मा कहकर, शान्त हो गए। वसिष्ठ ने श्रद्धा-भक्ति के साथ पिता के चरणों में अपना मस्तक रख दिया।

शल्य पर्व	: ४५ : २४–२५
	४६ : ५२
सौप्तिक पर्व	: १७ : १०–२०
शान्ति पर्व	: ३९ : ५, ८–२०
	५९ : २९–८६
	१६६ : ४५–४६
	२०० : ३०–३१
	२०८ : ३१–३६
	२२३ : ८–११
	२५६ : १६
	२५७ : १३
शान्तिपर्व :	२५८ : २८–३६
	२८२ : ३१–५५
	२८१ : ४५–४८
	२९९
	३४० : ४२–४८
	३४२ : १२४–१२९
	३४७ : ३८–४५
	३५० : २५–३५१
अनुशासन पर्व	: १३ :
	३५ : ५–११
	६६ : २१–२२
	७३ :
	७४ : २–१०
	८३ : १५–४५
	८५ : ८–१८; ९८–१०२
	९२ : ९
	१०० : ३४–३६
	१०३ : ६–७
	१२६ : ४६–५०
	१५७ : ५
आश्वमेधिक पर्व	: २६ : ८
	३५ : ३२–४०

कुन्ददन्त

मेरा नाम कुन्ददन्त है। मेरा नाम कुन्ददन्त इसलिए है कि मेरे दाँत कुन्द के फूल-जैसे उज्ज्वल हैं। लोगों ने मुझे इसी नाम से पुकारना प्रारम्भ किया। मैंने भी नाम में अर्थगौरव देखकर विरोध नहीं किया। अतएव मेरा व्यक्ति-वाचक यही नाम है। नाम से मुझे विशेष मतलब नहीं था, क्योंकि नाम व्यक्ति का परिचय मात्र है। मेरा पुराना नाम जानने से न तो किसी का लाभ है और न मेरी हानि।

यदि कहीं जन्म लेने से स्थान जन्मभूमि हो जाता है, उसके साथ व्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है, तो मेरी भी जन्मभूमि प्रतिबिम्बित स्वर्ग-तुल्य विदेह है। मानव जन्म लेता है, अपने संस्कारों के बीच, अपनी कौटुम्बिक परम्परा के बीच। अतएव मुझे भी विद्याभ्यास करना पड़ा। किन्तु आँखों के खुलने पर देखा संसार का रूप। रूप की प्रतिक्रिया हुई वैराग्य में।

वैराग्य मानव को विचलित कर देता है। जीवन में क्रान्ति उत्पन्न करता है। उसे एक ओर ढकेलता चलता है। मैं भी अपनी आन्तरिक क्रान्ति की उत्ताल तरंगों पर, हिलोरें लेता, मातृभूमि त्यागकर निकल पड़ा पर्यटन करने।

वैराग्य द्वारा उद्भूत क्रान्ति को शान्त करने के निमित्त तपस्वियों, सिद्धों, ऋषियों एवं योगियों के आश्रमों की खाक छानने लगा। अपने भाग्य में शान्ति बदी नहीं थी। अतएव हारकर श्रीपर्वत पर उग्र तपस्या करने लगा।

श्रीपर्वत पर तृण, तरु आदि हीन एक अरण्य था। वह शून्य था। केवल अरण्य के मध्य में किसलयशाली अनेक शाखाओंवाला विशाल वृक्ष शून्य गगन के नीचे अपना हाथ फ़ैलाये खड़ा था।।

उस वृक्ष की एक शाखा से लटक रहा था एक मनुष्य। मैंने विस्मयापन्न होकर उस मनुष्य को देखा। यह देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही कि

उस मनुष्य के दोनों पैर एक रस्सी से एक शाखा के साथ बँधे थे। उसका मस्तक भूमि और पैर आकाश की ओर था।

मैं चकित हो उसके समीप ठहर गया। वह न जाने कितने शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतुओं के अध्यायों को बन्द करता और खोलता रहा। वह रात-दिन एक रूप से लटक रहा था। मेरी समझ में यह बात न आई कि वह अपने शरीर को इस प्रकार क्यों कष्ट दे रहा है ?

मुझे उस पर दया आ गई। मैं वहीं रहकर उसकी सेवा करने लगा। मैंने उससे नम्रतापूर्वक पूछा,

'क्या मैं आपका परिचय पाने योग्य हूँ ?'

'आप मेरी कहानी सुनकर क्या करेंगे ?' उसने कहा।

'विशालाक्ष ! आप अपने शरीर को इस प्रकार क्यों कष्ट दे रहे हैं ? इस प्रकार वृक्ष से लटकने में किस प्रयोजन की सिद्धि होगी ? इसी की मुझे जिज्ञासा है।'

'प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न रुचि एवं भिन्न-भिन्न विचित्र इच्छाएँ हुआ करती हैं।'

तपस्वी नीरव था।

'महात्मन् !' मैंने पुनः पूछा, 'मानव-जीवन में जिज्ञासा का एक विशेष स्थान है। जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है। बिना कारण कार्य नहीं होता। अतएव यह जानने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई कि आपकी इस तपस्या का कारण क्या है ?'

'जिज्ञासु !' तपस्वी बोला, 'मेरी पावन जन्मभूमि मथुरा है। पिता के स्नेह-आश्रय में मैं बड़ा हुआ। शब्द एवं अर्थ शास्त्र का मैंने गम्भीर अध्ययन किया। यौवनावस्था प्राप्त होने पर, मेरी आँखें संसार के वैभव को देखकर चकरा उठीं। मैंने सुना कि, राजा सभी भोगो का आश्रय है। वह अपनी अपार शक्ति एवं ऐश्वर्य द्वारा भोगों को प्राप्त करता है। मैं चिन्ता में घुलने लगा। भोग किस प्रकार प्राप्त होंगे ? चक्रवर्ती राजा बनने की दृढ़ इच्छा से मैं गत बारह वर्षों से इस वृक्ष से लटक रहा हूँ।'

'आश्चर्य ! आप कितने दिन इस प्रकार और झूलते रहेंगे ?'

'मानद !' तपस्वी बोला, 'जब तक मेरी मनोकामना पूर्ण न होगी, मैं इसी प्रकार झूलता रहूँगा। आप अपने निवास-स्थान की ओर कृपाकर प्रस्थान कीजिए। यहाँ आपका रहना शोभा नहीं देता।'

'साधो ?' मैंने कहा, 'भला मैं आपको इस अवस्था में छोड़कर यहाँ से कैसे जा सकता हूँ। अभीष्ट-सिद्धि तक मैं भी यहीं रहूँगा।'

उस लटकते काष्टमौन मुनि ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखें धीरे-धीरे बन्द हो गयीं। वह शान्त हो गया। मैं वहाँ छ मास तक बैठा रहा। मैं वहाँ क्यों बैठा रहा ? मुझे इससे क्या लाभ हुआ ? मैं स्वयं नहीं बता सकता। विचित्र वस्तु देखकर लोग उत्सुकतावश अनायास उसे देखने लगते हैं। उसके विषय में जानकारी प्राप्त करने लगते हैं। इसी प्रकार मैं भी वहाँ पर ठहर गया।

एक दिन मैंने देखा कि सूर्य-मण्डल से एक देवता शाखावलम्बी तपस्वी के पास उतरकर आए। हम दोनों ने मिलकर उनकी काया एवं मन द्वारा पूजा की। पूजा प्राप्त करने के अनन्तर देवता बोले।'

'शाखावलम्बी दीर्घ तापस ! आप अपनी तपस्या का उपसंहार कीजिए। मैं आपकी तपस्या एवं इच्छानुसार वर देता हूँ। आप सातों द्वीपों के राजा होंगे ?'

तपस्वी प्रसन्न हो गया। वह देवता का पूजन करने चला ही था कि देवता सूर्यमण्डल में लोप हो गए।

'तपस्विन् !' मैने तपस्वी से कहा, 'आपको आपकी इच्छानुसार वर मिल गया। आपका यहाँ रहना अनुचित है। चलिए घर चलें।'

'मैं यही सोच रहा था। किन्तु मेरे पैर इतने दुर्बल हो गये हैं कि मैं चल नहीं सकता।'

'तीन दिन बाद चलेंगे। तब तक आपका पैर ठीक हो जायगा।'

'ठीक है।'

:o: :o: :o:

हम लोग उस स्थान से चलकर बोधग्राम के आम्र-वन में पहुँचे। बोध ग्राम में दो दिन निवास करने के पश्चात् कदली वन में पहुँचे। तीसरे दिन

कमल-गुल्म-समूह-मण्डित एक वन में पहुँचे। उस तपस्वी ने कमल वन से प्रस्थान करते समय कहा।

'मेरे आठ और भाई हैं। उनमें भी राज्यभोग की दृढ़ भावना थी। वे भी वर-प्राप्ति के निमित्त गौरी आश्रम में तपस्या कर रहे हैं।'

तपस्वी मुझे लेकर आश्रम की ओर चला। वहाँ पहुँचकर हम लोगों ने विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखा, न कहीं तरुवर थे। न सुन्दर पादप-श्रेणी थी। न कुटी थी। कहीं कुछ न था। चारों ओर शून्यता थी। आश्रम की अवस्था देखकर तपस्वी का हृदय बैठ गया। वह कह उठा :

'हे भगवन् ! यह क्या हुआ ?'

तपस्वी व्याकुल हो गया। मेरी समझ में बात नहीं आ रही थी। किसी दिन का सुन्दर हरित-भरित-पादप-पूर्ण आश्रम मरुस्थल किस प्रकार हो गया ?

हम लोग कारण जानने के लिए उस स्थान में घूमने लगे। हम लोगों को वहाँ कोई जीव-जन्तु दिखाई न पड़ा। अत्यन्त खोज पर एक वृक्ष दिखाई पड़ा। उस बृक्ष के नीचे एक वृद्ध तपस्वी समाधिस्थ था। वृद्ध तपस्वी को देखते ही उत्कण्ठित स्वर से मैं बोला।'

'मुनिवर ! समाधि से उत्थानकर कृपया आँख खोलिए।'

मेरे जोर से बोलने पर तपस्वी की आँखें धीरे-धीरे खुलीं। तपस्वी ने कहा।'

'आप दोनों साधु व्यक्ति कौन हैं ? गौरी आश्रम कहाँ है ? यह कौन-सा समय है ?'

तपस्वी की आश्चर्यचकित दृष्टि अपने चारों ओर घूमने लगी। वह जैसे कुछ परिचित वस्तु खोज रहे थे। किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल रही थी।

'भगवन् !' मैंने कहा, 'आपके प्रश्न का उत्तर आप ही द्वारा प्राप्त हो सकता है ? हम कुछ नहीं जानते। योग-बल द्वारा आप सब कुछ जान सकते हैं।'

तपस्वी ने पुनः आँखें मूँद लीं। मुद्रा ध्यानस्थ हो गई। मुहूर्त काल के पश्चात् उसके नेत्र उन्मीलित हुए। तपस्वी की वाणी मुखरित हुई।'

'साधुद्वय ! रमणियों के वेणीवत् केश-सदृश आप जिस कदम्ब वृक्ष को देख रहे हैं, वही हमारा आवास है। किसी समय देवी गौरी सरस्वती के रूप में सब ऋतुओं को अपने साथ लेकर यहाँ निवास करती थीं। ऋतुफल, पुष्पों द्वारा सुशोभित होने के कारण इस स्थान का नाम गौरी-आश्रम पड़ा था। उस समय यह स्थान जीवनमय था।

'कोकिल, पपीहा, सारस, हंस, सारिका आदि की पवित्र शुद्ध वाणी द्वारा मुखरित यह स्थान स्वर्ग से बढ़कर उत्तम प्रतीत होता था। अनेकानेक फलों एवं पुष्पों द्वारा पूर्ण था। अंगनाएँ सुख से विहार करती थीं। गन्धर्वादि आते थे। आनन्द, उत्साह, उल्लास, मनोहर संगीत-ध्वनि द्वारा स्थान अत्यन्त शोभित था। इस कदम्ब वृक्ष का उन्हीं देवी के स्पर्श-सुधा-सिंचन के कारण क्षय नहीं होता। देवी के स्थान त्याग देने पर, वन साधारण वन हो गया। मानव इसे अपनी जीविका का साधन बना बैठा।'

'साधु !' तपस्वी ने पुनः कहा, 'मैं मालव देश का राजा हूँ। राज्यश्री त्यागकर तपस्या करने की इच्छा हुई। इस स्थान का सौन्दर्य देखकर मैं यहीं रुक गया। उस समय तुम अपने सात भाइयों के सहित यहाँ तपस्या कर रहे थे। तुम लोगों ने मेरा स्वागत किया। मै यहाँ निवास करने लगा। तुम्हारे सातों भाई अपनी तपस्या का फल प्राप्त कर चुके हैं।'

'ब्राह्मण !' तपस्वी कह चला, 'तुम श्रीपर्वत, द्वितीय भाई स्वामी कार्तिकेय के समीप, तृतीय भाई वाराणसी और अन्य चारों भाई हिमालय पर तपस्या करने लगे। सब भाइयों की एक ही इच्छा थी। सब यही चाहते थे कि सातों द्वीपों के राजा हो। अतएव देवताओं ने सन्तुष्ट होकर सबको एक ही वर दिया। तुम्हारे भाई तुम्हारा आसरा न देखकर घर चले गए। उन भाइयों ने अपने इष्टदेवों से वर माँगा था कि उनके राज्य में प्रजा सत्यवादी, सच्चरित्र, सदाचारी एवं सुखी हो। वर के पश्चात् वे अपने सब साथियों के साथ चले गए। केवल मैं यहाँ रह गया हूँ। मैं यहाँ कदम्ब के आश्रय में, जो देवी का कदम्ब कहा जाता है और जिसकी लोग पूजा

करते हैं, तपस्या में निरत हूँ। तुम्हारे अन्य भाई अपने बन्धु-बान्धव के साथ अपने घरों में सुखपूर्वक हैं। अतएव तुम भी अपने भाइयों के साथ मिलकर आनन्द प्राप्त करो।'

'भगवन् !' वृद्ध तपस्वी की शान्त मुद्रा की ओर देखकर मैंने कदम्ब तपस्वी से पूछा, 'पृथ्वी एक है। सप्त द्वीप दो नहीं हो सकते। पुनः आठ भाई आठ सप्तद्वीप में राज्य कैसे करेंगे ?'

'सुनो !' कदम्ब तापस ने कहा, 'आठों तपस्वी अपने इस जन्म के पश्चात् अपने घर में सप्तद्वीपेश्वर होंगे। आठों भाइयों के वन-गमन के पश्चात् उनकी स्त्रियों ने विरहाकुल होकर तपस्या द्वारा देवी सरस्वती को प्रसन्न किया। उन लोगों ने वर माँगा कि आप लोग चिरंजीवी हों। आपमें उनका प्रेम चिरस्थायी रहे। देवीने उत्तर दिया कि तपस्या एवं दान द्वारा अमरता नहीं प्राप्त होती। दूसरा वर माँगें। उन स्त्रियों ने पुनः वर माँगा। जब उनके पतियों का देहान्त हो, तो उनका जीव घर से बाहर न निकले। देवी ने वर दिया। देहान्त के पश्चात् उनके पतियों का जीव घर से बाहर नहीं जायगा। वे सातों द्वीपों के राजा होंगे। स्त्रियाँ उनकी रानियाँ होंगी।'

'एक घटना और घटी है !' कदम्ब तापस ने कहा, 'इनकी स्त्रियों को लेकर इनकी दुखित माता तीर्थ-यात्रा एवं मुनियों के आश्रमों के दर्शनार्थ निकलीं। उन्होंने ग्रामतीर्थ के लिए प्रस्थान किया। साथ में इन आठों भाइयों का पिता भी था। मार्ग में एक मुनि मिला। उस मुनि का पूजन सत्कार बिना किये, पिता अपनी स्त्री एवं पुत्रवधुओं के साथ धूल उड़ाता जल्दी-जल्दी चला जा रहा था। मुनि ने क्रोधित होकर शाप दिया मूर्ख ! तू अपनी पत्नी एवं पुत्र-वधुओं के साथ तीर्थयात्रा निमित्त जा रहा है। तुझे इसका किंचित् ज्ञान नहीं कि मैं, दुर्वासा यहाँ बैठा हूँ। तुमने विपरीत आचरण किया है। अतएव वर प्राप्त करने पर भी तुम्हारे पुत्र एवं पुत्रबधुएँ विपरीत फल अर्थात् दुःख प्राप्त करेंगे।'

पिता घबराकर मुनि का सत्कार करने के लिए उद्यत हुआ तो मुनि अन्तर्धान हो गए। वह हतोत्साह होकर, अपनी स्त्री तथा पुत्रवधुओं के साथ घर लौट आया।

'भगवन् !' कुन्ददन्त ने पूछा, 'वे सातों द्वीपों में कैसे राजा होंगे ? उनका जीव घर के बाहर तो जायगा नहीं, पुनः राज्य कैसे करेंगे ?'

'कुन्ददन्त !' गौरी आश्रमीय वृद्ध तापस ने कहा, 'मेरी बात सुनने पर तुम्हारी शंका का समाधान हो जायगा। यहाँ से आठवें दिन तुम दोनों मथुरा पहुँचोगे। वहाँ अपने बन्धु-बान्धवों के बीच आठों भाइयों की मृत्यु होगी। मृत्यु होने पर उनका संविद् आकाश में पृथक्-पृथक् अवस्थित होकर मुहूर्त्त मात्र के लिए सुषुप्ति अवस्था की तरह जड़ हो जायगा। वर तथा शाप पृथक्-पृथक् रूप धारण करेंगे। उस समय वर सुखद, पद्महस्त, ब्रह्म-दण्डायुध, चन्द्र-धवलांग, चतुर्भुज होगा और शाप त्रिनेत्र, शूलपाणि, भीषण, द्विभुज एवं भृकुटीमुख होगा। वर बोलेंगे,

'शाप ! तुम अप्रतिम हो। वसन्तादि ऋतु-काल के समान हमारा समय आया है। अतएव हम लोगों का कौन अतिक्रमण कर सकता है।'

'वरगण !' शाप बोलेंगे, 'आप लोग हट जायँ। हम लोग ऋतुओं के कालस्वरूप हैं। काल उपस्थित हुआ है। किसकी सामर्थ्य है कि हम लोगों का अतिक्रमण कर सके।'

'शाप !' वरगण बोलेंगे, 'तुम लोगों की उत्पत्ति मुनि के द्वारा हुई है। हम लोगों के उद्गम हैं दिवाकर सूर्य। मुनि की अपेक्षा देवता श्रेष्ठ हैं। कारण विधाता ने मुनियों के पहले देवताओं की सृष्टि की है।'

'वर ! सुनो !' शापगण क्रुद्ध होकर बोलेंगे, 'तुम्हारी यदि सूर्य से उत्पत्ति हुई है, तो हमारी उत्पत्ति रुद्रांश से हुई है। देवताओं की अपेक्षा रुद्र श्रेष्ठ हैं। मुनि रुद्रांश-सम्भूत हैं।'

शाप त्रिशूल उठाएगा।

'शाप !' वर कहेंगे, 'अन्यायी आचरणों का त्याग कर कार्यों के परिणाम पर भी विचार करना चाहिए। कलह के परवर्ती कर्म को पहले कर लेना उचित है। विवाद दूर करने के लिए पितामह ब्रह्मा के पास चलना उत्तम है।'

वरगणों का तर्क शापगणों को रुचिकर प्रतीत होगा। ब्रह्मा के समीप पहुँचकर शाप सब बातें कहेगा। पितामह ने उत्तर दिया,

'वर एवं शापगण! जिनमें शास्त्रानुसरण एवं अभ्यास दोनों वस्तुएँ होती हैं उन्हीं की जीत होती है। अतएव एक-दूसरे के हृदयों को परस्पर जाँचकर देखो कि तुम सबमें अन्तःसार है कि नहीं?'

वर लोग शाप के एवं शाप लोग वर के हृदयों में प्रवेशकर एक-दूसरे का हृदय देखने लगेंगे।

'प्रजापते!' शाप कहेगा, 'हम पराजय मान लेते हैं।'

'क्यों?' पितामह मुस्कुरा कर पूछेंगे।

'भगवन्! हम लोगों में अन्तःसार नहीं है और वर लोग अन्तः-सारयुक्त वज्रवत् दृढ़ हैं।'

'भगवन्!' शाप ब्रह्मा के चरणों पर मस्तक रखते हुए कहेंगे, 'हमारा नमस्कार स्वीकार कीजिए।'

:o: :o: :o:

आठों भाई गृहाकाश में मनःकल्पित सप्त द्वीपों में रहने लगे। वे अपने द्वीपों के राजा हुए। अपने द्वीपों में कार्य करने लगे। बन्धुभाव की पारस्परिक वासना के कारण बन्धुभाव उनमें था, किन्तु जहाँ तक राज्य तथा द्वीपों का सम्बन्ध था – वासना-भिन्न होने के कारण एक-दूसरे के द्वीपों का हाल न जान सके। अपने-आपको उज्जयिनी राजधानी का राजा समझकर राज्य करने लगे।

कोई शाकद्वीप निवासी होकर पाताल-विजय निमित्त समुद्र-गर्भ में भ्रमण करने लगा। कोई दिग्विजय के पश्चात् कुशद्वीप में प्रजा सहित सुखपूर्वक राज्य करने लगा। कोई शाल्मली द्वीप के गिरिराज-शिखरस्थ नगरी के क्रीड़ा-सरोवर में विद्याधर के साथ क्रीड़ारत हो गया। किसी ने क्रौंच द्वीप में सम्पत्तिवर्धित सुवर्णपुरी में आठ दिनों तक राजसूय यज्ञ किया। कोई कूलाचल में द्वीपान्तरचारी राजाओं के साथ युद्ध करने की तैयारी करने लगा। उनमें सबसे कनिष्ठ आठवाँ गोमेध करके पुष्कर द्वीप

की राजकन्या से पाणिग्रहण करने के लिए आक्रमण की तैयारी कर रहा था। उनमें एक पुष्कर देशवासी होकर लोका लोक पर्वत का आधिपत्य करते हुए, निधि का स्वरूप देखने के लिए अपने दूत के साथ चला जा रहा था।

इस प्रकार अपने-अपने गृहाकाश में प्रतिभासित द्वीपाधिपति को राज्य करते हुए देखकर, दोनों वर अभिमानिक आकर परित्यागकर उन आठ भाइयों के आठ संविद् डीव सहित आकाश के साथ आकाश के समान मिल गए। वे आठों भाई आनन्दमय राज्यलाभ करके अभिमत वस्तु प्राप्त निबन्धन बहुत दिनों तक परितुष्ट रहे। उनके चैतन्य में जिस प्रकार से जो वस्तु प्रस्फुरित होती थी, दृढ़ निश्चय-स्वरूप वे उसी प्रकार बाह्य रूप से उनको प्रकाशित होती रही।

कदम्ब तापस मुनि की आँखें पुनः बन्द होने लगी। वे समाधिस्थ हो गए। मैंने उनसे प्रार्थना की। शुभ वाक्यों द्वारा उनको जागृत करने का प्रयत्न किया। उनकी समाधि न खुली।

हम वहाँ से चले। कुछ काल पश्चात् सातों भाइयों का अवसान हो गया। मेरे साथ जो था वही मुक्त रहा।

वह भी कुछ समय पश्चात् काल -कवलित हुआ। मैं उसकी मृत्यु के पश्चात् व्याकुल हो उठा। कदम्ब तापस के पास पहुँचा। देखा कि वह समाधिस्थ हैं।

तीन मास पश्चात् मुहूर्त काल के लिए उनकी समाधि खुली। मैंने उनकी पूजाकर निवेदन किया,

'भगवन् ! मुक्ति का मार्ग क्या है?'

'निष्पाप !' कदम्ब तापस ने कहा, 'तुम राजा दशरथ की सभा में जाओ। वहाँ रघुकुलगुरु श्रीवशिष्ठजी श्रीराम को उपदेश दे रहे हैं। उन उपदेशों के श्रवण के पश्चात् तुम्हारी सभी शंकाओं का समाधान हो जायगा

कहते-कहते कदम्ब तापस की पलकें पुनः शनैः-शनैः मिल गईं।

योग-वसिष्ठ रामायण : निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १८०-८५

काष्ठ वैवधिक

कीर जाति थी, उसमें एक लकड़हारा रहता था। उसका सखा दु:ख था। देवी दरिद्रता सखी थी। शुष्कता जीवन-रस था। क्षुधा-ताड़ित कंकाल सौन्दर्य था। नैराश्य अवलम्बन था। उभड़ी हड्डियाँ अलंकार थे। मलिनता अंगराग था। ज्योतिहीन नेत्र दर्पण थे। सूखे केश दीनता के विज्ञापन थे। पीठ से सटा पेट जीवन की सुखमय कहानी बटोरे थे।

वह उपयुक्त काम न मिलने के कारण घबरा गया था। दुनियाँ सूनी दिखाई पड़ती थी। शशि की शीतल रश्मियाँ उसे जठराग्नि की उष्णता-सी लगती थीं। जीवन का उद्देश्य केन्द्रित हो गया था किसी प्रकार मिलते एक मुट्ठी अन्न पर।

उसे कोई काम नहीं मिला, लाचार उसने प्रकृति की ओर देखा, उसकी गोद में पला था। उसे विश्वास था, प्रकृति उसकी सहायता करेगी। उसने प्रकृति से पूछा अपने जीवन का उपयोग। प्रकृति ने संकेत किया, जंगल की ओर।

वह जंगल में जाने लगा। लकड़ियाँ काटता। जनपद में बेचता लक्ष्मी-पतियों के हाथों। मोल-भाव होता। उसकी आँखें भर आतीं। कठिन परिश्रम का यह परिणाम ? उसके कठिन परिश्रम का मूल्यांकन नहीं होता। वह विरक्त हो जाता दुनियाँ की विचित्र गति देख कर।

जो कुछ उपेक्षापूर्वक मिल जाता, उसे वह भगवान् का प्रसाद समझता अपने इस शरीर का उपयोग, इसके महत्व को, मुहूर्त मात्र के लिए समझता। अपने श्रम और अपने जीवन का मूल्यांकन करता। परिश्रम के बदले में मिली रोटियाँ, पेट में गले से उतरने लगतीं।

वह जठराग्नि में दैनिक यज्ञ करता। अग्नि प्रज्वलित होती और बुझती। प्रतिदिन का यह क्रम बँध गया था। यदि कभी जठराग्नि की ज्वाला अनायास वेगवती होकर उसके कंठो तक पहुँचने लगती, तो वह किसी

सरोवर के तट पर चुपचाप बैठ जाता। दो-चार चिल्लू पानी से कंठ तक पहुँचती ज्वाला शीतल करता।

वन में मणि-भण्डार था, रत्न थे, वहुमूल्य धातुएँ थीं। वे सभी पदार्थ थे, जिन्हें मानव ने धन, मान की संज्ञा देकर समाज में विषमता उत्पन्न की थी।

धन-भण्डार के साथ था कानन में हिंस्र पशुओं का जमघट। वह जंगली जन्तुओं की चिग्धारें सुनता। उनसे भयभीत होता। परन्तु पेट की ज्वाला उसके पग बढ़ा देती। वह कुल्हाड़ी के साथ वृक्षों की शाखाओं पर प्रहार करता। उन्हें स्मरण दिलाता, उसकी जठराग्नि की ज्वाला-तुल्य वे भी ज्वालाओं का रूप धारण करेंगी। जलकर शान्त करेंगी उसकी जठराग्नि को। अग्नि से अग्नि के शान्ति की विचित्र कहानी लकड़हारा प्रतिदिन प्रस्तुत करता।

वह जंगल की कटी लकड़ियों का बोझ उठा कर सिर पर रखता। वह लकड़ियाँ न होकर हों जाती उसके जीवन की निधि। उसके मानवीय परिश्रम की गठरी।

उसके अनेक साथी जंगल में जाकर अमीर हो गए थे। बहुत धन उपार्जन कर चुके थे। उसके भाग्य पर लक्ष्मी ने कभी मुस्कराने का प्रयास नहीं किया। किन्तु वह हताश नहीं हुआ। निरन्तर काष्ठ-संचय में अपने धैर्य तथा अथक परिश्रम का परिचय देने लगा।

बहुत दिन बीत गए। वर्षों उसकी लकड़ियाँ स्वादिष्ट भोजन बनाकर लक्ष्मीपतियों की अतृप्त क्षुधा की शान्ति में अपना उत्सर्ग करती रहीं। उसके जीवन में फिर भी कोई अन्तर नहीं आया।

अकस्मात् उसे एक दिन चिन्तामणि मिल गई। चिन्तामणि ने उसके जीवन को बदल दिया। वह ऐश्वर्यशाली बन गया। उसके दरिद्र जीवन पर किसी को ईर्ष्या नहीं हुइ थी। कोई उसकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं था। ऐश्वर्य आते ही वह बन गया श्रीमान्। उसके प्रति ईर्ष्या हो गई उसके साथियों को। उसके भाग्य से वे द्वेष करने लगे, जिनके घर में उसकी लकड़ियों ने वर्षों चुल्हा जलाया था। उसके आनन्द में लोगों को

दुःख होने लगा । उसकी प्रसन्नता से लोगों में खेद का संचार हो गया। मन-ही-मन जलते कहने लगे, 'यह कैसे अचानक धनी हो गया ? भाग्य ने उसपर इतनी दया क्यों की ?' उसके ऐश्वर्य पर कुछ लोग राजपथ पर एकत्र होकर बात कर रहे थे । काष्ठ वैवधिक किंकरों से घिरा चला जा रहा था।

उसे देखकर एक उपदेशक बोला, 'प्रतीत होता है जैसे उसे अकस्मात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया हैं !'

'ब्रह्म साक्षात्कार केवल शास्त्र-ज्ञान, गुरु-उपदेश से नहीं मिलता ।' उपदेशक के कण्ठ में पड़ी माला, बगल में दबी पोथी को व्यंग पूर्वक देखते हुए एक श्रमिक ने कहा ।

'तब-?' एक उपदेश बोल उठा, उसकी उँगलियाँ यज्ञोपवित को लम्बा करने लगीं ।

'वह कभी-कभी चिन्तामणि की तरह मिल जाया करता है ।' एक प्रबुद्ध नागरिक ने कहा ।

'कैसे ?' उपदेशक ने अपने कमण्डलु के जल की ओर देखते हुए प्रश्न किया ।

'यदि वह नित्य धैर्य, सन्तोष, परिश्रम का आश्रय लेकर, अपने जीवन की चिन्ता न कर, जंगल न जाया करता, तो उसे चिन्तामणि कैसे मिलती ?' प्रबुद्ध नागरिक ने कहा ।

'हाँ ठीक है ।' लोग कह उठे ।

'अभ्यास में बड़ी शक्ति होती है ।'

निरे उपदेशक ने गम्भीर श्वास लेते हुए मुँह बिचकाकर कहा ।

निर्वाण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : १९७

प्रज्ञप्ति

सुरोदक तथा घृतोदक महासागरों द्वारा कंकड़-तुल्य वेष्ठित इस त्रैलोक्य के भूलोक में विख्यात कुशद्वीप है। उस द्वीप के उत्तर तथा पूर्व दिशा के मध्य इलावती नामक सुवर्ण नगरी है। उस नगर के पूर्व भाग में प्रज्ञप्ति नामक विख्यात राजा किसी समय हुआ था। लोक उस पर अनुरक्त थे। वह इन्द्र-सदृश सर्वप्रिय था, समृद्धिशाली था।

प्रलय काल के च्युत सूर्य के समान, महर्षि वसिष्ठ का कदाचित् उस नगर में आगमन हुआ। महर्षि राजा के समीप पहुँचे। राजा प्रज्ञप्ति ने उनका सादर पुष्प, अर्घ्य एवं आचमन द्वारा पूजन किया। वसिष्ठ स्वस्थ हुए।

'भगवन्!' राजा ने पूछा, 'सर्वसंहार के पश्चात् सब कुछ शून्य हो जाता है। उस समय सर्ग के आरम्भ का मूल कारण क्या है? उसका सहकारी कारण क्या है? कुछ भूखण्ड सर्वदा अन्धकार द्वारा आच्छन्न रहते हैं। कुछ ब्रह्मलोकादि आकाश में हैं। पृथ्वी आदि पंचभूत तथा उनमें जरायुज, अंडज, स्वेदज जातियाँ कैसे होती हैं? उनकी बुद्धि तथा आध्यात्मिक भावनाओं का रूप क्या है?'

राजा तुष्णीभूत हो गया। उससे महर्षि वसिष्ठ की ओर देखा। वह किंचित् ध्यान-मुद्रा में थे। राजा ने पुनः कहा,

'मुनीश्वर! जम्बूद्वीपादि देशों तथा इस कुशद्वीप में दिवंगत हुए प्राणी अथवा अग्नि में भस्म हुए प्राणियों को नरक तथा स्वर्ग में भोग करने के लिए वहाँ विना माता-पिता के उन्हें कौन उत्पन्न करता है? उनके देह का क्या उपादान तथा निमित्त कारण होता है? क्या यह लोक भी पूर्व जन्म की अपेक्षा परलोक नहीं कहा जायगा?'

महर्षि की दृष्टि राजा प्रज्ञप्ति के गम्भीर मुख-मण्डल की ओर उठी। राजा ने नत-मस्तक पुनः कहा,

'शून्य आकाश द्वारा सर्ग के आरम्भ में ब्रह्मा की कैसे उत्पत्ति हुई ? बीज का जनक-स्वभाव, अग्नि आदि का उष्णत्व-आदि स्वभाव किस प्रकार उनमें स्थित है ? एक व्यक्ति अपने मित्र की शुभकामना निमित्त प्रयाग क्षेत्र में प्राण-विसर्जन करता है। और शत्रु उसी व्यक्ति के लिए वहीं मरण-कामना करता हुआ शरीर त्याग करता है। दोनों परस्पर विरोधी चेष्टा-वाले कार्य, किस प्रकार सम्पन्न होंगे ?'

वसिष्ठ नील गगन की ओर देखने लगे। प्रज्ञप्ति ने पुनः विनम्र भाव प्रदर्शित करते हुए प्रश्न किया,

'भगवन् ! एक ही रमणी का लाखों पुरुष ध्यान करते हैं। एक ही रमणी भिन्न-भिन्न पुरुषों के देश में किस प्रकार प्रतिभासित होती है। लोगों के दान, धर्म, तपस्या, अन्त्येष्टि क्रिया, श्राद्धादि क्रियाओं का फल परलोक में जो शून्यवत् है, कैसे प्राप्त किया जाता है ?'

'राजन् !' वसिष्ठ ने शान्त-स्वर में कहा, 'हस्तामलक-तुल्य स्पष्ट आत्म-तत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ। उसके समझने पर तुम्हारे सब संशयों का निवारण हो जायगा। संवित् द्वारा आत्मा में शरीर की भावना उत्पन्न होती है। ब्रह्म नामक निर्मल संवेदन है। वही जगत् में प्रतिभासित होता है। ब्रह्म जगत्-रूप में स्थित होता है। अतएव जगत् ब्रह्म है। लोकों के वेद तथा शास्त्रों द्वारा मैंने जो ज्ञान प्राप्त किया है, चिरकाल के अनुभव द्वारा जो ज्ञान अर्जन किया है, वही यहाँ कहा है। जगत् नित्य संविन्मात्र है। प्राणियों की बुद्धि में बद्धमूल है। दृढ़ अनुभव से सिद्ध हो चुका है। महात्माओं ने इसका प्रतिपादन किया है।

'ब्रह्म संविदाकाशमय है। उसका संकल्प-नगर, विराट् है। ब्रह्म एकमात्र संवित्मय है। उसका यह जगत् शुद्ध संवित्मय कहा जायगा। ब्रह्म का सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप में स्फुरण हुआ। तत्पश्चात् उसने आकाशरूप संकल्प-नगरतुल्य जगत् बनाया।

'चिदाकाश जिस प्रकार स्वप्न में नगर देखता है, उसी प्रकार मरने के पश्चात् वह जगत् देखता है। स्वप्न से जाग्रत हुए व्यक्ति को, स्वप्न के देश एवं काल किंचित्मात्र व्याप्त नहीं करते। उसी प्रकार परलोक प्राप्त मनुष्य

को, इस जगत् का देश-काल व्याप्त नहीं करता। अप्रबुद्ध मनुष्य को असत् जगत् देदीप्यमान प्रतीत होता है। उसी प्रकार परलोकगत मनुष्य को चिदाकाश सर्वगत प्रतीत होता है। उसे चिदाकाश ही द्युलोक पृथ्वी आदि से युक्त पूर्व-सिद्धतुल्य प्रतीत होता है।

'मैं मर गया हूँ। पुनः उत्पन्न हुआ हूँ। यम लोक में आया हूँ। शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगता हूँ। इस प्रकार मृत व्यक्ति अतिनिविड़ भ्रान्ति को देखता है। चिदाकाश-स्वरूप जीव स्फुरण का त्याग कर, अपने स्वरूप में स्थिर होता है, तो वह शान्त अथवा मृत कहा जाता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अनादर करनेवाले का मोह कदापि शान्त नहीं होता वासना के तिरोहित होने पर मोह मिटता है।'

'राजन्!' वसिष्ठ ने कहा, 'तुमने वर और शाप की बात कही है। उनका प्रभाव कैसे होता है? शुद्ध संवित् में वर तथा शाप की कल्पना होती है। शुद्ध संवित् ब्रह्म संविततुल्य है। अतएव सत्य संकल्प के कारण उनका प्रभाव किंवा फल होता है।

'राजन्!' वसिष्ठ ने निर्मल आकाश की ओर देखते हुए कहा, 'तुमने प्रश्न पूछा था। प्रयागादि पुण्य क्षेत्र में एक ही व्यक्ति के जीवन तथा मृत्यु के लिए आकांक्षा कर प्राण त्यागनेवालों की कामनाएँ परस्पर विरोधी होने के कारण, किस प्रकार पूर्ण होती हैं? पुण्य क्षेत्र प्रयागादि में शास्त्रानुकूल आचरण करने वाले अधिकारी को प्रार्थित फल अवश्य प्राप्त होता है। दोनों प्रकार की कामना करने वालों की प्रतिमाएँ उत्पन्न होती हैं। शत्रु द्वारा की गई मृत्यु कामना के प्रतिकार से रहित, दण्डनीय संवित् को शत्रु की कलुषित संवित् का ज्ञान हो जाता है। संवित् द्वारा उसकी रक्षा कवच-धारी मनुष्य-तुल्य हो जाती है। शत्रु का शस्त्र इस अभेद्य कवच के कारण प्रहार करने में असमर्थ होता है। इस प्रकार उन्हें जीवन तथा मरण दोनों एक साथ प्राप्त होते हैं।'

'अनघ!' वसिष्ठ ने कहा, 'तुमने प्रश्न किया था कि एक ही स्त्री लाखों मनुष्यों के संकल्प में किस प्रकार प्रतिभासित होती है? वह स्त्री प्रत्येक मनुष्य की कल्पना में, काल्पनिक स्त्री-लाभ-तुल्य प्रतीत होती है।

एक की कल्पना में दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता। उसी प्रकार लाखों एक ही स्त्री की कल्पना करते हैं। परन्तु परस्पर एक-दूसरे की कल्पना नहीं जान सकते। उन्हें काल्पनिक अनुभूति होती है।'

'राजन्!' वसिष्ठ ने कहा, 'तुमने कहा कि मूर्ति-रहित कर्मों का फल परलोक में मूर्तिमान फल किस प्रकार होता है? अमूर्त दान, अन्त्येष्टि कर्मादि, जीव को परलोक में स्वप्न-सदृश मूर्तमान् प्रतीत होते हैं। उनके आकार की कल्पना चित्त द्वारा हो जाती है। उन्हें संकल्प-स्वरूप जीव प्राप्त करता है।'

'भगवन्!' राजा प्रज्ञप्ति ने पूछा, 'सर्ग के आदि काल में चिन्मात्र तथा उसके द्वारा की गई देह-कल्पना किस प्रकार प्रतीत होती है। बिना देह के चित्त की अभिव्यक्ति नहीं होती। दीप के बिना दीप-प्रभा कैसे प्रकाशित होगी?'

'महाबुद्धे!' वसिष्ठ ने कहा, 'आकाश में शिला नाचने के सदृश तुम्हारी देह की परिभाषा मानना असम्भव है। ब्रह्म और देश शब्द का अर्थ एक है। उनके अर्थ में भेद नहीं है। अम्बु और अम्भस दोनों शब्दों का अर्थ जल है। स्वप्न देह के समान यह देह ब्रह्म है। राजन्! लोक, शास्त्र, वेदादि में जो बातें युक्ति, प्रमाण तथा अनुभव द्वारा सिद्ध मानी गई हैं, उनका त्याग नहीं करना चाहिए। जिसका चिर काल तक ध्यान किया जाता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। लौकिक कार्यों में आकांक्षित वस्तुएँ उसी प्रकार प्राप्त होती हैं। जिन वस्तुओं का जिस प्रकार का अनुभव होता है, उनकी प्रतीति भी उसी प्रकार की होती है। नृपवर! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया है।'

'भगवन्!' प्रज्ञप्ति ने महर्षि वसिष्ठ के चरणों पर श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक करबद्ध मस्तक रख दिया।

योग-वासिष्ठ रामायण : निर्माण प्रकरण : उत्तरार्द्ध : सर्ग : २०६– १०

राम शिष्यत्वोपाख्यान

योग-वासिष्ठ कथा समाप्त हुई। वसिष्ठ ने राम को सम्बोधित किया, 'अरिसूदन राम ! तुमने आज जो प्रश्न पूछा है, उन्हें पूर्व काल में भी पूछा था।'

'महात्मन् !' राम ने चकित होते हुए पूछा, 'मैंने कब पूछा था ?'

'राम !' वसिष्ठ ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा, 'मैं उस समय तुम्हारा गुरु था। तुम मेरे शिष्य थे।'

दशरथ की राज-सभा स्तब्ध हो गई। महाराज दशरथ विश्वामित्रादि मुनि, मंत्री तथा प्रकृति जनों की दृष्टि वसिष्ठ पर केन्द्रस्थ हो गई। राम नतमस्तक विचार-मुद्रा में थे। राम ने बिना दृष्टि ऊपर उठाए हुए पूछा,

'गुरुदेव ! आपका और मेरा रूप उन पूर्व जन्मों में क्या था ? हमारा और आपका सम्बन्ध क्या था ?'

'वत्स !' वसिष्ठ ने कहा, 'अन्य रामावतारों में तुमने वही सब प्रश्न पूछे थे। मैं गुरु था और तुम शिष्य थे।'

'और जन्मों में ?' राम ने गुरु वसिष्ठ के चरणों का ध्यान करते हुए पुनः पूछा।

'पूर्व काल में तुम राम थे। मैं वसिष्ठ था। तुम्हें वैराग्य हुआ था। तुम आज की तरह राज सभा में नहीं बैठे थे। वन में मेरे पास आये थे। उस समय मैं गुरु था और तुम शिष्य थे। यही सब प्रश्न उस काल में तुमने पूछे थे।'

'भगवन् !' राम ने जिज्ञासा प्रकट की, 'वन में मैंने क्या प्रश्न किये थे ?''

'राम !' वसिष्ठ ने कहा, 'तुमने पूछा था, महाप्रलय में क्या नष्ट होता है ? क्या नहीं नष्ट होता है ?' मैंने आज के समान उत्तर दिया था, 'प्रलय काल में समस्त दृश्य सम्पूर्णतः विनष्ट हो जाता है। केवल चिन्मात्र

शेष रह जाता है। उस काल में पृथ्वी, दसों दिशाएँ, पर्वत, क्रिया, काल, सब भूतों का नाश हो जाता है। व्योम भी नष्ट हो जाता है। कारणों के कारण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादि महाप्रलय काल में नष्ट हो जाते हैं। केवल चिदाकाश अवशेष रह जाता है।'

'भगवन् !' राम ने पूछा, 'मैंने कोई और प्रश्न किया था ? '

'राघव ! ' वसिष्ठ ने कहा, 'तुमने प्रश्न किया था, भाव-अभाव का नाश हो जाने पर यह विद्यमान विशाल जगत् कहाँ चला जाता है ? ' मैंने उत्तर दिया था, 'यह जगत् निश्चय विनष्ट होता है। यह दृश्य केवल भ्रान्ति-स्वरूप है। अतः असन्मय है। अनृत के विनाश के सम्बन्ध में आश्चर्य की क्या बातें हो सकती हैं ?' तुमने यह प्रश्न भी किया था, 'यह जगत् किस प्रकार दिखाई पड़ता है और ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् उसका दृश्य-रूप क्यों नहीं प्रतीत होता ? इस विस्तृत आकारवाले चिद्व्योम का क्या रूप है ? ' मैंने तुम्हारा उत्तर दिया था, 'पुत्र ! यह जगत् स्वच्छ चिदाकाशरूप है। सुषुप्ति तथा स्वप्न काल में जिस प्रकार एक अक्षय निद्रा रहती है, उसी प्रकार सृष्टि तथा प्रलय काल में चित्स्वभाव अविकारी एक ब्रह्म स्थित रहता है।'

राज-सभा वसिष्ठ और राम के पूर्वजन्म का वृतान्त सुनती स्तंभित हो गई। प्रकृति-जन गम्भीर हो गए। कितना आश्चर्य है ! इसी प्रकार वसिष्ठ तथा राम का जन्म होता रहा है। वे प्रश्नोत्तर करते रहे हैं। वे पूर्व काल में इसी रूप में थे। आज इसी रूप में हैं। विस्मयापन्न कुछ लोगों में भय का संचार हो गया। कुछ यह जानकर चकित हुए कि पुनर्जन्म में मनुष्य किस प्रकार रूप धारण करता है। पिछली बातों को सर्वथा भूल जाता है। यह जगत्-जाल कितना विचित्र है।

'भगवन् ! ' राम ने धीरे से पूछा, 'क्या मुझे आपके उपदेशों के सुनने के पश्चात्, पूर्व जन्मों में ज्ञान प्राप्ति नहीं हुई थी ?'

'सौम्य !' वसिष्ठ ने कहा, 'पूर्व युग में शिष्य-स्वरूप मुझ गुरु से तुमने वे ही बातें सुनीं जिन्हें मैंने आज कहा है। उस समय तुमको बोध नहीं हुआ था। अज्ञान के कारण तुमको महाराज दशरथ के यहाँ पुनः जन्म

लेना पड़ा है। तुमने मुझसे जो पहले पूछा था, वही आज पूछ रहे हो। तुम्हारा अज्ञानान्धकार तिरोहित हो गया है। निरतिशय, आनन्दरूप, परम पुरूषार्थ रूप, अभ्युदयवान् होकर, तुम निर्मल बोध-स्वरूप हो गए हो। धर्म-पूर्वक राज्य का पालन कीजिए। यह कथा यहाँ समाप्त होती है।'

कथा के पूर्ण होते ही धारबद्ध पुष्प-वृष्टि होने लगी। दुन्दुभियाँ बजीं। धारपात-तुल्य पुष्प-वर्षा से सारी सभा-भूमि शुक्ल वर्ण हो गई। उस पुष्प-वृष्टि में केसर-पुंज सन्ध्याकालीन मेघों के समान रक्त अंगराज थे। वायु प्रकम्पित श्वेत कुसुम धवल मुक्ताजाल थे। पुष्पोदरों में स्थित श्वेत शीतल जलकण शीतल अंग थे। मालूम होता था, जैसे पुष्प-लक्ष्मी सुरपुर से, पुष्पवृष्टि निमित्त उतर आयी हो। सभा में शान्ति छा गई। राजा दशरथ, राजकुमार, मन्त्री, सामन्त, सभासद तथा प्रकृति-जनों ने वसिष्ठ के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पित की।

'भगवन् !' महाराज दशरथ ने आभार प्रकट करते हुए कहा, 'आपके कारण हम आज कृतकृत्य हुए हैं। ज्ञातव्य तत्त्वों का पूर्ण रूप से हम लोगों को बोध हो गया है। आपने दृष्टान्तों द्वारा मेरी दृश्य-दृष्टि का परिमार्जन किया है।'

'मुनीश्वर !' राम ने करबद्ध कहा, 'आपके अनुग्रह के कारण हमारा अज्ञानान्धकार दूर हो गया है। निर्मल-बुद्धि हो गया हूँ। साक्षात् ब्रह्म हो गया हूँ। मेरे सन्देह निवृत्त हो चुके हैं। आपके आदेशानुसार मैं राज्य-धर्म पालन करने का प्रयास करूँगा।'

'अहा !' लक्ष्मण ने कहा, 'मेरे मन में शशि-तुल्य परम आह्लादकारक परमात्म-प्रकाश का उदय हुआ है। जन्म-जन्मान्तरों के संचित अगणित पुण्यों के फलस्वरूप आपकी अमृत-वाणी सुनने को मिली है। हम निर्मलता का अनुभव करने लगे हैं।'

'अहो !' विश्वामित्र ने कहा, 'मुनिवर ! आपके मुख से महत्पुण्य ज्ञान-चर्चा सुनकर सहस्रों बार गंगा-स्नान द्वारा पवित्र होकर जैसे यहाँ बैठा हूँ।'

'अद्‌भुत !' सभास्थित नारद भगवान् ने कहा, 'ब्रह्मलोक में, स्वर्ग में, अन्यत्र भू-तल में, जो तत्व-ज्ञान सुनने को नहीं मिला, उसे यहाँ सुनकर हम पवित्र हो गए हैं।'

'मुने।' लक्ष्मण ने श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक कहा, 'आपने अन्तर तथा बाह्य दोनों अज्ञानान्धकारों को दूर कर प्रमाणित कर दिया है कि आप सूर्य की अपेक्षा भी उत्कृष्ट सूर्य हैं।'

'महर्षे !' शत्रुघ्न ने कहा, 'आपकी कथा के श्रवण से मैं निवृत्त हो गया हूँ। प्रशान्त हो गया हूँ। परम पद की प्राप्ति मुझे हो गई है। सर्वदा के लिए परिपूर्ण हो गया हूँ। मैं निरतिशय सुख स्वरूप हो गया हूँ।'

'भगवन्।' दशरथ ने करबद्ध कहा, 'निन्सन्देह हम सब परम पावन हो गये हैं।'

महर्षि वसिष्ठ ने नत दृष्टि सभा की ओर देखते हुए आभार प्रकट किया।

रघुनाथ सिंह पुत्र स्वर्गीय बटुकनाथ सिंह निवासी मु० औरंगाबाद (चौहट्टा), काशी नगर वाराणसी उत्तर प्रदेश ने सन् १९८७ ई० में ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण लिखकर समाप्त किया।